कबीर अनुशीलन

सम्पादक : डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

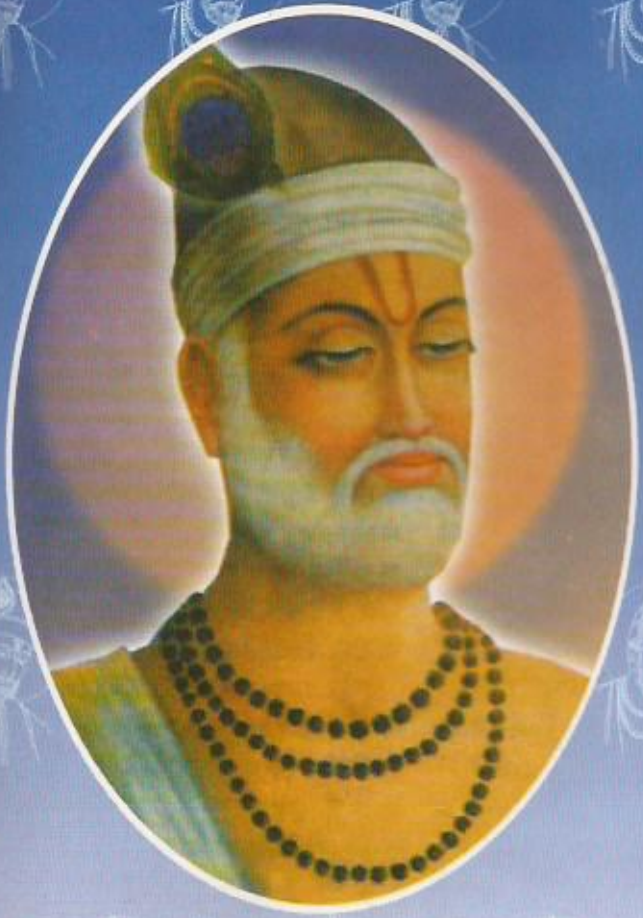

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय
कलकत्ता

हमारे उपलब्ध प्रकाशन

● राम प्रताप

छत्तीसगढ़ी कवि संत भास्कर चूड़ामणि गोपालदास कृत 'राम प्रताप' ग्रंथ १४० वर्ष पुरानी पाण्डुलिपि का प्रकाशित रूप है। विविध भाषाओं, विभिन्न छन्दों तथा अनेक राग-रागिनियों से युक्त यह पुस्तक रामकाव्य परंपरा की एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

पृष्ठ संख्या : ६४४ *मूल्य : २०० रु०*

● सूरदास : विविध संदर्भों में

सूर-पंचशती के अवसर पर प्रकाशित आलोचनात्मक ग्रंथ, जिसमें देश के शीर्षस्थ विद्वानों एवं लेखकों के आलेख संकलित हैं।

पृष्ठ संख्या : ३८६ *मूल्य : १०० रु०*

● अमर आग है

श्री अटल बिहारी वाजपेयी की ४१ प्रमुख कविताओं का संग्रह। वर्तमान प्रधानमंत्री श्री वाजपेयी की कविताओं का सर्वप्रथम संकलन।

पृष्ठ संख्या : ६४ *मूल्य : २५ रु०*

● महाप्राण निराला : पुनर्मूल्यांकन

हिन्दी के कालजयी साहित्यकार सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की जन्मशती पर देश के ३४ शीर्ष विद्वानों/लेखकों के आलेखों वाला बहुचर्चित आलोचना ग्रंथ।

पृष्ठ संख्या : ३३० *मूल्य : १५० रु०*

● मानस अनुक्रमणिका

तुलसी पंचशती-वर्ष में गोस्वामी जी के सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रंथ श्री रामचरितमानस की पंक्तियों का अकारादि क्रमानुसार संदर्भ कोश।

पृष्ठ संख्या : ३९० *मूल्य : २५० रु०*

● जीवन पथ पर चलते-चलते

प्रख्यात आलोचक तथा राजनेता आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की कविताओं का संकलन।

पृष्ठ संख्या : ११२ *मूल्य : ६० रु०*

कबीर-अनुशीलन

परामर्श

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

सम्पादक

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

सहयोग

डॉ० उषा द्विवेदी

प्रकाशक

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय

कलकत्ता

प्रकाशक :
श्री महावीर बजाज, मंत्री
श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय
१-सी, मदन मोहन बर्मन स्ट्रीट,
कलकत्ता-७०० ००७
टेलीफैक्स : २३८-८२१५

●

प्रकाशन तिथि :
३० जुलाई २०००

●

मूल्य : ३०० रुपए

●

आवरण सज्जा :
श्री श्रीजीव अधिकारी

●

आवरण मुद्रक :
श्री महेश दाणी

●

मुद्रक :
एसकेज
८, शोभाराम बैशाख स्ट्रीट
कलकत्ता-७०० ००७
दूरभाष : २१८ ६०८४

KABIR-ANUSHEELAN
(A critical analysis of famous Saint poet KABIRDAS)
Edited by : Dr. Prem Shanker Tripathi
Price Rs. 300/-

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय

के तत्त्वावधान में गठित

संत कबीर षष्ठशती समारोह समिति

अध्यक्ष :

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

उपाध्यक्ष :

डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय

डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र

श्री जुगलकिशोर जैथलिया

सचिव :

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

सदस्य :

डॉ० चन्द्रदेव सिंह

डॉ० फुलवन्त कौर

डॉ० उषा द्विवेदी

डॉ० रंजना पाण्डेय

श्री रामेश्वरनाथ मिश्र 'अनुरोध'

श्री विमल लाठ

श्री प्रकाश चण्डालिया

श्री मिलाप दूगड़

श्री कृष्ण स्वरूप दीक्षित

श्री महावीर बजाज

सन्त कबीर
की
तेजस्वी परम्परा
को
समृद्ध करनेवाले
क्रान्तदर्शी रचनाकारों
एवं कर्मवीरों
को
सादर समर्पित

सम्पादक की ओर से :

मध्ययुग के तिमिराच्छन्न परिवेश में ज्ञान की आभा विकीर्ण करने वाले संत कबीर का सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका आविर्भाव जिस काल में हुआ था, उस समय राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में अस्थिरता एवं अराजकता व्याप्त थी। ऐसी विपरीत परिस्थिति में प्रातिभ ऊर्जा से सम्पन्न क्रान्तदर्शी साहित्यकार ही अपने सृजनात्मक दायित्व का पालन कर सकता था। कबीर ने अपनी साधना, तेजस्विता, तथा कालजयी चेतना के बल पर लोक मंगल की भावना से प्रेरित होकर अपने दायित्व का बखूबी निर्वाह किया। अपनी सजग सामाजिक चेतना के कारण कबीर मध्यकाल के कवि होने के बावजूद प्रासंगिक हैं, हमारा मार्ग दर्शन करने में सक्षम हैं।

प्राचीन हिंदी कवियों में कबीर का स्थान अन्यतम है। उनमें जितनी मौलिकता है वैसी मौलिकता कम साहित्यकारों में है। परंपरा के प्रवाह में वे महत्त्वपूर्ण विकास-बिन्दु हैं। भारतीय संस्कृति, अध्यात्म तथा दर्शन के स्वस्थ एवं सकारात्मक पक्षों को ग्रहण कर उसे नवीन उन्मेष प्रदान करने के कारण वे सबसे प्रभावित होते हुए भी सबसे अलग दिखाई पड़ते हैं। परंपरा से प्राप्त जीवन एवं दर्शन को उन्होंने जस का तस स्वीकार नहीं किया, उसमें उन्हें जो सत्य प्रतीत हुआ उसकी 'साखी' दी और जो असत्य लगा उसके प्रति 'अस्वीकार का साहस' दिखाया।

अपने बहुआयामी कृतित्व के कारण वे एक साथ संत, भक्त, कवि, साधक, दार्शनिक तथा समाज सुधारक लक्षित होते हैं। उनका आलोचक, व्यंग्यकार, मस्तमौला तथा अक्खड़-फक्कड़ रूप भी कम प्रभावशाली नहीं है। उनमें एक ओर साधक और भक्त की तन्मयता है तो दूसरी ओर समाज सुधारक की उद्विग्नता और व्याकुलता भी।

कबीर के कृतित्व का यह वैविध्य विद्वानों एवं चिन्तकों को निरन्तर अध्ययन-अनुशीलन हेतु प्रेरित करता रहा है। कबीर के मूल्यांकन को लेकर आरंभ में भले ही असमंजस की स्थिति रही हो; परवर्ती काल में उनके अवदान का समुचित मूल्यांकन हुआ है। यह क्रम अभी भी जारी है-- यह संतोष की बात है। परन्तु कबीर को लेकर वैचारिक दृष्टि से प्रतिबद्ध लोगों ने जो खंडित चित्र

उपस्थित किए हैं, अपने-अपने साँचे में बाँधने का जो प्रयास किया है वह उनके आंशिक रूप से ही पाठक का परिचय कराता है। वे अन्त्यजों-दलितों के नायक, सांप्रदायिक सद्भाव के प्रतीक हैं, इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है परन्तु इस विवेचन के क्रम में उनकी आध्यात्मिक गंभीरता और समर्पित भक्त की विह्वलता को विस्मृत करना कबीर का सही मूल्यांकन नहीं है। आवश्यकता है उनके समग्र विवेचन की। कबीर की रचनाओं के प्रति जन-साधारण का आन्तरिक लगाव उनकी व्यापक लोकप्रियता का प्रमाण है। वे केवल शिक्षित समाज के ही रचनाकार नहीं हैं, आम जनता के साथ भी उनका व्यापक जुड़ाव है। यही कारण है कि कबीर की रचनाओं में व्यापक पाठ-भेद भी परिलक्षित होता है। अतः जरूरत इस बात की है कि कबीर-वाणी का प्रामाणिक पाठ और उसकी सांगोपांग व्याख्या सुलभ हो।

कबीर षष्ठशती वर्ष में पुस्तकालय द्वारा परिकल्पित इस ग्रंथ को गरिमा प्रदान करने में नवोदित लेखकों से लेकर प्रतिष्ठित विद्वानों का जो अकुंठ सहयोग हमें प्राप्त हुआ है, इस हेतु हम उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। ग्रंथ की परिकल्पना से लेकर इसके प्रकाशन तक प्रतिष्ठित विद्वान तथा हिमाचल प्रदेश के महामहिम राज्यपाल गुरुवर आचार्य विष्णुकान्त जी शास्त्री का मार्गदर्शन सदा सुलभ रहा है, इस हेतु हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं। धन्यवाद के पात्र हैं पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री जुगलकिशोर जैथलिया तथा मंत्री श्री महावीर बजाज, जिनकी सक्रियता से ही यह ग्रंथ भव्य रूप में प्रकाशित हो पा रहा है।

'कबीर-अनुशीलन' ग्रंथ प्रस्तुत करते हुए कबीर की एक पंक्ति बार-बार कौंध रही है— **'ना कछु किया न करि सका, ना करने जोग सरीर'**। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि कबीर साहित्य के विराट प्रदेय के कई पहलू इस कृति में विवेचित नहीं किए जा सके हैं; परन्तु सहृदय पाठकों को इस बात की प्रतीति अवश्य होगी कि ग्रंथ में कबीर साहित्य के विविध पक्षों को जानने - समझने की ईमानदार चेष्टा की गई है।

३७ रचनाकारों के निबंधों का यह स्तवक संत कबीर के प्रति पुस्तकालय परिवार की विनम्र श्रद्धांजलि है। इसकी सुवास यदि पाठकों को प्रभावित कर सकी तो हम अपना श्रम सार्थक समझेंगे। पाठकों की सम्मति की हमें प्रतीक्षा रहेगी।

संत कबीर जयन्ती
ज्येष्ठ शुक्ल १५ सं० २०५७
शुक्रवार, १६ जून २०००

प्रेमशंकर त्रिपाठी
संपादक

अनुक्रम :

❑ कबीर का जीवन-वृत्त और रचनाएँ	डॉ० उषा द्विवेदी	१
❑ कबीर साहित्य की प्रामाणिकता	डॉ० राम किशोर शर्मा	११
❑ कबीर का साहित्यिक व्यक्तित्व और उनका योगदान	डॉ० चन्द्रकांत बांदिवडेकर	१९
❑ संत कबीर का नया व्यक्तित्व-विधायन	डॉ० सूर्य प्रसाद दीक्षित	३०
❑ कबीर की काव्यभाषा	डॉ० सियाराम तिवारी	३७
❑ भाषा बहता नीर	डॉ० कैलाश चन्द्र भाटिया	४६
❑ कबीर का समय और उनके स्वप्न का समाज	डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी	५६
❑ कबीर और हमारा समय	डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव	६७
❑ कबीर के सामाजिक विचार	डॉ० वासुदेव सिंह	७४
❑ कबीर : समाज दर्शन	डॉ० प्रेम शंकर	९४
❑ संत कबीर का समाज दर्शन	प्रो० चमनलाल गुप्त	१०५
❑ क्रांतिकारी समाज सुधारक	अवधेश नारायण मिश्र	११६
❑ कबीर का समाज उनकी भक्ति और नारी	रूपा गुप्ता (पटेल)	१२३
❑ कबीर की नारी चेतना	रामेश्वरनाथ मिश्र 'अनुरोध'	१३१
❑ संत कबीर और बौद्ध धर्म : एक अन्तर्यात्रा	डॉ० वसुन्धरा मिश्र	१४४
❑ कबीर वाणी और गुरुवाणी	डॉ० फुलवन्त कौर	१५४
❑ कबीर का संघर्ष	श्री श्रीनिवास शर्मा	१७०
❑ वेदान्त के कवि कबीर	डॉ० युगेश्वर	१८३

- लोकाश्रित वेदान्त और कबीर — डॉ० सत्यनारायण व्यास — १९४
- कबीर की सांस्कृतिक मनोभूमि — डॉ० रामचन्द्र तिवारी — २००
- कबीर के कवित्व का स्वरूप — डॉ० दिनेश्वर प्रसाद — २०८
- कबीर का रहस्यवाद — डॉ० किशोरीलाल त्रिवेदी — २२१
- कबीर की चिन्ता — डॉ० बलदेव वंशी — २२७
- भारतीय चिंताधारा और कबीर की वैष्णवजन परिकल्पना — डॉ० लक्ष्मीनारायण शर्मा — २३५
- कबीर के मूल्यांकन में शांतिनिकेतन का योगदान — डॉ० रामेश्वर मिश्र — २४१
- संत कबीर और बंगाल के धार्मिक संप्रदाय — डॉ० जलज भादुड़ी — २५२
- कबीर : सबहिं के हित की भाखी — डॉ० कुमार विमल — २६३
- कबीर और साम्प्रदायिक सद्भावना — प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद — २८०
- ढाई आखर प्रेम का — डॉ० वसुमति डागा — २९२
- संत कबीर : जाति और धर्म की एकता — सद्गुरु अभिलाष साहेब — २९८
- कबीर : एक निजी पाठ — डॉ० नंद किशोर नवल — ३०४
- कबीरदास के मूल स्वरूप पर पड़े आवरण — आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री — ३१२
- कबिरा तेरी झोपड़ी गल कटियन के पास.. — डॉ० सुकृता अजमानी — ३३०
- कबीर और सम्यक-जीवन — डॉ० मंजुरानी सिंह — ३३४
- अनुकरणीय सत्यनिष्ठा — डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाटी — ३३९
- कबीर : तोड़ने और रचने की समझ — डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय — ३४८
- साधु संग्राम है रैन दिन जूझना — प्रो० कल्याणमल लोढ़ा — ३६०

●

कबीर : जीवन-वृत्त एवं रचनाएँ

डॉ० उषा द्विवेदी

कबीर हिन्दी साहित्य के ऐसे अमर कलाकार हैं जिन्होंने अपने प्रखर एवं तेजस्वी व्यक्तित्व के कारण न केवल मध्यकालीन भक्ति-साहित्य में अपनी विशिष्ट पहचान दर्ज कराई बल्कि पन्द्रहवीं शताब्दी की संपूर्ण सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था में व्याप्त तमस को अपनी ज्ञान-रश्मियों की आभा से दूर करने का प्रयास किया। उनके गहन जीवनानुभव एवं दृढ़ आत्मविश्वास ने उनकी वाणी में वह धार उत्पन्न की थी जिसके द्वारा वे अपने युग एवं समाज के विघटित होते मूल्यों, अन्धविश्वासों एवं विरोधाभासों को विदीर्ण कर रहे थे। कबीर का संपूर्ण साहित्य शाश्वत मानवीय मूल्यों के स्वीकार का उद्घोष है। मसि कागद न छूकर भी अपनी सरल बानियों में काव्य की रस-गागर उँड़ेल देने वाले इस फक्कड़ दार्शनिक ने युग की पीड़ा को दर्दभरे आक्रोश के साथ व्यक्त किया। किन्तु यह हिन्दी साहित्य का परम दुर्भाग्य ही है कि ऐसे विलक्षण, प्रतिभा के धनी कबीर का प्रामाणिक जीवन वृत्त आज तक उपलब्ध नहीं हो सका है। डॉ० रामचन्द्र तिवारी के मतानुसार "अन्य धार्मिक महापुरुषों की भाँति कबीर-साहब का जीवन-वृत्त भी अनेक श्रद्धा-प्रेरित जनश्रुतियों साम्प्रदायिक मिथकीय मान्यताओं तथा अलौकिकत्व प्रतिपादनार्थ उद्भावित चमत्कारपूर्ण घटनाओं के कुहासे में ढका हुआ है।" अतः अन्तः साक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्य के आधार पर ही उनके जीवन के बिखरे सूत्रों को पिरोने का प्रयास किया गया है।

बहिःसाक्ष्य के अन्तर्गत प्राचीन धार्मिक साहित्य, साम्प्रदायिक साहित्य, इतिहास ग्रन्थ एवं संतों तथा भक्तों की वे वाणियाँ समाहित हैं जिनमें किसी-न-किसी रूप में कबीर का नामोल्लेख मिलता है। धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत नाभादासकृत 'भक्तमाल', अनन्तदास कृत 'कबीर साहिब जी की परचयी,'गुरु अर्जुनदेव द्वारा संपादित 'श्री गुरु ग्रन्थ साहब', प्रियादासकृत 'भक्तमाल की

रसबोधिनी टीका,' मुकुन्द कवि द्वारा रचित 'कबीर चरित' एवं राघोदास कृत 'भक्तमाल' ग्रन्थों के नाम लिए जा सकते हैं। इन ग्रन्थों से कबीर के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में स्पष्ट सूचना नहीं मिलती। हाँ, इतना अवश्य ज्ञात होता है कि कबीरदास रामानन्द के शिष्य थे। वे जाति से जुलाहा थे एवं काशी में निवास करते थे। वे बघेल राजा वीरसिंह के समकालीन थे क्योंकि वीरसिंह ने काशी में उनकी समाधि बनवाई थी। वर्णाश्रम धर्म के विरोधी कबीर पर यवन सम्राट सिकन्दर लोदी ने बहुत अत्याचार किए थे। १२० वर्षों की दीर्घ भक्ति-साधना के पश्चात् कबीर जीवन-मुक्त हुए थे।

कबीर-पंथी भक्तों और संतों ने कबीर के जीवन और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाले अनेक ग्रंथों की रचना की है। इनमें निर्भय ज्ञान और आशा सागर जैसे प्राचीन तथा कबीर कसौटी, कबीर मंशूर, कबीर चरित्र बोध और श्रीसत्गुरु-चरितम् जैसे आधुनिक ग्रन्थ समाहित हैं। इनमें कबीर साहब की जन्मतिथि संवत् १४५५ एवं मृत्यु तिथि संवत् १५७५ स्वीकार की गई है।

प्राचीन इतिहास ग्रन्थों में अबुल फजल कृत 'आईन-ए-अकबरी' एवं मोहसिन फानी कृत 'दबिस्तान-ए-मज़ाहिब' में कबीर के संबंध में कुछ सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। आधुनिक इतिहास ग्रन्थों की दीर्घ सूची में कबीर के जीवन-वृत्त को यद्यपि वैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है किन्तु सांप्रदायिक ग्रन्थों की चमत्कारजनित घटनाओं एवं प्रचलित जनश्रुतियों के बीच तर्कसम्मत तथ्यों का चयन असंभव-सा हो गया है।

इसी प्रकार कबीर के समकालीन एवं परवर्ती अनेक संतों और भक्तों ने अपनी रचनाओं में कबीर के संबंध में अपने श्रद्धापूर्ण उद्गार प्रकट किए हैं किन्तु उनसे कबीर के जन्म एवं जीवन के संबंध में कोई निश्चित धारणा बना पाना संभव नहीं है।

अन्तः साक्ष्य के आधार पर कबीर का जीवन-काल निर्धारित करने वाले विद्वान उन तमाम पंक्तियों को उद्धृत करते हैं जो कबीर के द्वारा या उनके विषय में कही गई हैं। किन्तु ऐसे पदों की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। कबीर के जन्म के विषय में सर्वाधिक चर्चित यह पद उद्धृत किया जाता है--

चौदह सै पचपन साल गये, चंद्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी तिथि प्रगट भए।
घन गरजे दामिनि दमके बूँदें बरसें झर लाग गए।
लहर तालाब में कमल खिले, तहँ कबीर भानु प्रकट भए।

यद्यपि कबीर पंथियों में इस छन्द का व्यापक प्रचार है किन्तु इस छन्द की

रचना किसने की, यह अब तक प्रमाणित नहीं हो सका है। बाबू श्यामसुन्दर दास इसे कबीर के शिष्य धर्मदास की रचना मानते हैं। डॉ० रामचन्द्र तिवारी के मतानुसार "उपर्युक्त छन्द के अनुसार कबीरदास की जन्म-तिथि चंद्रवार ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा संवत् १४५५ ठहरती है। किन्तु इसे स्वीकार करने में कई कठिनाइयाँ हैं। सबसे बड़ी कठिनाई तिथि की (गणना) शुद्धता की है। संवत् १४५५ में ज्येष्ठ पूर्णिमा चन्द्रवार को नहीं पड़ती। इसलिए डॉ० बाबू श्यामसुन्दर दास ने 'गए' का अर्थ 'संवत् १४५५ व्यतीत हो जाने पर' (अर्थात् संवत् १४५६) लिया। डॉ० माताप्रसाद गुप्त का कहना है कि संवत् १४५६ में भी ज्येष्ठ पूर्णिमा मंगलवार को पड़ती है, चन्द्रवार (सोमवार) को नहीं। चन्द्रवार को पूर्णिमा दिन के परवर्ती काल में थी। सूर्योदय के समय जो तिथि होती है, वही पूरे दिन के लिए मान्य होती है। इस न्याय से मंगल को ही पूर्णिमा मान्य होगी। दूसरी कठिनाई 'बरसायत' शब्द को लेकर है। यदि इसका अर्थ 'वट सावित्री पर्व' लिया जाता है तो यह पर्व ज्येष्ठ की अमावस्या को पड़ता है, पूर्णिमा को नहीं। अतः इसका अर्थ 'श्रेष्ठ मुहूर्त' लेना होगा। तीसरी आपत्ति यह हो सकती है कि छन्द की अंतिम दो पंक्तियों में कबीर को अलौकिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। अतः यह पूरी रचना किसी अत्यन्त श्रद्धालु भक्त की होगी। ऐसी स्थिति में प्रथम दो पंक्तियों में निहित तथ्य भी कबीर के भक्त रूप में प्रसिद्ध होने के बाद श्रद्धालु भक्तों ने अनुमान और कल्पना के सहारे निर्धारित किया होगा।"

इस प्रकार कबीर के जन्म-संवत् को लेकर विद्वानों और आलोचकों में अनेक मतभेद पाए जाते हैं। किन्तु डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, डॉ० सरनामसिंह आदि विद्वान संवत् १४५५ को ही इनकी जन्म तिथि मानते हैं और यही तिथि अब अधिक मान्य है।

जन्म-तिथि के समान ही कबीर के जन्म स्थान को लेकर भी अनेक प्रकार के मत-मतान्तर पाए जाते हैं। प्रथम मत के अनुसार वे काशी में उत्पन्न हुए। द्वितीय मत के पक्षधर मगहर में उनका प्रकट होना स्वीकार करते हैं एवं तृतीय मत के पोषक उन्हें आजमगढ़ जिले में स्थित बेलहरा गाँव का निवासी मानते हैं।

काशी को कबीर का जन्म स्थान मानने वाले विद्वान अन्तः साक्ष्य के रूप में उन्हीं की वाणियों को उद्धृत करते हैं। कबीर ने अपने विषय में कई जगह कहा है-

काशी में हम प्रगट भए हैं रामानन्द चिताये।

X X X X X

तू ब्राह्मन मैं कासी का जुलाहा, चीन्ह न मोर गियाना।

सगल जनमु सिवपुरी गंवाइया, मरनी बार मगहर उठि धाइया।

X X X X X

पहले दरसन कासी पायो, पुनि मगहर बसे आई।

X X X X X

बहुत बरस तप कीया कासी, मरनु भइया मगहर को बासी।

कबीर की उपरोक्त पंक्तियों के आधार पर डॉ० श्यामसुन्दर दास, पं० सीताराम चतुर्वेदी जैसे विद्वान काशी को कबीर का मूल जन्म स्थान मानते हैं। किन्तु डॉ० रामकुमार वर्मा एवं डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत प्रभृति विद्वान मगहर को कबीर की जन्मभूमि स्वीकार करते हैं। अपने मत के समर्थन में वे कबीर की यह पंक्ति इस प्रकार उद्धृत करते हैं--

पहले दरसन मगहर पायो, पुनि कासी बसे आई।

डॉ० रामकुमार वर्मा का तर्क है--"मृत्यु के समय उनका मगहर लौट जाना मनुष्य की उस स्वाभाविक प्रेरणा का प्रतीक हो सकता है, जिससे वह अपनी जन्म-भूमि या उसके समीप ही आकर मरना चाहता है। अतः मेरे दृष्टिकोण से कबीर का मगहर में जन्म मानना अधिक युक्तिसंगत है।"

उपरोक्त विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि कबीर का जन्मस्थान काशी हो या मगहर किन्तु इतना तय है कि उनके जीवन का अधिकांश समय काशी में ही व्यतीत हुआ था। मगहर लौट आने का उद्देश्य संभवतः उस सामाजिक अंधविश्वास को समूल नष्ट करना रहा होगा जिसके अनुसार मगहर में शरीर छोड़ने से नरक की प्राप्ति होती है।

कबीर की जाति को लेकर भी विद्वानों में कई प्रकार के मत प्रचलित हैं इसका मुख्य कारण यही है कि स्वयं कबीर ने कहीं अपने को 'कोरी' बताया है तो कहीं जुलाहा। जैसे--

हरि को नाम अभै पद दाता, कहै कबीरा कोरी।

X X X X X

मेरे राम की अभै पद नगरी, कहै कबीर जुलाहा।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० श्यामसुन्दर दास एवं डॉ० रामकुमार वर्मा इस विषय में एकमत हैं कि कबीर मूलतः हिन्दू थे, उनका पालन-पोषण भले ही नीरू-नीमा नामक मुसलमान जुलाहा दम्पत्ति ने किया हो। कबीर के गुरु स्वामी रामानन्द थे। कुछ विद्वान शेख तकी को उनका गुरु मानते हैं। किन्तु उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर इतना ही प्रमाणित होता है कबीर ने किसी शेख तकी से सत्संग किया था, वे उनके पीर या गुरु नहीं थे।

जनश्रुतियों के अनुसार कबीर का विवाह लोई अथवा धनिया नाम की स्त्री के साथ हुआ था। उनके पुत्र का नाम 'कमाल' एवं पुत्री का नाम 'कमाली' था। 'गुरु ग्रंथ साहिब' की एक साखी में कबीर ने अपने पुत्र का वर्णन किया है--

बूड़ा वंश कबीर का, उपज्यो पूत कमाल।
हरि कौ सुमिरन छाँड़ि कै, घर ले आया माल।।

इस पंक्ति से यह संकेत अवश्य मिलता है कि कबीर ने गृहस्थ जीवन व्यतीत किया था।

जन्म-तिथि के समान ही कबीर की निर्वाण-तिथि के संबंध में भी अनेक प्रकार के मतभेद पाए जाते हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं--

१. **संवत् पन्द्रह सौ पछत्तरा, किया मगहर को गवन।**
माघ सुदी एकादशी, रलो पवन में पवन।।
२. **पन्द्रह सौ औ पाँच में, मगहर कीन्हों गौन।**
अगहन सुदी एकादसी, मिल्यो पौन में पौन।।
३. **पन्द्रह सै उनचास में, मगहर कीन्हो गौन।**
अगहन सुदी एकादसी, मिलो पौन में पौन।।

उपर्युक्त तिथियों में पहली तिथि अर्थात् संवत् १५७५ को ही अधिकांश विद्वानों ने कबीर की निर्वाण तिथि माना है यद्यपि इसकी प्रामाणिकता का कोई ऐतिहासिक सूत्र उपलब्ध नहीं होता। वास्तव में कबीर का सम्पूर्ण जीवन ही अलौकिकता का पर्याय था। कबीर की मृत्यु के संबंध में भी इसी प्रकार की एक घटना का संकेत मिलता है। कहा जाता है कि उनके शव को लेकर हिन्दुओं और मुसलमानों में परस्पर विवाद उठ खड़ा हुआ। अन्त में जब कफ़न हटाया गया तो फूलों का ढेर मिला। आधे ढेर को हिन्दुओं ने काशी में ले जाकर जला दिया तो शेष को मुसलमानों ने मगहर में दफना दिया।

कबीर के सम्पूर्ण जीवन-वृत्त का विश्लेषण यह प्रमाणित करता है कि उनके माता-पिता, वंश, कुल, जाति आदि के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वास्तव में वे स्वसंस्कार निर्मित व्यक्तित्व के स्वामी थे। परिस्थितियों ने उन्हें इतना प्रखर और प्रचण्ड बना दिया था कि उसमें समाज के बाह्याचार, आडम्बर और ढकोसले ढह गए। आत्म-साधना का जो मार्ग उनके गुरु ने उन्हें दिखाया उसे तत्कालीन चिन्तन-धाराओं और भक्ति-परम्पराओं ने और पुष्ट किया। वैष्णव मत की सात्विकता ने इन्हें अहिंसा से परिपुष्ट वह प्रेमपूर्ण दृष्टि प्रदान की जिसके बल पर उन्होंने समाज में धर्म, वर्ण, जाति के नाम पर फैले अनाचार को दूर किया। ये समतावादी मानव समाज के पुरोधा बनकर कर्मक्षेत्र में उतरे।

कबीर के जीवन के समान ही उनकी रचनाओं के विषय में भी विद्वानों में अनेक मतभेद हैं। उनकी प्रामाणिक कृतियों की गणना अपने-आप में अत्यन्त कठिन कार्य है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कबीर ने स्वयं अपनी वाणियों को लिपिबद्ध नहीं किया। कुछ उनके शिष्यों द्वारा लिपिबद्ध की गईं तो कुछ लोक-कंठ में जीवित रहीं। अतः उनके स्वरूप में परिवर्तन हो गया। इसके साथ ही कबीर-पंथी संतों ने भी अपनी रचनाओं को श्रद्धावश कबीर के नाम से ही प्रचारित कर दिया। फलतः कबीर और कबीरपंथी साहित्य घुल-मिल कर एक हो गए हैं। हिन्दी साहित्य के शीर्ष विद्वानों ने कबीर की रचनाओं के प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत करने के महत्त्वपूर्ण प्रयास किए।

कबीर साहब की प्रामाणिक रचनाओं को कबीरपंथी साहित्य से पृथक् करने का प्रथम प्रयास अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने सन् १९१६ में किया। उनके द्वारा संपादित 'कबीर वचनावली', 'बीजक' और 'चौरासी अंग की साखी' जैसे मौलिक और कुछ संगृहीत ग्रन्थों पर आधारित है। इसमें ७८१साखियाँ और २२८ पद संगृहीत हैं।

कबीर वाणी के प्रामाणिक रूप को प्रस्तुत करने का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयास १९२८ में बाबू श्यामसुन्दर दास ने किया। उनके द्वारा संपादित 'कबीर ग्रंथावली' दो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित है। इसमें ८०९ साखियाँ, ४०० पद और ७ रमैनियाँ संगृहीत हैं।

सन् १९४३ में डॉ० रामकुमार वर्मा द्वारा संपादित 'संत कबीर', 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में संकलित कबीर वाणी पर आधारित है। डॉ० वर्मा भाषिक दृष्टि से 'गुरु ग्रंथ साहिब' में संकलित कबीर वाणी को ही प्रामाणिक मानते हैं। 'संत कबीर' में २४३ साखियाँ और २२८ पद संकलित हैं। इनमें से कुछ साखियाँ और पद परिवर्तन के साथ 'कबीर ग्रंथावली' में भी प्राप्त होते हैं।

इस श्रृंखला में डॉ० पारसनाथ तिवारी द्वारा सन् १९६१ में संपादित 'कबीर ग्रंथावली' अपने आप में महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। डॉ० तिवारी ने पहली बार कबीर के नाम से प्रचलित विपुल सामग्री का परीक्षण कर उसमें से सारतत्त्व ग्रहण करने का प्रयास किया है। वे अपने ग्रंथ की प्रस्तावना में लिखते हैं – 'विभिन्न हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों में कबीर के नाम से कुल मिलाकर हमें लगभग १६०० पद, ४५०० साखियाँ और १३४ रमैनियाँ मिली हैं।' इस विपुल सामग्री में से डॉ० तिवारी ने अपनी ग्रंथावली में २०० पदों, ७४४ साखियों और २१ रमैनियों को स्थान दिया है साथ ही उनका वैज्ञानिक दृष्टि से पाठ-निर्धारण करने का प्रयास किया है। कबीर वाणी के प्रामाणिक-स्वरूप के अनुसंधान-क्रम में यह ग्रंथ

अपना विशेष स्थान रखता है।

सन् १९६९ में डॉ० माताप्रसाद गुप्त के संपादकत्व में जो 'कबीर ग्रंथावली' प्रकाशित हुई वह मुख्यतः बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित संस्करण की ही परम्परा का वहन करती है किन्तु इस संस्करण को 'सटीक' प्रकाशित कराके डॉ० गुप्त ने इसकी उपयोगिता बढ़ा दी है।

कबीर वाणी के प्रामाणिक स्वरूप के निर्धारण में 'बीजक' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। डॉ० शुकदेव सिंह ने अपने ग्रंथ 'कबीर बीजक' सन् १९७१ में बीजक के विभिन्न हस्तलेखों और उनके आधार पर मुद्रित ४० संस्करणों की विस्तृत जाँच पड़ताल के बाद अपने ग्रंथ को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया है।

सन् १९७४ में डॉ० जयदेव सिंह और वासुदेव सिंह ने 'रमैनी' का सम्पादन 'भावार्थ-बोधिनी व्याख्या' सहित किया। संपादक-द्वय ने संपूर्ण कबीर वाङ्मय की जो व्याख्या की है वह अपने आप में एक उपलब्धि है।

कबीर-वाणी के उपरोक्त सभी संग्रहों के आधार पर कबीर की रचनाओं के तीन भाग किए जा सकते हैं— रमैनी, पद और साखी।

रमैनी के संबंध में डॉ० पारसनाथ तिवारी का वक्तव्य ध्यान देने योग्य है। उनके मतानुसार 'संतों की रचनाओं में कुछ अर्द्धालियों के अन्त में दोहे के समान एक साखी आ जाती है और इस प्रकार के एक समुच्चय को एक 'रमैनी' कहा जाता है। रमैनियों में दो साखियों के बीच मिलने वाली पंक्तियों की कोई निश्चित संख्या नहीं ज्ञात होती। व्यतिक्रम की मात्रा इतनी अधिक है कि किसी रमैनी में यदि साखी को छोड़ कर केवल तीन पंक्तियाँ मिलती हैं तो किसी-किसी में बाईस और चौबीस। यहाँ तक कि दुपदी रमैनी के एक पद में बयासी पंक्तियाँ तक मिल जाती हैं।'

छंद-संख्या के आधार पर रमैनियों को सात शीर्षकों में विभक्त किया गया है (१) राग सूहौ (२) सतपदी रमैणी (३) बड़ी अष्टपदी रमैणी (४) दुपदी रमैणी (५) अष्टपदी रमैणी (६) बारहपदी रमैणी (७) चौपदी रमैणी।

इन रमैनियों में एक सुव्यवस्थित विचारधारा की पुष्टि की गयी है। रमैनी वास्तव में कबीर के ईश्वर-सम्बन्धी, शरीर-रचना सम्बन्धी एवं मानवीय आत्मा के उद्धार सम्बन्धी विचारों का संकलन है। रमैनी में उस परम तत्त्व की विलक्षणता के साथ उसके सर्व-व्यापक रूप को जानने की जिज्ञासा प्रकट की गयी है। कबीर के मतानुसार परमात्मा की त्रिगुणात्मक सृष्टि के भेद को देवगण, गन्धर्व, ब्रह्मा और शिव भी नहीं जान सके। उसी अलख ब्रह्म पर चित्तवृत्तियों को केन्द्रित किया गया है। षट्-दर्शन, विषयरस, चारों वेद, तप-तीर्थ, व्रत-पूजा, स्नानादि,

यम-नियम आदि जितने उपक्रम हैं, उन्हें अपनाकर परमात्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता। कबीर मानते थे कि हठयोग सम्बन्धी बातों का परित्याग कर परमात्मा के चरण-कमलों का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। उन्होंने रमैणी में सुरत-निरत, अजपा, धोति-नेति, उन्मदी आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। इनमें जहाँ एक ओर परमात्मा और जीवात्मा सम्बन्धी सुन्दर व्याख्या मिलती है वहीं दूसरी ओर समाज और धर्म में व्याप्त पाखंड एवं प्रपंच का पर्दाफ़ाश करते हुए कबीर ने उन पर तीखा प्रहार किया है तथा लोगों को अंधविश्वासों और भ्रष्टाचार से दूर रहने की चेतावनी दी है।

भाषिक दृष्टि से रमैणियाँ कबीर की काव्य में गहरी पैठ को प्रमाणित करती हैं। इनकी भाषा में खड़ी-बोली के रूपों की अधिकता है। साथ ही ब्रज, अवधी, बनारस तथा मगहर की बोली, पंजाबी, राजस्थानी आदि के शब्द बड़ी कुशलता से पिरोए गए हैं। रमैणी की भाषा क्लिष्ट होते हुए भी मधुर तथा प्रवाहपूर्ण है। रूपक, उपमा, रूपकातिशयोक्ति, निदर्शना आदि अलंकारों से अलंकृत भाषा बरबस ही पाठकों का चित्त आकर्षित कर लेती है। छन्द-शास्त्र की दृष्टि से भी रमैणी में प्रयुक्त छन्द सुनियोजित एवं सुष्ठु हैं।

कबीर के पद उनके जीवन और जगत के संबंध में विभिन्न दृष्टिकोणों के परिचायक हैं। पदों में सर्वप्रथम माया के संबंध में अपने विचारों को प्रकट करते हुए कबीर ने संपूर्ण संसार को ही माया रूप माना है जिसकी अद्‌भुत छटा मानव को अपने त्रिगुण फाँस में फँसाती रहती है। माया मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधक है किन्तु गुरु कृपा एवं आत्म-ज्ञान के द्वारा माया का पर्दा हटाया जा सकता है। इसी तरह इन पदों में ब्रह्म के स्वरूप का निर्धारण करते हुए कबीर ने उसे औपनिषदिक ब्रह्म से भी अधिक व्यापक रूप में प्रकट किया है। इस भौतिक जगत में ब्रह्म की व्यापकता उसके प्राणियों से प्रेममय संबंध स्थापित करने पर जानी जा सकती है। इस तरह कबीर ने ज्ञान के साथ प्रेम और भक्ति का सुन्दर समन्वय स्थापित किया। इन पदों में कबीर जहाँ सामाजिक विषमताओं एवं कुप्रथाओं पर कुठाराघात करते नजर आते हैं वहाँ वे एक श्रेष्ठ समाज सुधारक के रूप में उभरते हैं।

पदावली कबीर की रहस्यवाद संबंधी धारणाओं को भी प्रकट करती है। इनमें कबीर के दार्शनिक विचारों का सुन्दर निदर्शन मिलता है। प्रो० पुष्पपाल सिंह के अनुसार-- 'रहस्यवाद की जितनी गंभीर विवेचना पदावली में की गई है, संभवतः अन्यत्र नहीं। परमात्मा को पिता, माता, पुत्र अथवा सखा के रूप में देखना ही रहस्यवाद है। पदावली में सर्वात्मवाद मूलक रहस्यवाद की ओर भी निर्देश किया गया है जो 'माधुर्य भाव' से परिपूर्ण है।'

पदों की भाषा में भी रमैनियों की ही भाँति पूर्वी, ब्रज, पंजाबी, राजस्थानी, अरबी, फारसी आदि भाषाओं का समन्वय हुआ है। संगीतात्मकता, मधुरता, प्रवाहमयता एवं रसमयता जैसे गुणों तथा उपमा, रूपक, अन्योक्ति, प्रतीक आदि अलंकारों के प्रयोग से भाषा का सौन्दर्य द्विगुणित हो उठा है। कबीर के इन पदों की लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि ये लोगों की जबान में रच-बस गए हैं।

कबीर की उपलब्ध रचनाओं में साखियों की संख्या सबसे अधिक है। 'साखी' शब्द संस्कृत 'साक्षी' का अन्यतम रूप मान लिया जा सकता है और इसका अभिप्राय उस पुरुष से है, "जिसने किसी वस्तु अथवा घटना को अपनी आँखों देखा हो। ऐसे साक्षात् अनुभव द्वारा ही ऐसी वस्तु वा घटना का प्रत्यक्ष अथवा यथार्थ ज्ञान संभव है। इस कारण 'साखी' शब्द का तात्पर्य प्रायः उस पुरुष से हुआ करता है जो उन वस्तुओं वा घटनाओं के विषय में विवाद खड़ा होने पर निर्णय करते समय प्रमाणस्वरूप समझा जा सके।' 'ये साखियाँ अधिकतर उन सिद्धान्तों को व्यक्त करती हैं जो उनके रचयिताओं के निजी अनुभवों पर आश्रित रहते हैं और जिन्हें वे इस प्रकार अपनी कसौटी पर पहले से कस चुकने के कारण साधिकार प्रकट करने की क्षमता रख सकते हैं।'

साखियों की रचना प्रायः 'दोहा' छंद में की जाती है लेकिन कबीर की साखियों में सोरठे, दोहा, चौपाई, श्याम, उल्लाला, हरिपद, गीता, सार तथा बरवै-जैसे छंदों के भी अनेक उदाहरण मिल जाते हैं।

कबीर की साखियों को विविध 'अंगों' के अनुसार विभाजित किया गया है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार 'संभव है कि 'अंग' शब्द वस्तुतः उन विविध विषयों के लिए व्यवहृत हुआ हो जिन पर कबीर साहब ने समय-समय पर साखियाँ कही होंगी। स्वयं कबीर साहब ने 'अंग' शब्द का प्रयोग अपनी एक साखी में 'लक्षण' के अर्थ में किया है--

निरबैरी निह-कांमता, सांई सेती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहै, संतन का अंग एह।।

'कबीर ग्रंथावली' में 'अंग' की संख्या ५९ है जबकि अन्य रचनाओं में ८४ या इससे अधिक अंगों का विभाजन मिलता है। संभवतः अंगों के विभाजन में कोई वैज्ञानिक दृष्टि नहीं अपनाई गई है। लेकिन इतना तय है कि ये साखियाँ जीवन और जगत के सम्बन्ध में कबीर की विचारधारा को पुष्ट करती हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कबीर एक सच्चे रचनाधर्मी कलाकार थे। उन्होंने समाज में व्याप्त अमानवीयता, ह्रासोन्मुखी मानसिकता को पहचान कर उसका निराकरण करने का सफल प्रयास किया। उदार और उदात्त दृष्टिकोण

का प्रचार कर कबीर ने समाज को स्वस्थ जीवन प्रदान किया साथ ही लोगों में छिपी रागात्मकता और संवेदना को भी जागृत किया। 'ज्ञान की चेतना, भक्ति की मधुरता, परम सत्ता से तादात्म्य और मानव जन्म की सार्थकता का परिचय इनके काव्य में व्याप्त है।' पूँजीवादी सामन्ती शोषण के युग में उन्होंने जो जनवादी आन्दोलन छेड़ा उसका असर आज भी महसूस किया जा सकता है। कबीर की इसी समाज-सचेतन दृष्टि एवं अभिव्यक्ति की ईमानदारी ने उन्हें सार्वकालिकता एवं सार्वभौमिकता प्रदान की है। ●

आधार - ग्रन्थ :

१. कबीर : एक नई दृष्टि - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, लेखक - डॉ० रघुवंश।
२. कबीर - मीमांसा - लोकभारती प्रकाशन, नयी दिल्ली, लेखक - डॉ० रामचन्द्र तिवारी।
३. कबीर - ग्रंथावली - राका प्रकाशन, इलाहाबाद, लेखक - डॉ० पारसनाथ तिवारी।
४. कबीर ग्रंथावली सटीक - अशोक प्रकाशन, दिल्ली-६, लेखक - प्रो० पुष्पपाल सिंह।
५. कबीर - चिंतन - वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, लेखक - डॉ० ब्रजभूषण शर्मा।

कबीर साहित्य की प्रामाणिकता

डॉ० रामकिशोर शर्मा

मध्यकालीन धर्मसाधना और काव्यसाधना के क्षेत्र में अत्यन्त तेजस्वी एवं प्रतिभावान कबीरदास अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सन्दर्भ में अनेक प्रकार की आशंकाओं, सन्देहों तथा विवादों के घेरे में रहे हैं। कबीर के जन्म, जाति, सम्प्रदाय, वैचारिक प्रभाव, महाप्रस्थान की तिथि तथा स्थान, काव्यभाषा आदि अनेक पक्ष हैं जिन पर अन्तिम रूप से कोई भी निर्भ्रान्त निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है। 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' की तरह कबीर से सम्बन्धित अनेक कथाएँ हैं जो उनके अनेक रूपों को सामने लाती हैं। प्रस्तुत लेख में अन्य विवादों को छोड़कर केवल कबीर के उपलब्ध साहित्य की प्रामाणिकता पर ही विचार करने का प्रयत्न किया जा रहा है। कबीरपंथी लोगों का विश्वास है कि सद्गुरु की वाणी अनन्त है। चूँकि कबीरदास ने 'मसि कागद छुआ नहीं था' इसलिए इतना निश्चित है कि कबीर की वाणी को उनके शिष्यों ने अंकित किया और उसके प्रस्तुतीकरण में अपनी क्षेत्रीय भाषा के प्रभावों से अछूते नहीं रहे। कबीर के साथ लोक समाज का ऐसा गहरा लगाव हुआ कि वे भी अपनी रचनात्मक प्रतिभा की व्यावहारिक परिणति कबीर के नाम की छाप देकर ही करते रहे। कबीरपंथी रचनाकारों ने इस कार्य में विशेष योगदान किया है। उन्होंने अपने पंथ की मान्यताओं को पुष्ट करने के लिए कबीर के नाम पर अनेक रचनाओं को प्रस्तुत करके कबीर-वाणी की प्रामाणिकता को सन्दिग्ध बना दिया। पंथ के अनेक ग्रन्थों में सम्प्रदाय, वेष, छापा, तिलक आदि का महत्त्व वर्णित है। कबीर जिनके विरुद्ध जीवन पर्यन्त संघर्षरत रहे उन्हीं के समर्थन में वे फिर कहने लगे होंगे ऐसा मानना असंगत ही है। कबीर के समय में ही उनकी वाणी के भेद बनने लगे थे। महाराजा विश्वनाथ सिंहजू ने उल्लेख किया है कि भागूदास बीजक चुराकर भाग गया था —

भागूदास की खबरि जनाई। ले चरणामृत साधु पियाई ।।
कोऊ आप कह वह कालिंजर गयऊ। बीजक ग्रंथ चोराइ ले गयऊ ।।

श्रुत परम्परा से गृहीत पाठ में रूपान्तरण होना स्वाभाविक है। जो रचनाकार निरक्षर है उसका हस्तलेख संभव ही नहीं है। कबीर साहित्य की प्रामाणिकता की जाँच इसलिए एक कठिन समस्या है।

डॉ० पारसनाथ तिवारी ने अत्यन्त श्रम तथा मनोयोग से कबीर वाणी के वास्तविक पाठ को खोजने तथा सम्पादित करने का प्रयास किया है। उन्होंने अनेक हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों का अवलोकन तथा अध्ययन किया। उन्हें जो हस्तलिखित प्रतियाँ मिलीं उसका सम्बन्ध मुख्यतः दादू पंथ तथा निरंजनी पंथ से है। दादूपंथी प्रतियाँ मुख्यतः पंचवाणी के रूप में हैं, जिनमें दादू, कबीर, नामदेव, रैदास तथा हरदास की वाणियों को संकलित किया गया है। राजस्थान में पंचवाणी प्रतियों का प्राचुर्य है। इनका संकलन काल प्रायः संवत् १७६८ से संवत् १८५३ के बीच का है। इस वर्ग की प्रतियों में ज्यादातर कबीर की ८१० साखियाँ ३८४ से ४०१ पद, ७ या ८ रमैनियाँ मिलती हैं। निरंजनी पोथियों में १३७७ साखियों, १३ रमैनियों ७ रेख्ता तथा ६६२ पदों के उल्लेख प्राप्त हैं। जयपुर में मोती डूँगरी महल के नीचे एक कबीर मंदिर है। वहाँ कबीरपंथी साधु भगौतीदास का लिखा हुआ एक ग्रंथ उपलब्ध है जिसमें साखियों की संख्या २८८८ है जिन्हें १०८ अंगों में विभाजित किया गया है। इसी के साथ ज्ञान सागर, विवेकसागर, रतनजोग, षटशास्त्र कौ मत, कबीर स्वरोदय, ज्ञानतिलक, जन्मपत्रिका की रमैनी, ग्रंथ कुरम्भावली, कबीर हनुमान गोष्ठी, कबीर गोरखगोष्ठी, कबीर जोगाजीत, गुरगीता, रेखाग्रंथ, हंसमुक्तावली, आत्मबोध, अछरोटी ग्रंथ, सार बत्तीसी आदि कुल २९ रचनाओं को सम्मिलित किया गया है। इन्हें परवर्ती सन्तों द्वारा अपनी रचनाओं को कबीर के नाम पर प्रचलित करने के उपक्रम का प्रतिफल माना जा सकता है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में कबीर के नाम से १४० ग्रंथों की सूचना मिलती है। इनमें अनेक परवर्ती सन्तों की रचनाओं को कबीर रचित समझ लिया गया है। कुछ नामों की भिन्न-भिन्न तरीके से पुनरावृत्ति है। जैसे कबीर सरोदय, ज्ञानसरोदय, तत्त्व सरोदय वास्तव में एक ही ग्रंथ के विभिन्न नाम हैं। इसी प्रकार चौंतीसा और ज्ञान चौंतीसा में कोई अन्तर नहीं है। (ग्रंथों की सूची, द्रष्टव्य — कबीर ग्रंथावली - डॉ० पारसनाथ तिवारी - पृ० २३-२५)

"गुरुग्रंथ साहब" सिक्खों का धर्मग्रंथ है। यह सम्पूर्ण संत साहित्य का एक विशाल संग्रह ग्रंथ है। इसका संकलन सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने कराया

था। संवत् १६६१ विक्रम का यह संकलन आगे उसी रूप में प्रकाशित हुआ। इसमें के २३१ प्रामाणिक सलोक (पद) हैं। ग्रंथ साहब में कबीर वाणी के अनेक छन्दों में आवश्यकता से अधिक पुनरावृत्तियाँ हैं जिससे जाहिर है कि इसके संकलन में अनेक आदर्शों तथा स्रोतों का आश्रय लिया गया है। उदाहरण के लिए गउड़ी १० का पाठ तथा भैरउ १६ का पाठ तुलनीय है --

१. **जो जन परमिति परमनु जाना। बातन ही बैकुंठ समाना ।।**
ना जाना बैकुंठ कहा ही। जानुजानु सभि कहहि तहाही ।।

२. **सभु कोई चलन कहत है ऊहाँ। ना जानउ बैकुंठ है कहाँ ।।**
आप आप का मरमु न जाना। बातन ही बैकुंठ बखाना ।।

कबीर की वाणियों में 'बीजक' का मुद्रण सबसे पहले हुआ इसका कारण है कि कबीरपंथी 'बीजक' को सर्वाधिक प्रामाणिक तथा आदरणीय ग्रंथ मानते हैं। रीवां नरेश श्री विश्वनाथ सिंह की टीका के साथ 'बीजक' १८७२ ई० से पहले मुद्रित हुआ था। पादरी प्रेमचन्द, पूर्णदास, पादरी अहमदशाह, महर्षि शिवव्रत लाल, विचारदास, साधु लखनदास, हनुमानदास, भगवान साहब, गोस्वामी साहब, महाराज राघवदास, हंसदास आदि अनेक विद्वानों तथा संतों ने बीजक का मूलपाठ टीका सहित सम्पादित करके प्रकाशित कराया है। अहमदशाह ने 'बीजक ऑफ कबीर' का अंग्रेजी अनुवाद किया है। हनुमानदास ने संस्कृत में बीजक की व्याख्या प्रस्तुत की है। इसका प्रकाशन फतुहा पटना से हुआ है। कबीर की सम्पूर्ण ग्रंथावली का संपादन श्यामसुंदर दास ने किया है। इसका प्रकाशन १९२८ ई० में नागरी प्रचारिणी सभा से हुआ। कबीर रचनावली का संपादन अयोध्यासिंह उपाध्याय ने किया है। इनके अलावा पदों तथा साखियों के अलग-अलग संकलन प्रकाशित हैं। ज्यादातर संकलन कबीर पंथ से जुड़े संतों ने ही किया है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने कबीर शीर्षक से चार भागों में कबीर की रचनाओं का संपादन किया है। डॉ० पारसनाथ तिवारी ने सैकड़ों ग्रंथों की छानबीन करके कई ग्रंथों को कबीर कृत न होने का प्रमाण प्रस्तुत किया है। तिवारी जी ने दादू पंथी शाखा की पाँच प्रतियों, निरंजनी शाखा की एक प्रति, गुरुग्रंथ साहब, दो बीजक (भगताही शाखा के मानसर गद्दी वाला बीजक एवं बीजक फतुहा) दो शब्दावलियों, तीन साखी ग्रंथों, एक सर्वंगी, एक गुणगजनामा तथा आचार्य सेन की रचनाओं की तुलना करके कबीर ग्रंथावली का मूल पाठ निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। निरंजनी दोनों शाखाओं से सम्बन्धित प्रतियों पर राजस्थानी भाषा का व्यापक प्रभाव है। इनकी निरन्तर प्रतिलिपियाँ होती रहीं और भाषा का रूपान्तरण होता रहा। साखियों पर राजस्थानी का प्रभाव अपेक्षाकृत

अधिक है। पदों (सबद) तथा रमैनियों पर यह प्रभाव अधिक है। डॉ० पारसनाथ तिवारी ने इस भेद का कोई कारण निर्दिष्ट नहीं किया। वास्तव में साखियों में जो छन्द अपनाया गया है वह अपभ्रंश का दूहा छन्द है। अपभ्रंश भाषा का प्रचार प्रसार लगभग सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश में हुआ। उत्तरवर्त्ती अपभ्रंश (जिसे अवहट्ठ कहा गया है) में पूर्वी क्षेत्र के कवियों ने रचनाएँ की हैं। सरहपा और कण्हपा के दोहाकोश की भाषा अवहट्ठ है। यह भाषा राजस्थान से आभीरों के साथ पूर्वी भारत में काव्यभाषा के रूप में पहुँची थी। विद्यापति ने भी अपनी दो रचनाओं 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' में इसी भाषा को माध्यम बनाया था। सरहपा से लेकर विद्यापति तक भाषा के दोहरे रूपों का प्रयोग परिलक्षित होता है। इन कवियों ने गीतों की रचना पूर्वी भाषा में की है और दोहों तथा प्रबंध काव्यों की रचनाएँ परम्परित काव्यभाषा अवहट्ठ में की हैं। कबीर का भाषिक आदर्श इसी परम्परा के अनुरूप है। इसलिए उनकी भाषा में राजस्थानी तत्त्वों की उपलब्धता आश्चर्यजनक नहीं है।

कबीर ने विभिन्न प्रान्तों के सन्तों की सत्संगति की थी मात्र इसीलिए उन्होंने पंचमेल खिचड़ी या सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग नहीं किया। ज्यादातर हिन्दी के आलोचक कबीर के विषय में अनर्गल निर्णय ही देते रहे हैं। कबीर जिस हिन्दी को काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित कर रहे थे वह सही अर्थ में सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश का प्रतिनिधित्व कर रही थी। वे जानबूझकर ऐसी भाषा का निर्माण कर रहे थे जिसका स्वरूप यथासम्भव अखिल भारतीय हो, जैसा कि बहुत बाद में हमने हिन्दी को राजभाषा का संवैधानिक अधिकार देते हुए अपेक्षा की है। हिन्दी का विकास भारतीय भाषाओं के सहयोग से हो ताकि वह सम्पूर्ण भारतीय जनमानस की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके। कबीर ने बड़ी चतुराई से एक दोहा कहा है --

बोली हमरी पूरबी, ताहि न चीन्हें कोई ।
हमरी बोली सो लखै, जो पूरब का होई ।।

कबीर के कहने का तात्पर्य है कि मेरी बोली यद्यपि पूरब की है किन्तु मेरी काव्यभाषा में कोई आसानी से उसे नहीं परख पाता है। उसमें पूर्वीपन इतना कम है कि कोई यह नहीं कह सकता है कि किसी पूरबिया ने इसकी रचना की है। मेरे पूरब के साथी ही जानते हैं कि मेरी बोली पूरबी है क्योंकि मैं उनसे उसी में बातचीत करता हूँ। कबीर ने अपनी साधना के विषय में जैसे गर्वोक्ति की है उसी तरह अपनी अर्जित भाषा के सन्दर्भ में भी। कबीर में निश्चित रूप से विलक्षण प्रतिभा थी। उनका भाषा पर जबर्दस्त अधिकार था। उन्होंने अपने कई पदों में फारसीनिष्ठ शब्दावली का प्रयोग किया है --

पीराँ मुरीदाँ काजियाँ, मुलाँ अरु दरबेस ।
कहाँ थे तुम्ह किनि कीये, अकलि है सबनेस ।।
कुरानाँ कतेबाँ अस पढ़ि-पढ़ि फिकरि या नहीं जाई।
टुकदम करारी जे करै, हाजिराँ सुर खुदाई ।।

कबीर ने भाषा प्रयोग के समय देश काल तथा पात्र का ध्यान रखा है। मौलवियों, मुल्लाओं, तथा मुस्लिम श्रोताओं से उन्होंने फारसी निष्ठ भाषा में, राजस्थानी तथा पंजाबी क्षेत्र के श्रोताओं से राजस्थानी - पंजाबी मिश्रित भाषा में, ब्रज तथा खड़ीबोली क्षेत्र के लोगों से ब्रजी तथा खड़ीबोली में, पूर्वी लोगों से पूर्वी भाषा में संवाद स्थापित किया। कम से कम उनके प्रयोग में इस तरह का लचीलापन अवश्य था इसलिए अलग अलग क्षेत्रों में उनकी वाणी क्षेत्रीय भाषा से प्रभावित हुई। इस तथ्य को भी स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है कि उनकी वाणी मौखिक ढंग से एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचती रही है। इसलिए उसमें रूपान्तरण हो जाना मुश्किल नहीं है। यदि कोई एक पद भिन्न भिन्न क्षेत्रों में किंचित पाठ भेद के साथ उपलब्ध है तो कोई कठिनाई नहीं होती। कठिनाई वहाँ उत्पन्न होती है जहाँ बिल्कुल विपरीत भाव वाले पद मिल जाते हैं।

फारसी लिपि के कारण भी अनेक पाठ विकृतियाँ हुई हैं। कहीं कहीं नागरी लिपिजनित विकृतियाँ भी हैं। विकृत पाठों के साम्य के आधार पर विभिन्न प्रतियों का वर्गीकरण किया गया है। जिन प्रतियों में विकृति के आधार पर साम्य स्थापित किया गया है मात्र उन्हीं में मिलने वाले पाठ को प्रामाणिक नहीं माना गया है। जिन समुच्चयों में परस्पर साम्य नहीं है यदि उन सभी में कोई पाठ है तो वह प्रामाणिक है। डॉ० पारसनाथ तिवारी ने समस्त प्रकाशित अप्रकाशित प्रतियों का पाठ वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल करके २०० पदों, ४२ रमैनियों तथा ७४४ साखियों को प्रामाणिक मानकर कबीर ग्रंथावली का सम्पादन किया है। श्यामसुंदर दास द्वारा सम्पादित नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित कबीर ग्रंथावली में संकलित पदों की तुलना में इनमें पदों की संख्या लगभग आधी है। तिवारी जी के २०० पदों में करीब ७० पद ऐसे हैं जो सभा की ग्रंथावली में नहीं आये हैं। डॉ० तिवारी के शोध निर्देशक डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने तिवारी जी को अपने संकलन पर पुनर्विचार के लिए सलाह दी है। 'यह अवश्य अपेक्षित होगा कि डॉ० तिवारी इन समुच्चयों की संकीर्णता पर पुनर्विचार करें जिनकी संकीर्णता पर हमने ऊपर विचार किया है। यदि वे मेरे ऊपर निकाले हुए परिणामों से सहमत हों तो अपनी 'कबीर ग्रंथावली' के आगे के संस्करणों में उन छन्दों साखियों, पदों को भी सम्पादित कर सम्मिलित कर लें जो उनके स्वीकृत समुच्चयों की भाँति

उपर्युक्त समुच्चयों में भी पाये जाते हैं।' (कबीर ग्रन्थावली - संपादक-डॉ० माता प्रसाद गुप्त - पृ० २९)। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने दादूपंथी परम्परा की उस प्रति को आधार बनाकर अपनी ग्रंथावली का सम्पादन किया है जो सं० १७६२ की बनवारीदास की परम्परा से सम्बन्धित है। डॉ० गुप्त ने कुल ३८४ पदों, एक पदी, सतपदी, बड़ी अष्टपदी दुपद, लहुड़ी अष्टपदी, बारहपदी, चौपदी, आदि शीर्षकों में कुल ४३ रमैनियों को सम्मिलित किया है। साखी के अन्तर्गत ८१० साखियों को प्रामाणिक माना गया है। गुप्त जी ने कई साखियों में आरम्भ में कबीर का नाम जोड़ दिया है इससे छन्द की मात्रा बढ़ गयी है। इसके विपरीत दास, तिवारी, आदि की ग्रंथावलियों में 'कबीर' नाम हर साखी में नहीं जुड़ा है। जैसे –

कबीर सतगुर सवां न को सगा, सोधी सई न दाति।
हरि जी सवां न को हितू, हरिजन सई न जाति ।।

(गुप्त का पाठ)

सतगुर सवां न को (इ) सगा, सोधी सई न दाति ।
हरि जी सवां न को (इ) हितू, हरिजन सई न जाति ।।

(तिवारी का पाठ)

सतगुर सवां न को सगा, सोधी सई न दाति ।
हरि जी सवां न को हितू, हरिजन सई न जाति ।।

(दास)

'दोहा' छन्द में १३-११, १३-११ मात्राएँ होती हैं। कबीर का नाम आरम्भ में जोड़ देने से चार मात्राएँ बढ़ जाती हैं। इससे सिद्ध होता है कि गुप्त जी ने जिस मूल प्रति से अपना पाठ सुनिश्चित किया है वह त्रुटिपूर्ण है। डॉ० तिवारी ने 'ण' के स्थान पर 'न' 'ड़' के स्थान पर 'र' को प्राथमिकता दी है। यदि कबीर की आधारभूत काव्य भाषा खड़ीबोली मानी जाय तो उसमें ण, ड/ड़ की प्रचुरता असंभव नहीं है किन्तु यदि कबीर की निजी मातृभाषा को ध्यान में रखा जाय तो पूर्वी बोलियों की प्रवृत्ति के अनुसार 'न' और 'र' की प्रधानता उचित ही है। कतिपय विद्वान यह मानते हैं कि कबीर की आधारभूत भाषा खड़ीबोली और ब्रजभाषा है। इसमें राजस्थानी तथा पंजाबी का भी प्रभाव है और कहीं फारसी का भी मेल-जोल है। पश्चिम की ही भाषा हिन्दी प्रदेश में काव्यभाषा के रूप में स्वीकृत होती रही है इसलिए कबीर ने भी अपनी वाणी की रचना उसी भाषा में की है। खड़ीबोली में भूतकृदन्त 'या' होता है 'आ' नहीं। जैसे-मिल्या और मिला। मिल्या क्रिया खड़ी बोली के व्याकरणिक वैशिष्ट्य के समरूप है। श्यामसुन्दर

दास तथा माताप्रसाद गुप्त दोनों ग्रंथावलियों में भूतकृदन्त 'या' ही स्वीकृत है, जैसे - पांसां पकड्या, बरस्या बादल, तेल घट्या आदि ।

पदों की संख्या के अलावा उनके स्वीकृत पाठों में भी भेद दृष्टिगत होता है। 'दुलहनी गावहु मंगलचार' वाले पद में मुख्य पाठ-भेद भविष्यकालिक क्रियाओं का है जैसे - करिहौं (तिवारी) करिहुँ (गुप्त) करिहूँ (दास)। इस तरह के अनेक छोटे-मोटे पाठ-भेद अन्यत्र भी दृष्टिगत होते हैं। जैसे --

बहुत दिनन मैं प्रीतम आए । (तिवारी)

बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाए । (गुप्त)

ऐसी साखियाँ तथा पद (सबद) जिनमें कुछ शब्दों या कुछ पंक्तियों में ही पाठ भेद है उनको लेकर उतनी बड़ी समस्या नहीं खड़ी होती है जितनी उन पदों को लेकर है जो कबीर के नाम पर प्रचलित हैं, जनमानस में जिनके प्रति पूर्ण आस्था भी है। यही नहीं हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे कबीर के मूर्धन्य आलोचक जिन अनेक पदों के माध्यम से कबीर के विषय में अपनी कुछ सम्मतियाँ निश्चित करते हैं उनका समावेश श्यामसुन्दर दास, माताप्रसाद गुप्त एवं पारसनाथ तिवारी द्वारा अलग-अलग सम्पादित ग्रंथावलियों में नहीं है। प्रस्तुत पद इसी तरह का उदाहरण है --

झीनी-झीनी बीनी चदरिया।
काहे कै ताना बाना काहे कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।।
इंगला, पिंगला ताना भरनी, सुषमन तार से बीनी चदरिया ।।
आठ कँवल दल चरखा डोलै, पाँच तत्व गुन तीनी चदरिया ।।
साईं को सियत मास दस लागें, ठोक ठोक के बीनी चदरिया ।।
सो चादर सुरनर मुनि ओढ़िन, ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया ।।
दास कबीर जतन से ओढ़िन, ज्यों के त्यों धर दीनी चदरिया ।।

हजारी प्रसाद द्विवेदी की सम्मति है कि बीजक कबीरदास के मतों का पुराना और प्रामाणिक संग्रह है, इसमें सन्देह नहीं ..... पर स्वयं बीजक ही इस बात का प्रमाण है कि साखियों को सबसे अधिक प्रामाणिक समझना चाहिए, क्योंकि स्वयं बीजक ने ही रमैनियों की प्रमाणिकता के लिए साखियों का हवाला दिया है। साखियों की भाँति बीजक के शब्द भी प्रामाणिक हैं। (कबीर - पृ० ३२-३३)। गुरुग्रंथ साहब के कबीर सम्बन्धी पदों की प्रामाणिकता के प्रति प्रायः सभी विद्वान आश्वस्त दिखाई देते हैं। श्यामसुन्दर दास ने 'कबीर ग्रंथावली' के परिशिष्ट में गुरुग्रंथ साहब के पाठ को प्रकाशित किया है। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' द्वारा सम्पादित 'कबीर रचनावली' तथा वेलवेडियर प्रेस

द्वारा प्रकाशित शब्दावली (दूसरा संस्करण) भी महत्वपूर्ण सम्पादन है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इनका उपयोग अपने ग्रंथ 'कबीर' में किया है। कबीर के विषय में विचार करते समय इनमें संग्रहीत पदों को भी निःसंकोच ग्रहण करना चाहिए।

कबीर की वाणी का बहुत सा हिस्सा लोक में समाविष्ट है। मौखिक परम्परा में उनका मूलरूप भाषिक स्तर पर ही नहीं बल्कि भावात्मक एवं वैचारिक स्तर पर भी पर्याप्त परिवर्तित हो गया है। कबीर के विचारों के समानुकूल मौखिक परम्परा में सुरक्षित रचनाओं को भी महत्त्व मिलना चाहिए। कबीर दास ऐसे विलक्षण सन्त हैं जिनकी उलटबाँसियों में अर्थ की अनेक सम्भावनाएँ निहित हो गयी हैं। एक विचार को काटने वाले दूसरे विचार वाले पद भी सहजता से उपलब्ध हो जाते हैं। कबीर में विचारों प्रभावों भाषा एवं शैलियों की इतनी व्यापकता है कि उनके विषय में सुनिश्चित मत बनाना सरल नहीं है। इसलिए कबीर के नाम पर मनोवांछित रचने और लिखने की संभावना का मार्ग सदैव प्रशस्त रहा। अपने विशेष स्वार्थ के पोषक महात्माओं ने गंभीर विचारों को उड़ाकर नए निजी विचारों को लाकर कबीर की वाणी को विवादास्पद बनाकर भारतीय मनीषा के प्रति घोर अपराध किया है। कबीर साहित्य और कबीर पंथी साहित्य में स्पष्ट भेद बनता गया है। इसके प्रति भी सतर्कता अपेक्षित है। कुछ वर्षों पूर्व जयदेव सिंह तथा डॉ० वासुदेव सिंह ने भी कबीर वाणी का सम्पादन किया है लेकिन इन सबके बावजूद कबीर वाणी के प्रामाणिक पाठ के निर्धारण की आवश्यकता बनी ही है। ●

कबीर का साहित्यिक व्यक्तित्व और उनका योगदान

डॉ० चंद्रकान्त बांदिवडेकर

संत कबीर के संबंध में जो दंतकथाएं, मिथक प्रचलित हुए हैं वे कबीर के महान व्यक्तित्व का प्रमाण भले ही देते हों, उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व को सुनिश्चित आकार देना मुश्किल करते हैं। वैसे भी मेरी राय में समाज के लिए ऐतिहासिक व्यक्तित्व की अपेक्षा मिथकीय व्यक्तित्व ही अधिक महत्वपूर्ण होता है क्योंकि वह समाज की स्मृति से सन कर, कल्पना के पुट से समाज - मानस का संस्कार लेकर, समाज की आशा-आकांक्षाओं की बीजभूत संकल्पनाएँ लेकर अवतरित होता है और शील के संस्कार करता रहता है।मुझे यह उत्कटता से लगता है कि आज भारतीय समाज का जो मानस संरचित हुआ है और उसमें आज के राजनयिकों द्वारा जहर घोलने के प्रयासों के बावजूद उतना मलिन नहीं हुआ है, उसका महत्वपूर्ण निर्माणक घटक हमारा संत साहित्य है। हिंदू कर्मकांड और उच्च वर्ण द्वारा धर्म के नाम पर हुए शोषण के बावजूद मूल मानवीय मूल्य और संस्कार जन जीवन में अभी भी जीवित हैं उनमें संत साहित्य की भूमिका असीम बलवती है। उच्च वर्ग पर ज्ञानेश्वर और तुलसी का प्रभाव पड़ा जो मौलिक परंपराओं से रिस कर सामान्य जन जीवन में व्याप्त हुआ। तुकाराम और कबीर का प्रभाव साक्षात् रूप में निम्न वर्ग पर पड़ा जिसमें भारतीय आध्यात्मिक परंपरा शक्तिशाली रही। महाराष्ट्र में ज्ञानदेव और तुकाराम के सम्मिलित प्रभाव का एक प्रमाण है। आज भी लाखों की संख्या में पंढरपुर आलंदी की धार्मिक यात्राएं (जिन्हें मराठी में 'वारी' बोलते हैं) उत्सवी वातावरण में निकलती हैं - बिना किसी संयोजन के, तो वर्षा की फुहारों में आनंद गद्‌गद् होते हुए महाराष्ट्र की जनता ज्ञानोबा - तुकाराम का जप करती हुई, घोषणा देती हुई, भजन करती हुई हर दिन लाख मील का फासला तय करती हुई विट्‌ठल के, ज्ञानेश्वर की समाधि के दर्शन करने जाती है - एक बेहोशी की हालत में। ध्यान रहे, ये

कंठीधारी लोग मांस-मछली और शराब का सेवन नहीं करते। इस प्रकार सामाजिक शील को सुरक्षित रखने का जो कार्य संत साहित्य ने किया उसी से भारतीय समाज तथाकथित आधुनिकता के संस्कारों के दुष्प्रभावों से बचा है। इन महान व्यक्तियों की प्रत्यक्ष ऐतिहासिक जीवनी को पुनर्रचित करने में जब सफलता मिले तब मिले लेकिन निराश होने का कोई कारण नहीं है। प्रत्यक्ष ऐतिहासिक जीवनी की अपेक्षा उनका जो साहित्यिक व्यक्तित्व है वह अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है; उसको ठोस आकार उनके द्वारा रचित, लोक मानस द्वारा सुरक्षित संस्कारों के आधार पर दिया जा सकता है। जाते - जाते एक बात का संकेत करना है। तुकाराम अपने जीवन की घटनाओं का, अपने संकटों और उपलब्धियों का जितना स्पष्ट निर्देश करते हैं, उतना स्पष्ट शायद कबीर नहीं करते लेकिन उनके काव्य से उनके व्यक्तित्व की शक्तियों को प्राप्त करना असंभव नहीं है। वैसे भी कबीर के बारे में हिन्दी में इतना लिखा गया है और अच्छा लिखा गया है कि उसके होते कुछ नया, कुछ अछूता देने का संकल्प भी एक प्रकार का दंभ होगा। फिर भी साहित्य के माध्यम से जो व्यक्तित्व का स्पर्श मिला उसको शब्द - बद्ध करने में एक अलग खुमारी तो है ही।

कबीर के काव्य को पढ़ते समय यह बोध होता है कि भारतीय मुनि परंपरा में एक विलक्षण मेधावी और जबर्दस्त स्मृति के व्यक्ति ने जो आध्यात्मिक अनुभव और मूल्यविषयक संस्कार सहज ही में ग्रहण किये हों वे कबीर ने किये थे । कबीर ने किसी परंपरा का उस प्रकार अनुसरण नहीं किया जिस प्रकार तुलसी या सूर ने किया। इस अर्थ में उनकी धर्म साधना सामूहिक और परम्परा पुष्ट नहीं थी उसमें स्वयंभूता थी। उन्होंने लोक व्यवहार में जो हिंसा और दंभ देखा, जो शोषण और झूठ देखा उस पर उन्होंने प्रहार किये परन्तु किसी धार्मिक मत प्रणाली को केन्द्र बनाकर कटुतापूर्ण टीका टिप्पणी नहीं की । कबीर की स्वयंभूता उस समय की धार्मिक - सामाजिक स्थिति में अधिक आश्चर्य और आनन्द पैदा करती है। वैसे भी भारतीय धर्म -साधना में सामूहिक आस्था की अपेक्षा वैयक्तिक आस्था पर बल है और दूसरे की आस्था के प्रति सहिष्णुता है। व्यक्ति अगर आचरण में सत्य प्रेमी, ईमानदार, करुणा और प्रेम से व्यवहार करने वाले निश्छल स्वभाव का हो तो उसकी वैयक्तिक धर्म साधना के प्रति सहिष्णुता बरती जाती रही है। मध्ययुग में भारतीय धर्म साधना पर जो आक्रमण हुआ वह मुसलमान धर्म की ओर से था। इस समूहवादी धर्म का बल वैयक्तिक चारित्र्य से अधिक धर्म - मत की विशिष्टता पर था। इस टकराहट में हिंदू संगठन अधिक संकुचित होने लगा। उच्च - नीच जाति व्यवस्था में मानसिक तनाव थे

और दूसरे जात, धर्म संप्रदाय में प्रवेश पर पाबन्दी जैसी थी। इसके विपरीत जात - संप्रदाय रहित समता पर आधारित मुसलमान धर्म में दूसरों को प्रवेश सुलभ ही नहीं था बल्कि अपने धर्म में खींचने में विजयोन्माद का अनुभव भी होता था। एक तरह से यह ग्रहणशील धर्म था और निम्न हिंदू जातियों के लिए आकर्षक भी था। परिणामतः हिंदू धर्म की जातियाँ अधिक कट्टर होने लगीं और कर्मकाण्ड अधिक प्रखरता से करने लगीं। एक तरह से दूसरे धर्म के मानने वालों को अपने धर्म में स्थान देने की उदारता से वंचित हिन्दू संगठन अधिक विखंडित और आत्मकेंद्रित होने लगा। दोनों धर्मियों में कट्टर विरोध पनपने लगा। ऐसी स्थिति में कबीर का जन्म हुआ। कबीर के पास परंपरा का भान श्रुति पर आधारित ज्ञान से ही पैदा हुआ था अतः उसमें किसी प्रकार की कट्टरता नहीं थी और उनकी स्वतंत्र प्रज्ञा और विवेकपूर्ण चिंतन के लिए काफी अवकाश था। उनकी स्वतंत्र प्रज्ञा ने उच्चतर तत्त्वों पर आधारित श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों के प्रति सचेत जीवन विषयक आचरण धर्म की विवेक संपृक्त राह बनायी जो काफी समन्वयशील और लचीली थी। मनुष्यत्व की बलि लेने वाले धार्मिक कर्मकांड के प्रति सहज जुगुप्सा इसका एक अनिवार्य अंग था। इसी समय कर्मकांडी कट्टरता से कोसों दूर रहने वाली प्रेम और करुणा पर आधारित सूफी मार्गी ईश्वर भक्ति का मुसलमान धर्म का ही एक उदात्त, भव्य, व्यापक रूप भी भारत में आया। वह मनुष्य मन की सहज उदारता की अभिव्यक्ति थी। सूफी साधना और भारत में ही पैदा हुई भक्तिधारा ने भारतीय समाज को कट्टरता से बचाकर प्रेम, दया, सत्यवादिता, शुचिता, अहिंसा, पारदर्शी सादगी और ईमानदारी पर आधारित शील-साधना का सहज रास्ता दिखाया। एक प्रकार से वह संकीर्ण संप्रदायवादी विचारधारा, आचरण धर्म और मानव विरोधी भावसंसार को तरजीह देने वाले आक्रामक व्यवहार के लिए सशक्त उत्तर था। परम तत्त्व के अस्तित्व में आस्था रखकर, उसके साथ प्रतिबद्ध होकर जीवन जीने की सीख देने वाले ये दोनों मार्ग – सूफी और भक्ति – भारतीय जन मानस की उच्च मूल्यों के प्रति समर्पित निष्ठा का सृजनधर्मी आविष्कार था। दोनों मार्ग परमतत्त्व से मनुष्य का संबन्ध आनंद भाव से जोड़ने वाले मार्ग थे। कबीर के व्यक्तित्व में दोनों जीवन मार्गों का रस एकत्र संचित हुआ था। एक प्रकार से भारतीय जन जीवन के उच्चादर्शों और जीवन रसों का आविर्भाव कबीर व्यक्तित्व के रूप में हुआ। इस रस का साक्षात्कारी अनुभव व्यक्त करने वाली उत्कट, मधुर, तरल पद - रचना कबीर ने की है। राम के साथ भक्त के समर्पण भाव की आनंद केलि कबीर के पदों में व्यक्त हुई है। इस भक्त के लिए बाह्य आकर्षण त्याज्य थे -

राता - माता नाम का, पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदार का, मागै मुक्ति बलाय।।

यह प्रेम धर्म, यह रसपूर्ण आनंद मार्ग, यह अन्तर्मुखी आत्ममार्ग सभी बाह्य कर्मकांडों की विरोधी दिशा में जा रहा था। इस धर्म में केवल आकस्मिक ढंग से प्राप्त जन्मसिद्ध जात या धर्म का महत्व नहीं था, जन्म से मृत्यु तक लादे गये नियमों के पालन का बोझ संस्कारों पर नहीं था। उपवास, तीर्थ, व्रत, वैकल्प इत्यादि बाह्य उपचारों के लिए कोई स्थान नहीं था। मनुष्य को मनुष्य से अलगाने वाली बाह्य आचरण धर्म की व्यर्थता कबीर ने देखी थी।

एक निरंजन अल्ह मेरा, हिन्दू तुरक दुहूं नहिं मेरा।
राखूँ व्रत न महरम जाना नित ही सुमिरूं जो रहै निदाना।।
पूजा करूँ न नमाज गुजारूँ, एक निराकार हिरदै नमसकारूँ।
न हज जाऊँ न तीरथ - पूजा, एक पिछाज्या तौ क्या दूजा।।
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन सूँ मन लागा।।

इस निरंजन से मन लग गया, भावनात्मक रिश्ता जुड़ गया तो बाह्य धर्माडंबर ही निरर्थक होता है ऐसा नहीं, वेद और कुराण भी व्यर्थ ठहरते हैं :

गगन गरजै तहां सदा पावस झरै, होत झनकार तित बजन तूरा।
वेद कित्तेब की गम्म नाहीं तहाँ, कहै कब्बीर कोई रमै सूरा।।

यह कबीर का धर्म, यह अन्तस्साधना शूर की धर्म साधना थी। सही अर्थ में कबीर सेक्यूलर थे। वे हिन्दू - मुसलमान धर्मों की एकता चाहते थे, यह मानना उतना औचित्यपूर्ण नहीं होगा। वे जिस उच्च कूटस्थ धर्म पर श्रद्धा रखते थे वह धर्म न हिंदू था, न मुसलमान। सबको अतिक्रान्त करने वाला वह मनुष्य धर्म था। हिन्दू मुसलमान ऐक्य उनकी उच्च धर्म संकल्पना का बाय-प्राडक्ट था। उनकी उच्च धर्म साधना का बल उच्च नैतिक चारित्र्य पर था क्योंकि उनकी धर्म-साधना के लिए मन एवं शरीर दोनों की शुद्धि आवश्यक मूलभूत शर्त थी। उनके धर्म-विचार में विचार और आचरण का अद्वैत महत्वपूर्ण था। इसीलिए आचरण और विचार के बीच की असंख्य असंगतियों पर उन्होंने जमकर हमले किये। ये असंगतियाँ धार्मिक हों, सामाजिक हों, वैयक्तिक हों--असंगतियों को वे बर्दाश्त नहीं करते थे। उनकी कविता की शक्ति का एक कारण इस आंतरिक ईमानदारी से उद्‌भूत हुआ है। अनेक स्थानों पर आचरणात्मक धार्मिक कर्मकांड पर जो आघात होते हैं वे उच्चतर नैतिक आग्रहों के कारण और अन्तर्मुख धर्म-विचार के फलस्वरूप होते हैं। इसलिए कबीर की कविता में वैश्विक ऊर्जा उत्पन्न हुई है।

कबीर के काव्य में उनके विद्रोही एवं क्रांतिधर्मी व्यक्तित्व की ठोस मुद्रा अंकित होना स्वाभाविक ही था। लेकिन उनका विद्रोह भारतीय परंपरा को पूर्णतः ठुकराने वाला नहीं था। वे रूढ़ अर्थ में पढ़े लिखे नहीं थे, अक्षर शत्रु भी थे लेकिन भारतीय ज्ञान परंपरा में जिन दो बातों का अत्यधिक महत्व था वे कबीर के व्यक्तित्व की शक्तियाँ थीं। एक भारतीय ज्ञान परंपरा शब्द वाचन से अधिक शब्द की स्मृति पर आधारित रही है और भारतीय ज्ञान परंपरा में इसीलिए गुरु परंपरा का अतिशय महत्व है। गुरु की उपस्थिति का सुखद बोध और गुरु के माहात्म्य का उदात्त अनुभव कबीर की कविता में उत्कट रुप में समाविष्ट है। सत् गुरु की कृपा से प्राप्त हुई ब्रह्म ज्ञान की उपलब्धि का अनुभव उन्होंने अनेक स्थानों पर प्रत्यय पूर्ण साक्षात्कारी भाषा में व्यक्त किया है। **सत गुरु लई कमान करि, बाहन लग्गा तीर। एक ज बाहा प्रीति सौं भीतरि भिदा सरीर।** या **''कबीर गुरु गरवा मिला मिलि गया आहैं लौन। जाति पांति कुल सब मिटै नाउँ धरौगे कौन।''** कबीर को गुरु से ब्रह्म ज्ञान प्राप्त हुआ, यह निर्गुण ब्रह्म का अनुभव था परन्तु उन्होंने निर्गुण निराकार ब्रह्म को 'राम' नाम दिया। लेकिन यह भी स्पष्ट किया– **'दशरथ सुत तिहि लोक बखाना, राम नाम का मर्म है आना'।** इस 'घट घट वासी' 'राम का कबीर से संबंध माधुर्य पर, प्रेम पर आधारित था। लोगों को जोड़ने वाले सूत्र के रूप में प्रेम को अपना कर कबीर ने संप्रदायगत, धर्मगत भेद पर आधारित वैमनस्य को ही तिलांजलि दी। एक तरह से यह प्रेम धर्म वैयक्तिक होता है और दूसरी तरह से सामाजिक भी। क्योंकि प्रेम से लबालब भरा व्यक्तित्व अपने आचरण में कटु और हिंसक हो ही कैसे सकता है? लेकिन प्रेम का माता यह व्यक्ति अपने जीवन में स्वयं सुखी बहुत कम बार होता है। निरंतर राम से वियोग की अवस्था में रहने वाला संवेदनशील भक्त कवि आध्यात्मिक बेचैनी में ही रहता है। **'बासुरि सुख नां रैणि सुख, ना सुख सुपिनै मांहि। कबीर विछुड्या राम सूं, ना सुख धूप न छाँहिं'।** अपने इस संबंध को विरही राम की बहुरिया मानने पर सुख का एक पतला स्तर इस दुख से अवश्य लगा हुआ है। कबीर ने इस विरहपूर्ण सुख दुख के बड़े उत्कट पद गाये हैं: **'चकई बिछुरी रैनि की, आन मिलै परभाति, जे नर बिछुरे राम सौं, ते दिन मिले न राति'।** विरह की तीव्र बेचैनी, प्रियतम के सान्निध्य की उत्कट व्याकुलता, स्वप्नमय, मिलन की सुख दुखमय अनुभूति, साक्षात्कार के क्षणों का प्रतीतिपूर्ण चित्रण [परचा कौ अंग] कबीर की कविता का बड़ा रमणीय भाग है। **पंखि उड़ानीं गगन कौं, पिंड रहा परदेस, पानी पियां चंचु बिनु, भूलि गया यहु देस।** साधना मार्ग की वेदना और उस पर चलने वाले व्रती की कठिनाइयों का

बड़ा प्रभावी चित्रण कबीर के अनेक दोहों और पदों में मिलता है। **'कबीर का घर सिखर पर, जहाँ सिलहली गैल। पांव न टिकै पिपीलिका, लोगनि लादे बैल'**। लेकिन इस पर गुरु कृपा के प्रभाव से चलना सुकर हो जाता है और कबीर इसके लिए बड़े कृतज्ञ भी हैं - **'कबीर मारग कठिन है, मुनि जन बैठे थाकि। तहाँ कबीरा चलि गया, गहि सतगुरु की साखि'**। कबीर की यह कृतज्ञता उस उपलब्धि का प्रमाण है जो बिरलों को प्राप्त होती है। कबीर के अनेक पदों में /दोहों में इस चरम उपलब्धि का अनुभव व्यक्त हुआ है जो शब्दों की ध्वनि से, शब्दों की लयपूर्ण मैत्री से, बिंबों की प्रतीति से पाठक के लिए अनुमान की वस्तु नहीं रह जाती - लगता है कबीर ने कुछ महत्त्वपूर्ण पा लिया है। **'हम बासी उस देस के, जहाँ जाति पाँति कुल नाहिं। सबद मिलावा ह्वै रहा, देह मिलावा नाहिं'**। इस साधना में नामस्मरण का अपरंपार महत्व है और कबीर के लिए यह आंतरिक अनुभव की बात है। **'तू तू करता तूँ भया, मुझ में रही न हूँ । बारी फेरी बलि गई, जित देखूं तित तूँ'**। या **'लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल/लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल'**। यह सब पढ़ते समय लगता है यह साधक उस देश में पहुँच चुका था।

कबीर का साधना मार्ग एकांतिक नहीं था, गौतम बुद्ध की तरह मध्यम मार्ग ही था। वे गृहस्थ थे, जीविका के लिए कपड़े बुनने का काम करते थे। अपने काम के कतिपय उल्लेख कबीर की कविता में मिलते हैं। भारतीय परंपरा के अनुसार वे गृहस्थीधर्मी आतिथ्यशील थे। **साँई' इतना दीजिए जामें कुटुम समाय, मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय।** गृहस्थी धर्म में ही काम, क्रोध इत्यादि षड् रिपुओं के यथोचित भोग से शरीर पर संयम प्राप्त किया जा सकता है। उसके लिए उग्र तपस्या, उपवास, शरीर कष्ट की जरूरत नहीं है, यह उनकी धारणा थी। मध्यम मार्गी व्यक्ति साधना के अतिरेकी उपायों का अवलंब कर विकृत मानस को बढ़ावा नहीं देता। इसीलिए विकृत मानस से उत्पन्न विचार और आचरण के बीच की असंगतियों पर कबीर ने प्रखर व्यंग्यात्मक प्रहार किये हैं। असल में उन्होंने समस्त स्त्री पर कभी हमला नहीं किया। स्त्री के रूप में साधक को मायावी रास्ते पर ले चलने वाली, सम्मोहित कर डँसने वाली शक्ति के रूप में धिक्कारा है। इसे समूचे स्त्री वर्ग का विरोध या निंदा मानना संदर्भच्युति के दोष का भागी बनना है। **'कांमिनि काली नागिनी तीनऊं लोक मंझारि/राम सनेही ऊबरै, बिरवई खाए झारि'**। कबीर पर योग मार्ग का प्रभाव था, नाथ पंथ का प्रभाव था लेकिन सच्ची बात यह है कि ये सारे प्रभाव उन्होंने अपने आत्मप्रत्ययी ज्ञान के विवेक पर कस कर स्वीकार लिये थे। पोथी निष्ठा

या शब्द प्रामाण्य की अपेक्षा आत्मस्फूर्त ज्ञान मार्ग पर वे अपनी राह तय कर रहे थे। हठयोगी पारिभाषिक शब्दों का प्रतीकात्मक उपयोग उन्होंने भले ही किया हो, लेकिन उसमें सांप्रदायिकता का लेश मात्र भी नहीं है। अपने लिए चाहे जिस प्रकार शब्द का उपयोग करने वाले कबीर को इसीलिए डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'भाषा का डिक्टेटर' कहा है। उनकी अंतर्मुखी भक्तिसाधना में आत्मसमर्पण का अपरंपार महत्त्व है। बलिदान की भाषा का बार बार उल्लेख वे करते हैं। यह बलिदान भौतिक सुख का होता है, ऐंद्रिय लालसा का होता है, तृष्णा एवं ऐषणा का होता है। कबीर के भक्ति मार्ग के मूल तत्त्व भारतीय अद्वैत दर्शन से निःसृत हैं और शंकराचार्य से उनका घनिष्ठ संबंध है। ब्रह्म से आत्मा की भावात्मक ऐक्यानुभूति का अहर्निश प्रयत्न उनकी साधना का मार्ग है, इसी को वे रहस्यवादी साधना कहते हैं। इस साधना की सभी मंजिलें कबीर की कविता में दिख सकती हैं। इस साक्षात्कारी स्वरूप का आत्मप्रत्ययात्मक चित्रण कबीर की कविता में स्थान स्थान पर मिलता है। यहाँ एक पद उद्धृत है:

दुलहिन गावौ मंगलचार, हम घरि आये हो राजा राम भरतार
तन रति करि मैं मन रति करिहूँ, पंच तत्व बराती।
रामदेव मोहि ब्याहन आये, मैं जोबन में माती।।
सरीर सरोवर वेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव संग, भाँवरि लैहूँ, धंनि धनि भाग हमार।।
सुर तेतिसो कोटिक आये, मुनिवर सहस अठासी।
कहैं कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरुष एक अविनासी।।

कबीर के जीवन सार्थक्य का अनुभव राम की / हरि की कृपा पर निर्भर था।

हरि मरिहैं तो हम हूँ मरिहैं/ हरि न मरै तो हम काहे को मरिहैं।

या

हम न मरे मरिहै संसारा/हम को मिला जियावनहारा।

इस समूचे विवेचन का मुख्य अभिप्राय यही है कि कबीर आत्म रंग में रँगा साधक वीर था और उसकी साधना व्यापक अर्थ में वैयक्तिक थी, उसकी नाल भारतीय साधना, परंपरा से जुड़ी हुई थी। यहाँ यह भी विचार मन में आता है कि भारतीय साधना दर्शन, परंपरा में ऐसा कुछ था जिससे कबीर जैसा व्यक्तित्व खिल गया। ध्यातव्य है किसी प्रकार की सुरक्षा न होते हुए भी कबीर काशी में जीवित रहे, फलफूल कर एक महान व्यक्तित्व के रूप में उभरे।

कबीर के सामाजिक धार्मिक विद्रोही/क्रांतिकारी व्यक्तित्व के स्वरूप को थोड़ा और समझना जरूरी है।

कबीर की जीवन दृष्टि अखंड एवं समग्र थी और उनका मूलभूत केंद्र आध्यात्मिक था और भारतीय परंपरा से अभिन्न था। इस प्रकार का व्यक्तित्व जब जीवन की ओर देखने लगता है तो धर्म के नाम पर जो स्वार्थ केंद्रित कर्मकांड का संयोजन विद्यमान रहना है उसके प्रति उसके मन में तीव्र असंतोष, गुस्सा, नफ़रत पनपते हैं। विचार और आचरण के बीच की असंगतियों पर वह टूट पड़ता है। इसी प्रक्रिया में से कबीर का सीमित अर्थ में विद्रोही या क्रान्तिकारी रूप प्रकट होने लगा। कबीर के व्यक्तित्व में व्याप्त प्रेम भक्ति का मर्म न समझने वाले विद्वानों ने कबीर की निरक्षरता और पांडित्य के अभाव पर टीका टिप्पणी की है। इस संदर्भ में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का विवेचन एवं मूल्यांकन अत्यधिक महत्वपूर्ण है। वे लिखते हैं 'कबीर ने ऐसी बहुत सी बातें कही हैं, पर इसलिए उनको समाज सुधारक समझना गलती है। वस्तुतः वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टि - वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यक्तिवादी थे। सर्व - धर्म - समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पायी जाती है, वह बात है भगवान के प्रति अहेतुक प्रेम और मनुष्य मात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझना'। वे आगे लिखते हैं 'कबीरदास का यह भक्त रूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी केन्द्र के इर्द - गिर्द उनके अन्य रूप स्वयं प्रदर्शित हो उठते हैं।' मजे की बात यह है कि हजारी प्रसाद का जयगान गाने वाले लोगों का गुट उनकी कबीर के संबंध में मूलभूत भूमिका को सुविधापूर्ण ढंग में भूल जाता है। क्रांतिकारी या विद्रोही होना ही कुछ लोगों को उत्तम काव्य का निकष लगता है, कबीर की कविता में व्यंजित भावानुभव का वैविध्य एवं समृद्धता उन्हें महत्वपूर्ण नहीं लगती। परिणामतः भक्त की व्याकुलता, विह्वलता, भगवत्प्रेम की उत्कटता, उससे मिलन की तीव्र आकांक्षा और इस प्रक्रिया में प्राप्त विरह की तीव्रता तथा मिलन का आनंदानुभव इत्यादि की ओर ध्यान नहीं जाता। कबीर का असंगतियों पर प्रखर आघात एक तरह से उनके आत्म परिष्कार का ही एक पहलू था।

कबीर की सीमित क्रांतिकारिता का थोड़ा और स्वरूप देखना अनुचित नहीं होगा । इससे उनके अपने व्यष्टिवादी धर्म का स्वरूप अधिक स्पष्ट होगा। यह इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि हिन्दी समीक्षा में व्यक्तिवाद शब्द का घोर अवमूल्यन हुआ है।

यह सही है कि कबीर सामाजिक और धार्मिक ढोंग, असत् विचार, विषमता का समर्थन करने वाली धार्मिक व्यवस्था, ऐन्द्रिय लोलुपता की ओर ले जाने वाली आचरण पद्धति, ब्राह्मण वर्चस्व, बाह्य आचरण या कर्मकांड की भिन्नता के

कारण हिंदू मुसलमानों में बढ़ने वाला वैमनस्य, मनुष्यता से वंचित रीतिरस्म पर वे अवश्य प्रहार करते हैं, उनका मजाक उड़ाते हैं, व्यंग्य करते हैं। मनुष्य को अत्यधिक संकुचित करने वाली जाति - वर्ण व्यवस्था पर टूट पड़ते हैं। धार्मिक कर्मकांड के समर्थक स्वार्थी ब्राह्मणों पर उनकी प्रखर टीका लक्षणीय है :

साधो पांडे निपुन कसाई
बकरी मारि भेड़ि को धाये, दिल में दरद न आई।।
करि अस्नान तिलक दे बैठे, विधि सों देखि पुजाई।
आतम मारि पलक में बिनसे, रुधिर की नदी बहाई।।
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिए, सभा माहिं अधिकाई।
इनसे दिच्छा सब कोई मांगे, हँसि आवै मोहि भाई।।

मुसलमान धर्म के आचरण पर भी प्रखर टिप्पणी उन्होंने की है:

'दिन को रोज़ा करत हो, रात हनत हो गाय। कांकर पाथर जोरि कर मसजिद लई चुनाइ, ता चढ़ि मुल्ला बांग दै बहरा हुआ खुदाइ'। शेख, काजी, मुल्ला सब पर धारदार टिप्पणियाँ उन्होंने की हैं।

असल में गहराई में देखा जाय तो कर्मकांड पर यह टीका - टिप्पणी धर्म पर नहीं है, आचरण की असंगतियों पर है और उन रस्मरिवाजों पर है जो धर्म के नाम पर मूलभूत मूल्यों की बलि दे कर प्रचलित किये जाते हैं। मूलभूत मूल्य हैं -- भगवत्-भक्ति, अहिंसा, प्रेम, करुणा, दया, क्षमा, समानता, सत्य, ईमानदारी भाईचारा, मनुष्य की कद्र। कर्मकांड पर मूलभूत मूल्यों की बलि देने वाले दोनों धर्म उन्हें पसन्द नहीं थे - **'अरे इन दोउन राह न पाई'**।

कबीर की कविता उनके व्यक्तित्व की शक्ति और विशिष्टता के कारण ऊर्जायुक्त हुई है। उन्होंने पारंपरिक ढंग से काव्य शास्त्र का अध्ययन नहीं किया था और अलंकार शास्त्र को महत्व भी नहीं दिया । लेकिन काव्य के लिए आवश्यक आदिम शक्ति प्रतिभा उनके पास प्रभूत मात्रा में थी। उनके व्यक्तित्व में त्याग की, सर्वस्व होम करने की, निष्काम और निर्मम होकर साधना करने की शक्ति प्रचुर रूप में थी। कबीर ने कहा है:

हम घर जारा आपना, लिया मुराड़ा हाथ।
अब घर जारों तासु का, जो चलै हमारे साथ।।

कबीर ने जीवन सार्थक्य का जो रास्ता चुना था उसमें अपने हाथ पलीता लेकर अपना घर जलाकर आगे निकलने की शर्त थी और यह भी कि उनकी राह पर चलने वाले को भी घर जला कर ही चलने की शर्त थी। इस तरह के उग्र, तेजस्वी, निर्मम, निःस्वार्थ व्यक्ति के संप्रदाय नहीं बनते, बन भी गये तो वह

तेज और वह आग उसमें नहीं होती। इसीलिए कबीर के अखाड़े बन भी गये हों, हाथ में मुराड़ा लेकर चलने की हिम्मत न होने के कारण संप्रदाय विशिष्ट आचरण धर्म में अटक कर बहुत प्रभावी नहीं होते। यह श्राप कबीर से लेकर महात्मा गांधी तक सब को मिला है।

कबीर की कविता और उसके मस्त मौला, फक्कड़ और अक्खड़ व्यक्तित्व के बीच कोई फासला नहीं रहता। असल में व्यक्तित्व और काव्यानुभव के बीच फासला न रहने के कारण ही कविता इतनी सशक्त बन पड़ी है। इसका कारण कबीर के व्यक्तित्व में अंदर और बाहर, वैयक्तिक और लौकिक जैसा कुछ भेद ही नहीं था - आर-पार स्वच्छ पारदर्शिता। वैयक्तिक धर्म साधना की विविध सीढ़ियों पर से ऊपर उठते हुए उनके व्यक्तित्व में प्रचंड विनम्रता पैदा होती गयी **'कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाऊँ। गले राम की जेबड़ी, जित खेचैं तित जाऊँ'।** और उसी समय राम की बहुरिया के संबंध से प्रेम और विरह के आवेगमय तीव्र अनुभव भी साकार हो गये। मनुष्य के प्रति अपार करुणा, आत्मशोध का प्रयास, अपने तिल जैसे दोषों को ताड़वत् देखने की भक्ति युगीन तड़प, विश्व के प्रति कंसर्न । **चाकी चलती देखि के दिया कबीरा रोइ, दोइ पाटण के बीच में साबित बचा न कोइ।** ब्रह्म-जीवन मिलन का आध्यात्मिक साक्षात्कार स्वरूप अनुभव, अधिकाधिक अन्तर्मुख होते जाते समय बाह्य जीवन के प्रति विरक्ति भाव की प्रबलता, आत्मतृप्ति का आनंद यह सब एक ओर है। दूसरी ओर जीवन के कर्मकांडीय छलावों पर, असंगतियों पर प्रहार करते समय उनके साहित्यिक व्यक्तित्व में कभी मजाक उड़ाने की या सीधे प्रहार करने की सुरसुरी दिखती है। उनके प्रहार सीधे होते हैं और उनके द्वारा उद्घाटित यथार्थ विदारक होने के फलस्वरूप उसकी प्रखरता नजरिये को चौंधिया देती है। वे क्वचित ही विशुद्ध हास्य उत्पन्न करते हैं, अधिकतर विडम्बन, उपहास उनके हथियार होते हैं। भगवान के चरणों में तथा गुरु के पैरों में अतिशय लीन और मृदुतम बनने वाला यह भक्त सामाजिक धार्मिक विडंबन करने में उतना ही तन कर उग्र बनता है। तुकाराम के शब्द यहाँ याद आते हैं - भले तरी देऊ गांडीची लंगोटी नाठालाच्या साथी हाणू काठी।' अर्थात् जब हम भले हैं तब अपने कूल्हे की लंगोटी भी छोड़कर दे देंगे लेकिन दुष्ट के माथे पर लाठी का प्रहार करने में नहीं चूकेंगे। कबीर के व्यक्तित्व में अपार श्रद्धा से उत्पन्न जबर्दस्त आत्मविश्वास है और उसमें से उनकी कविता में अप्रिय सत्य बताने की ताकत आ जाती है। साधना के रास्ते पर चलते हुंए आशा क्षण-क्षण बलवती होती जाती है। कभी भी निराशा या विश्वास के लड़खड़ाने का या संशयग्रस्तता का स्वर नहीं सुनाई

पड़ता। एक तरह की मस्ती मतवालापन उनकी कविता में दिखता है - **'हमन है इश्क मस्ताना हमन को होशियारी क्या। जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर - ब - दर फिरते। हमारा यार है हम में, हमन को इन्तजारी क्या।'** कबीर की कविता में उनके व्यक्तित्व में निहित बेधड़कता, बेफ्रिक्री, स्वाधीनता का आंतरिक मान, विलक्षण स्पष्टता (उनकी उलटबांसियां छोड़कर) प्रतीत होती है। उनकी कविता में भारतीय पारंपरिक शैली की प्रतीकात्मकता है लेकिन अलंकार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति नहीं। उनके व्यक्तित्व का सहज, प्रांजल प्रकटीकरण करने वाली उनकी कविता उनके अनोखे, अपवादात्मक रूप में समृद्ध व्यक्तित्व के फलस्वरूप विलक्षण प्रभावी बनी है।

कबीर की भाषा जन-जीवन की आत्मीयता से उनको मिली है। उसमें पांडित्य का लेश मात्र नहीं है। लेकिन शब्दों की संपदा से लेकर व्याकरण के बंधनों तक से उन्होंने स्वतंत्रता ली है। भोजपुरी, अवधी, मैथिली, इत्यादि बोली भाषाओं के शब्दों और अदाओं को उन्होंने इतनी सहजता से ग्रहण किया है कि लगता है कबीर सामान्य जनता के बीच घुल - मिलकर रहने वाले घुमक्कड़ वृत्ति के व्यक्ति रहे होंगे जो किसी भी पराये को अपना लेता है। कबीर ने हिन्दी भाषा की शक्ति को जो योगदान किया उसका विस्तार से विवेचन होना चाहिए।

कबीर महाराष्ट्र के तुकाराम की तरह जनता के कवि हैं। तुकाराम अपने वैयक्तिक जीवन के दुख दर्द को भी बिना किसी लाग लपेट के व्यक्त करते हैं - एक प्रकार से तुकाराम ने अपनी आत्म कथा ओवियों एवं अभंग छंदों के माध्यम से व्यक्त की है। यहाँ तुलसी की विनय पत्रिका के कुछ पदों की याद ताज़ा होती है। मुट्ठी भर शिक्षितों को छोड़कर भारतीय जन-मानस पर ज्ञानेश्वर तुकाराम , तुलसी, कबीर का जो प्रभाव पड़ा है उसके फलस्वरूप भारतीय जनता का चारित्र्य पुष्ट हुआ है और राजनीति के दोषों के बावजूद अभी भी वह यथावत् है। जनता के चारित्र्य संपादन में भक्ति काव्य का बहुत बड़ा हाथ है। और उसमें कबीर के काव्य की भागीदारी बहुत ही बड़ी है। जनजीवन को भावित करने वाली उच्च मूल्यों की प्रतीति उत्कट रूप में सहजता से कबीर की कविता में मिलती है। आज भी कबीर की कविता पाठक को संस्कारित कर सकती है क्योंकि उसके उच्चाशय के भव्य और उदात्त संस्कार व्यक्ति को छूते हैं। स्वाभिमान पूर्वक उच्च नैतिक मूल्यों के प्रति समर्पित जीवन जीने वालों के लिए कबीर की कविता अमूल्य विरासत है। जाति वर्ण एवं संकुचित धर्म के संस्कारों की व्यर्थता प्रकट करने वाली वह विरासत मूल्यपरक जीवन की महत्ता की ओर सतत निर्देश करती रहती है। ●

संत कबीर का नया व्यक्तित्व-विधायन

प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित

कबीर का विलक्षण व्यक्तित्व अध्ययन अनुसंधान की नित-नूतन समस्याएँ और सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता रहता है। इस दिशा में अब तक शोध समीक्षा के अनेक श्लाघ्य प्रयत्न हो चुके हैं, पर आध्यवसायिक क्षेत्र में चूँकि कोई निष्कर्ष अन्तिम एवं अन्यतम नहीं माना जाता है, इसलिए तथ्यों के पुनःपरीक्षण की सम्भावनाएँ अभी शेष हैं। कबीर के मर्मी समीक्षकों एवं शोधार्थियों के समक्ष ऐसी कई जिज्ञासाएँ उपस्थित होती रहती हैं, जिन पर यदि सूक्ष्मता तथा गहनता पूर्वक विचार किया जाये तो सम्भव है कि उनसे कबीर के व्यक्तित्व, कृतित्व विषयक कुछ और नये पक्ष प्रोद्भासित हो जाएँ।

प्रथम जिज्ञासा कबीर संज्ञा (नामकरण) को लेकर उत्पन्न होती है। कबीर का व्युत्पत्यर्थ क्या फलित हो सकता है ? यह नाम है अथवा उपनाम ? और सम्प्रति इसका प्रयोग किस अर्थ में हो रहा है ? इसके साथ 'दास' शब्द जोड़ कर जो वर्ण संकर पद बना, वह 'यथानाम्नि तथा गुणे' प्रतीत होता है। ये कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न हैं, जो तथ्यान्वेषियों को आकृष्ट कर सकते हैं। बैसवाड़ी अवधी के लोक-साहित्य का सर्वेक्षण संकलन करते हुए मुझे होलिकोत्सव पर गाए जाने वाले एक ऋतु गीत का नमूना मिला, जिसे उक्त अंचल में 'कबीर' की संज्ञा दी जाती है। यह गीत अश्लीलता व्यंजक, अक्खड़ता सूचक, एक प्रकार का 'बीटनिक' गीत है, जो तथाकथित निम्न वर्णी नर-नारियों द्वारा गाया जाता है। इसके नामकरण के पीछे मुझे एक लोक प्रतिक्रिया का संकेत मिलता है। संत कबीर ने सनातन धर्म के तथाकथित कर्मकाण्डों और राम जन्म भूमि (अवध) की धार्मिक आस्थाओं पर प्रहार किया था। उन्होंने साहस पूर्वक घोषणा की थी -

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना
राम नाम का मरम है आना ।

इस चुनौती भरी उक्ति से अवध की राम भक्त (रामाश्रयी) जनता का क्षुब्ध होना स्वाभाविक था। अवधवासी गोस्वामी जी भी इस कथन को सहन नहीं कर पाए थे और फलतः उन्होंने 'मानस' के शिव-पार्वती-संवाद में इसके खन्डन का प्रयत्न किया था -

जो तुम कहेउ राम कोउ आना..... ।
जिनके अगुन न सगुन विवेका, जल्पहिं कल्पहिं वचन अनेका ।।

तुलसी के इस प्रतिवाद की पृष्ठभूमि में कबीर की उक्त घोषणा सन्दर्भित है। इससे इतना सिद्ध होता है कि गोस्वामी जी कबीर जी से असहमत रहे हैं। इसके अतिरिक्त कबीर ने जिस दो टूक भाषा में मूर्तिपूजा, पण्डित-पुरोहित, पोथी पुराण (शास्त्र), तीर्थ-मंदिर, मस्जिद और अन्य बाह्योपचारों की भर्त्सना की थी, उन्होंने 'आँखिन की देखी' को जो वरीयता दी थी, उससे सनातन धर्मावलम्बियों का संत्रस्त होना सहज - स्वाभाविक था। कबीर के पूर्व शास्त्र की अवहेलना करने का साहस कोई अन्य जनपदीय कवि नहीं कर सका था, विशेषतः सनातन धर्म केन्द्र (काशी) के निकट ऐसा आन्दोलन कोई और कभी आरम्भ नहीं कर पाया था। कबीर ने जिस अक्खड़ता के साथ अपना मतवाद प्रचारित किया, उससे चिढ़कर शास्त्रज्ञ पण्डितों ने कबीर को तथा उनकी कटूक्तियों को परस्पर पर्याय मान लिया। दूसरी ओर अवध की अकुलीन निम्नवर्गीय-निरक्षर जनता ने कबीर के प्रति एक प्रकार का वर्ग-बोध सा स्थापित कर लिया, परिणामस्वरूप 'कबीर' नामक अप्रिय-अश्लील लोकगीत का प्रचलन हुआ, और इसका मूलोद्देश्य हो गया - कुलीनता प्रतिष्ठित मर्यादा या (आभिजात्य) पर प्रहार। तात्पर्य यह है कि कबीर को किस प्रकार ध्वंसकामी, मूर्तिभंजक तथा व्यवस्था-विरोधी मान लिया गया - इसकी लोक सांस्कृतिक (या ऐतिहासिक) पृष्ठभूमि शोध का एक रोचक विषय है।

इस प्रकार प्रकट है कि कबीर - तुलसी का संघर्ष लोक अहम् एवं 'श्रुतिसम्मत हरि भक्ति पथ' का संघर्ष था। यह टकराव ब्राह्मण व्यवस्था (सवर्ण) बनाम अंत्यज वर्ग का टकराव था। एक शास्त्र मुखापेक्षी, दूसरा शास्त्र विमुख। दोनों मध्ययुगीन पुनर्जागरण के लिए कटिबद्ध थे, बस मार्ग भिन्न थे। कबीर में आक्रोश था, तुलसी में संयत विरोध। दोनों यथास्थिति से असम्मत थे। दोनों लोकवादी थे। परिस्थितिवश तुलसी विधेयवादी सिद्ध हुए और कबीर 'विपक्ष' के कवि बने। अस्तु, मध्ययुगीन भारत की सांस्कृतिक क्रांति के इस इतिहासदर्शन द्वारा कबीर - साहित्य पर पुनर्विचार करना होगा। यह भी देखना होगा कि कबीर को हिन्दी आलोचकों ने (आचार्य शुक्ल तक ने) अस्वीकार कर दिया था, शायद इसलिए कि हिन्दी को हिन्दुत्व से पृथक् नहीं कर पाए थे। कालान्तर में

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी आदि विद्वानों की पहल से कबीर को कवि रूप में मान्यता मिली, शायद इसलिए कि इस दौर में कविता के मूल्य-मान बदल चुके थे। अतएव हिन्दी कविता के रूप परिवर्तन के विकास-क्रम में कबीर-साहित्य की नयी परख करनी होगी, साथ ही इतिहास का पुनर्लेखन करना होगा।

अध्ययन का एक और पक्ष उद्‌घाटनीय है। आज कबीर को आधुनिकता का संवाहक माना जाता है। वास्तव में आधुनिक बोध के अनेक लक्षण कबीर में हैं। कबीर मूलतः उपयोगितावादी कवि हैं। वे आत्मानुभूति का आश्रय लेकर चले हैं। उन्हें लोक का भी भय नहीं है। वे हाथ में लुकाठा लिए हुए स्वयं अपना घर (सर्वस्व) फूँक कर सत्य का प्रकाश विकीर्ण करने वाले व्यक्ति है। यह युयुत्सा भाव कवि के मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय है। कबीर का विद्रोह एक ओर प्रगतिशीलता का चिह्न है, दूसरी ओर व्यक्ति - वैचित्र्य और निषेधमूलक नकारात्मक दृष्टिकोण का भी। कबीर भीड़ या 'भेड़ियाधसान' के कायल नहीं। उनके ही शब्दों में -

सिंहन के लहड़े नहीं हंसन की नहिं पांति।
लालन की नहिं बोरियाँ साधु न चलै जमात।।

वे भ्रष्ट समाज को भस्म कर देने हेतु एकाकी (एकमेव) तत्पर हैं। उनके सुधार में ध्वंस का आवेग है, पर जो शोभन है, जो शुभ है - उसका संकल्प भी। इस सामाजिक क्रांति के दौरान उन्हें यदा-कदा कुंठा, हताशा एवं कुढ़न का अनुभव भी होता है। एक पद में अपना क्षोभ व्यक्त करते हुए वे कहते हैं -

संतो देख्यो जग बौराना।
साँच कहौ तो मारन धावै, झूँठ कहौ पतियाना ।।

इसमें निस्संदेह मोह भंग या अवसाद का स्वर है। आधुनिकता बोध से जुड़े हुए ऐसे मूलभूत तत्त्वों के आधार पर कबीर के कर्तृत्व का नया मूल्यांकन किया जा सकता है। इसी विचारक्रम में कबीर की धर्म -निरपेक्षता और सांप्रदायिक सीमा, जाति - वर्ग - संघर्ष तथा साम्य तथा वैचारिक प्रतिबद्धता एवं स्वतंत्रता का प्रतिपादन होगा और अन्ततः यह सिद्ध होगा कि **कबीर एक युग प्रबुद्ध किन्तु प्रतिक्रिया प्रेरित। स्वानुभूति प्रवण, किन्तु हीनग्रन्थि पीड़ित साहित्य - साधक हैं। वे किसी बद्ध परम्परा या रूढ़ विचार - सरणि के अनुगत न होकर प्रयोगधर्मी हैं, शास्ता न होकर क्रान्ति - द्रष्टा हैं और नये मान - मूल्यों के प्रतिष्ठापक भी।** निश्चय ही, इस नये युगबोध के परिप्रेक्ष्य में अर्थात् आधुनिकता के निकष पर कबीर को परख कर नये - नये निष्कर्ष निरूपित किये जा सकते हैं।

यही नहीं, कबीर के व्यक्तित्व में जो अन्तर्विरोध हैं, उनका भी निर्भ्रान्त निराकरण आवश्यक है। वे एक ओर लोकोन्मुख या सुधारवादी कवि हैं तो दूसरी ओर परलोकवादी या पलायनोन्मुख भी। उनमें असाधारण सहजता है तो दूसरी ओर उलटबाँसियों में, उनकी 'सन्ध्या भाषा' में रहस्यजनित जटिलता भी। वे कहीं निर्गुणोपासक हैं तो कहीं सगुणोपासक भी। **वे शास्त्र विरुद्ध हैं और अपने मत को शास्त्र - स्तरीय बनाने के लिए भावाकुल भी।** इस द्विविधाग्रस्त मनः स्थिति का निदान और समाधान खोजना है।

अन्त में कबीर के अध्ययन अनुसंधान से सम्बन्धित आधारभूत सामग्री की शोध - समस्या पर भी विचार करना होगा। कबीर 'मसि कागद कलम' से दूर रह कर अपने उद्‌गारों को मुखरित करते हैं। उनके शिष्यों द्वारा लिखित 'बानी' में लिपि भेद तथा श्रुति - भेद के अनुसार मात्रा (वर्तनी) का अन्तर दिखाई देता है, और कहीं - कहीं तो शब्दार्थ आमूल भिन्न हो गया है। अस्तु 'बीजक' (कबीर ग्रंथावली) के पाठालोचन (पाठानुसंधान) की आवश्यकता है। यह ग्रंथ एक सम्प्रदाय विशेष (कबीर पंथ) का धर्म ग्रंथ है, अतः इस कार्य में बाधाएँ आ सकती हैं। एक बार (लगभग १८ वर्ष पूर्व) मैने स्वयं 'मगहर' के कबीर मन्दिर में सुरक्षित 'बीजक' को देखने -पढ़ने का प्रयत्न किया, किन्तु भाँति - भाँति के कर्मकाण्डों अथवा उपचारों के बाद मात्र दर्शन ही कर सका, पारायण की अनुमति नहीं प्राप्त कर पाया। ऐसी ही स्थिति काशी के 'कबीर चौरा' की है। यदि कबीर के अधिकारी विद्वानों को ये आठ प्रतियाँ सुलभ हो जाएँ, तो सम्भव है, उनके तुलनात्मक विश्लेषण द्वारा कुछ नये तथ्य प्रकाश में आएँ, भले ही जन - मानस पहले इन तथ्यों या पाठ - भेदों को स्वीकार न करे, पर उनसे एक नयी दिशा दृष्टि तो मिलेगी ही। पाठ वैविध्य के कारण सम्प्रति कबीर के पदों की सम्यक् व्याख्या भी नहीं हो पा रही है। स्कूली किताबें अर्थ का अनर्थ करती जा रहीं हैं। ऐसी स्थिति में कबीर - साहित्य का एक सांगोपांग भाष्य प्रस्तुत कर देना बृहत्काय शोधग्रन्थों से अधिक उपयोगी सिद्ध होगा । इसके लिए योजनाबद्ध अनुष्ठान की आवश्यकता है। मेरी विनम्र मति है कि यह आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि इसमें भविष्य की अनेक समस्याएँ निहित हैं।

कबीर साहित्य पर विभिन्न कोणों से विचार करते हुए नित्य नई जिज्ञासाएँ जाग्रत होती रहती हैं। इसका कारण यह है कि **कबीर का साहित्य किसी एक देशकाल और मूल्यबोध तक सीमित नहीं है, यह शाश्वत मूल्यबोध से आपूरित है।** जब-जब युगबोध में परिवर्तन होता है, कबीर की सृष्टि और दृष्टि पर विचार किया जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक तो कबीर को अधिक महत्व नहीं दिया गया था। न आचार्य शुक्ल ने उन्हें कवि माना और न उनके समवर्ती

अन्य समीक्षकों ने। कबीर को प्रथम महत्व दिया गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने। वह भी उनकी रहस्य चेतना को। उन्होंने कबीर की कई साखियों के काव्य अनुवाद किये। उन दिनों बंगला साहित्य में नवजागरण का स्वर गूँज रहा था। गुरुदेव के प्रभाववश उनके समकालीन रचनाकारों और विचारकों ने सन्त कबीर को पढ़ना आरम्भ किया और यह अनुभव किया कि कबीर नवजागरण के कवि हैं। इसका व्यापक समर्थन सेन महानुभाव ने किया। उन्होंने सन्त काव्य को नये सन्दर्भों में व्याख्यायित कर डाला। वहीं से निर्गुण काव्यधारा की स्थापना की और फिर डाक्टर श्याम सुन्दर दास के अनुमोदन के साथ डाक्टर बड़थ्वाल ने निर्गुण सम्प्रदाय का पुनर्मूल्यांकन किया। इस क्रम में कबीर को सर्वाधिक महत्त्व दिया । इसी बीच आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बंग भूमि (शांति निकेतन) में रहते हुए जो सामग्री अर्जित की थी, उससे प्रेरित होकर 'कबीर' नामक ग्रन्थ लिखा। डा. नामवर सिंह के अनुसार यह 'दूसरी परम्परा की खोज' थी। पहली परम्परा आचार्य शुक्ल की थी, जिसके आदर्श नायक थे तुलसीदास। शुक्ल जी के मत को निरस्त करते हुए आचार्य द्विवेदी ने तत्कालीन सामाजिक पुनर्रचना के अनुरूप कबीर को अपना नायक बनाया । देखते - देखते कबीर अंत्यजों, अल्पसंख्यकों के अगुआ बन गये। वे शोषित और दलित के प्रतीक मान लिए गये। स्वतंत्र भारत में वोट की राजनीति से प्रेरित होकर जिस वेग से दलितों का महत्त्व बढ़ा, जिस अनुपात में अल्पसंख्यकों को संरक्षा दी गयी, उसी परिमाण में कबीर का कद भी बढ़ता चला गया। आज हम जिस बिन्दु पर स्थिर हैं वहां **कबीर व्यक्ति नहीं बल्कि विचारधारा का प्रतीक हैं। कबीर प्रतीक हैं क्रांति और विद्रोह के। वे प्रतिनिधि हैं सवर्ण को ललकारती हुई बहुजन चेतना के। वे नेतृत्व कर रहे हैं - श्रमिक साधुता का और साथ ही भारतीय संवैधानिक प्रतिज्ञा के अनुकूल गुहार लगा रहे हैं साम्प्रदायिक समन्वय की ।** इस तत्त्व को सबसे पहले गांधी जी ने परिलक्षित किया था। उन्होंने कबीर को हिन्दू - मुस्लिम यूनिटी का आदर्श बनाया और 'मानस' प्रेमी होते हुए भी कबीर को गले लगाया।

गत वर्ष कबीर की छः सौवीं जयन्ती आयोजित करते हुए कबीर पर राष्ट्र स्तरीय चिन्तन सूत्र प्रस्तुत किये गये हैं। एक तर्क यह उभरा है कि **कबीर का मूल स्तर अध्यात्म का है न कि सामाजिक विद्रोह का**। उन्होंने गिनती के ३० - ३५ पद और ४० - ५० साखियाँ ऐसी लिखी हैं जिन्हें आक्रोश और विद्रोह की रचना कहा जा सकता है। शेष लगभग ५०००, रचनाएं भक्ति परक हैं। इनमें न कर्कशता है न दम्भ का ज्वार। वहाँ तो कबीर स्वयं को **'राम का कुतवा'** कह रहे हैं। सबसे प्रिय बोलने का आग्रह कर रहे हैं। सात्विक और स्वतः सन्तुष्ट जीवन - यापन का उपदेश दे रहे हैं। आज की मान्यता के अनुसार कबीर को

पलायनोन्मुख कहा जायेगा। इसमें परलोक, पुनर्जन्म, मायावाद आदि का समर्थन है। **न किसी के प्रति क्षोभ है और न शिकायत**। यही वास्तविक संतत्व है। विडंबना यह है कि पाठकों - विशेषकर समीक्षकों को चटपटा माल ज्यादा पसंद आता है। बारंबार उसे ही उद्धृत किया जाता है। जबकि आनुपातिक दृष्टि से कबीर की यह प्रतिपक्षी भूमिका नगण्य सी है। आवश्यकता है कि समग्र कबीर को फिर से पहचाना जाय। किसी भी विदग्ध विचारक में सम - विषम अनेक प्रकार के अंतर्विरोधी और परस्पर पूरक सूत्र अंतर्गुम्फित दिखाई देते हैं। उन्हें सुलझाने की आवश्यकता है। कबीर के अध्ययन की निस्संदेह यह एक नयी चुनौती है, लेकिन निश्चय ही उनके युग -युगीन आकलन का यह एक नया तथा सही प्रस्थान होगा। इससे कबीर - काव्य की प्रयोजनीयता की वृद्धि होगी और मूर्तिभंजक के बजाय उनका एक विधेयवादी बिम्ब बनेगा।

वस्तुस्थिति यह है कि कबीर - काव्य का अंगीरस है भक्ति। हाँ, उनके स्वभाव में एक विलक्षणता दिखायी देती है। उन्हें जब जो अनुभव होता था, धड़ल्ले से कह देते थे, लेकिन उतने अक्खड़ या फक्कड़ नहीं थे, जितना चित्रित किया गया है। मनमौजी व्यक्ति कोई आन्दोलन नहीं चलाता। कबीर पिछड़ों की सांस्कृतिक क्रान्ति के दिशा - दर्शक थे। वे हीनताबोध से मुक्त थे, बदले की भावना के ऊपर थे और अपने श्रमिक साधुओं को इससे ऊपर उठाना चाहते थे। उन्हें शास्त्र ज्ञान अभीष्ट न था। उससे आतंकित भी न थे। उन्होंने अपने लोक का एक शास्त्र रच लिया था। उलटवाँसी संध्या भाषा, रहस्यवादी गूढ़ार्थ और प्रतीक भाषा के माध्यम से उन्होंने अपने प्रतिपाद्य को यत्र - तत्र पाण्डित्यपूर्ण बना लिया था। यों वे ज्ञान की आंधी से बचना चाहते थे। उन्हें अभीष्ट थी सहजा भक्ति **'मेरा मन रामहिं ह्वै रहा'**। भक्त और आराध्य दोनों एकाकार। यह 'अहंब्रह्मास्मि' कबीर को घरेलू जीवन में उपलब्ध हो गया था, अतः किसी मुद्रा, कर्मकाण्ड अथवा विशिष्ट उपासना पद्धति की आवश्यकता नहीं। उन्होंने कहा चाहे जिस भाव से राम को भजो। वह मेरा पीव है, मैं उसकी बहुरिया हूँ। किन्तु यह कहते हुए भी उन्हें मधुरोपासना या सूफी साधना से नहीं जोड़ा जा सकता। उन्होंने लिखा - **'हमही बाप हरि पुत्र हमारा'**। किन्तु यह वात्सल्य भक्ति नहीं है। तात्पर्य मात्र यह कि भक्त - भगवान के बीच नाना संबन्ध हैं। भगवत्ता का बोध हो जाने पर अद्वैत वेदांत की भूमिका पर भक्त स्वयं को 'समष्टि' मान लेता है। वह दावा करता है कि मेरी चादर दाग रहित है - **'ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया'**। दूसरे क्षण विनय भावना (दास्य भक्ति) पैदा होती है। भक्त आर्त्तक्रन्दन करता है :

अवगुण मेरे बापजी बकस गरीब नेवाज ।

वे कहते हैं मेरे तन में महाविकार भरा हुआ है, इसीलिए शरणागत हूँ। मैं तो रामजी का कूता हूँ। गले में जंजीर है, जिधर वे खीचते हैं उधर चलता हूँ। वे पश्चातापपूर्वक आत्मपरिचय देते हैं :

रामबापु सुनु बिनती मोरी। तुमसे प्रकट जाए की चोरी।
पहले काम मुगुध तन कीया। ता भय काँपै मोरा जीया।।

वे निरहंकार भाव से कहते हैं -

न कुछ किहा न करि सका ना करने जोग सरीर।
जो कुछ किया सो हरि किया, भया कबीर - कबीर।।

इस मनोदशा पर पहुँचकर मन का सारा पाप ताप शाप मिट गया है। उनकी समत्व दृष्टि उद्घाटित हो गयी -

जबतैं आतम तत्व बिचारा
तब निर्वैर भया सबहिन ते काम क्रोध गरि जारा।

यह संत साधक की एक अभेद दृष्टि है। अब जाति को लेकर कोई ग्रन्थि नहीं रह गयी। वे मान लेते हैं कि पूर्वजन्म में मैं काशी वासी प्रवीण ब्राह्मण था। हरि विमुख हो जाने के कारण इस जन्म में जुलाहा हो गया हूँ। अब वे अपना नया कर्म पटल बुनना चाहते हैं। इस क्रिया में कबीर ने नाथपंथियों, योगियों, वैष्णवों, सूफियों और वेदान्तियों का समन्वय किया। उन्होंने 'आंखिनदेखी' के सहारे तत्त्वमीमांसा की और विभिन्न साधनाओं, भाषाओं तथा विधाओं का उपयोग करते हुए अपनी बानी तैयार की। शिष्यों ने अपने साम्प्रदायिक मतवाद के अनुसार उन्हें प्रस्तुत किया। आज के विचारक - समीक्षक उन्हें अपने अपने पैमाने से नापने का उपक्रम करते हैं लेकिन सब अँट नहीं पाते। साहित्यिक राजनीति और दलीय मतवाद ने कबीर को व्यवस्था विद्रोही बनाने का उपक्रम रचा, जो कुछ दिनों तक रोचक लगा किन्तु व्यापक परिप्रेक्ष्य में अब 'कबीर-मत' का सत्य उद्घाटित हो गया है। आवश्यकता है उनकी अखण्ड प्रतिमा को पुनःस्थापित किया जाए। लगभग १२० वर्षों के दीर्घजीवन में मुक्तमन से कबीर ने न जाने कितने सम विषम भाव व्यक्त किए हैं। किन्तु फिर भी समवेत रूप से उनका केन्द्रीय भाव एक है। वह है सहजा भक्ति। वह है संतजीवन यापन का प्रबोध। वे लुकाठा उठाते हैं, किन्तु अपना घर जलाने के लिए। यों उनकी मुख्य मुद्रा है -

कबिरा खड़ा बजार में मांगै सबकी खैर।
ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर।। ●

कबीरदास की काव्यभाषा

डॉ० सियाराम तिवारी

कबीरदास एक महान् चिंतक थे। जीवन और जगत् के विभिन्न पक्षों के साथ-साथ उन्होंने सामान्य भाषा पर भी चिंतन किया है। यही नहीं, अपनी काव्यभाषा का परिचय देकर उन्होंने अपनी गूढ़ वाणियों को समझने की कुंजी भी दे दी है। अपनी काव्यभाषा का परिचय उन्होंने इस प्रकार दिया है :

बोली हमारी पूर्व की हमें लखे नहिं कोय।
हमें लखे सो जना जो धुर पूर्वीआ होय ।।[१]

इसके आधार पर कबीरदास की सामान्य भाषा के निर्धारण का प्रयास किया जाता है। यह अत्यंत स्थूल दृष्टि का परिचायक है। कबीरदास यहाँ अपनी सामान्य भाषा का नहीं, काव्यभाषा का परिचय दे रहे हैं। कबीरदास योगी थे। भाषा के माध्यम से यौगिक प्रक्रियाओं एवं समाधिस्थ चित्त की अनुभूतियों को व्यक्त करना उनका उद्देश्य था। कबीर की वे अनुभूतियाँ स्वभावतः ही गाकर और लिखकर बतलाने की नहीं थीं–**'क्या गाये क्या लिखि बतलाये, क्या भर्मे संसारा।'** इसीकी ओर संकेत उन्होंने उपर्युक्त साखी में किया है । उनकी काव्यभाषा को सामान्य भाषा मानकर तर्क वितर्क करनेवाले को उन्होंने मूढ़ और अज्ञानी कहा है :

संस्कृताहि पंडित कहै, बहुत करै अभिमान।
भाषा जानि तरक करै, ते नर मूढ़ अज्ञान ।।[२]

सचमुच कबीरदास की काव्यभाषा तर्क-वितर्क की भाषा नहीं है। कारण, वह अभिव्यक्ति की भाषा नहीं है, वरन् वह आत्म-साक्षात्कार की भाषा है। कबीर की काव्यभाषा उपचारवक्रता के कारण बलवती नहीं है, वह अवतरण होने के कारण सप्राण है। कबीरदास समझाने के लिए नहीं बोलते, वे भाषा में आत्म-साक्षात्कार करते हैं। इसीलिए उनकी काव्यभाषा अवतरण है, कथन नहीं है।

कबीरदास जो कहते हैं कि **'मन मस्त हुआ तो क्या बोलै'**, इसीमें उनकी काव्यभाषा का रहस्य छिपा हुआ है। कबीर की कविता उस मनोदशा का प्रत्यक्षीकरण है जब अनुभूति की सघनता वाणी को अवरुद्ध कर देती है। इसीलिए कबीरदास की काव्यभाषा कवि के द्वारा सत्य को समझने की भाषा है, समझाने की नहीं; वह कवि के द्वारा देखने की भाषा है, दिखाने की नहीं। यही कारण है कि सहृदय के लिए वह समझकर चमत्कृत होने की भाषा नहीं है अपितु अनुभव करके मग्न होने की भाषा है। एक संत का कहना है कि हरिकथा कहते समय कथा अपने को सुनानी चाहिए। कबीरदास ने यही किया है। उनका काव्य प्रवचन है। उनका काव्य वह काव्य नहीं है जिसमें सहृदय भी भाग लेता है। सामान्य कवि जब लिखता है तब उसकी मन की आँखों के सामने सहृदय बैठा रहता है, वह मानो उसी को सुनाता है। कबीरदास के अंतःचक्षु के सामने नहीं, उनके चर्मचक्षुओं के सामने ही श्रोता रहते थे, इसीलिए वे जो बोले वह अपने लिए बोले । उनका लक्ष्यीभूत श्रोता उनके बाहर नहीं, उनके भीतर है। कबीर का काव्य मस्त क्षणों की स्वतःस्फूर्त वाणी है। इसीलिए वह काव्य शब्दों के निष्पीड़न से प्राप्त होनेवाला आनन्द नहीं देता, वह या तो मग्न करता है या झकझोरता है।

कबीरदास की काव्यभाषा के ये ही दो प्रकार्य हैं -- मग्न करना और झकझोरना। मग्न तो सभी सच्ची कविताएँ करती हैं, मग्न करना कविता का धर्म हैं। झाड़फटकार कविता का धर्म नहीं है। पर कबीरदास की कविता की अपनी पहचान यही है। कबीरदास का सुधारक-रूप उनसे यह कार्य कराता है। कटु, आक्रामक और सनसनी खेज भाषा का झटिति सम्प्रेषण होता है। सुधारक का यही उद्देश्य होता है कि श्रोता उसको अनसुना न कर सके, सुनकर उसपर सोचने के लिए बाध्य हो जाय। कबीरदास केवल मस्तिष्क को ही नहीं झकझोरते, वे उससे गहरे जाकर चेतना को झकझोरते हैं। चेतना को झकझोरने का काम उलटबाँसियाँ सबसे अधिक करती हैं। कबीरदास की उलटबाँसियाँ उनकी प्रतीक योजना की ही अंग हैं।

वस्तुतः कबीरदास की प्रतीक-योजना का चरम रूप उलटबाँसियों में देखा जाता है। काव्यभाषा की दृष्टि से उलटबाँसियों के सम्बंध में बहुत सी बातें हैं। ऐसी पहली बात यह है कि इनके प्रतीक लोकजीवन से लिये गये हैं। दूसरी बात यह है कि उलटबाँसियों के प्रतीक बदलते रहते हैं। तीसरी बात यह है कि उलटबाँसियों में जो प्रतीक आये हैं, वे कबीरदास के अपने हैं। यही कारण है कि उलटबाँसियों के प्रतीकार्थ ग्रहण करने में श्रोता-श्रोता में अंतर पड़ सकता है।

उलटबाँसियों के सम्बंध में अंतिम बात यह है कि इनका झटिति अर्थबोध नहीं होता। उलटबाँसियाँ सुनकर श्रोता या तो सिर पर हाथ रख लेता है या मुसकुराता है।

कबीर की काव्यभाषा के बाह्य उपकरण भी वाणी की सजावट के लिए बौद्धिक योजना नहीं हैं, वरन् वे भी कवि की अनुभूति के अंग ही हैं, अतः अवतरण ही हैं। ऐसा होने पर भी कबीरदास में काव्यभाषा की प्रायः वे सभी विशेषताएँ पायी जाती हैं जो अन्यान्य कवियों में देखी जाती हैं। यथा अनुप्रास, तुक, प्रतीक, रूपक, अलंकार, बिम्ब, वक्रता, शब्दक्रीड़ा, काव्यहरण, सूक्ति, शब्द-चयन आदि। सामान्य भाषा को काव्यभाषा में परिणत करने के इन साधनों का कबीरदास ने कैसा उपयोग किया है, यह द्रष्टव्य है।

अनुप्रास-जैसा काव्यभाषा का स्थूल तत्व कबीरदास में प्रचुरता से इसलिए है कि उनकी बानियाँ सुनाने के लिए निकली थीं और अनुप्रास वक्तव्य को ओजस्वी एवं ग्राह्य बनाता है।

कबीरदास ने अनुप्रास पर जो ध्यान दिया है, उसका कारण यही है। कबीरदास अनुप्रास के लिए अनुप्रास की योजना नहीं करते। उनके अनुप्रासों में विचारों की संगति है। वे अभिव्यक्ति के प्रसाधन नहीं, वरन् उसके अंग हैं। अनुप्रास से नाद-सौंदर्य की सृष्टि का कार्य तो सभी कवि लेते हैं। कबीरदास उससे क्रिया-सौंदर्य की भी सृष्टि करते हैं। एक साखी में कबीरदास 'मोठ' और 'मैदा' जैसे अनुप्रासात्मक शब्दों के द्वारा विषयरूपी मोटे आटे को चूर्ण कर मैदा बना देने की क्रिया का चित्र प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार की अनुप्रास-योजनाओं में केवल नाद का ही नहीं, अपितु क्रिया का भी सौंदर्य है।

अनुप्रास के ही समान कबीरदास का तुक-संयोजन भी मात्र श्रुति-माधुर्य के लिए नहीं है। वह एक पूरा चित्र खड़ा करता है :

पीछैं लागा जाइ था, लोकवेद के साथि।
आगैं वै सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि।। [३]

यहाँ सम्पूर्ण साखी से जो चित्र बनता है उसका आधार मात्र दो शब्द हैं — 'साथि' और 'हाथि' जो तुक की सृष्टि करते हैं। ये ही दोनों शब्द सम्पूर्ण स्थिति को भी प्रकट करते हैं। कबीरदास कहते हैं कि अज्ञान के अंधकार में पड़ा हुआ मैं लोक-वेद के पीछे-पीछे चल रहा था। सतगुरु ने मेरे हाथ में दीपक दे दिया जिससे अज्ञान का अंधकार नष्ट हो गया और मैं लोक-वेद की निरर्थकता समझ गया। 'पीछे-पीछे' कहने में वह भाव नहीं आता जो 'साथ' (साथि) में व्यक्त हो रहा है। 'साथ' में यह व्यंजना है कि लोक-वेद में मेरी पूर्ण निष्ठा हो गयी थी,

मैं उसका अंग बन गया था। किंतु सतगुरु ने हाथ में दीपक दे दिया। यदि यह कहा जाता कि सतगुरु ने दीपक आगे कर दिया अथवा प्रकाश दिखला दिया तो वह चमत्कार न होता जो 'हाथ' (हाथि) में है। 'हाथ' (हाथि) में यह व्यंजना है कि प्रकाश का स्रोत ही कबीर के हाथ में आ गया। अतः अज्ञान का अंधकार कैसे उनके सामने रह सकता है ? इस तरह कबीरदास की तुक-योजना सुश्राव्यता के साथ-साथ अनेक कार्य करती है। उसकी सार्थकता अपार है।

प्रतीक की चर्चा ऊपर हो चुकी है। रूपक एक अलंकार विशेष भी है और अलंकारों की चर्चा आगे होगी। परन्तु कबीरदास के रूपक एक अलंकार मात्र नहीं हैं। कबीरदास रूपक में सोचते हैं। वस्तुतः कबीरदास रूपक में आत्म-साक्षात्कार करते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि कबीरदास की काव्यभाषा अभिव्यक्ति की भाषा नहीं, आत्म-साक्षात्कार की भाषा है। यह कार्य सबसे अधिक उन्होंने प्रतीक और रूपक के द्वारा किया है। प्रतीक और रूपक, दोनों बिम्ब-सृष्टि के लिए बड़े उपयोगी हैं। रूपक इस कार्य में प्रतीक से भी आगे है। अतः आत्म-साक्षात्कार की भाषा रूपकात्मक होगी ही। कबीरदास पग-पग पर रूपक की सृष्टि करते हैं। अपने प्रयोजन के लिए उन्होंने बहुत उपयुक्त माध्यम चुना है। कबीरदास के रूपक भी अपने हैं। ऐसा एक रूपक उन्होंने इस प्रकार बाँधा है :

माया दीपक नर पतँग, भ्रमिभ्रमि इवै पड़ंत।
कहै कबीर गुर ग्यान है, एक आध उबरंत ।। [४]

भारतीय परम्परा में माया अज्ञान या अंधकार की प्रतीक है। सामान्य कवि उस पर दीपक का आरोप नहीं कर सकता। किन्तु कबीरदास माया को दीपक बताने का साहस करते हैं। दूसरे लोग क्या कहते हैं, इसकी चिंता कबीरदास ने न कहीं की और न यहाँ करते हैं। परिणाम भूलकर माया की ओर दौड़नेवाले मनुष्य के लिए इससे अच्छा रूपक नहीं हो सकता। कबीरदास की जैसी मौलिकता अन्यत्र है, उसी प्रकार की मौलिकता उनकी रूपक-योजना में भी है। मात्र इतनी ही बात नहीं है कि उनकी रूपक-योजना में मौलिकता है, उनके रूपक उनकी अनुभूति के अंग हैं, आत्म-साक्षात्कार के रूप हैं।

प्रतीक और रूपक के समान अलंकार भी कबीरदास की काव्यभाषा-सृष्टि का एक बड़ा साधन है। कबीरदास की अलंकार-योजना एक काव्यशास्त्रीय सत्य पर भी प्रकाश डालती है। सामान्यतया समझा जाता है कि जो काव्य को अलंकृत करता है, जिसके द्वारा काव्य अलंकृत किया जाता है, जो काव्य का अलंकरण है, वह काव्य का अलंकार है। किन्तु सत्य बात यह है कि 'अलंकार' शब्द का 'अलं' आभूषण का नहीं, पर्याप्तता का बोधक है। जो वाणी को भूषित

करे, वह अलंकार है -- ऐसी बात नहीं है। जो वाणी को पर्याप्त करे, वह अलंकार है -सत्य बात यह है। कबीरदास ने अलंकार-योजना करके मानो इस पर सत्य की मुहर लगा दी है। कबीरदास ने अलंकार शास्त्र का अनुशीलन नहीं किया था, अलंकार विशेष के नामों और उनके लक्षणों से वे परिचित न थे । फिर भी, बहुसंख्यक अलंकारों की योजना करके उन्होंने अनजाने ही यह सिद्ध कर दिया है कि अलंकार वाणी के आभूषण नहीं, वरन् वे वाणी को पर्याप्त करने के साधन हैं। अलंकार परिपूर्ण क्षणों की वाणी है और कबीर का काव्य भी परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। अतः कबीर के काव्य में सहज ही अलंकार आ गये हैं। परिपूर्ण क्षणों की वाणी अलंकारों में ही फूटती है, भले ही प्रयोक्ता अलंकारों का नाम न जाने। यही कारण है कि कबीरदास के काव्य में विविध प्रकार के अलंकार प्रचुरता से आये हैं।

कबीर-काव्य में प्रयुक्त अलंकारों को देखने से भी यही सिद्ध होता है कि अलंकारों के लिए उन्होंने अलंकारों की योजना नहीं की है, वरन् सहज रूप में ही वे वहाँ आये हैं।

बिम्ब काव्यभाषा का बड़ा व्यापक तत्त्व है। काव्यभाषा के अनेक उपादानों, यथा रूपक, प्रतीक, अनेक अलंकार बिम्ब-सृष्टि के कारण ही अपना चमत्कार रखते हैं। जिन तत्त्वों के योग से सामान्य भाषा काव्यभाषा में परिणत हो जाती है, उनमें से केवल दो को चुनना हो तो कहा जा सकता है कि वक्रता और बिम्ब, ये दो तत्त्व ऐसे हैं जो सामान्य भाषा को काव्यभाषा बनाते हैं। ध्यान देने पर पता लगेगा कि जहाँ भी काव्य है, वहाँ उसका हेतु या तो वक्रता है अथवा बिम्ब। कबीरदास की काव्यभाषा में बिम्ब भी है और वक्रता भी। यह सच है कि कबीरदास की काव्यभाषा का प्राण वक्रता अथवा भंगिमा नहीं है, पर वह अनुपलब्ध भी नहीं है। कबीरदास जब कहते हैं कि **'अब का डरूँ डर डरहि समांन'** तो वे वक्रता की ही सृष्टि करते हैं। डर का डर में समा जाना, यह निश्चय ही वक्रता है। ध्यान देने से स्पष्ट होगा कि कबीरदास वक्रता की सृष्टि भी करते हैं तो वाणी का चमत्कार दिखाने के लिए वे वैसा नहीं करते। वह श्रोता को चमत्कृत करने के लिए नहीं है। वह वक्रता उनके अनुभव की अंग है। इस कारण वह भी अवतरण ही है, कथन नहीं है।

यही हाल कबीर-काव्य में बिम्ब का भी है। सामान्य भाषा और काव्यभाषा की विभाजक रेखा यही है कि प्रथम जहाँ अर्थ-बोध कराती है वहाँ द्वितीय का प्रकार्य है बिम्ब ग्रहण कराना। कबीर की काव्यभाषा में बिम्ब ग्रहण कराने की अपूर्व क्षमता है। एक साधारण सी साखी से कबीरदास की इस विशेषता की

परख की जा सकती है :

माला फेरत जुग भया, पाय न मन का फेर ।
कर का मनका छाँड़ि दे, मन का मनका फेर ।। [५]

माला फेरने का दृश्य बड़ा सुपरिचित है। बड़े यांत्रिक ढंग से कुछ लोग माला फेरते हैं। राह चलते हुए, किसी से बात करते हुए लोग माला जपते हुए देखे जाते हैं। उस माला-जप से क्या लाभ है, जिसमें मन का योग नहीं है ? ध्यान कहीं दूसरी जगह है और हाथ माला पर है ! ऐसे माला-जाप की निरर्थकता को कबीरदास ने यहाँ मूर्त्त कर दिया है। बिना बिम्ब-सृष्टि के, केवल कथन और वर्णन से वक्तव्य की ऐसी सटीक और सजीव प्रस्तुति असम्भव थी। जिस तरह कबीरदास की काव्यभाषा के अन्यान्य उपादान वाणी के विलास न होकर उनकी अनुभूति के अंग हैं, उसी प्रकार उनकी बिम्ब-रचना भी उनके आत्म-साक्षात्कार का एक प्रकार ही है।

कबीरदास मूलतः योगी थे किन्तु अपनी अनुभूतियों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए उन्होंने कविता का माध्यम अपनाया क्योंकि वाणी के अन्य प्रकारों की अपेक्षा कविता में सम्प्रेषणीयता अधिक तो होती ही है, वह सम्प्रेषण अपेक्षाकृत दीर्घकालीन भी होता है। कबीरदास सिद्ध योगी के साथ-साथ प्रातिभ कवि भी थे। इसी कारण कविता को उन्होंने अपना माध्यम चुना और उसमें उनको पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई। इस छोटी भूमिका का उद्देश्य कबीरदास की काव्यभाषा के एक ऐसे तत्त्व की ओर ध्यान आकृष्ट करना है जिसकी कबीर-जैसे कवियों के काव्य में पाये जाने की आशा नहीं की जाती। वह तत्त्व है शब्द-क्रीड़ा। सभी प्रकार के और सभी कोटि के कवियों में शब्द-क्रीड़ा की प्रवृत्ति न्यूनाधिक रूप में और किसी न किसी रूप में देखी जाती है। कबीरदास ने भी शब्द-क्रीड़ा की है और ऐसा करके मानो उन्होंने दिखला दिया है कि कवित्व में भी वे किसी कवि से पीछे नहीं हैं। कबीरदास की शब्द-क्रीड़ा किसी शब्द की पुनः-पुनः द्विरुक्ति में है। कहीं पर उन्होंने 'झूठा' की झड़ी लगा दी है तो कहीं 'जूठा' की, कहीं 'माटी' शब्द की लड़ी है तो कहीं 'माया' की। एक पद में अठारह बार 'माया' शब्द आया है :

माया तजूँ तजी नहीं जाइ; फिर फिर माया मोहि लपटाइ ।।
माया आदर माया मान, माया नहीं तहाँ ब्रह्म गियाँन ।।
माया रस माया कर जाँन, माया कारनि तजै परान ।।
माया जप तप माया जोग, माया बाँधे सबही लोग ।।
माया जल थलि माया आकासी माया व्यापि रही चहुँ पासि ।।

माया माता माया पिता, असि माया अस्तरि सुता ।।
माया मारि करै व्यौहार, कहै कबीर मेरे राम अधार ।। [६]

कबीरदास की शब्द-क्रीड़ा भी केवल शब्द-क्रीड़ा के लिए नहीं है। कबीरदास की शब्द-क्रीड़ा भी आत्म-साक्षात्कार के लिए है। उपर्युक्त पद में माया की व्यापकता, उसकी शक्ति आदि सब के सब साकार हो उठे हैं। लगता है, माया को कबीरदास मूर्त्तरूप में देख रहे हैं। कबीरदास अपने उपदेशों को सम्प्रेषणीय बनाने के लिए अपनी भाषा को सनसनीखेज बनाते हैं। वाणी को सनसनीखेज बनाने का एक साधन शब्द-क्रीड़ा भी है। इस प्रकार कबीरदास की शब्द-क्रीड़ा भी उनके अन्यान्य भाषिक विधानों के समान आत्मसाक्षात्कार की साधन ही है, न कि चमत्कार प्रदर्शन के लिए है।

कबीरदास बहुश्रुत थे और इस रूप में वे ऐसे थे कि किसी भी शास्त्र-निष्णात अधीती कवि से टक्कर लेते हैं। अधीती कवि प्रायः ही अन्य कवियों के भावों को ग्रहण कर उन्हें इस रूप में प्रस्तुत करता है कि वह प्रस्तुति सर्वथा मौलिक प्रतीत होती है। इसीलिए भारतीय काव्यशास्त्र ने इसे काव्यहरण की संज्ञा देकर मान्यता प्रदान की है। गोस्वामी तुलसीदास ने यह कार्य प्रचुरता और उत्कृष्टता के साथ किया है। उनसे सर्वथा विपरीत व्यक्तित्व रखनेवाले कबीरदास के लिए भी यह मार्ग अगम नहीं है। कबीरदास का एक पद है :

पंडित होइ सु पदहि बिचारै, मूरिष नाँहिन बूझै ।
बिन हाथनि पाँइन बिन काँननि, बिन लोचन जग सूझै।।
बिन मुख खाइ चरन बिनु चालै, बिन जिभ्या गुण गावै ।
आछै रहै ठौर नहीं छाड़ै, दह दिसिहीं फिरि आवै ।।
बिनहीं तालाँ ताल बजावै, बिन मंदल षट ताला ।
बिनहीं सबद अनाहद बाजै, तहाँ निरतत है गोपाला ।।
बिना चोलनै बिनाँ कंचुकी, बिनहीं संग संग होई ।
दास कबीर औसर भल देख्या, जाँनैंगा जस कोई ।। [७]

इस पद को श्वेताश्वतर उपनिषद् का हरण मानने में कोई हर्ज नहीं है। कबीरदास की कवित्व-शक्ति की परख करने के लिए दोनों को मिला कर देखने की आवश्यकता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के वे मंत्र इस प्रकार हैं :

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ।। ३ ।। १७

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।। ३।। १९ [८]

अर्थात् सब इंद्रियों के गुण उसमें भास रहे हैं परंतु सभी इंद्रियों से वह रहित है। सबका वह प्रभु है, स्वामी है, इसीलिए सभी के लिए वह महान् शरण है, आश्रय-स्थान है, सहारा है ।१७।

वह बिना पाँवों के शीघ्र गमन करता है, बिना हाथों के झट पकड़ लेता है, बिना आँखों के देखता है, बिना कानों के सुनता है। जाननेयोग्य जो कुछ भी है, उसे तो वह जानता है, परन्तु उसे जाननेवाला कोई नहीं, उसी को आदि महान् पुरुष कहते हैं ।१९।

उपनिषद् के शुष्क ब्रह्म-निरूपण को कबीरदास ने काव्य का मनोरम रूप दे दिया है। उपनिषद् के उपर्युक्त दोनों मंत्रों से कोई चित्र नहीं उभरता। कबीरदास के इस पद से एक सटीक और सजीव बिम्ब की सृष्टि होती है। उपनिषद् के मंत्र में आदि और महान् पुरुष के रूप में ब्रह्म का स्मरण किया गया है, कबीर ने 'गोपाल' के रूप में उनका स्मरण किया है। 'गोपाल' नाम ही कवित्वमय है। लीला की सटीक अभिव्यक्ति के लिए लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई माध्यम उपयुक्त नहीं हो सकता था। और, श्रीकृष्ण के लिए 'गोपाल' नाम के चयन में कबीरदास की जो सूझ है, वह किसी को भी मुग्ध करने के लिए अलम् है। श्रीकृष्ण ने सबसे अधिक लोकरंजक लीलाएँ तो गोपालरूप में ही की थीं। काव्यशास्त्र कहता है, वह हरण वरेण्य है जिसमें कवि ने मूल उक्ति को और भी चमका दिया है। कबीरदास ऐसे ही समर्थ कवि हैं। मूल उक्ति को चमकाने का कार्य कवि भाषा की ही शक्ति से करता है। निःसंदेह कबीरदास को भाषा की ऐसी शक्ति प्राप्त थी।

भाषा की ऐसी शक्ति जिस कवि में होती है वही कवि सूक्तियों की सृष्टि करने में समर्थ होता है। भाषा पर अधिकार हुए बिना सूक्ति की रचना नहीं हो सकती। कबीरदास ने मार्मिक और चुस्त सूक्तियाँ रचकर इस प्रकार के भाषाधिकार का परिचय दिया है। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक कह देना और ऐसा कह देना कि वह पाठक को चमत्कृत कर दे, उसके मानस को छू दे और उसकी स्मृति में चिपक जाय, यही सूक्ति का उद्देश्य होता है। कबीर का काव्य इस प्रकार की सूक्तियों से भरा है ।

सामान्य भाषा को काव्यभाषा बनाने के सारे साधन कवि के पास हों किन्तु यदि उसके पास शब्द-चयन की सूझ नहीं है तो उसके सारे साधन मिलकर भी उसके काव्य में वह चमत्कार नहीं भर सकते जो सहृदय को मुग्ध कर देता है। कबीरदास की काव्यभाषा उनकी इस सूझ का साक्ष्य देती है। यह साक्ष्य उनके काव्य में पग-पग पर द्रष्टव्य है। एक उदाहरण देखने योग्य है :

जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध अंधा अंधा ठेलिया, दुन्यूँ कूप पड़ंत ।।[९]

'ठेलिया' शब्द ध्यान देने योग्य है। एक 'अंधा' शब्द गुरु के लिए दूसरा 'अंधा' शिष्य के लिए है। अंधा (अपात्र) गुरु शिष्य के न चाहने पर भी कुपथ की ओर ठेल देगा, अर्थात् धक्का देकर उसे कुमार्ग पर ले जायेगा। और, ऐसा अंधा (कुमार्गगामी) शिष्य स्वयं कहाँ तक सुधरेगा, गुरु को भी कुमार्ग पर घसीट लायेगा। इस प्रकार दोनों कुएँ में गिरेंगे, दोनों नाश को प्राप्त होंगे। 'ठेलिया' शब्द के प्रयोग में यह व्यंजना है कि अपात्र गुरु और अपात्र शिष्य, एक-दूसरे को अवश्य नष्ट करेंगे। कबीरदास को शब्दों की पूरी परख थी जिसका परिचय उन्होंने पदे-पदे दिया है। शब्द-चयन में कबीरदास ने केवल अर्थ पर ही ध्यान नहीं दिया है, प्रकरण को भी उन्होंने ध्यान में रखा है। पंडितों को सम्बोधित करते समय वे शब्दों को संस्कृत-रूप देने का प्रयत्न करते हैं : **पाँड़े न करसि बाद बिबादं । या देही बिना सबद न स्वादं ।।**[१०] 'बिबाद' को 'बिबादं' और 'स्वाद' को 'स्वादं' बनाना शब्द-चयन को प्रकरणोपयोगी बनाने का ही प्रमाण है।

कबीरदास को सामान्य भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी। 'कबिरा संस्कृत कूपजल भाषा बहता नीर' कहकर उन्होंने इसका परिचय दिया है। सामान्य भाषा की इस परख का उपयोग उन्होंने अपनी काव्यभाषा की रचना में भी किया है। सामान्यतया कवि तीन स्रोतों से अपना शब्द-भांडार समृद्ध करता है : (१) अपनी भाषा से घनिष्ठ सम्बंध रखने वाली किसी मृत (पुरानी) भाषा से, (२) अपनी भाषा के प्राचीन (विस्मृत) शब्दों के अन्वेषण से और (३) लोकभाषा से। कबीरदास ने अपनी काव्यभाषा का संस्कार कूपजल से न करके बहते हुए स्वच्छ जल से किया है। उनके शब्द-चयन का क्षेत्र लोकभाषा है। कबीरदास का काव्य समाज के निम्नवर्ग के लोगों में अधिक लोकप्रिय होने का प्रधान कारण यही है। कबीर के काव्य में उस वर्ग के लोगों को अपनी वाणी का प्रसार मिला।

सामान्य भाषा के काव्यभाषा में परिणत होने की चरम अवस्था वह है जब वह मन में गूँजने लगे, उसे पढ़ने पर गुनगुनाने की इच्छा हो, वे उक्तियाँ स्मृति में चिपक जाँय, जिह्वा पर बैठ जायँ। कबीरदास की काव्यभाषा इस शर्त्त को उत्तम रूप में पूरा करती है। ●

संदर्भ :

१. कबीर समग्र, प्रथम खंड, सं० डॉ० युगेश्वर (वाराणसी, १९९५), पृ० ३७८।
२. उपरिवत्, पृ० ४३४। ३. उपरिवत्, पृ० २०६। ४. उपरिवत्, पृ० २०९। ५. उपरिवत्, पृ० ५०६।
६. उपरिवत्, पृ० ५५८। ७. उपरिवत्, पृ० ५८५ - ८६। ८. एकादशोपनिषत् प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार (देहरादून, १९५४), पृ० ६०९-६१० ९. पा० टि. १ के समान, पृ० २०७ १०. उपरिवत् पृ० ६२६

भाषा बहता नीर

डॉ० कैलाश चन्द्र भाटिया

'कबीर' हिंदी साहित्य के ही नहीं, वरन् भारतीय साहित्य के ऐसे चिंतक हैं जो इतनी शताब्दियों के बाद आज भी अप्रतिम हैं। उनसे प्रेरणा लेकर न जाने कितने विश्वसाहित्य में अमर हो गए। यह भी ठीक है कि कबीर ने एक सुधारक के रूप में स्पष्ट और कठोर शब्दों में मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का खंडन किया है। संतों ने इसी प्रकार अपना संदेश प्रसारित किया। संदेश को जन-जन तक पहुँचाना था अतएव सामान्य जनता की भाषा का प्रयोग किया। कबीर ने जिस वाणी का प्रयोग अपने काव्य में किया है, वह लोकवाणी थी। वह किसी एक प्रदेश के नहीं, सार्वदेशिक थे, अतएव उनकी भाषा भी सार्वदेशिक थी। यही कारण है कि उन्होंने अपनी भाषा को **'बहता नीर'** की संज्ञा दी और संस्कृत को **'कूप जल'** माना :

संसकिरत (संस्कृत) है कूपजल, भाखा (भाषा) बहता नीर ।

इसे 'बहता नीर' क्यों कहा गया ? स्पष्ट है कि **'बहता नीर'** शुद्ध बना रहता है क्योंकि उसमें प्रवाह होता है। प्रवाह के कारण भाषा में सड़ांध नहीं आती जो रुके हुए पानी में आती है। उनकी वाणी सहज थी, जिसमें जनप्रिय लोकोक्तियाँ भरी पड़ी हैं, रूपकों की भरमार है और प्रतीक तो स्थान-स्थान पर सहज रूप में ही आ जाते हैं। उमंग की लपेट में वाणी में विदग्धता आ गई है। कबीर द्वारा प्रयुक्त इस जनभाषा अथवा लोकभाषा को किसी एक भाषा के नाम से अभिहित नहीं कर सकते। कबीर की भाषा में समन्वय भावना तथा लोकतत्त्व की प्रधानता मिलती है, यही बीसवीं शताब्दी में गांधीजी की भाषा में मिलती है। जिस प्रकार काशीवासी होते हुए कबीर की भाषा काशी की नहीं वरन् लोक की भाषा है जिसमें पश्चिमी हिंदी के स्वरूप की झांकी मिलती है, अनेक बोलियों / भाषाओं के शब्द, कारक चिह्न, क्रियारूपों का मिश्रण है, उसी प्रकार गांधीजी

ने भी गुजरात प्रदेश में जन्म लेकर जनभाषा का प्रयोग किया जिसमें हिन्दी, उर्दू, चलते संस्कृत तथा अरबी भाषा के शब्द समाहित रहते थे। आज तो विभिन्न प्रदेशों की शब्दावली का सहज मिश्रण होता जा रहा है। यह भाषा विनोबा की भाषा भी सहजरूप में बन गई। इसको ही 'हिन्दुस्तानी' कहा गया। यही नाम कबीर की भाषा को भी दिया जा सकता है यद्यपि तब यह नाम प्रचलन में नहीं था। कबीर की महानता इस बात में है कि उन्होंने लोकभाषा की शक्ति को पहचाना था और उसे अपनाकर उसका विकास स्वाभाविक रूप में किया।

कबीर की भाषा के प्रश्न को लेकर जितना मतभेद विद्वानों में हुआ उतना अन्य किसी कवि की भाषा को लेकर नहीं। भाषा के पूर्वाग्रह के कारण कबीर के काव्य के पाठों को बदला गया और विभिन्न पाठों के आधार पर भाषा का अध्ययन प्रस्तुत किया गया। पाठभेद की समस्या लगभग सभी प्राचीन साहित्य में है।

कबीर की भाषा पर सबसे अधिक विवाद कबीर के ही निम्नलिखित दोहे के कारण खड़ा हुआ –

बोली हमारी पूरब की, हमें लखा नहिं कोय ।
हमको तो सोई लखे, धर (धुर) पूरब का होय ।।

इस दोहे में प्रयुक्त **'पूरब'** के सामान्यतः दो अर्थ किए जाते हैं :

१. कबीर काशी के निवासी थे और उन्होंने **'पूरब की बोली'** का प्रयोग **'काशी की बोली'** के अर्थ में लिया ।

इस उक्ति में अगर कोई तथ्य होता तो 'पूरब की भाषा' (पूर्वीपन) के तत्त्व अधिक होते जबकि इसके विपरीत पश्चिमी तत्त्वों की अधिकता है।

२. दूसरा अर्थ - **'आध्यात्मिक वाणी'** । 'पूरब की बोली' का अर्थ किसी देश विशेष की भाषा नहीं वरन् हृदयप्रदेश के आध्यात्मिक अनुभव की वाणी है। 'पूर्व की' अर्थात् 'आदिवाणी'।

इस प्रकार द्वितीय मत अधिक समीचीन लगता है। भारतीय साहित्य में विशेषतः संस्कृत साहित्य में 'पूर्व' का यही प्रतीकात्मक अर्थ लिया जाता था। 'पूर्व भाषा' उस भाषा के लिए प्रचलित था जिसमें दूसरे के प्रति मंगल भावना व्यक्त हो। इस प्रकार 'पूर्व' अध्यात्म का पर्यायवाची था। इसी आधार पर निश्चितरूप से कबीर की वाणी आध्यात्मिक क्षेत्र की है।

इस आधार पर कि 'कबीर' पूरब (काशी) के थे, पश्चिम की भाषा का प्रयोग कैसे कर सकते थे यह सोचना ठीक नहीं। हिन्दी भाषा के मानक रूप को स्थिर करने का श्रेय जितना पूर्वी क्षेत्र के साहित्यकारों को है, उतना पश्चिम के साहित्यकारों को नहीं। भारतेन्दु, प्रेमचन्द, प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल आदि सुप्रसिद्ध

साहित्यकार काशीवासी ही थे। भारतीय परंपरा में प्राचीन काल से आज तक लोकभाषा, जनभाषा, राष्ट्रभाषा होने का सौभाग्य मध्यदेश की बोली को प्राप्त हुआ है जिस पर सुप्रसिद्ध भाषाविद् डा० धीरेन्द्र वर्मा ने बड़े विस्तार से लिखा है। इस परंपरा में हिन्दी स्वतःही आ बैठती है और इसी परंपरा में लोकनायक बुद्ध, कबीर, गांधी आदि आते हैं फिर वह चाहे किसी भूभाग-प्रदेश के हों। बुद्ध भी पूर्व के थे। गांधी जी तो धुर गुजरात - सौराष्ट्र के थे और गुजराती मातृभाषा थी।

कबीर द्वारा प्रयुक्त भाषा का स्वरूप क्या था ? इस प्रश्न को लेकर अनेक विद्वानों ने अपने मत स्थिर किए हैं जिनमें से कुछ यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं-

"भाषा **सधुक्कड़ी** अर्थात् राजस्थानी, पंजाबी मिली खड़ी बोली है, पर 'रमैनी' और 'सबद' में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार किया है।"

—रामचन्द्र शुक्ल (हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० ६०)

"कबीरदास ने यद्यपि **पचरंगी मिली-जुली भाषा** का व्यवहार किया है जिसमें ब्रजभाषा क्या उस खड़ी बोली या पंजाबी तक का पूरा पूरा मेल है जो पंथवालों की **सधुक्कड़ी** भाषा हुई पर पूरबी भाषा की झलक उसमें अधिक है।

—रामचन्द्र शुक्ल (बुद्ध चरित की भूमिका) पृ० १६

"कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योंकि वह **खिचड़ी** है। कबीर की रचना में कई भाषाओं के शब्द मिलते हैं।"

—श्यामसुन्दरदास (कबीरदास) पृ० ६६

"कबीर ग्रंथावली की **भाषा में पंजाबीपन** अधिक है। कबीरदास बनारस के निवासी थे। उनकी मातृभाषा बनारसी बोली थी जिसकी गणना पश्चिमी भोजपुरी के अंतर्गत है। बुद्धवचन की भांति ही कबीर की वाणी पर भी भक्तों द्वारा पछाँही रंग चढ़ाया गया।"

—रामकुमार वर्मा (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास) पृ० ६१

"कबीर ने जिस भाषा में रचना की है, वह **उस काल की प्रचलित साहित्यभाषा** है जो किसी प्रान्त विशेष की बोलचाल की भाषा नहीं थी बल्कि **साहित्य रचना के लिए समस्त भारत** में प्रयुक्त होती थी। बहुपर्यटनशील होने के कारण सिद्धांततः **संकुचित प्रान्तीयता** और क्षुद्र मतमतांतरों के विरोधी होने के कारण कबीर ने इसी **व्यापक भाषा** को साहित्य रचना के लिए उपयुक्त समझा, यह युक्तिसंगत है।" —सूर्यकरण पारीक

"इस ग्रंथ में संयुक्त प्रांतीय अवधी भाषा का, बनारस, मिर्जापुर और गोरखपुर आदि जिलों की भाषा का अधिक समावेश है। इसकी भाषा ठेठ प्राचीन

पूर्वी है, जिसको सर्वसाधारण हिन्दी जाननेवाले भी समझ सकते हैं।''

--विचारदास ('बीजक' की भूमिका)

कबीर साहित्य के विशेषज्ञ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन सब पचड़ों में न पड़ते हुए स्पष्ट शब्दों में घोषणा की - ''भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे **वाणी के डिक्टेटर** थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया है। बन गया तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। **वाणी के ऐसे बादशाह** को साहित्य रसिक काव्यानंद का आस्वाद कराने वाले न समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता।''

--(कबीर, पृ० २१६)

कबीर के मात्र भाषिक पक्ष पर अनेक विद्वानों ने शोधकार्य कर डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की है जिनमें से डा० महेन्द्र, डा० माताबदल जायसवाल, डा० शुकदेव सिंह, डा० बिन्दुमाधव, डा० भगवत प्रसाद दुबे, डा० राधेश्याम मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

भाषा का अन्नकूटी रूप :

(क) **पूर्वी** : नैहर में दाग लगाय आई चुनरी ।
ऊ **रंगरेजवा** कै भरम न जानै ।
नहिं मिलै धोबिया कवन करैं उजरी ।।
x x x x
दाँत गयल मोर पान **खात** ।
केस गयल मोर गंग नहात ।।

इस प्रकार के सैकड़ों पूर्वी रूपों को सूचीबद्ध किया जा सकता है ।

(ख) **खड़ी बोली :**

खड़ी बोली की प्रधान प्रवृत्ति आकारान्त है :

करणी **किया** करम का नास ।
x x x x
आऊँगा न **जाऊँगा**
x x x
राम कहे भल **होइगा** नहिंतर **भला** न कोइ।

ऊँचा, नीचा, भागा, अचंभा आदि आकारांत रूपों की भरमार है।

(ग) **पंजाबी :**

पंजाबी रूप किस प्रकार घुलमिल गए इसके कई कारण हो सकते हैं, जैसे --

(१) नाथपंथियों का कबीर पर प्रभाव ।

(२) गुरुग्रंथ साहब के अनुयायियों का सीधा प्रभाव।

उदाहरण :

पेवकड़े दिन चारि है साहु रड़े जागा ।
अंधा लोक न जाणई मुरखु ए आगा ।।

आँखड़िया, जीभड़िया आदि रूपों का अचानक अनायास आ जाना कबीर का दूर-दूर तक प्रभाव प्रदर्शित करता है। पंजाबी मुहावरे भी आ गए हैं :

रलि गया आटे लूण ।

x x x

लूण विल्गा पाणियाँ, पाणी लूण विलग ।

(घ) **ब्रजभाषा :**

पदों में गेयता लाने के कारण **क्रियापदों** में ब्रजभाषा के रूपों की प्रधानता हो गई है ,

मेरौ मन **लागो तोहि** रे ।

x x x

भीतरी हू तो बसत न जाणें।

लेट्यौ, पछिताओ, काकौ, मेरौ, टेढ़ौ आदि औकारांत पर्याप्त बिखरे हुए हैं।

(ङ) **राजस्थानी :**

१. **'न'** के स्थान पर **'ण'** का प्रयोग :

अब मैं **जांणिबो** रे केवल राइ की **कहांणी** ।

क्या **जाणों** उस पीव कूँ कैसे रहणी रंग ।।

२. पर्‌या, पड्या, उठ्या, बीछड़ियाँ, जीभड़ियाँ, छ्याड्या जैसे रूप मिलते है।

३. राजस्थानी की विशिष्ट शब्दावली मिलती है :

जैसे – लार, कुंजा, डागल, अपूठा, छानां आदि।

४. **'य'** श्रुति युक्त शब्द :

संस्कृत शब्द	**कबीर द्वारा प्रयुक्त**
पिंड	प्यंड
पिंगला	प्यंगला
बिंदु	ब्यंद
चिंत्य	च्यंत

अनेको बोली रूपों के मिश्रण के संबंध में डा० भोलानाथ तिवारी ने मार्के की बात कही है :

"उनकी बहुत कम ऐसी पंक्तियाँ मिलेंगी, जिनमें किसी एक बोली के रूप ही प्रयुक्त हुए हों। यदि एक बोली में लिखा होता तो कम-से-कम कुछ पंक्तियाँ तो केवल एक बोली में मिलतीं, एक ही छंदांश तीन परंपराओं में तीन रूप में है जिसका आशय यह है कि उन्होंने जो कहा उसमें भी परंपरानुसार कुछ परिवर्तन हुए किन्तु उसका आशय यह कदापि नहीं कि किसी एक बोली में उन्होंने कहा, क्योंकि किन्हीं तीनों पंक्तियों में किसी में भी बोली की दृष्टि से एकरूपता नहीं है।"

—(कबीर और उनका काव्य)

बोलियों का पचमेली रूप भाषा के प्रत्येक पक्ष में दिखाई देता है। उदाहरणार्थ यदि कारक चिह्नों को ही लें तो स्थिति स्पष्ट होगी :

खड़ी बोली = ने, को, से, का-की-के, में, पर ।
ब्रजभाषा = कौ-कूँ, सूँ, का (कौ) के ।
अवधी = सै, कै, सन ।
राजस्थानी = थें - सतगुर **थें** सुधि पाई।
सेव्यदें तुम **थें** डर्‌यो भारी ।
अवधू जोगी जग **थें** न्यारा ।
कहौ धों सबद कहाँ थें आवे ।

ब्रजभाषा के **'कौ'** के स्थान पर 'कूँ' रूप का प्रयोग अधिक मिलता है, जैसे — कुत्ता कूँ ले गई बिलाइ।

ता कूँ तीन्यों त्रिभुवन सूरों ।

प्रतीकात्मक भाषा :

कबीर द्वारा प्रयुक्त भाषा जनभाषा थी। उनकी वाणी में सहज ही वह शक्ति थी कि जनमानस आकर्षित हो जाता था। कबीर ने परम्परागत तथा रूढ़िगत प्रतीकों के साथ-साथ नवीन लोक जीवन में व्याप्त प्रतीकों का आश्रय लिया। वस्तुतः उनकी लोकप्रचलित प्रतीक प्रणाली में ही वह शक्ति थी कि उनकी भाषा अटपटी, पचमेली, हठयोगी साधना के शब्दों से युक्त होते हुए भी जनता के लिए बोधगम्य बनी रही; समझने के लिए योग की साधना नहीं करनी पड़ी। उदाहरण के लिए **'चरखा'** शब्द लिया जा सकता है। यह शब्द जनसमाज में प्राचीनकाल से व्यवहार में आने के कारण जनमानस को ग्राह्य है :

जो चरखा जरि जाय बढ़ैया ना मरे ।
मैं कातों सूत हजार चरखुला जिन जरे ।।

'**कुम्हार**' का रूपक कितना सुन्दर बाँधा गया है

कुम्हार एक जो माटी गूँथी
बहुविधि बानी लई ।
काहू में महि मोट मुक्ताहल।
काहू विआधि लगाई ।

स्पष्ट है कि इसमें

कुम्हार = ब्रह्म
माटी = नश्वर शरीर
मोती = ऐश्वर्य, वैभव

इसी प्रकार अनेक प्रतीक/रूपक मिलते हैं:

मन = मच्छ, माछ, मीन, जुलाहा, सियार, हस्ती, मतंग, निरंजन।

जीवात्मा = पुत्र, जुलहा, दुलहा, **मूसा**, भौंरा, योगी।

माया = माता, नारी, छेरी, **बिलैया**

संसार = सागर, वन

स्पष्ट है कि परंपरागत प्राप्त सांकेतिक शब्दों के अतिरिक्त कबीर ने निजी संकेत भी दिए हैं, जैसे -- बिलैया, मूसा, पूत आदि । '**ब्रह्मरंध्र**' के लिए शून्य, कमल, कूप, गगन पहले से प्रयोग किए जा रहे थे जबकि कबीर ने मृग, बिल, गंगा-यमुना, विहंगम आदि शब्दों का प्रयोग किया।

सर्वाधिक प्रतीक '**जीवात्मा**' के लिए हैं क्योंकि घूम-फिर कर कबीर अध्यात्म के इस पक्ष पर ही आते हैं :

जीवात्मा - नलिनी

परमात्मा - सरोवर पानी

काहे री नलनी तूं कुमिलानी ।
तेरें ही नालि सरोवर पांनी ।।
जल में उतपति जल में वास, जल में नलिनी तोर निवास।

—(कबीर ग्रंथावली सं० २९६)

अरबी-फारसी की शब्दावली से कोई परहेज नहीं फलतः उनके साहित्य में नूर, खालिक, आलम, नजर, मुल्ला, काजी, बिसमिल, करीम, रहीम, मसीत, तलब, मुकाम, हिकमत, खसम, हलाल, महक, मुहकम, पैगम्बर आदि सैकड़ों शब्द हैं। इनमें से जिसकी सर्वाधिक आवृत्ति है वह '**खसम**' है। पतिवाची शब्द '**खसम**' कई अर्थ व्यक्त करता है :

- पति के साथ 'स्वामी' अर्थ
- परोक्ष सत्ता
- मन

सिद्ध साहित्य में तथा नाथपंथियों ने भी इसका प्रयोग किया है। खसम वस्तुतः सहजयानी लोगों की सहजावस्था या शून्यावस्था का वाचक है :

खसम = ख = आकाश
सा = समान = आकाश के समान
शून्य के समान

इसकी व्याख्या लगभग सभी कबीर के अध्येताओं ने की है। यहाँ डा० नजीर मुहम्मद के शोधग्रंथ से यह उद्धरण इसकी स्पष्टता हेतु दिया जा रहा है :

"आकाश शून्य है। मन भी स्थितप्रज्ञ की अवस्था में बाह्य जगत के प्रभाव से रहित होकर अपने ही मन में तन्मय हो जाता है। यह तन्मयावस्था ही शून्यावस्था है। इसी को ख + सम आकाशवत् अवस्था कहा गया है ।"

(कबीर के काव्यरूप, पृ० ३३८)

कहीं-कहीं काफी क्लिष्ट प्रतीक भी मिलते हैं जिनको 'उलटबाँसी' की संज्ञा दे दी गई है, जैसे - **"कुँआ और पनिहारिन"** :

आकासे मखि औंधा कुंवा, पाताले पनिहारि ।
ताका पांणी को हंसा पीवे, बिरला आदि विचारि ।।

एक भाव के लिए अनेक प्रतीक :

एक भाव के विभिन्न पक्षों को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न प्रतीक का प्रयोग किया गया है ; जैसे **'मन'** के विभिन्न पक्ष हैं :

	अवस्था / पक्ष	प्रतीक
मन	प्रेमरस का पान करने वाला	मधुकर, डोलनहार
	संसार की ओर आकृष्ट	ध्वजा, मछली, पक्षी
	भक्ति की राह में बाधक	चोर, हाथी

इसी प्रकार 'माया' के लिए अनेक प्रतीकों का व्यवहार किया गया है। कुछ प्रतीकों की चर्चा की जा चुकी है, शेष हैं,

वेश्या, डाकिनी, पापिनी, मोहिनी आदि। स्पष्ट है, ये सभी आकर्षित करते हैं, आत्मा को गर्त की ओर ले जाते हैं जिससे व्यक्ति का पतन होता है।

संख्यामूलक प्रतीकों में भी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है, जैसे - पाँच कहारा, पाँच किसान आदि ।

कबीर की भाषा में चाहे अटपटापन हो पर उन्होंने निरर्थकता को पास नहीं फटकने दिया। अपने स्वयं के नाम के साथ भी **सार्थक विशेषण** का प्रयोग किया है, जैसे —

हंस कबीर = मुक्तात्मा
कह कबीर = स्वोक्ति
कहै कबीर = अन्य व्यक्ति की उक्ति
दास कबीर= ईश्वर का उपासक

स्वयं को क़बीर न कहकर कहीं-कहीं **'कबीरा'** भी कहा जो सामान्यतः **'अज्ञानी'** का भाव व्यक्त करता है।

कबीर के प्रतीकों पर सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० रामअवध द्विवेदी का अभिमत उल्लेखनीय है :

'कबीर की कविता में प्रतीक भरे पड़े हैं। इनमें से कुछ का संबंध हठयोग की क्रियाओं से है; किन्तु कुछ अन्य विशुद्ध आध्यात्मिक महत्व रखते हैं। भक्ति की विह्वलता और तन्मयता, वियोग की पीड़ा, मिलन का आह्लाद आदि प्रतीकों द्वारा अत्यंत सफलतापूर्वक व्यक्त हुए हैं।'

लोक / देशज शब्दावली :

कबीर के काव्य में अनेक देशज शब्द भी मिलते हैं। यह भी अध्ययन का क्षेत्र है कि कितने लोक में व्याप्त शब्दों को कबीर ने अपनाकर साहित्यिक स्वरूप प्रदान कर दिया। प्रतीकों के साथ मूसा, बिलैया जैसे शब्दों की चर्चा की जा चुकी है। लोक शब्दावली का जैसा सटीक प्रयोग कबीर के काव्य में मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं ।

कबीर के काव्य में जीवात्मा 'दुलहिन' है जो माया का घूँघट डाले हुए अपने प्रियतम के पास जाने को लालायित रहती है :

वै दिन कब आवैंगे माइ ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंग लगाइ।।

कबीर की भाषा उनकी अपनी विशेषताओं से युक्त थी, कृत्रिम नहीं। इस भाषा को लोक में जनसामान्य तक ले जाने के लिए कबीर ने लोक प्रचलित शब्दावली से सम्पन्न किया, फिर चाहे वह शब्द किसी भाषा / बोली का क्यों न

हो। उनकी भाषा में अनुप्रासों की तड़क-भड़क नहीं परंतु चकित करने वाली शक्ति है जिसका प्रभाव जनमानस पर अचूक होता था।

कबीर के काव्य में पाठ-भेद की भी विकट समस्या रही जिसका काफी अंशों में समाधान डा० पारसनाथ तिवारी के शोध ग्रंथ से होता है ।

तत्कालीन प्रचलित जनभाषा का स्वरूप कबीर के काव्य में सुरक्षित रहा चाहे विद्वानों में उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा के संबंध में परस्पर विरोधी विचार आज तक चलते रहे। एक ओर कहा जाता है कि–

"कबीर ने शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी बहुत है। उसकी भाषा में अक्खड़पन है और साहित्यिक कोमलता / प्रसाद का सर्वथा अभाव है। कहीं-कहीं उनकी भाषा बिल्कुल गँवारू लगती है ।"

तो दूसरी ओर कहा गया कि –

"भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है। उसमें मानो हिम्मत ही नहीं कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके और अकह कहा को भी रूप देकर मनोग्राही बना देने की जो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है।"

कबीर द्वारा प्रयुक्त पचमेली सधुक्कड़ी भाषा का यह कमाल है जिसमें पूर्वी रूपों की अपेक्षा पश्चिमी रूपों की प्रधानता बनी रही और वही खड़ीबोली के मानक स्वरुप को विकसित करने में सफल हुई। उनके द्वारा रचित गेय पदों - रमैनी तथा सबद में तो ब्रज की अनुपम छटा है :

हौं बलि कब देखौंगी तोहि ।
अहनिस आपुर दरसन कारनि ऐसी व्यापी मोहि ।।

इस शताब्दी के प्रारंभ में रेवरेण्ड एडविन ग्रीव्ज़ की इन पंक्तियों से समापन करता हूँ :

"भाषा और शैली की दीप्ति और परिष्कृति की अपेक्षा यदि उनकी शक्ति, व्यंजना और रचना-प्रभाव पर विचार किया जाए तो निश्चय ही हिंदी साहित्य के कवियों के मध्य कबीर का स्थान बहुत ऊँचा होगा।"

–हिन्दी साहित्य का रेखांकन (अनु० - डा० किशोरी लाल) सन् १९९५, पृ०६०

भगवान् की ओर से भेजे गए इस अप्रतिम व्यक्ति को शत शत प्रणाम । ●

कबीर का समय और उनके स्वप्न का समाज

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

(क) **तुरीयावस्था के कबीर में 'स्वप्न' कैसे?**

कबीर की रचनाओं के आईने में उनका जो चेहरा उभरता है नजदीक से निहारने पर वह निर्भ्रान्त रूप से एक संतभक्त 'ज्ञानी भक्त' का ही प्रतीत होता है। ज्ञानी भक्त की सम्पूर्ण चेतना का संकेन्द्रण 'आत्मा' पर होता है - उस पर पड़े हुए आवरण को हटाने पर हटता है - उसका सारा संघर्ष चेतना पर छाई हुई विकृतियों से होता है इसीलिये वे कहते भी हैं - **''सो मुल्ला जो आपस्या लरे।''** स्पष्ट है - अपने से लड़ना अर्थात् अपनी चेतना पर छाई हुई विकृतियों से लड़ना - काम, क्रोधादि विकारों से लड़ना, राग, द्वेष से लड़ना - अहंकार से लड़ना। श्री सद्गुरु के निर्देशन में उनके प्रति समर्पण और रागात्मक लगाव के सहारे वे सहज ही 'सहज' को पा जाते हैं - विभक्त में 'अविभक्त' का दर्शन पा लेते हैं - पर 'ज्ञानी' होकर भी वे 'भक्त' हैं। अतः मंसूर हल्लाज के स्वर में 'वही' होकर भी अपने को 'वही' कहने का साहस नहीं करते - अपितु उसका 'कुत्ता' कहते हैं और उसकी इच्छा पर जीते हैं। आपाततः लगता है कि ऐसा व्यक्ति सर्वात्मना अन्तर्मुखी होता है - उसे बाहर से क्या लेना - देना? उसके दर्शन में बाहर 'भीतर' की छाया है - भीतर को ठीक करो, बाहर निरायास ठीक हो जायगा, अपने को ठीक करो - समष्टि ठीक हो जायगी। यही धारा मानती है - ''हम सुधरेंगे - जग सुधरेगा''। अतः जग को सुधारने के लिये स्वयं को सुधारना होगा। जो व्यक्ति के स्तर पर ठीक होगा वह 'समाज' का स्तर ठीक कर सकता है। जब कबीर भीतर से सुधर गए - तब उनके लिये बाहर सुधरा ही है - तदर्थ स्वप्न देखने का अभिप्राय ? उनकी जागृत और 'स्वप्न' दशाओं का तो भेद ही मिट गया। फिर जागृत के स्वप्न के समाज का क्या प्रश्न? अज्ञान की रात्रि में सोया हुआ व्यक्ति वस्तुतः 'सोया' ही है, जागृत नहीं, 'जागृत' और 'स्वप्न' - एक

रूप नहीं हो सकता। जागृत अज्ञानी को अपनी जागृत दशा में सामने के यथार्थ से प्रायः असन्तोष रहता है - फलतः स्वप्न में वह अपनी कुरूपता के बदले अनुध्यात शोभनता या सुरूपता को आकार देता है - अतः अज्ञानी के लिए तो यह सवाल उठाया जा सकता है - पर ज्ञानी कबीर के लिए कैसे ? असन्तोषकारी जागृत के दबाव में सन्तोषकारी स्वप्न की बात उठनी सम्भव होती है। इस प्रकार सबसे पहले मूल शीर्षक की संगति बिठानी है -- उसे उपपन्न करना है -- तदनन्तर विचार या समाधेय का समाधान युक्तियुक्त होगा।

(ख) **स्वप्न का विषय कबीर नहीं -- समाज**

उक्त समस्या आपाततः ही उठती है। यह सही है कि कबीर ज्ञानी भक्त हैं - अतः व्यक्तिगत स्तर पर उनके लिए सब ठीक है - पर क्या यही बात उस व्यापक समाज -- व्यष्टियों या व्यक्तियों के लिए भी ठीक है जिनकी चेतना पर विकृतियां छाई हुई हैं? कबीर ऐसे व्यष्टि समूह या अपने इर्द - गिर्द के समाज और अपने समय को देखते हैं तो उदार और करुण हृदय होने के कारण क्षुब्ध हो जाते हैं। वे चाहते हैं कि वे व्यष्टियां भी स्वरूप - बोध के रास्ते में बाधा बनकर छाई हुई विकृतियों से दूर हो जायें। वे चाहते हैं कि इर्द - गिर्द के समाज से क्षोभकारी कुरूपता कट जाय और अनुध्यात शोभनता की गंध चतुर्दिक फूट पड़े -- सुरूपता व्यक्त हो जाय। उनकी दृष्टि में सुरूपता वह लाली है जिससे हर व्यक्ति की गठरी भरी पड़ी है - पर उस गठरी की ग्रन्थि (जड़ - चेतन की गांठ) खुले तब तो? **'गठरी खोल न देखई या तें भये कंगाल'**

(ग) **कबीर और समाज का विकल्प**

इस सन्दर्भ में अगला सवाल यह है कि वह 'समाज' कौन सा है? - 'सार्वभौम मानव' समाज या जो उनकी आंखों के सामने का **हिंदू समाज** और **मुस्लिम समाज**? किस समाज के निर्माण का स्वप्न उनकी चेतना में है? उनका उद्देश्य आत्म - निर्माण है या समाज निर्माण? उनकी अन्तरंग साधना आत्म-निर्माण केन्द्रित है या समाज निर्माण केन्द्रित? स्पष्ट है कि वे सारी खुराफात की जड़ें मन में देखते हैं अतः उनकी साधना का क्षेत्र भी भीतरी है। साधना के बहिरंग पक्ष को तो वे खुद ही पाखण्ड बताते हैं - अतः अन्तरंग - मानस - साधना को ही प्रमुखता देते हैं। इसीलिए वे मन पर छाई हुई असद् वृत्तियों के उच्छेद और अन्तर्निहित सात्विक वृत्तियों के उद्रेक के लिए यत्नशील हैं। ऐसे में हम उन्हें कैसे और किस समाज - निर्माण का स्वप्न - द्रष्टा कहें?

यह सही है कि उनके स्वप्न के समाज का घटक व्यक्ति न हिंदू है और न

मुसलमान, न सवर्ण और न असवर्ण - अपितु सार्वभौम मानव समाज!

वे नहीं मानते कि उस परवरदिगार और समदर्शी ने मानव समाज को उपर्युक्त वर्णों में बांटा है। यदि उसे ऐसा अभीष्ट होता तो 'खतना' जन्मजात होता और तब जिनमें जन्मजात खतना न होता उन्हें भिन्न वर्ग का कहा जाता। - पर जन्मजात ऐसा वर्ग - विभाजन कहाँ है? और जिन स्त्रियों में खतना नहीं है। वे किस वर्ग में गिनी जाँय? यदि परमात्मा को 'सवर्ण' और 'असवर्ण' का विभाजन अभीष्ट होता तो तीन सूत का चिह्न गर्भ में ही पड़ जाता। यदि सवर्ण असवर्ण से ऊंचे होते तो अत्यन्त गन्दगी से भरे हुये एक ही रास्ते से दोनों का शुभ या अशुभ आगमन कैसे होता? सवर्ण किसी 'आन बाट' से आता! इससे स्पष्ट है कि कबीर के स्वप्न का समाज सार्वभौम मानव समाज है - जो वर्ग रहित है - जिसमें एक ही मानव जाति की व्यष्टियाँ हैं।

(घ) अ-सार्वभौम हिंदू - मुस्लिम का भारतीय समाज

परन्तु यह भी कैसे मान लिया जाय - क्योंकि जब वे आलोचना करते हैं - **अरे इन दोऊ राह न पाई हिंदुन की हिंदुआई देखी तुर्कन की तुरकाई** तब लगता है कि वे उस समाज की बात करते हैं जिसमें केवल हिंदू और मुस्लिम हैं। यह समाज हिंदू और मुस्लिम का समाज है। तभी तो वे कहते हैं - ना हिंदू ना मुसलमान। वे न तो अपने को हिंदू समाज से जोड़ते हैं और न मुस्लिम समाज से। फिर बचा कौन सा समाज जिसके निर्माण का वे स्वप्न देखेंगे? जो सार्वभौम समाज उनके सामने ही नहीं है - उससे क्षोभ कैसा और जो सामने है उसमें से किसी से अपने को जोड़ते नहीं - फिर किस समाज के निर्माण का स्वप्न ? इसीलिए तो कहता हूं कि उनका निर्माण या सुधार केन्द्र आत्मा है - समाज नहीं - भीतरी चेतना है - बाहरी समुदाय नहीं।

(ङ) हिंदू समाज ? - दो विकल्प

वास्तव में यह सब पूर्व पक्ष है। हां, इतना अवश्य उत्तर पक्ष है कि वे आत्मनिर्माण या आत्म - सुधार को जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं। पर उनकी रचनाएँ उन्हें अपने समय या समाज के प्रति क्षुब्ध करती है या उदासीन? यह अपने समय का हिंदू - मुस्लिम समाज है जिसमें व्याप्त पाखण्ड, अनाचार और दुराचार उन्हें क्षुब्ध करते है और इसीलिए वे एक तरफ फटकार लगाते हैं और दूसरी तरफ उपदेश देते हैं - इससे स्पष्ट हैं कि वे अपने इर्द - गिर्द के समाज से उदासीन नहीं हैं - उसकी वर्तमान कुरूपता उन्हें क्षुब्ध करती है।

(च) **वे उदासीन या तट पर नहीं - धारा में हैं**

परन्तु जब हम यह मानते हैं कि उदासीन नहीं हैं - तटस्थ नहीं हैं - तब जाएंगे कहाँ ? या तो धारा में होंगे या तट पर? उदासीन नहीं हैं यानी तट पर नहीं हैं और तट पर नही हैं तो धारा में ही होना चाहिए। यह धारा है -- गंगा -जमुनी हिंदू मुसलमान की। यह सही है कि वे अपने को दोनों में से किसी वर्ग का नहीं मानते - पर उनकी रचनाएं क्या कहती हैं - उनका भी साक्ष्य लेना आवश्यक है। हिंदू या मुसलमान - भले ही खुदा की ओर से न पैदा किए गए हों - पर इस समाज में जो धाराएं प्रवाहित हो रही हैं - उनकी अपनी कोई बुनियादी पहचान है या नहीं? परमार्थतः कोई अलग -अलग पहचान हो या नहीं, व्यवहार में उनके अलग - अलग होने की पहचान है या नहीं? जाने - अनजाने स्वयं कबीर जब उनको 'दो' कहते हैं, वर्ग - विभाजन करते हैं तब क्या भेद या भेदक बिन्दु तय करते हैं। स्वयं क्या वे **हिंदू** या **मुस्लिम** की पहचान नहीं बताते? उनकी रचनाओं और उसमें विद्यमान उनकी रहन -सहन साधना और उनकी पसन्दगी क्या है? वह कौन सा समाज है जो उन्हें मार डालना चाहता है और कौन सा समाज है जो उन्हें पूजता है? किस समाज का मान्य (शेख) उन्हें दण्डनीय ठहराता है और किस समाज का महात्मा उन्हें दीक्षा देता है? किस साधन धारा से चलती चली आती हुई रागात्मक साधना से वे स्वयं को जोड़ते हैं? वे स्वयं किस तत्त्व को हिंदू की पहचान बताते हैं - उससे जुड़ते हैं या कटते हैं? ये वे तमाम बिन्दु हैं जिन पर उनकी रचनाएं मुखर हैं।

(छ) **रचनाओं के साक्ष्य पर धारा का निर्णय**

कबीर स्वयं किसी दबाव में अपने को इस धारा से अलग कहें परन्तु उनकी रचनाएं कहती हैं कि वे हिंदू हैं - हिंदू समाज के हैं - उसकी बुनियादी पहचान उनमें हैं। असल में 'हिंदू' यह संज्ञा मुस्लिम वर्ग द्वारा ही दी गई है, गैर-मुस्लिम उस देशवासी के लिए, जहाँ 'सिंधुनद' का प्रवाह है। वस्तुतः हिन्दू या 'हिंदुत्व' एक जीवन पद्धति है जो परमार्थतः अद्वैतवादी है -- विविधता में एकता का समर्थन करती है, जो निर्धारित फलतः रूढ़ मान्यताओं में बँधे जलाशय की तरह नहीं, प्रत्युत प्रवहणशील सरिता की तरह है - वह प्रकृति (स्वधर्म) के अनुरूप पड़ने पर 'वेद - कतेब' को मानता भी है और प्रकृति के अनुकूल न पड़ने पर छोड़ भी देता है - पर अनेक में व्याप्त 'एक' से कटना कभी पसन्द नहीं करता - नाम चाहे उसका जो भी दें। निषेध के रास्ते चलकर उसे 'शून्य' कहें या विधान के रास्ते चलकर ब्रह्म कहें। स्पष्ट ही कबीर इसी अद्वैत के पक्षधर हैं -

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा घट जल जलहिं समाना यह तथ कथौ गियानी।।

पारम्परिक इस्लाम अल्लाह और बंदे की एकता को 'कुफ्र' मानता है - और ऐसा मानने वालों को काफिर कहता है। सामी मतों में यह एकता - बोध अपराध माना गया है - इसीलिए मंसूर को फांसी दे दी गई। कहा जा सकता है कि यह अद्वैत भाव और उसके साथ रागात्मक लगाव कबीर में इस्लाम के रहस्यवाद 'सूफी' मत से आया है - शत -प्रतिशत निराधार है।

तर्क -२ : **उनकी भक्ति का नारदी और वैष्णवी होना**

कारण, स्वयं कबीर की बानी है - 'भगति नारदी मगन सरीरा।' उनकी भक्ति 'नारदी' है। नारद और शाण्डिल्य पंचम पुरुषार्थ स्वरूपा 'भक्ति' के आचार्य हैं - वही धारा वैष्णव आचार्यों में प्रवाहित होती हुई रामानन्द से कबीर तक में अबाध रूप से प्रवाहित है। कबीर की भक्ति का आलम्बन शरीरी 'सबद' श्री सद्गुरु ही है। श्री सद्गुरु शिष्य को तवज्जह देता है - फलतः उसकी सुरत शरीरी सबदरूप सद्गुरु में इस तरह लग जाती है कि वह उसे अपने रूप में मिलाकर अपना - सा बना देता है। उन्होंने कहा है -

गुरु को कीजै दण्डवत, कोटि कोटि परनाम।
कीट न जानै भृंग को, यों गुरु करि आप समान।।

तर्क-३ : **राम नाम का उच्चार - हिंदू की पहचान**

उनके हिन्दू होने में एक तर्क और है वह यह कि कबीर राम -रहीम की बात अवश्य करते हैं किन्तु उनके उपास्य राम ही हैं। हिंदू धारा में होने के पीछे अगला तर्क यह है कि यद्यपि कबीर अपने को जोगी, हिंदू तथा मुसलमान -तीनों से ऊपर मानते हैं -देखें,

जोगी गोरख गोरख करै, हिंदू राम नाम उच्चारे।
मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीरे के स्वामी रह्यौ घट -घट समाई।।

तथापि अज्ञात या ज्ञात -भाव से उन्होंने हिंदू की पहचान बता दी कि वह राम नाम रटता है। यही राम कबीर के भी उपास्य हैं - फिर वह हिंदू समाज की धारा में क्यों नहीं? उनके हिंदू धारा में लिए जाने के और भी कारण हैं। मुसलमान पुनर्जन्म नहीं मानते हैं -हिंदू मानते हैं - कबीर भी मानते हैं, देखें-

जिनके नौबति बाजती, मैंगल बँधते बारि।
एकै हरि के नांव बिन, गए जनम सब हारि।।

तर्क -४ : **पुनर्जन्मवाद में आस्था**

अपने को वैष्णव मानने वाला, वैष्णव - चंडाल ही क्यों न हो - तथापि

उसके प्रति पूज्य - भाव रखने वाला कबीर क्या अहिंदू है? फिर ये सन्त मानव एकता के पक्षधर हैं - इसलाम विरोधी है - वह केवल इसलाम में दीक्षित का पक्षधर है? कबीर जिस अद्वैत के पक्षधर हैं - उसमें सबके प्रति समता और एकता लाने का भाव है। केवल मूर्तिपूजा और अवतार का खण्डन करने से यदि कबीर मुसलमान हैं तो आर्यसमाजी भी मुसलमान हो जाएंगे। कबीर का प्रभाव भी हिंदू समाज पर है - मुसलमानों के लिए वे विजातीय हैं - विधर्मी हैं। हिंदू समाज अपने सन्त भक्तों में उन्हें पूज्य स्थान देता है।

तर्क -५ : **हिंदू समाज द्वारा उनकी पूज्यता**

हिंदू समाज अपने सन्त भक्तों को पूज्य स्थान देता है। इस्लाम अपने धर्म की आलोचना बर्दाश्त नहीं कर सकता, आलोचना करने वाले को प्राणान्तक दण्ड देने का मन बनाता है। शेख तकी कबीर को दण्डनीय बताते हैं और सिकन्दर लोदी उन्हें प्राणान्तक दण्ड की घोषणा करता है - देता भी है - पर दे नहीं पाता। परम्परा में उनका उद्भव भी कमल पर और मगहर में हिंदू - मुस्लिम विवाद के बाद उनका शव उसी फूल में बदल जाता है। कमल से कमल तक की यह यात्रा भी उन्हें हिंदू धारा में खींच लाती है। कबीरदास अपने सद्गुरु से जुड़ते ही कबीरदास से कबीर साहब हो गए - वे कयामत तक कब्र में रहकर फैसले की प्रतीक्षा नहीं करते - स्वयं व्यक्ति से ब्रह्म बन जाते हैं - मौत को भी मात दे देते हैं।

तर्क - ६: **संशोधन परस्ती**

चूंकि हरि अमर हैं - इसलिए उपासना द्वारा कबीर भी हरि होकर अमर्त्य बन जाते हैं - देहात्म -बोध जाता रहता है। हिंदू धर्म अपना निरन्तर संशोधन करता रहता है।

तर्क - ७: **परासत्ता और बंदे के बीच पैगम्बर नहीं -- अभिन्न सद्गुरु की महत्ता**

इस्लाम धर्म के मामले में तर्क - वितर्क पसन्द नहीं करता - कबीर निरन्तर संशोधन और सुधार के पक्षधर हैं। मुसलमान किताब और हुक्म या पैगाम का विरोध नहीं कर सकता - कबीर विरोध करते हैं। उनकी रचनाओं में पैगम्बर हजरत मुहम्मद का नहीं - एकमात्र गोविन्द से अभिन्न श्री सद्गुरु को मान्यता है - जो वैष्णव है। कबीर स्वानुभूति को महत्व देते हैं- जिसका श्रेय सद्गुरु को जाता है। इस्लाम का खुदा सातवें आसमान की कुर्सी पर विराजमान है जबकि हिंदू कबीर का राम घट-घट समा रहा है। इस प्रकार उनके वचनों के साक्ष्य पर स्पष्ट है कि वे हिंदू समाज की धारा में थे। सम्भव है 'हिंदू' शब्द जिस अर्थ में आज प्रतिष्ठित है उस समय न रहा हो। हिंदू समाज की धारा में तुलसी भी थे

- पर क्रमागत वर्णाश्रम व्यवस्था में रहकर, क्योंकि उसका कोई विकल्प नहीं था, संशोधन या सुधार के पक्षधर थे। कबीर इस व्यवस्था - वर्णाश्रम व्यवस्था की कीमत पर मानवता की, मानव - मानव की एकता की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। वे हर कीमत पर समता की प्रतिष्ठा चाहते थे - वर्गहीन समाज के पक्षधर थे। इससे स्पष्ट है कि कबीर जब अपने इर्द -गिर्द के समाज को फटकार लगाने में रुचि लेते हैं - तो वे उदासीन या तटस्थ नहीं हैं - हिंदू समाज की धारा में हैं - उसकी गिरावट की वेदना उनमें है - उसकी कुरूपता का गहरा एहसास उन्हें है।

निर्णय --- हिन्दू दृष्टि से इर्द - गिर्द के समाज में सुधार की भावना

फटकारते तो वे मुस्लिम समाज को भी हैं क्योंकि उनके आदर्श के विरुद्ध और बाधक रूप में तमाम विकृतियाँ वहां भी लक्षित होती हैं। मतलब यह कि उनके पारमार्थिक लक्ष्य की सिद्धि में विरोधी और बाधक स्थितियाँ यदि अपने व्यक्ति के मन में हैं - तो उससे तो लड़ेंगे ही - बाहर समाज में दिखाई पड़ेगी तो उसके विरुद्ध भी बोलेंगे। वे चाहते हैं कि उनकी तरह समाज का हर व्यक्ति अपने से संघर्ष करे और मन पर छाई हुई विकृतियों का विनाश करे ताकि भीतर की निर्मलता समाज में भी प्रतिफलित हो। उनका दृष्टिकोण स्पष्टतः हिंदू दृष्टिकोण है - अभेद का पक्षधर है - अतः उनके इर्द -गिर्द का जो भी हिंदू - मुस्लिम समाज है, उसमें बिना भेद -भाव के वे परिवर्तन लाना चाहते हैं -- सुधार या संशोधन चाहते हैं । परन्तु इस सुधार या संशोधन के पीछे दयानन्दी चेतना नहीं है - यद्यपि मूर्तिपूजा और अवतारवाद का विरोध करते हैं। दयानन्द त्रैतवादी हैं - कबीर अद्वैतवादी हैं। दयानन्द की दृष्टि 'वेद' केन्द्रित है -कबीर की दृष्टि 'अनुभव' केन्द्रित है। दयानन्द में मुस्लिम समाज के प्रति वह व्यापक मानवीय और उदार दृष्टिकोण नहीं है - जैसा कबीर का है। कबीर का स्वप्न है कि उनके इर्द - गिर्द का सारा समाज -- चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान, आध्यात्मिक अद्वयवाद के चरम लक्ष्य की ओर जाने की पात्रता प्राप्त करे। सारा समाज वर्ग -भेद रहित हो - ऐसी व्यवस्था को नकार दे जो मनुष्य-मनुष्य में भेद और नफरत पैदा करे, रचनात्मक सम्भावनाओं की उपलब्धि बनाने की जगह विध्वंस का ताण्डव रचे, मूल्यकेन्द्रित लक्ष्य से हटाकर पद्धति-केन्द्रित दिशा की ओर ले जाने वाली अंधी कट्टरता को जन्म दे।

(ज) अन्तर्दृष्टि - सम्पन्न आप्तकाम कबीर अपने समय और समाज पर क्षुब्ध हैं

महापुरुष की चिन्ता लोकमंगल - केन्द्रित होती है - पर एतदर्थ पहले वह स्वयं आत्म -निर्माण करता है- आत्मा पर छाई हुई विकृतियों से संघर्ष करता हुआ उस पर विजय पाता है। भारत ही नहीं, विश्व का प्रत्येक महापुरुष ध्वंस या

हिंसा के मूलबीज — राग, द्वेष पर, विषयासक्ति पर, अहंता -ममता पर विजय प्राप्त करता है, फलतः स्वयं सब प्रकार के दुःखों से छुटकारा पा जाता है। वह व्यक्तिगत स्तर पर सुखी होकर भी अपने इर्द -गिर्द के लोगों को भी सुखी देखना चाहता है। व्यक्तिगत साधना के स्तर पर जीने के दौरान वह जान चुका होता है कि दुःख का निदान क्या है? दुःख के इस मूलभूत कारण का विरोध किया जा सकता है और विरोध का उपाय भी उसके पास है। इसलिए ऐसे महापुरुष की मानवीय प्रकृति की विवशता है कि वह अपने समाज और समय की दुःखदायी विकृतियों से क्षुब्ध हो उठता है और संशोधन तथा सुधार के लिए अकेला ही चल पड़ता है - वह स्वयं मॉडल बनता है। ऐसे महापुरुषों की जमात नहीं होती -- सिंहों के लहड़े नहीं होते । ये महापुरुष अकेले नेतृत्व करते हैं। --क्योंकि वे अन्तर्दृष्टि सम्पन्न होते हैं। पूर्ण - सत्य और खण्ड-सत्य का उन्हें ठीक ज्ञान होता है-अतः क्या करणीय है और क्या अकरणीय - वे ही निर्धारित कर पाते हैं। वे अपने पीछे चलने की बड़ी गहरी शर्त लगाते हैं - जिसे वे पहले ही पूरा कर चुके होते हैं। यह शर्त है - 'अपना घर फूंक दो'। उसने अपना घर पहले ही फूंक दिया है - 'जो घर फूके आपना चले हमारे साथ'। यह 'घर' आसक्ति का ही दूसरा नाम है। जो अपना घर फूंककर अ-परिग्रही हो चुका है-वही आत्ममंगल करता हुआ लोकमंगल या लोकमंगल करता हुआ आत्ममंगल कर सकता है। राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से चलाए गए आन्दोलन में अधिकार और परिग्रह की भावना होती है - पर आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति के पीछे धार्मिक और आध्यात्मिक भावना होती है। यहां 'कर्त्तव्य' और अ-परिग्रह की भावना होती है -अतः इनका प्रस्थान राजनयज्ञों के आन्दोलन और क्रान्ति की प्रकृति का नहीं होता। इन महापुरुषों की अपनी प्रकृति और अपने ढंग का प्रस्थान होता है।

(झ) क्षोभ निवारण की पद्धति

अच्छे अर्थ के बोधक शब्द भी अपने समय और समाज की विकृतियों से जुड़ जाने के कारण बदनाम हो जाते हैं - फिर महापुरुष उससे अपने क्रियाकलाप को नहीं जोड़ते। सन्तों-भक्तों की इस सुधार या संशोधन भावना को 'क्रान्ति' या 'आन्दोलन' कहना कुछ जँचता नहीं। क्रांति या आन्दोलन के पीछे नेता के साथ एक जमात होती है। वह अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए तरह -तरह से 'दबाव' डालता है -अच्छे बुरे तरीके अपनाता है - दबाव के उद्वेलक तरीकों से प्रतिपक्ष को परास्त करके अपना उद्देश्य सिद्ध कर लेता है। 'सन्त -जन' विकृतियों से क्षुब्ध होकर प्रभावी स्वर में अवश्य मुखर होते हैं। पर 'दबाव' नहीं डालते और न ही जमात इकट्ठा कर ऐसा-वैसा साधन अपनाते हैं। वे चाहते हैं --मानव को

अपने 'स्वभाव' (स्व-भाव) में प्रतिष्ठित कराना - चेतना में ही परिवर्तन ला देना -- अधोमुखी प्रवाह को ऊर्ध्वमुखी बना देना। असवर्ण सन्तों ने विकृतियों पर क्षोभ व्यक्त किया, विकृति से ग्रस्त व्यवस्था का वाचिक विरोध किया - पर उनके खिलाफ जनमत बनाकर किसी प्रकार का हमला नहीं बोला -- फिर भी उनके बीच अनायास प्रतिष्ठित जगह बना ली और अनुयायी भी पैदा कर लिए। यह भी नहीं कहा कि सवर्णों ने उन्हें दला है -- इसीलिए उनसे बदला लो -- उलटे उन पर तरस ही खाया - उन्हें सुधारना ही चाहा। बदला लेने की भावना अपने-आप में असंतसम्मत हरकत है। इसलिए सन्तों के प्रयासों को मैं "क्रांति" और 'आन्दोलन' जैसे शब्द से न जोड़ने का प्रस्ताव करता हूँ। सन्तों ने सुधार चाहा और अपने आचरण से जनता के हृदय को प्रभावित कर सद्वृत्तियों को जगाया।

उपर्युक्त तमाम बिन्दुओं पर विचार कर लेने के बाद शेष रह जाता है-- कबीर का समय और उस पर विचार।

(ञ) सन्त कबीर का समय और समाज

सामान्यतः सन्त कबीर का समय सं० १४५५ से सं० १५७५ तक माना जाता है। यह समय देश में राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक--इन सभी दृष्टियों से काफी उथल-पुथल का था। उनकी उपर्युक्त जीवनावधि तैमूरलंग के आक्रमण के बाद से लेकर पठान शासकों में सैयद और लोदी वंश के शासन की समाप्ति के बाद मुग़लवंशी हुमायूं के काल तक जाती है। तैमूरलंग देश को लूटने और तबाही की आग लेकर आया था जबकि शेष मुस्लिम शासन की नीयत से। शासकों में भी प्रायः धर्म का विनाशकारी उन्माद छाया हुआ था। इस तरह जहाँ एक ओर हिन्दू और मुस्लिम की विजित और विजयिनी जैसी आमने-सामने तनी हुई विभक्त जमातें थीं - वहीं पहले से मौजूद हिन्दू समाज भी न केवल सवर्ण-असवर्ण जैसे दो भागों में ही विभाजित था - अपितु अनगिनत आधारों पर विभाजित जातियाँ-उपजातियाँ थीं। समाज का आधा भाग नारी अपने समाज में तो दयनीय स्थिति में रखी ही गयी थी -- सन्तों ने भी उनकी स्थिति गर्हित ही बताई। सुविधाभोगी अल्पसंख्यक यथास्थितिवाद बनाए हुए थे - अतः परिवर्तन और प्रवहणशीलता के अभाव में सडांध समाज की नियति बन गई थी। समाज की जीवनचर्या मूल्य-केन्द्रित न होकर पद्धति-केन्द्रित फलतः जड़ीभूत हो रही थी - अतः धार्मिक दृष्टि से भी विध्वंसकारी पारस्परिक विद्वेष और कट्टरता की आग धधकती रहती। दलित और विजित अपना प्रारब्ध और दैवी इच्छा की अंध समझ से सब कुछ बर्दाश्त कर कसमसाते और कराहते रहते। 'हुकुम' -- विजित की ज़बान बन गई थी। हिन्दू और मुसलमान -- दोनों की उपासना पद्धतियाँ

विकृतियों से ग्रस्त थीं। साधना या धार्मिक क्षेत्र में बहिरंग आचरण ही महत्वपूर्ण हो गया था -- फलतः मनोजगत् विकृतियों का आगार बन गया था। विकृत हिंसा और यौन साधनाएं कहर ढा रही थीं। शासित के खून पर शासक के चेहरे की लाली बढ़ती जा रही थी। धर्मान्ध मुस्लिम शासक काफिर हिन्दुओं और उनके आस्था- केन्द्रों को ध्वस्त करने में जुटे थे। निम्न जातियां एक तरफ सवर्ण से त्रस्त होकर धर्मान्तरित हो रही थीं -- अन्यथा दबी पड़ी रहतीं । पारस्परिक फूट और विद्वेषवश हिन्दू शासक परास्त होकर विवश जीवन जीते थे। धर्म के क्षेत्र का पाखण्ड भी जनता को कम त्रस्त नहीं कर रहा था। सो, समाज की यह दशा, व्याप्त विषमता, अनगिनत विभाजित इकाइयाँ, पाखण्ड का ताण्डव धर्मोन्माद, अन्धविश्वास और रूढ़ियां, विजेता के विजित पर अत्याचार, अविवेक-प्रसूत कट्टरता और हिंसा का ताण्डव, धर्म के नाम पर जीत की लोलुप आग को तृप्त करने के लिए जीव-वध की प्रचुरता, गोमेध, नरमेध की बढ़ती प्रवृत्ति, दुर्निवार ऐहिक महत्वाकांक्षा और विलास की अपूरणीय आग की शान्ति के लिए शक्ति-स्तूपों द्वारा कमजोरों का निर्मम शोषण इर्द-गिर्द बराबर देखने में आते थे। ऐसे में भक्ति, प्रपत्ति और मानवता से ओतप्रोत सन्त की चेतना कैसे अक्षुब्ध रह सकती है। पेट के धन्धे में पागल समाज को वह समझाए कहां तक ? ऐसे में एक मूक दर्शक पाखण्डियों को नंगा ही कर सकता है -- उसका भण्डाफोड़ ही कर सकता है। समाज में व्याप्त इस कुरूपता को अनुध्यान शोभनता में बदलने का 'स्वप्न' ही देख सकता है। कार्यान्वयन इसलिए सम्भव नहीं है कि उसके पास अपने जैसे लोगों की जमात नहीं है -- जो दो-चार लोग इनती-गिनती के हैं भी निर्मल मन के निश्छल मनुष्य हैं -- हर कीमत पर मूल्यों को जीना इनका स्वभाव है -- किसी पर दबाव देने की उनकी पद्धति नहीं है। ऐसे दुर्दम्य अपसांस्कृतिक परिवेश को बदलने का 'स्वप्न' ही एक सन्त कर सकता है -- अपने जैसा दो-चार का निर्माण कर सकता है। उनकी दृढ़ धारणा है कि बाहर बदलाव मन के बदलाव से ही सम्भव है और वह व्यक्ति - व्यक्ति पर निर्भर करता है।

(ट) **सन्त के स्वप्न का समाज**

ऐसे में अतृप्त सन्त कबीर का मानस जिस तरह के समाज का स्वप्न देख सकता है -- वह सम्भवतः इस प्रकार का हो सकता है। वह मानता है कि सृष्टि या वांछित समाज की सृष्टि 'दृष्टि' से प्रसूत होती है। सन्त कबीर की दृष्टि 'चिदाद्वैतवादी' है -- अतः उसके समाज में रहने वाले लोगों की दृष्टि चेतनाद्वैतवादी होनी चाहिए। उन्हें यह मानकर चलना चाहिए कि वे ऊपर से चाहे जितने भिन्न हों -- भीतर से 'एक' हैं और असलियत वही है। यह हवाई विचार नहीं है --

उनकी साधनाजनित गहरी अनुभूति से उपजा है। वे कहते हैं --

करत विचार मनहिं मन उपजा ना कहुँ गया न आया।

वे कहते हैं --- 'दुइ जगदीश कहां ते आए ?' नाम बदलने से अर्थ नहीं बदलता। उस एक ही नूर से सभी पैदा हुए हैं -- अतः उनके समाज में हिन्दू-मुसलमान जैसा विभाजन नहीं, सवर्ण-असवर्ण जैसा विभाजन नहीं । सभी समान हैं और सबकी गठरी लाल है। उनके स्वप्न-समाज में सबको इस सत्य पर विश्वास होना चाहिए और तदर्थ पुरुषार्थ करना चाहिए। उनका समाज परिवार की इकाइयों से घटित होगा और उस परिवार के मालिक को महज इतने भर की साईं से आशा रहेगी कि वह इतना भर दें जिसमें न वह भूखा रहे, न उसका कुटुम्ब और साधु कभी आ जाय तो भूखा न लौटे। उसके समाज का नागरिक मन का निर्मल होगा। छल-कपट नहीं करेगा। अपने स्वामी के जीवों से प्रेम-भाव रखेगा -- चाहे वह कीरी हो कुंजर हो। उसका हृदय अपने राम के प्रति तो रागपूर्ण होगा ही -- उसके बनाए प्राणियों के प्रति भी समर्पित होगा। उसके समाज में न शाक्त होगा और न हलाल करने वाला व्यक्ति। उसके समाज के नागरिक दाढ़ी-बाल मुड़ाने की जगह मन को मुड़ाएंगे -- ताकि वह साफ रहे। पाखण्ड, अनाचार और किसी प्रकार अन्याय-अत्याचार तो होगा ही नहीं। अहिंसा, सत्य, मैत्री, संयम, अपरिग्रह -- जैसे मानव मूल्य नागरिकों को प्रिय होंगे। नागरिक विषयासक्ति में आग लगाकर उसे समाप्त कर देंगे - ताकि सर्वविधविध्वंस बीज राग-द्वेष निःशेष हो जाय। कोई नागरिक निगुरा नहीं होगा -- श्री सद्गुरु के प्रति सर्वात्मना समर्पित होगा -- ऐसा समर्पित कि वही हो जायगा। इस रास्ते चलकर वह जियावनहारे को पा लेगा और कालजयी बन जायगा -- निर्भय हो जायगा । अपने मालिक के द्वारा दिए गए ज्ञानरत्न से हृदय को निरन्तर प्रकाशित रखेगा -- सुरत को सबद में लीन कर अष्टदलकमल को भेद देगा। उसके समाज का नागरिक महाठगिनी माया को पहचान लेगा--फलतः उसके पंजे में नहीं आएगा। उसके समाज के नागरिकों का नेता श्री सद्गुरु होगा, जो उसे उसके ठिकाने पर पहुंचा देगा, द्वन्द्वातीत कर लेगा। प्राण, अपान, इड़ा, पिंगला, संकल्प, विकल्प, निश्चय-अनिश्चय और जीवन-मरण का द्वन्द्व समाप्त हो जाएगा, सुरति-निरति की मथानी से मथकर प्राप्य नवनीत का भोग करेगा। लोकोत्तर ध्वनि और दृश्यों को देखता हुआ अपनी रूहानी मंजिलें पार करेगा। वहाँ के नागरिक एकमत होंगे -- उनमें मतभेद होगा ही नहीं। उसके स्वप्न-समाज में अन्धे और लोभी काजी-मुल्ले और पण्डित-पुरोहित न होंगे -- जो स्वयं तो विनाश के गर्त में जाते ही हैं -- अनुयायियों को भी ले जाते हैं। अपने समय की विकृतियों से क्षुब्ध कबीर के स्वप्न का समाज कुछ ऐसा ही होगा। ●

कबीर और हमारा समय

डॉ० परमानंद श्रीवास्तव

यह शताब्दी जो बीत रही है उसमें कबीर के मूल्यांकन का इतिहास देखें तो कबीर साहित्यिक-सांस्कृतिक विमर्श के बाहर कभी नहीं रहे हैं। यह ज़रूर है कि उन्हें स्वीकार करने में, और अपनी बनी-बनायी शर्तों पर स्वीकार करने में, बहुतों को कठिनाई हुई है। हिन्दी में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पहले आलोचक हैं जिन्होंने कबीर के मर्म को ठीक-ठीक समझा और कबीर के भीतर से ही एक नये कबीर की खोज की। कहें कि उन्होंने कबीर का अपना एक नया पाठ निर्मित किया। प्राप्त पाठ में ही एक नये पाठ की खोज करते हुए उन्होंने कुछ ऐसी स्थापनाएँ की जिन्होंने कबीर के मूल्यांकन का परिप्रेक्ष्य बदल दिया। कइयों को कबीर में एक आधुनिक कबीर जैसी छवि देखने की इच्छा हुई। पिछले दिनों आधुनिक जन-कवि नागार्जुन को कबीर का सच्चा उत्तराधिकारी मानते हुए उन्हें भी 'आधुनिक कबीर' जैसी संज्ञा दी गयी। अब उनके मूल्यांकन में जो एक नया परिप्रेक्ष्य जुड़ गया है वह है दलित साहित्य या दलित चेतना के साहित्य के रूप में कबीर के पुनः पाठ का प्रस्ताव। विडम्बना यह है कि स्वयं दलित लेखक इस विषय में एक मत नहीं हैं। एक ओर कबीर साहित्य को दलित साहित्य की परम्परा में स्वीकार करते हुए उनके अब तक के समूचे मूल्यांकन को (जिसमें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मूल्यांकन भी शामिल है) ब्राह्मणवादी पाठ कहा जा रहा है, दूसरी ओर कबीर, रैदास जैसों के साहित्य को दलित साहित्य या दलित चेतना का साहित्य मानने से ही इनकार है; क्योंकि वह आध्यात्मिक बोध पर आधारित है और दलित चेतना के विद्रोही, अस्वीकार मूलक, प्रतिरोधी पक्ष को कमजोर करने वाला है। अब सवाल यह है कि हमारे समय में, अर्थात् एकदम आज के समय में, जब कि एक शताब्दी बीतने को है और दूसरी एकदम निकट है, कबीर के एक और नये पाठ की पद्धति और दृष्टि क्या हो !

पहले हम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की कुछ स्थापनाओं को ध्यान में रखें: "आज शायद यह सत्य निविड़ भाव से अनुभव किया जानेवाला है कि सबकी विशेषताओं को रखकर मानव मिलन की साधारण भूमिका नहीं तैयार की जा सकती। जातिगत, कुलगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत, शास्त्रगत, सम्प्रदायगत बहुतेरी विशेषताओं के जाल को छिन्न करके ही वह आसन तैयार किया जा सकता है जहाँ एक मनुष्य दूसरे से मनुष्य की हैसियत से ही मिले। जब तक यह नहीं होता तब तक अशांति रहेगी, मारामारी रहेगी, हिंसा-प्रतिस्पर्द्धा रहेगी। कबीर ने इस महती साधना का बीज बोया था।" **या** "अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐसी चोट करते हैं कि चोट खानेवाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता। इस प्रकार यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।" **या** "परन्तु यह भूल नहीं जाना चाहिए कि यह कविरूप घलुए में मिली हुई वस्तु है।" इन या ऐसी ही अन्य स्थापनाओं पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए दलित दृष्टि से कबीर के पाठ की माँग करने वाले डॉ० धर्मवीर ने "कबीर के आलोचक" (१९९७) नामक पुस्तक में एक सम्पूर्ण निबन्ध ही लिखा है – डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : सूर्य पर पूरा ग्रहण । डॉ० धर्मवीर के निबन्ध के आरंभ में ही मुख्य आपत्ति यह है – "लेकिन डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के चिन्तन से लड़ने का एक निराला रास्ता अपनाया। उन्होंने सीधी टकराहट के बजाय इसे भीतर से निस्तेज और निष्प्रभावी करना चाहा। वास्तव में उन्होंने इस मध्यकालीन वेद विरोधी विस्फोट को फ्यूज करने की कोशिश की है।" आगे उनका कहना है--डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के चिन्तन की सारी आग और चकाचौंध खत्म कर दी है। उन्होंने कबीर को इस तरह का बना दिया है कि "अब वेद कबीर के हृदय की आग में जल नहीं जायेंगे और ब्राह्मणवाद कबीर के तेज के सामने अन्धा नहीं हो जाएगा।" उनकी व्याख्या की वजह से "वेद और ब्राह्मणवाद कबीर की आग और चकाचौंध से मज़े में खेल सकते हैं।" हाँ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के लिए कबीर का दर्शन "एक खेल" ही है – इसे ज्यादा से ज्यादा 'एकेडेमिक खेल' कहा जा सकता है। डॉ धर्मवीर की आपत्ति यह भी है कि द्विवेदी जी कबीर को "मूलतः भक्त और व्यक्तिवादी" ठहरा देते हैं जिनका समाजसुधार से खास वास्ता नहीं था। डॉ धर्मवीर जैसे दलित लेखक की कुल आपत्ति यह है कि द्विवेदी जी का मूल्यांकन एक अनधिकार चेष्टा है-क्योंकि वे एक अछूत की तरह नहीं सोच सकते। आज के समय में कबीर की

सार्थकता पर विचार करते हुए इन आपत्तियों को नज़र अन्दाज़ नहीं किया जा सकता। पर मुख्य प्रश्न तो यही है कि कबीर को आज हम कैसे पढ़ें। किस तरह पढ़ें कि हमारे समय के लिए कबीर की सार्थकता ठीक-ठीक समझी जा सके।

कबीर मेरी जाति कौ सब कोई हँसने हार
बलिहारी इस जाति की जिहि जपिये सिरजन हार
जाति जुलाहा मति को धीर
x x x
हम घर सूत तनहि नित ताना
x x x
तू बाह्मन मैं कासी का जुलाहा बूझहु मोर गिआना
x x x
ओछी मति मेरी जाति जुलाहा
x x x
कोरी को काहू मरम न जाना
सभु जगु आनि तनाइओ ताना

कबीर के पाठ को दलित परिप्रेक्ष्य देने में ऐसे कथन सहायक हो सकते हैं जिनमें जुलाहे की जाति में कबीर का होना सामाजिक संरचना में व्याप्त ऊँच-नीच के भेद की त्रासदी की ओर संकेत करने वाला हो। पर क्या कारण है कि इस सामाजिक स्थिति के बावजूद कबीर में वह साहस भी पैदा हुआ कि वे हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र के संकीर्ण अलगाव को चुनौती दे सकें। जो वेदशास्त्र इस भेदमूलक व्यवस्था को पुष्ट करने वाले हों, उन्हें सीधे अस्वीकार कर सकें। जो पंडित और मुल्ला मिथ्या कर्मकाण्ड तथा बाह्याचारों का पोषण करने वाले हों, उनकी स्पष्ट भर्त्सना कर सकें। संभवतः यह साहस कबीर में दो कारणों से संभव हुआ। एक तो वे समाज में मौजूद शोषक व्यवस्था को उसकी कठोर जटिलताओं में ठीक-ठीक देख पा रहे थे और दूसरे अपनी अंतः प्रज्ञा या भीतरी आलोक को कम करके नहीं आँक रहे थे। उनकी भक्ति किसी शास्त्रव्यवस्था द्वारा निर्धारित कर्मकाण्ड के अधीन नहीं थी। वह उनके मनोलोक में अपने ही बल पर संभव हुई थी। यह अनुभव उनका अपना था। इसके रहस्य को अकेले वे ही जानते थे। न झूठा पाखंडी योगी जानता था, न मिथ्या ज्ञान के दंभ से उत्तेजित पंडित। ये दोनों टेढ़े टेढ़े चलने वाले थे जबकि कबीर का रास्ता 'सहज' का रास्ता था। उसे बेपढ़े, मामूली लोग, मोची-धोबी-नाई-कहार सब समझ सकते थे। दलितों ने अगर कबीर का अपना पाठ बना लिया है और जीवन

पद्धति में कबीर को संगी साथी बनाया है तो इसी 'सहज' के बल पर।

अब इन दो बातों पर फिर से ध्यान दें। एक तो कबीर उस समूची शोषक व्यवस्था से ठीक-ठीक परिचित थे जिसकी मार अत्यन्त सामान्य साधारण गरीब वंचित किसान मजदूर पर सीधे पड़ रही थी। इस यातना-रूपक की ओर इधर खास तौर पर पाठकों का ध्यान गया है :

अब न बसूँ इहि गाँइ गुसाँईं
तेरे नेवगी खरे सयाँने हो राम
नगर एक तहाँ जीव धरम हता, बसै जु पंच किसानाँ
नैनूँ निकट श्रवनूँ रसनूँ, इंद्री कह्या न मानैं हो राँम
गाँइ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै
जोरि जेवरी खेति पसारै सब मिलि मोकौं मारे हो राँम
खोटौ महतौ बिकट बलाही सिर कसदम का पारै
बुरो दिवाँन दादि नहिं लागै इक बाँधै इक मारै हो राम

सवर्ण वर्चस्व वाली पंचायत व्यवस्था, न्याय व्यवस्था की जड़ता और क्रूरता, मुंशी दीवान की चालाकियाँ और दमन, बेगार प्रथा की तकलीफ, जातिव्यवस्था की कठोरता-जैसे मुद्दों पर कबीर जहाँ तहाँ संकेत करते रहे हैं। कबीर की पीड़ा और आक्रोश की दलित परिप्रेक्ष्य में व्याख्या संभव है। कबीर का यह आक्रोश भी कुलीन तंत्र के लिए चुनौती है :

सो कछू बिचारहु पंडित लोई

x x x

पंच तत्त तहाँ सब्द न स्वादं अलख निरंजन विधा न बादं
कहै कबीर मन मनहिं समानाँ, तब आगम निगम झूठ करि जानाँ

x x x

पांडे कौन कुमति तोहि लागी

x x x x

बेद पुराण पढ़त अस पांडे खर चंदन जैसे भारा

x x x x x

राँम नाम तत समझत नाहीं अंति पढ़ै मुखि छारा

x x x x x x

ता नूर थैं सब जग कीया कौन भला कौन मंदा

x x x

काजी कौन कतेब बखानै
पढ़त पढ़त केते दिन बीते गति एकै नहिं जानै

व्यवस्था से सीधे जिरह करने, सवाल पूछने के पीछे जो आक्रोश है, उसके पीछे महज़ दलित स्थिति में होना काफी नहीं है। अगर कबीर के यहाँ यह दलित चेतना है तो वह किसी गहरी आंतरिक चेतना से स्फूर्ति पाने वाली है। कबीर का आध्यात्मिक बोध गहन सामाजिक नैतिक चेतना से इस तरह अभिन्न है कि कहना कठिन है कि इनमें कारण क्या है और परिणाम क्या है। कबीर का अपना दलित पाठ बनाने वालों के सामने कठिनाई यही है कि इस आध्यात्मिक बोध का क्या करें ! क्या इसे खारिज करके कबीर का कोई मुकम्मल पाठ बना सकेंगे ! यहाँ चिन्ता का कारण यह ग्रंथि है कि दलित व्याख्याकार आध्यात्मिक बोध को आज की स्थितियों के अनुसार उच्च व्यवस्था के प्रति समर्पण या कायर किस्म की सहनशीलता या कुंठा बता रहे हैं। यह क्या दलित चेतना की मूल गुणवत्ता से भी इनकार नहीं है !

कबीर हमारे समय के लिए सार्थक और महत्वपूर्ण हैं तो इसलिए कि एक ओर उनमें दलित जातीय स्थिति में होने का तीखा अहसास भी है, दूसरी ओर अपने बुनकर पेशे को लेकर आत्मगौरव भी है। कबीर बुन रहे हैं और लगातार बुन रहे हैं। यह उनकी लाचारी नहीं है। यह उनका गौरव है। 'बुनने' जैसे क्रिया व्यापार को लेकर असंख्य रूपक प्रतीक कबीर साहित्य में मौजूद हैं। इस बुनने के व्यापार में जो ध्वनि या गूँज है, उसकी अपनी आध्यात्मिक व्याप्ति भी है। यह कबीर का अनुभव है। कबीर का अपना अनुभव।

संतो सो अनभै पद गहिये।
कला अतीत आदि निधि निरमअ ताकूँ सदा बिचारत रहिए

x x x

लोचन अछित सबै अंधियारा बिन लोचन जग सूझै
पड़दा खोलि मिलै हरि ताकूँ, जो या अरथहिं बूझै

'अवधू' से वे जो सवाल पूछते हैं, वही वही सवाल अपने से भी पूछते हैं। सब सवालों के आसान उत्तर हैं भी नहीं। कबीर जितना बाहर देखते हैं उससे अधिक भीतर देखते हैं। कबीर का अपने से और अपनी व्यवस्था से लगातार पूछते रहना हमारे समय के लिए सबक है। लोगों ने पूछना बंद कर दिया है।

कबीर को लेकर अतिप्रचलित पुराना पारम्परिक पाठ तो यही है कि उनके यहाँ द्वन्द्व नहीं है, कि उनका साहित्य द्वन्द्वों से परे या द्वन्द्वातीत है। नया पाठ शायद यही है कि कबीर के साहित्य से द्वन्द्व संशय जिज्ञासा प्रश्न बहिष्कृत नहीं हैं। कबीर अपनी दुनिया में अपने तर्क से उदास हैं। यह उदास

होना उदासीन होना नहीं है। वे एक साथ बेचैन प्रश्नमय और उदास हैं। हमारे समय के लिए कबीर की यह नयी छवि है। नया पाठ है।

आहेड़ी दौं लाइया मृग पुकारै रोइ
जा बन में क्रीड़ा करी दाझत है बन सोइ

कबीर के लिए जो सारा जंगल जल रहा है और जिसमें वे भी जल रहे हैं — यह अनुभव जितना उनके समय का है, अपने ध्वन्यार्थ में उतना या उससे भी अधिक हमारे समय का है। इस त्रासद अनुभव के बावजूद अगर कबीर 'हरि-रस' में डूबे हुए हैं तो ऐसे 'दाह' को भूलकर नहीं, 'दाह' के अनुभव के साथ ! यह द्वन्द्व ही कबीर के काव्य का विलक्षण मर्म है। इस मर्म को नहीं पहचानेंगे तो 'दलित चेतना' की एक अत्यन्त सरल संकीर्ण कामचलाऊ व्याख्या करके संतुष्ट हो जायेंगे। दलित चेतना की दृष्टि से कबीर के साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए उनकी द्वन्द्व समृद्ध पूर्णता का रहस्य जानना होगा। प्रेम करुणा उदात्तता के पाठ के अधिकार से दलित जाति को वंचित रखा गया हो तो वह एक सामाजिक व्यवस्था की त्रासदी हो सकती है, जिसमें विशेषाधिकार प्राप्त कुछ लोग शेष समाज को अपना दास समझते आये हैं। कबीर जैसे संतों की विस्फोटक प्रतिभा व्यवस्था को लताड़ते हुए उच्च भावभूमि की अपनी स्वायत्तता अर्जित कर सकी है। कबीर का साहित्य साहित्य की तमाम पारस्परिक मान्यताओं को ध्वस्त कर ही नयी अविस्मरणीय पहचान हासिल कर सका है। और यह अगर संभव हुआ तो दुख और आनंद, आक्रोश और करुणा या प्रेम जैसे विरुद्धों का सामंजस्य घटित करके ही। यह कोई सरल काव्ययुक्ति न थी। यह पाने के लिए बहुत कुछ दे देना था। सारा अपनापा और अहंकार, अपना सब कुछ गँवा कर ही, जात पाँत सब मिटा कर, सारा सुख चैन छोड़कर कबीर ने यह दाँव खेला था। कबीर अपने समय में दलित चेतना का प्रतिनिधित्व इस अर्थ में भी कर रहे थे कि उच्चतर व्यवस्था को चेतावनी देने की स्थिति में थे, कि एक दिन यही शोषित उपेक्षित जन जागेंगे और संगठित होंगे और अपना हक़ माँगेंगे :

कबीर घास न नींदिये जो पाऊँ तलि होइ।
उड़ि पड़ै जब आँखि में खरा दुहेली होइ।।

पर यह कहने का साहस कबीर में पैदा ही इसलिए हुआ था कि वे समस्त स्वार्थमंडल से ऊपर थे, सब कुछ गँवाने का आनंद हासिल करने के लिए बेचैन! संचय की लिप्सा या लोभ के विरुद्ध ! 'कबीर आप ठगाइये और न ठगिये कोइ / आप ठग्याँ सुख ऊपजै और ठग्याँ दुख होइ।' सब जानते हैं कि यह कहना आसान है करना कठिन ! आज के विकृत उपभोक्तावादी समाज में इस उच्च

मनोभूमि की कल्पना भी कठिन है। पर समाजवाद को छोड़कर मनुष्यता के लिए दूसरा कोई विकल्प नहीं है। एक तरह का समाजवाद विफल होगा तो दूसरे तरह का समाजवाद आयेगा। पर इसे 'स्वप्न' या 'विज़न' की तरह हासिल करना हो तो दलित चेतना को भी एक पूर्णतर अभिप्राय प्रमाणित करना होगा। उसके प्रवक्ता और पक्षधर 'कबीर' में यह पूर्णतर अभिप्राय खोज सकते हैं। ●

कबीर के सामाजिक विचार

डॉ० वासुदेव सिंह

सामान्यतः कबीर समाज सुधारक नहीं थे। समाज रचना के लिए उन्होंने कोई सुधारवादी आंदोलन नहीं चलाया। दयानंद सरस्वती, राजा राम मोहन राय, स्वामी राम तीर्थ अथवा रामकृष्ण परमहंस की कोटि में उन्हें नहीं रखा जा सकता। उनकी चेतना मूलतः आध्यात्मिक थी। वह स्वभाव से संत थे। किन्तु कर्म से साधक और सुधारक। वह न समझौतावादी थे और न पलायनवादी। वह सामाजिक वैषम्य से क्षुब्ध थे। दलित और शोषित वर्ग के प्रति उनमें गहरी सहानुभूति थी। समाज कल्याण उनका लक्ष्य था। उनकी गहन अनुभूति ही अभिव्यक्ति का आधार है। इसीलिए उनकी वाणी में समाज के विविध चित्र हैं। उनमें गहन सत्य ही मुखर हुआ है।

(क) <u>सामाजिक सांस्कृतिक स्थिति -- विभिन्न सम्प्रदायों का स्वरूप :</u>

कबीर के आविर्भाव काल में समाज की दशा अत्यन्त विषम एवं शोचनीय थी। सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था जातिगत आचार-विचार, वंशगत ऐश्वर्य, मद एवं ऊँच-नीच की भावना पर आधारित थी। आचार-विचार भी रूढ़िगत मान्यताओं एवं अंधविश्वासों में पर्यवसित हो चुका था। फलतः मानव जीवन की सार्थकता का स्रोत अवरुद्ध हो रहा था। सारा समाज एक प्रकार की जड़ता और मूल्य-मूढ़ता की स्थिति को पहुँच चुका था। असत्य को ही सत्य माना जा रहा था। सारा समाज वर्ण - आश्रम, वेद-शास्त्र, तप-तीर्थ, व्रत-पूजा, दान-पुण्य, माया-मोह, धन-यौवन के मद से ग्रस्त था। राजा-रंक, योगी-जती, काजी-मुल्ला, स्त्री-पुरुष, देवी-देवता, पीर-पैगम्बर सभी विषय-वासना से ग्रस्त थे। धर्म के नाम पर पाखण्ड और मिथ्याचार को बढ़ावा मिल रहा था, कथनी-करनी में कोई साम्य नहीं था, छल और धूर्तता का साम्राज्य था। नाना प्रकार के सम्प्रदाय जन्म ले चुके थे। तथाकथित साधुओं की भीड़ चतुर्दिक दिखायी पड़ती थी, जिनकी

वेशभूषा संतों जैसी थी, किन्तु आचरण निम्न कोटि का था। छल प्रपंच, झूठ-फरेब, पाखण्ड-धूर्तता आदि इनकी जीवन चर्या थी। धर्म के नाम पर शैव, वैष्णव, शाक्त, जैन, बौद्ध धर्म, नाथपंथी आदि अनेक सम्प्रदाय संगठित हो चुके थे। इनके भीतर भी अनेक उपसम्प्रदाय थे। शैवों में पाशुपत, कापालिक, लकुलीश, वीर शैव; अघोरपंथी आदि मतावलम्बी विद्यमान थे। शाक्तों में आनन्द भैरवी, भैरवी चक्र, सिद्धि मार्ग जैसी गुह्य साधनाओं का प्रचलन था। बौद्ध धर्म महायान, हीनयान, मंत्रयान, सहजयान, वज्रयान आदि के रूप में विकसित हो रहा था। जोगी, जंगम, शेवड़ा, संन्यासी, दरवेश, और ब्राह्मण नामक छः दर्शन अस्तित्व में आ ही चुके थे, इनके अन्तर्गत ९६ पाखण्डों, (मतों) का भी आविर्भाव हो चुका था--योगी-१२, जंगम-१८, शेवड़ा-२४, संन्यासी-१०, दरवेश-१४ और ब्राह्मण-१८।[1] कबीर ने भी छव दरसन छानवे पाषंडा' (रमैनी २) का उल्लेख किया है। समाज में ऐसे साधुओं की भीड़ देखी जा सकती थी जो अध्यात्म-चिंतन के लिए विरक्त नहीं हुए थे अपितु मठाधीश बनकर, शिष्यों की अपार मण्डली बनाकर ऐश्वर्य-भोग में ही लिप्त रहते थे।[2] ऐसे दिखावटी साधु प्रायः सड़कों पर तसला और टोकनी (भिक्षा पात्र) लिए घूमते रहते थे। रामनाम से उनका कोई परिचय नहीं था। वे पीतल के बर्तनों और सिक्कों की लालसा में ही लगे रहते थे। उनकी सारी चतुराई सांसारिक भोग तक ही सीमित थी।[3] सामान्य जन को प्रभावित करने के लिए ये नाना प्रकार की साधनाएं करते थे। कोई वेद पाठ में लीन रहता था, कुछ लोग उदासीन बनकर भ्रमण करते थे, कुछ लोग सदैव नग्न रहने को ही साधना समझते थे, कुछ लोग काया-योग से अपने शरीर को क्षीण करते रहते थे, कुछ फकीर बनकर दान माँगते थे तो कुछ दानी बनते थे, कुछ साधु मयूर-पिच्छ धारण करते थे और कुछ मस्ती के लिए सुरापान करते थे, कुछ तंत्र-मंत्र के चक्कर में रहते थे तो कुछ लोग गाँजा-भांग के सेवन में मस्त थे, कुछ लोग अपान वायु पर नियंत्रण करके सिद्धियाँ प्राप्त करना चाहते थे तो कुछ तीर्थ व्रत करके काया को वश में करना चाहते थे। कुछ लोग पंचाग्नि तप से शरीर को काला कर रहे थे।[4] कबीर ने ऐसे लोगों को भी देखा था जो शिवलिंग धारण करते थे, कुछ जटाएँ बढ़ाने में ही तत्पर रहते थे, कुछ लोग शरीर पर भस्म लगाते थे तो कुछ लोग मौन व्रती थे, कुछ लोग शिवशक्ति की आराधना का दिखावा करते थे तो कुछ जीव-वध को ही धर्म मान बैठे थे।[5] कबीर यह देखकर क्षुब्ध थे कि धर्म के नाम पर पूरा समाज पाखण्ड और बाह्याडम्बर से ग्रस्त था। योगी योग में ध्यान लगाकर उन्मत्त थे, पंडितों को पुराण का अहंकार था। तपस्वी तप के अहंकार में डूबे थे, संन्यासियों को अहं की सिद्धि का गर्व था,

मुल्ला को कुरान पढ़ने का ही नशा था और काजी को न्याय करने का गर्व था। वस्तुतः सभी मोहग्रस्त थे, सन्मार्ग से भटक गए थे।[6] सारा समाज मिथ्या प्रपंच में अनुरक्त था, कोई सत्य सुनने वाला नहीं था, उनका झूठे वचनों और आश्वासनों में ही विश्वास था, चतुर्दिक 'झूठहि लेना, झूठहि-देना झूठहि भोजन, झूठ चबेना' का साम्राज्य था। कबीर ने ऐसे लोगों को देखा था, जो नियम और धर्म का आडम्बर करते थे, नित्य प्रातः उठकर स्नान करते थे, किन्तु चैतन्य आत्मा का तिरस्कार करके निर्जीव पत्थर की पूजा करते थे। उनमें केवल ऊपरी कर्मकाण्ड था, भीतर से वे शून्य थे। ऐसे धर्मगुरु और पीर-औलिया विद्यमान थे जो नित्य कुरान का पाठ करते थे और शिष्यों को स्वार्थ-सिद्धि के लिए तरह-तरह के उपाय बताते थे। कुछ लोग आसन लगाकर धर्म का दम्भ करते थे और अहंकार में भरे रहते थे, पीपल और पत्थर की मूर्तियों का पूजन करके धर्मात्मा होने का आडम्बर रचते थे, कुछ लोग धर्म के नाम पर विशेष प्रकार की टोपी पहनते थे, माला धारण करते थे और शरीर पर छाप तथा मस्तक पर तिलक लगाते थे।[7] कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर ने जिस समाज को देखा था वह अहंकार, अज्ञान, आत्म-प्रदर्शन, अंध-श्रद्धा, पाखण्ड, धूर्तता आदि में आकण्ठ मग्न था। सारा वातावरण दमघोटू था, मानवीय चेतना का जीवन्त पक्ष लुप्त हो चुका था। अतः कबीर ने इस जर्जर सामाजिक व्यवस्था पर निर्ममता पूर्वक प्रहार करते हुए मानवीय मूल्यों पर खरी उतरने वाली सार्वकालिक और सार्वभौमिक शिक्षा दी। उन्होंने इस जड़ता को नकारते हुए आडम्बर हीन समाज-रचना का प्रयास किया। उनमें जो खण्डनात्मक वृत्ति मिलती है, उसके लिए तत्कालीन परिस्थितियाँ ही उत्तरदायी हैं, उन्हें लगा कि कथनी और करनी में यह वैषम्य समाज को रसातल की ओर लिए जा रहा है। अनैतिक व्यक्ति में आध्यात्मिक शक्ति-वहन करने की क्षमता नहीं होती।

वर्ण व्यवस्था और जातिवाद :

कबीर के समय एक ओर साधु संन्यासियों की मण्डली धर्म के नाम पर पाखण्ड और मिथ्याचार को बढ़ावा देकर सामान्य जन को दिग्भ्रमित कर रही थी तो दूसरी ओर सारा समाज वर्ण-व्यवस्था और जातिगत श्रेष्ठता-हीनता की जकड़बन्दी का शिकार हो रहा था। वर्ण-व्यवस्था पर प्रतिष्ठित सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मण सर्वोपरि था। वह धर्मशास्त्र का नियामक था। उसने सभी वर्गों के मनुष्यों के लिए कर्म-विभाजन करके अपने लिए अध्ययन-अध्यापन, यज्ञानुष्ठान आदि सुरक्षित करके न केवल समाज का उच्चतम स्थान सुरक्षित कर लिया था अपितु भूदेव बनकर शेष समाज को अपना अनुयायी बना लिया था। मध्यकाल

तक आते-आते वर्ण व्यवस्था जाति-व्यवस्था में परिणत हो गई। वर्ण केवल चार थे, किन्तु जातियों की संख्या बढ़ती चली गई। धीरे-धीरे जाति-बंधन और जातिगत संकीर्णताएँ भी बढ़ती गईं। ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ, उसके बाद क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को स्थान दिया गया। अनुलोम-प्रतिलोम विवाह से अनेक वर्ण-संकर जातियाँ बनीं, कुछ जातियाँ व्यवसाय के आधार पर अस्तित्व में आईं। धीरे-धीरे समाज के निम्न वर्गों के प्रति भेद भाव बरता जाने लगा, कुछ जातियों को अस्पृश्य मानकर घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा, तथाकथित शूद्रों के लिए वेदाध्ययन और मंदिर-प्रवेश आदि धार्मिक कृत्य भी वर्जित कर दिये गये। उन्हें अछूत की संज्ञा दे दी गयी। उन्हें सामाजिक-धार्मिक अधिकारों से वंचित किया ही गया, आर्थिक दृष्टि से भी उनका भरपूर शोषण किया गया। यही नहीं उन पर अनेक प्रकार के अत्याचार भी प्रारंभ हो गए।

हिन्दी संत काव्य में इस सामाजिक वैषम्य की घोर प्रतिक्रिया मिलती है। संत कवियों ने जातिगत श्रेष्ठता के सिद्धान्त को स्पष्टतः अस्वीकार कर दिया। वस्तुतः शास्त्रानुमोदित इस जातिगत असमानता का दुष्परिणाम समाज में प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता था। यतः कबीर तथा अधिकांश संत तथाकथित पिछड़ी जातियों में उत्पन्न हुए थे, अतः उन्होंने इसके दुष्प्रभाव को स्वयं भोगा भी था। कबीर जुलाहा ही थे, अन्य संतों में सेना नाई थे, रैदास चमार थे, सिंगा जी ग्वाला थे, दादू धुनिया थे, बखना जी मीरासी थे, बुल्ला साहब कुर्मी थे, दीन दरवेश और लाल गिरि चमार थे और संत रोहण फकीर जाति के थे। इन संतों ने प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया था कि जातिगत भेदभाव के दुष्परिणामों के भोक्ता निम्न वर्ग के हैं। इस अवस्था ने समाज में उच्च और निम्न नामक ऐसे दो वर्ग तैयार कर दिये हैं जो कभी नहीं मिल सकते, जिनको अछूत अथवा पिछड़ा वर्ग से सम्बद्ध मानकर अपमानित किया जाता है, अधिकार - वंचित किया जाता है, आखिर वे भी तो मनुष्य ही हैं। उनमें भी एक प्रकार का रक्त और माँस है। वे भी एक ही ईश्वर की संतान हैं। अतएव यह कृत्रिम भेद, मनुष्य निर्मित है, बनावटी है। परिणामस्वरूप उन्होंने इस विकृत व्यवस्था का खुलकर विरोध किया।

यहाँ लक्ष्य करने की एक विशेष बात यह भी है कि सामाजिक विकृति का अनुभव तुलसी दास को भी था। उन्होंने रामचरित मानस के उत्तर काण्ड में कलियुग वर्णन के माध्यम से तथा कवितावली और दोहावली आदि अन्य रचनाओं में समाज में व्याप्त कुरीतियों, आडम्बर, पाखण्ड, नैतिक-पतन आदि का विस्तृत विवरण भी दिया है, और रामराज्य के माध्यम से आदर्श सामाजिक-

पारिवारिक व्यवस्था की भी कल्पना की है, किन्तु उनकी वाणी में वह आक्रोश नहीं है, वह विद्रोही भावना नहीं है, जो इन संतों की वाणी में पाई जाती है। इसका कारण जन्मगत या जातिगत अंतर हो सकता है और दूसरा कारण तुलसीदास का समन्वयवादी दृष्टिकोण हो सकता है। सम्भवतः यही कारण है कि तुलसीदास परम्परा से जुड़े हैं। जब कि कबीर दास ने "पुस्तक लेखी" की अपेक्षा "अनुभौ देखी" पर बल दिया है। स्वानुभूति ही कबीर की कसौटी है। वेद हो या कुरान, यदि कोई आप्त वचन उनकी अनुभूति की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है, तो वह उसे अमान्य कर देने में जरा भी संकोच नहीं करते। श्री विष्णुकांत शास्त्री ने ठीक ही कहा है कि "कबीर की भूमिका महर्षि की है, जो प्रयोजन पड़ने पर प्राचीन को अस्वीकार कर नवीन विधान देने की क्षमता रखता है, पुरोहित की नहीं, जो प्रायः अपरिवर्तनवादी एवं प्राचीन विधानों का अन्धानुगामी होता है। ऋषि परमतत्त्व का स्वयं साक्षात्कार करता है एवं अन्य को करने को प्रेरणा भी देता है, जब कि पुरोहित सामान्य जन और देवी-देवताओं के बीच मध्यस्थ बना रहना चाहता है और इसी मध्यस्थता द्वारा जीविकोपार्जन करता है। पुरोहित का-सा कोई निहितस्वार्थ न होने के कारण ऋषि अर्थहीन बाह्याचारों के प्रति विद्रोह कर युगानुरूप विचार एवं आचार का प्रवर्तन करता है।"[8]

कबीर इसी अर्थ में ऋषि थे। वह लकीर पर चले नहीं, बल्कि नवीन लकीर का निर्माण किया। उन्होंने जन्मगत श्रेष्ठता को पूर्णतया अस्वीकार कर दिया और कहा कि यदि स्रष्टा के मन में वर्ण-व्यवस्था होती तो वह मानव को जन्म देते ही ब्राह्मण के मस्तक पर तीन चिन्हों का तिलक क्यों नहीं लगा देता ? अतः वर्ण व्यवस्था नैसर्गिक नहीं है। वह मानव कृत है। यदि ब्राह्मण जन्मना ही श्रेष्ठ है अर्थात् यदि निसर्गतः वह ब्राह्मणी से ही उत्पन्न है तो वह अन्य जातियों से भिन्न किसी विशिष्ट मार्ग से क्यों नहीं उत्पन्न हुआ ? यदि तुर्क तुर्किनी से जन्म लेने के कारण ही अपने को विशेष वर्ग का समझता है तो गर्भ में ही उसका खतना क्यों नहीं हो गया ? वस्तुतः जन्म से कोई न नीच है, न उच्च। नीच वह है, जो राम का भक्त नहीं है।[9] वस्तुतः कबीर के तर्क इतने सशक्त हैं कि विरोधियों के पास उनके कोई उत्तर नहीं थे। वह तिलमिला देने वाली भाषा में मुल्ला से पूछते हैं कि यदि सुन्नति ही तुर्क का लक्षण है तो फिर स्त्रियों को तुर्क कैसे माना जाय ? स्त्री अर्धांगिनी होती है, उसकी सुन्नति हो नहीं सकती। अतः आधा समाज हिन्दू ही बना रह जाता है। इसी प्रकार वह हिन्दुओं के बाह्याचार पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि यदि यज्ञोपवीत धारण करना ही द्विज का चिन्ह

है तो स्त्रियों को क्यों नहीं पहनाया गया ? जिससे वे द्विजों में गिनी जा सकें। वे तो जन्म से अंत तक शूद्र ही बनी रहती हैं। फिर उनका परोसा भोजन तुम कैसे खाते हो ?[10] इसीलिए वे ब्राह्मणों को सावधान करते हुए कहते हैं कि उच्च जाति में जनम लेने के गर्व में प्रभु की भक्ति क्यों भूल जाते हो ? जिस मुख से तुम वेद-गायत्री आदि का उच्चारण करते हो, उस मुख से राम नाम का जप और अच्छे ढंग से होना चाहिए। जिन ब्राह्मणों को श्रेष्ठ समझकर लोग उनका चरण स्पर्श करते हैं, आश्चर्य है कि वही ब्राह्मण बलिदान के लिए जीव-वध करते हैं। वे स्वयं श्रेष्ठ बनते हैं, किन्तु सामान्य से सामान्य यजमान के यहाँ बलिदान आदि घृणित कर्म करके उसी के यहाँ अपना उदर पोषण करते हैं।[11]

ब्राह्मणों की तथाकथित जन्मजात श्रेष्ठता और कर्महीनता पर प्रहार करते हुए कबीर ने "विप्रमतीसी" शीर्षक पूरी काव्य रचना ही प्रस्तुत की है। इसमें वह कहते हैं कि वास्तविक ब्राह्मण वही है जो ब्रह्म जानता है, किन्तु समाज में ब्राह्मण वे कहे जाते है जो ब्रह्म को नहीं जानते, केवल यज्ञ में प्राप्त धन से अपना पेट पालते हैं। वे स्रष्टा को पहचानते नहीं और कर्म, धर्म की बातें करते है। सूर्य-चन्द्र में ग्रहण लगने पर और अमावस्या, द्वितीया आदि तिथियों पर वे दान लेते है और अपने स्वार्थ के लिए शांति पाठ तथा पूजा करते हैं। ऐसे ब्राह्मणों का जीवन श्राद्ध आदि से प्राप्त अन्न के द्वारा चलता है और उनके भीतर वासना व्याप्त रहती है। वे बराबर यह आशा लगाए रहते हैं कि होम कब होगा, उसकी पूर्णाहूति कब होगी? वे मृतक के श्राद्ध आदि अशुचि कर्म सम्पन्न कराकर भोजन करते हैं। वह भोजन एक प्रकार से उच्छिष्ट है। इससे उनकी मति भ्रष्ट होती है। वे स्वयं तो जूठा खाते ही हैं, दान में प्राप्त अपवित्र सामग्री को पुत्र व स्त्री को भी खिलाते हैं, किन्तु जो वास्तव में प्रभु-भक्त हैं, उन्हें अछूत समझते हैं। वे बाह्याडम्बर से अपने को पवित्र मानते हैं, किन्तु सच्चे विष्णु भक्तों से द्वेष करते हैं।[12]

कबीर ने ब्राह्मणों के समान क्षत्रियों को भी उनके कर्त्तव्य के प्रति सचेत किया है। क्षत्रिय का अर्थ है-- 'क्षतात् त्रायते इति क्षत्रिय' अर्थात् जो युद्ध कर, अपने प्राणों का होम कर क्षत या घाव से रक्षा करे वह है क्षत्रिय। हिंसक या घातक दो प्रकार के होते हैं-- एक आधिभौतिक जैसे बाघ, सिंह, भेड़िया आदि हिंसक पशु तथा समाज में दुराचारी व्यक्ति। दूसरे आध्यात्मिक जैसे-- काम, क्रोध आदि। वास्तविक क्षत्रिय वही है जो निम्न प्रवृत्तियों को नष्टकर अपने वास्तविक स्व की रक्षा करता है।[13]

वस्तुतः ऊँच-नीच का भेद मिथ्या है, क्योंकि सारे जगत् की उत्पत्ति पवन, जल, मिट्टी आदि पंचभूतों से हुई है। इनका स्रष्टा एक ही ब्रह्म है। सभी में एक

ही ज्योति समान रूप से व्याप्त है, केवल भौतिक शरीर के द्वारा नाम-रूप का भेद है।[14]

छुआ-छूत :

पुरोहित वर्ग के मिथ्याचारों के फलस्वरूप ही समाज में ऊँच-नीच की भेद भावना का प्रसार हुआ और छुआछूत की बीमारी बढ़ती चलती गई। इसका कुपरिणाम आज भी देखा जा सकता है। कबीर ने देखा था कि यह छुआछूत की बुराई सारे समाज को पतन के गर्त में ढकेल रही है। इसीलिए उन्होंने इसका खुले शब्दों में प्रतिकार किया। वह पंडित से सीधे प्रश्न करते हैं कि भला बताओ कि छूत क्या है और कहाँ से उत्पन्न हुई है ? तुमने बिना सोचे समझे छूत नामक भावना बना ली है। स्त्री के गर्भ में पवन रज, और वीर्य के संयोग से कलल आदि की वृद्धि होती है। आठवें कमल के निकट स्थित योनि से सभी का शरीर पृथ्वी पर आता है, वह चाहे जिस जाति वर्ग या लिंग का हो। चाहे ब्राह्मण हो या गैर-ब्राह्मण, सभी का जन्म एक ही प्रक्रिया से होता है। फिर यह छूति कहा से आ गई ? प्रभु ने एक ही पृथ्वी रूपी पीढ़े पर सभी को समान रूप से बिठा दिया है। फिर तुम किसको छूत कहोगे और किसे अछूत ? सभी लोग छूत से ही सम्पन्न है, उससे कौन बचा है ? अतः यह छुआछूत का भेदभाव निरर्थक है।[15] यही नहीं, वह समाज में प्रचलित छुआछूत की भावना का उपहास करते हुए अपनी व्यंग्यात्मक शैली में ऐसे तर्क उपस्थित करते हैं, जिनका कोई उत्तर नहीं है। वह कहते है कि हे पंडित ! तुम तथाकथित नीची जाति के घर में रखे हुए मिट्टी के पात्र और उसके जल को भी अशुद्ध समझते हो। इसलिए अब तुम समझ बूझकर पानी पियो, क्योंकि सभी जगह की मिट्टी और जल भी अशुद्ध है। तुम्हारा घर जिस मिट्टी से बना है, वह भी अपवित्र है, क्योंकि सारी सृष्टि उसी में लीन होती है। मरने पर सभी लोग मिट्टी में मिल जाते है। इसी मिट्टी में छप्पन करोड़ यादव और अट्ठासी हजार महर्षि मुनि मरकर विलीन हो गए। इस मिट्टी में पग-पग पर पैगम्बर भी गाड़े गये हैं। वे सभी सड़कर मिट्टी रूप हो गए हैं। हे पंडित ! उसी मिट्टी से तुम्हारे सब बर्तन बनते हैं। केवल मिट्टी ही अपवित्र नहीं है अपितु जिस जल को पीते हो, वह भी अशुद्ध है। नदी के जल में मछलियाँ, कछुए और घड़ियाल आदि रहते हैं। उसी में उनके बच्चे पैदा होते हैं। उस समय उनका रूधिर युक्त नीर निकल कर उसी जल में मिल जाता है। यही नहीं, जो पशु और मनुष्य उसमें फेंके जाते हैं, वे उसी में सड़ जाते हैं। इस प्रकार नदी का जल नरक तुल्य अशुद्ध हो जाता है। और भी, जिस दूध को तुम पवित्र समझते हो वह भी पशुओं की हड्डी से झड़कर और गूदे से गलकर बनता है।

ऐसे दूध को शुद्ध समझकर तुम पीते हो और मिट्टी को अशुद्ध बताते हो। हे पंडित ! धर्म ग्रंथों के प्रमाण तुम व्यर्थ में देते हो। यह विपरीत आचरण तुम्हारे भ्रांत मन की उपज है। यह मिथ्या पाखण्ड तुम्हारी ही करतूत है। इनका वेद-कुरान से कोई सम्बन्ध नहीं।[16]

कबीर की मान्यता है कि वास्तविक पवित्रता मानसिक विकारों का त्याग है, शेष सब दिखावा है। इसीलिए वह पाखण्डी से प्रश्न करते हैं कि हे पंडित! तुम वह स्थान बताओ जो सर्वथा पवित्र है। मैं वहीं बैठकर भोजन करूँ । इस संसार में सभी अपवित्र है। पिता के संयोग में अपवित्रता रहती है, माता का गर्भ भी अपवित्र रहता है और सद्यःजात शिशु भी अपवित्र रहता है। मानव जन्म की सारी प्रक्रिया अपवित्रता से जुड़ी हुई है।

भोजन बनाने के सभी साधन भी अपवित्र हैं-- अग्नि भी और पानी भी। जिस स्थान पर बैठकर भोजन पकाते हैं, वह भी अपवित्र रहता है। अपवित्र कलछी से अपवित्र भोजन परोसकर अपवित्र स्थान पर खाया जाता है। जिस गोबर से लीपकर चौका पवित्र किया जाता है, वह गोबर स्वयं अपवित्र होता है।[17]

कबीर के द्वारा ऐसे ही लगभग एक दर्जन पद लिखे गए हैं, जिनमें पंडित या पाण्डे को सम्बोधित करते हुए उसके पाखण्ड पर सीधा प्रहार किया गया है। वस्तुतः कबीर की दृष्टि में यह पंडित ऐसा अधकचरा ब्राह्मण है जो तत्त्वज्ञान से शून्य है, मिथ्याचारी है। उसके पास तर्क नहीं है, केवल मिथ्या वाग्जाल है। वह केवल नाना प्रकार के दिखावटी प्रपंचों के द्वारा समाज में अपनी श्रेष्ठता बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील है। द्विवेदी जी के शब्दों में "कबीर दास का पंडित बहुत अदना आदमी है, स्वर्ग और नरक के सिवा कुछ जानता ही नहीं, जात-पात और छुआछूत का अंधा उपासक है, तीर्थ-स्नान और व्रत-उपवास का ठूठ समर्थक है-- तत्त्वज्ञान हीन, आत्मविचार वर्जित, विवेक बुद्धिहीन अटट गंवार है"।[18]

बाह्याचार खण्डन :

कबीर अपने समय के सर्वाधिक जागरूक एवं संवेदनशील प्राणी थे। उनकी पैनी दृष्टि से समाज की कोई गतिविधि छिपी नहीं रह सकी थी। धर्म के नाम पर जो विविध प्रकार के बाह्याचार प्रचलित थे, कबीर ने उनकी तीखी आलोचना की है। जहाँ उन्होंने एक ओर हिन्दू धर्म में प्रचलित जप, तप, छापा, तिलक, वेदपाठ, तीर्थस्नान तथा अन्य कर्मकांडों की निस्सारता का उल्लेख किया है वहीं दूसरी ओर मुस्लिम धर्मानुयायियों द्वारा रोजा, नमाज तथा धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा की निन्दा की है। इसके साथ ही उन्होंने नाथ योगियों तथा जैनियों के बाह्याचार का भी कड़ा प्रतिरोध किया है। किन्तु उनकी यह खण्डनात्मक

वृत्ति केवल खंडन के लिए नहीं थी। वस्तुतः वे विभिन्न कार्यों में प्रचलित ऐसे कर्मकाण्डों की निन्दा कर रहे थे जो मनुष्य को मनुष्य से अलग कर रहे थे। उनकी मान्यता थी कि धार्मिक रूढ़ियों की जकड़बन्दी के कारण मनुष्य सारतत्व को ग्रहण नहीं क़र पाता है। ऐसी स्थिति में वह सदाशयता, उदारता, बंधुत्वभावना आदि सद्‌गुणों से वंचित हो जाता है और रूढ़ियों की चहारदीवारी में बंद होकर संकीर्ण मानसिकता में आबद्ध हो जाता है। बाह्याचार अहंभाव का भी जनक होता है। उन्होंने देखा था कि इसी अहं से ग्रस्त कोई अपने को परम ज्ञानी मान बैठा है और कोई त्यागी, किसी को इन्द्रियों को जीत लेने का अभिमान है तो किसी को योग साधना का गर्व, कोई अपने को बहुत बड़ा दानी मान बैठा है, तो किसी को तपस्या का अभिमान है। वस्तुतः जिसने अहंभाव का त्याग नहीं किया, वह रोगी है; और रोगी का कोई उपचार नहीं। पूजा, पाठ, दान, तीर्थयात्रा आदि आचार कर्ज के समान हैं, मूल-धन नहीं । मूलधन है-- आत्मतत्व।[19] इसीलिए कबीर कहते हैं कि यदि आत्मतत्त्व को नहीं पहचाना तो नग्न रहने अथवा मृगछाला धारण करने से क्या लाभ ? यदि नग्न रहने से मोक्ष प्राप्त हो जाता तो जंगल का कोई भी पशु मोक्ष को प्राप्त हो गया होता। यदि सिर मुड़ाने से ही सिद्धि प्राप्त हो जाती तो भेड़ अवश्य ही सीधे स्वर्ग को पहुँच जाती। यदि केवल वीर्य रक्षा से मोक्ष प्राप्त हो जाता तो घोड़ा और बैल (जिनका बधिया किया जाता है) मोक्ष को क्यों नहीं प्राप्त कर लेते ?[20] कबीर ने माला जप, बाह्य वेशभूषा, जातिगत मिथ्याभिमान, तीर्थयात्रा, दिखावटी साधुओं तथा उनके द्वारा बताये गये काल्पनिक वैकुण्ठलोक आदि की भी निन्दा की है। उनके विचार से यदि मन पर नियंत्रण नहीं है तो विषयासक्त मन से माला जपने से कोई लाभ नहीं, जो मन रूपी माला को घुमाता है अर्थात् मन को विषयों से विमुख कर ईश्वरोन्मुख करता है, वहीं सच्चा साधु है। सच्ची माला तो मन की है, गले में पड़ी हुई माला सांसारिक दिखावा मात्र है। यदि ऐसी माला धारण करने से प्रभु मिल सकते हैं तो ऐसी बहुत माला रहट के गले में दिखायी पड़ती है, उसे ईश्वर की प्राप्ति अवश्य हो जाना चाहिए।[21]

कबीर ने देखा था कि कुछ तथाकथित साधु सिर मुड़ाने को ही सच्चा धर्म मान बैठे हैं और कुछ जटाओं को बढ़ाने में ही लगे रहते हैं। वह ऐसे साधुओं से पूछते हैं कि आखिर केशों ने क्या बिगाड़ रखा है, जो तुम उन्हें बार-बार मुड़वाते हो। बालों को मुड़वाने की अपेक्षा विषय-विकार-ग्रस्त मन का मुड़वाना (नियंत्रण करना) अधिक श्रेयस्कर है।[22] इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की वेशभूषा बनाने से भी परमतत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। बाह्य वेश से साधु होने की ख्याति भले ही

मिल जाय, विषय भोग का अवसर भले ही मिल जाय, किन्तु साधना का सच्चा मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।[23] गेरुवा वस्त्रादि धारण कर, तिलक लगाकर शरीर से तो अनेक लोग अपने को योगी के रूप में प्रदर्शित करते हैं, किन्तु ऐसे साधु विरले होते हैं जो मन को योगी बना सकें। वस्तुतः यह बाह्य वेश भूषा भेद भाव को बढ़ाती है, प्रत्येक घट में विद्यमान माया एक ही परम सत्ता पर आवरण डाल देती है, रूप में वैभिन्य के कारण उसके एकत्व की प्रतीति नहीं हो पाती।[24] कबीर ने ऐसे तथाकथित साधुओं को भी देखा था जो वेष तो विषयातीत विरक्तों का सा बनाए हुए थे, किन्तु अन्तःकरण से परम असाधु थे। इसीलिए उन्होंने लोगों को सावधान किया था कि केवल उज्ज्वल वेश देखकर किसी का विश्वास नहीं कर लेना चाहिए। बगुला भी श्वेत वर्ण का होता है, किन्तु भीतर से वह मछली का ही ध्यान लगाए रहता है। ऐसे ही दिखावटी साधु निकट बैठकर पता नहीं कब घर दबोचेंगे।[25] सच्चा साधु तो वह है जो किसी से वैर नहीं रखता है, निष्काम रहता है, प्रभु से स्नेह रखता है और विषयों से विरक्त रहता है।[26]

तीर्थ-यात्रा :

कबीर तीर्थ यात्रा करने तथा पवित्र नदियों में स्नान करने में भी विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने देखा था कि लोग प्रसिद्ध धार्मिक क्षेत्र काशी में गंगा के किनारे घर बनाकर रहते हैं और आजीवन गंगा का निर्मल जल पीते हुए मुक्ति की आशा करते हैं, किन्तु कबीर की दृष्टि में यह सब मात्र बाह्याचार था। उनकी दृष्टि में तीर्थव्रत आदि केवल विष की बल्लरियां है, जिन्होंने सारे जगत् को आच्छादित कर रखा है। ये बाह्याडम्बर विष इसलिए हैं, क्योंकि ये केवल धर्म का दंभ पैदा करते हैं। इनसे न तत्त्वज्ञान होता है और न तत्त्व का साक्षात्कार, प्रत्युत उनके आकर्षण से मनुष्य दिन रात उन्हीं में लगा रहता है। अतः ये साधना में विष के समान हैं :

काशी कांठे घर करै, पीवै निरमल नीर।
मुकुति नहीं हरि नांव बिनु, यौ कहै दास कबीर ।। १९।।

—(चाणंक को अंग)

तीरथ व्रत विष वेलड़ी, सब जग मेल्या छांइ।
कबीर मूल निकंदिया, पौन हलाहल खाइ।। ९ ।।

—(भ्रम विधौसण को अंग)

इसीलिए उन्होंने कहा है कि बाह्य स्वच्छता से कोई लाभ नहीं, आन्तरिक पवित्रता होनी चाहिए। यदि शरीर के भीतर विकार विद्यमान है तो बाहरी शरीर को मल-मल कर धोने से कोई लाभ नहीं। कड़वी लौकी चाहे अनेक तीर्थों में डुबकी लगाए फिर भी उसका कड़ुवापन दूर नहीं हो सकता।[27] इसलिए उनका उपदेश था

कि तीर्थयात्रा निरर्थक है। यह मन ही मथुरा है, दिल ही द्वारिका है और काया ही काशी है। यह शरीर ही दस द्वारों वाला देवालय है। इसमें जो आत्म ज्योति है उसे पहचानों और उसी की उपासना करो, बाहर व्यर्थ भटकते हो।[28]

मुस्लिम समाज :

कबीर ने हिन्दू विधि-विधानों की निरर्थकता पर प्रहार करने के साथ ही नाथ योगियों, जैनियों तथा मुस्लिम समाज में व्याप्त कुरीतियों, बाह्याडम्बर तथा विश्वास का भी विरोध किया है। जिस प्रकार हिन्दू विधि विधानों के निर्माता पंडित-पुरोहित थे, उसी प्रकार मुस्लिम समाज मुल्ला तथा काजियों के फतवा का अंधानुयायी था। ये काजी मुल्ला प्रायः बादशाहों के कृपा-पात्र होते थे और समय-समय पर फतवे जारी करते रहते थे। समूची प्रजा को उनके द्वारा घोषित सिद्धान्तों का अनुसरण अनिवार्य था। उनका पालन न करने वाले व्यक्ति को कठिन यातनाएँ झेलनी पड़ती थीं। मुस्लिम शासकों के वरदहस्त की छत्र-छाया में पल रहे काजी मुल्ला अधार्मिक निर्णयों को भी शरीयत का जामा पहना कर धार्मिक उन्माद फैला रहे थे। वे प्रगतिगामियों के शिकार थे ही, पूरे समाज को अपने संकीर्ण विचारों से छोटे-छोटे दायरे में विभक्त कर रहे थे। शासकों के निरंकुश और भेदभाव पूर्ण व्यवहार तथा मुल्ला-मौलवियों की संकीर्ण धार्मिक नीतियों के कारण हिन्दू मुस्लिम समुदाय न केवल एक दूसरे से पृथक हो गये थे, अपितु दोनों धर्मानुयायियों में परस्पर घृणा और विद्वेष का भी भाव बढ़ गया था। मुसलमान हिन्दुओं को काफिर मानते थे और हिन्दू मुसलमानों को म्लेच्छ। दोनों की जीवन पद्धति में महान अन्तर था। एक एकेश्वरवादी था तो दूसरा मूर्ति-पूजक, एक जातिगत भेद भावना से ग्रस्त था तो दूसरा धार्मिक जकड़बन्दी का शिकार, एक गाय की पूजा करता था तो दूसरा गोवध को धर्मसंगत मानता था। इस प्रकार दोनों धर्मानुयायियों में भेदभाव की खाई गहरी होती जा रही थी। मुस्लिम समाज में भी जातिवाद बढ़ने लगा था। उनमें शिया - सुन्नी का विवाद था ही, शेख, सैयद, पठान, जुलाहा आदि के नाम पर ऊँच-नीच की विचार धारा पनपने लगी थी। बहु विवाह से भी उनमें अनेक प्रकार की पारिवारिक और सामाजिक समस्याएँ पैदा होने लगी थीं। मुस्लिम शासकों के हरम सहस्रों बेगमों, रक्षिताओं और दास-दासियों से भरे रहते थे। बादशाहों और राजकुमारों का जीवन ऐश्वर्य और विलास में डूबा ही था, उनके नैतिक अधःपतन का कुप्रभाव पूरे समाज पर पड़ रहा था। मुस्लिम समाज में मांस भक्षण का आधिक्य था। मुस्लिम शासकों के लिए मांस के तरह-तरह के व्यंजन बनते थे। मांस के साथ मदिरा पान भी सामान्य बात थी। प्रजा की गाढ़ी कमाई का धन हजारों की

संख्या में रहने वाली रानियों की संतानों और राज दरबारों में रहने वाले कलाकार, कवि, संगीतज्ञ, चित्रकार, मूर्तिकार आदि पर व्यय किया जाता था। साथ ही भव्य भवन, क्रीड़ा, उपवन, सिंहासन, राजमहलों की सजावट आदि पर भी धन व्यय होता था। प्रजा की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता था। शासक के अत्याचारी होने पर उलेमा उन्हें सहयोग देते थे। व्यक्तिगत जीवन में वे धार्मिक आदेशों की पूर्णतः उपेक्षा करते थे, धार्मिक आदेशों का उलंघन करने से नहीं हिचकते थे।[29] सर्वत्र हिंसा का बोलबाला था। धर्म के नाम पर हिन्दू मुस्लिम दोनों समुदायों में पशु बलि की प्रथा प्रचलित थी।

कबीर तथा अन्य संत इस सामाजिक अव्यवस्था और धार्मिक संकीर्णता से क्षुब्ध थे। वे सामाजिक रूढ़ियों को समाप्त करके ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जो हर प्रकार के वैषम्य और अंध विश्वास से मुक्त हो। वस्तुतः वे सत्य के प्रचारक थे। उनकी कविता सत्य के प्रचार का प्रभावपूर्ण माध्यम थी। वे इस बात से दुःखी थे कि सामन्ती व्यवस्था में धरती पर सामन्तों का अधिकार था, तो धर्म पर उन्हीं के समर्थक पुरोहितों का। संतों ने धर्म पर से पुरोहितों का यह इजारा तोड़ा, खास तौर से जुलाहों, कारीगरों, गरीब किसानों और अछूतों को सांस लेने का मौका मिला। यह विश्वास मिला कि पुरोहितों और शास्त्रों के बिना उनका काम चल सकता है।[30]

हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन :

कबीर के उपदेशों की मौलिकता यह थी कि उन्होंने अपने समय के हिन्दुओं और मुसलमानों का ध्यान ऐसे धर्म की ओर आकृष्ट किया जो साम्प्रदायिक सीमाओं से परे सार्वभौम पद का था, ऐसा मार्ग जिस पर दोनों सम्प्रदायों के लोग एक साथ चल सकते थे।

कबीर ने ऐसे भविष्य की कल्पना की थी जो सभी प्रकार की विषमताओं से परे हो। उन्होंने ऐसे धर्म का प्रचार किया जिसका आधार विश्वास और व्यक्तिगत अनुभव था। उन्होंने निःसंकोच भाव से सभी प्रकार के मताग्रहों का विरोध किया, क्योंकि उनकी आत्मा साम्प्रदायिक संघर्षों और औपचारिक धार्मिक मान्यताओं को लेकर उत्पन्न विवादों से दुःखी थी। उन्होंने ईश्वर की तलाश के लिए यथार्थ पर बल दिया। उनका संदेश था कि सत्य स्वाभाविक है और सभी प्रकार के बनावटीपन से मुक्त है।सत्य किसी प्रकार के व्रत, वेश-भूषा, बाह्याचार, कर्मकाण्ड और साम्प्रदायिकता में नहीं पाया जाता है। परमतत्त्व हमारे भीतर है। उसकी प्राप्ति प्रेम और भक्ति से होती है। हमें किसी से द्वेष नहीं करना चाहिए, किसी को पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिए, क्योंकि ईश्वर का वास सभी प्राणियों में है। कबीर

की दृष्टि में इसी ईश्वर का अनुसंधान सभी धर्मों का लक्ष्य है, केवल साधना पद्धति में अंतर है। इसलिए उन्होंने उन पीरों और मुस्लिम संतों का विरोध किया जो यह विश्वास दिलाते थे कि कलमा पढ़ने से कुदरत या ईश्वरीय शक्ति का पता चल जाता है। उन्होंने कहा कि जिन लोगों ने कलियुग में कलमा पढ़ाकर यह विश्वास दिलाया कि इससे ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है वे स्वयं ही उसको खोजते-खोजते हार गये और कभी ईश्वर की प्राप्ति न कर सके। लोग एक सकाम कर्म के अनन्तर दूसरे सकाम कर्म करते रहते हैं। चाहे वेद हो या कुरान, सभी कर्म की ही रीति बतलाते है। नमाज भी एकप्रकार का बाह्याचार है। उससे भी आत्म साक्षात्कार नहीं हो सकता। हिन्दू यज्ञोपवीत का कर्म स्वीकार करता है और मुसलमान सुन्नत का। किन्तु वास्तविक कर्म को न हिन्दू जानता है न मुसलमान।[31]

कबीर मुस्लिम फकीर (दरवेश) से पूछते हैं कि तुम यह बतलाओ कि खुदा का दर या आवास कहाँ है ? उसका स्वरूप कैसा है ? वह कहां की यात्रा करता है और कहां पड़ाव करता है। तुम किस रूप या आकार भी वंदना करते हो ? तुम्हारे खुदा का वर्ण लाल है अथवा पीला अथवा वह अनेक वर्णों वाला है? हे काजी ! यह तुम्हारा कैसा न्याय है ? तुम घर-घर में भैंसे का वध करवाते हो। यह आदेश किसने दिया है कि बकरी और मुर्गे को कटवाओ ? किसके आदेश से तुम निरीह पशुओं पर छुरी चलवाते हो? तुम्हारा धर्मोपदेशक पीर कहलाता है, किन्तु वह दूसरों की पीड़ा नही जानता, प्रत्युत धर्म वाक्यों को पढ़-पढ़ कर लोगों को हिंसा का पाठ पढ़ाता है।[32]

सभी धर्मो की यह मान्यता है कि सृष्टि के आरंभ में आदम नामक एक पुरुष हुआ और हव्वा नामक एक स्त्री हुई और उनसे यह सृष्टि चली। कबीर का कहना है कि यह धारणा सर्वथा भ्रांत है। आदि पुरुष को यह पता भी न था कि उसकी स्त्री हव्वा कहाँ से आयी? वस्तुतः सृष्टि के आदि में न कोई तुर्क था न कोई हिन्दू । मुसलमानों का यह विश्वास कि गाय आदि पशुओं को 'विसमिल्लाह' मंत्र पढ़कर हलाल करके खाने से कोई दोष नहीं लगता, सर्वथा मिथ्या है,[33] वस्तुतः काजी स्वाद के वश में होकर रसना की तृप्ति देखता है अर्थात् वह स्वयं तथा जिस जीव का वध करता है, में भिन्न भिन्न ब्रह्म मानता है किन्तु मस्जिद पर चढ़कर वह बांग देता है-- 'ला इलाह इल्लिल्लाह मुहम्मदुर्रसूलिल्लाह' अर्थात् अल्लाह केवल एक है, तब वह ब्रह्म के एकत्व की घोषणा करता है। ईश्वर के दरबार में वह अपनी सच्चाई को कैसे स्पष्ट करेगा ? वह इस द्वैत भाव को कैसे छिपायेगा ? घोषणा में ब्रह्म एक, आचरण में ब्रह्म दो -- कथनी करनी का अन्तर

यह कैसे छूटेगा ? वस्तुतः काजी और मुल्ला जो धर्म का उपदेश देते हैं, स्वयं भ्रम के शिकार बने हुए हैं। वे जब हाथ में छुरी लेकर हलाल करते हैं तब सामान्य जन के समान ही आचरण करने लगते हैं और धर्म को हृदय से भुला देते हैं।[34] वस्तुतः सच्चा मुल्ला वह है जो मन से युद्ध करता है और दिन-रात कालचक्र से भिड़ता रहता है। सच्चा काजी वह है जो अपने जीवन के सम्बन्ध में विचार करता है, न्याय करता है और अपने भीतर विद्यमान ब्रह्माग्नि को प्रज्वलित करता है, जो स्वप्न में भी काम वासना से प्रेरित नहीं होता है।[35] वह मुस्लिम सम्प्रदाय के कट्टरपन और रूढ़िवादिता का विरोध करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि सभी जीवों में एक ही ब्रह्म समान रूप से परिव्याप्त है। उनकी दृष्टि में प्रभु तो दीनबन्धु है, दीनों का स्वामी है। उसने किसी पर अत्याचार करने की आज्ञा नहीं दी है। यदि मुसलमान यह मानते हैं कि विधर्मियों के वध का आदेश धर्म गुरुओं और महात्माओं से मिला है तो वह पूछते हैं कि ये धर्म गुरु और पथ प्रदर्शक हैं कौन और कहाँ से आये हैं ? व्रत-उपवास करने से और नमाज पढ़ने से, कलमा से स्वर्ग नहीं मिलता। वस्तुतः काबा तो शरीर के भीतर ही विद्यमान है।[36]

कबीर की दृष्टि में हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्म के वास्तविक मर्म को समझते नहीं, बाह्याडम्बर को ही सच्चा धर्म मान बैठे हैं। यही विवाद का मुख्य कारण है। पारमार्थिक सत्य एक है, यह जान लेने पर सभी प्रकार के धार्मिक विवाद स्वतः समाप्त हो जाते हैं। इसलिए वह कहते हैं कि मैंने दोनों धर्मों को अच्छी तरह से समझ लिया है। दोनों धर्मानुयायी स्वार्थ के वशीभूत हैं। हिन्दू लोग दूध और सिंघाड़ा की पूड़ी और हलुवा के सेवन से एकादसी का व्रत रखते है। वे अन्न का त्याग करते हैं किन्तु मन की वासना का त्याग नहीं करते। मुसलमान रोजा रखते हैं, नमाज पढ़ते हैं और अजान देते हैं किन्तु पशुओं का वध करते हैं। हिन्दू 'दया' शब्द का प्रयोग करते हैं और मुसलमान 'मेहर' का, किन्तु दया और मेहर दोनों ने छोड़ दिया है। मुसलमान हलाल के द्वारा मांस को विहित मानते हैं और हिन्दू झटके के द्वारा । वस्तुतः दोनों विनाश के पक्ष धर हैं।[37] हिन्दू माला फेरते हैं और मुसलमान तसवीह फेरते हैं। ये दोनों ही व्यवसायी हैं। मुसलमान मक्के की हज करते हैं हिन्दू काशी की तीर्थ यात्रा करते हैं। परन्तु दोनों बन्धन से नहीं बचते, क्योंकि दोनों आत्म तत्त्व से अपरिचित हैं।[38]

कबीर यह मानते थे कि ईश्वर का वास घट में ही है, अतः उसे मन्दिर या मस्जिद में खोजना निरर्थक है, नमाज के समय जमीन में झुककर सिर लगाने (सिजदा करने) अथवा मन्दिर में देवता के सामने पृथ्वी पर माथा टेकने से क्या लाभ ? वजू करने से, जप से और तीर्थ आदि में स्नान करने से क्या लाभ ?

हज के लिए काबा जाने से भी क्या लाभ ? यदि हृदय में कपट भरा है तो सारे बाह्याचार निरर्थक हैं। वस्तुतः राम और रहीम, केशव और करीम, राम और अल्लाह सभी समान रूप से एक ही सत्य हैं। कोई बिस्मिल्लाह के स्थान पर विश्वम्भर कहता है, किन्तु हैं मूलतः दोनों एक ही। दोनों में कोई अन्तर नहीं। मुसलमानों के धर्म में काजी, मुल्ला, पीर, पैगम्बर का प्रयोग है, वे रोजा रखते हैं और पश्चिम की ओर मुँह करके नमाज पढ़ते हैं। हिन्दू पूर्व दिशा की ओर प्रार्थना करते हैं, देवताओं और ब्राह्मणों की पूजा करते हैं, एकादशी का व्रत रखते हैं, गंगा स्नान करते हैं और दीपार्चन करते हैं। मुसलमान मस्जिद में ईश्वर का स्थान मानते हैं और हिन्दू मन्दिर में। किन्तु प्रभु की प्रभुता दोनों स्थानों में है। जहाँ न मस्जिद है, न देवालय वहाँ किसकी प्रभुता मानी जायेगी ? वस्तुतः उसका स्वामित्व सर्वत्र है। वह सर्वव्यापी है। हिन्दू-मुसलमान दोनों का मार्ग त्रुटिपूर्ण है, भ्रष्ट है और वास्तविक मार्ग से हट गया है। हिन्दू मुसलमान दोनों का कर्ता एक ही है और वह सर्वत्र परिव्याप्त है।[39] प्रभु की दृष्टि में मानव ने जो भेद की दीवालें खड़ी की हैं, वे कृत्रिम हैं। वेद और कुरान, धर्म और सांसारिकता के भेद भी मानवकृत हैं। नर और नारी का भेद केवल शारीरिक है, तात्विक नहीं। सभी प्राणियों के शरीर में रक्त, मल-मूत्र, चर्म और मांस एक समान है और सभी मनुष्य एक ही प्रकार के वीर्य से उत्पन्न हुए हैं। फिर ब्राह्मण और शूद्र का भेद कहाँ से आया ?[40]

इस प्रकार कबीर ने सभी प्रकार के भेदभावों को कृत्रिम और मानव-कृत बताकर सच्चे मार्ग का निर्देश दिया। उन्होंने मानव को विभाजित करने वाली दीवालों को तोड़कर समता और एकता का प्रतिपादन किया। मानवतावाद और विश्वबंधुत्व की भावना उनके उपदेश का सारतत्त्व है। उनके विचार से हिन्दू-मुस्लिम आदि धर्म मानवकृत हैं। ईश्वर एक है। विभिन्न धर्मों का ईश्वर अलग-अलग नहीं है। सृष्टि के आदि में न आदम थे, न हव्वा, न कोई पीर था, न पैगम्बर। उस समय तो पृथ्वी और आकाश भी नहीं थे, न वेद, इंजील या कुरान ही थे। जिन्होंने संसार में मस्जिद की प्रथा चलायी, आदि काल में उनका भी अस्तित्व न था। रोजा और ईद भी दिखावा है। सभी धर्मों के निर्माता कृत्रिम हैं। वस्तुतः मानव का शरीर ही सच्ची मस्जिद है, जिसमें दस दरवाजे (शरीर के नव छिद्र तथा ब्रह्मरन्ध्र) हैं। इसलिए कबीर का उपदेश है कि मन को मक्का बनाओ और आत्मा को किब्लः (पूज्य) मानो [41] इस प्रकार संम्प्रदायगत आग्रहों को छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाने से काबा काशी हो जाता है और राम रहीम बन जाते है। सम्प्रदायों की रूढ़ियाँ समाप्त हो जाती हैं। भेदों का मोटा आटा अभेद का मैदा बन जाता है।[42] ●

संदर्भ संकेत

१. जोगी जुंगम सेवड़ा, संन्यासी दरवेश।
छठवां कहिए ब्राह्मणहि, छौ घर छौ उपदेश।।
दश संन्यासी बारह योगी, चुविश शेख बखान।
अठार ब्राह्मण अठारह जंगम, चुविश सेवड़ा जान।। (संत राम रहस्यदास)

२. स्वानी हूता संत का, पैकाकार पचास।
राम नाम काठै रहा, करे सिखा की आस।। ४ ।। (चांणक को अंग)

३. कबीर तष्टा टोकनी, लिए फिरे सुभाइ।
राम नाम चीन्है नहीं, पीतलि ही के चाइ।। ५ ।। (चा० को अंग)

४. इक पढ़हि पाठ इक प्रेम उदास, इक नगन निरंतर रहै निवास।
इक जोग जुगुति तन होहिं खीन, ऐसे राम नाम संगि रहै न जीन।।
इक होहि दीन एक देहि दान, इक धरै कलापी सुरापान।
इक तंत मंत औषध बान, इक सकल सिध राखै अपान।
इक तीर्थ व्रत करि काया जीति, ऐसे रांम नांम सूं करै न प्रीति।
इक धूम धोटि तन होहिं स्याम, यूं मुकुति नहीं बिन रांम नांम ।। (पद ६१)

५. इक जंगम इक जटाधार, इक अंग विभूति करै अपार।
इक मुनियर इक मनहु लीन, ऐसे होत होत जग जात खीन।
इक आराधे सकति सींव, इक परदा दे दे बधै जीव।
इक कुल देवी कौ जपहिं जाप, त्रिभुवनपति भूले त्रिविध ताप।। (पद ३३२)

६. जोगी माते धरि जोग ध्यान, पंडित माते पढ़ि पुरान।
तपसी माते तप के भेव, संन्यासी माते करि हमेव।
मौलना माते पढ़ि मुसाफ, काजी माते दे निसाफ। (वसंत) "कबीर वाङ्मय" सबद पृ० ४०३

७. संतो देखत जग बौराना।
सांच कहौ तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना।।
नेमी देखा धरमी देखा, प्रात करै असनाना।
आतम मारि पखानहिं पूजै, उनमें कछु नहिं ज्ञाना।।
बहुतक देखा पीर औलिया, पढ़ै कितेब कुराना।
आसन मारि डिंभ धरि बैठे, मन में बहुत गुमाना।।
टोपी पहिरे माला पहिरे, छाप तिलक अनुमाना।।
साखी सबदी गावत भूले, आतम खबरि न जाना।। (पद २९७)

८. अनाहत (श्री कबीर स्मृति ग्रंथ), पृष्ठ ८५

९. जोपे करता बरन विचारै।
तो जनतै तीनि डांडि किन सारै।।
जो तू बामन बमनी जाया, तौ आंन बाट होइ काहे न आया।
जै तू तुरुक तुरुकिनी जाया, तौ भीतरि खतना क्यूँ न कराया।
कहै कबीर मद्धिम नहिं कोई, सो मद्धिम जा मुखि रांम न होई।। (पद १२९)

१०. सुनति कराइ तुरुक जो होना, तौ औरति का कहिए।
अरध सरीरी नारि न छूटै, ताते हिन्दू रहिए।।
घालि जनेऊ बाह्मन होता, मेहरिहि का पहिराया।
वै जनम की शूद्रि परोसै, तुम पांडे क्यों खाया।। (पद ७६)

११. काहै मेरे बांम्हन हरि न कहहि।
रांम न बोलहि पांडे दोजक मरहि।।
जिहि मुख वेद गाइत्री उचरै, सौ क्यूँ बांह्मन बिसरा करै।
जाके पांइ जगत सभ लागै, सो पंडित जिउ घात करै।।
आपन ऊँच नीच घरि भोजन, हीन करम करि उदर भरहि।
ग्रहन अमावस रुचि रुचि माँगहि कर दीपक लै कूप परहि।। (पद ८२)

१२. सुनहु सभन्हि मिलि विप्रमतीसी,, हरि बिनु बूड़ी नाव भरी सी।
ब्राह्मण होय कै ब्रह्म न जानै, घर मंह जग्य प्रतिग्रह आनै।
जे सिरिजा तेहि नहि पहचानै, करम धरम ले बैठि बखानै
ग्रहन अमावस सायर दूजा, सांती पाठ परोजन पूजा।
प्रेत कनक मुख अंतर वासा, आहुति सहित होम की आसा।
कुल उत्तिम जग मांहि कहावै, फिरि फिरि मधिम करम करावै।
सुत दारा मिलि जूठो खाई, हरि भक्ता के छूति लगाई।
करम असौच अदिष्टा खाही, मति भरिष्ट जम लोकहिं जाहीं। --कबीर वाङ्मय, पृ० ४५९-४६०

१३. छत्री करै छत्रिया धर्मा, वाके बढ़ै सवाई कर्मा।
छत्री सो जो कुटुम से जूझे, पांचो मेटि एक के बूझै।
जीव मारि जीवहि प्रतिपालै, देखत जन्म आपने घालै ।। (रमैनी ८३)

१४. ऊँच-नीच है मधिम बानी, एकै पवन एक है पानी।
एकै मटिया एक कुंभारा, एक सभन्हि का सिरजनहारा।। (कबीर वाङ्मय, पृ० ४५९-४६०)

१५. पंडित देखहु मन में जानी।
कहु धौ छूति कहा से उपजी, तबहि छूति तुम मानी।।
नादे विंदु रुधिर के संगे, घट ही में घट रापचै।
अष्ट कमल होइ पुहुमी आया, छूति कहा से उपजै।।
लख चौरासी नाना वासन, सौ सब सरि भौ माटी।
एकहि पाट सकल बैठाए, छूति लेत धौ काकी।। (पद १६६)

१६. पांडे बूझि पियहु तुम पानी।
जेंहि मटिया के घर मंह बैठे, तामें सृष्टि समानी।
छप्पन कोटि जादव जहं भीजे, मुनि जन सहस अठासी।
पैग-पैग पैगम्बर गाडै, सो सब सरि भौ माटी।
तेहि मटिया के भाडे पांडे, बूझि पियहु तुम पानी।
मच्छ कच्छ घरियार बियाने, रुधिर नीर जल भरिया।
नदिया नीर नरक बहि आवै पसु मानुष सब सरिया।
हाड़ झरी झरि गूद गलीगल, दूध कहाँ ते आया।
सो लै पांडे जेवन बैठे, मटियहि छूति लगाया।
वेद कितेब छाड़ि देहु पांडे, ई सब मन के भर्मा।
कहै कबीर सुनो हो पांडे ? ई सब तुम्हरे कर्मा। (पद १७४)

१७. कहु पंडित सूचा कवन ठाउं। जहां बैसि हउं भोजन खाउं।
माता जूठी पिता भी जूठा, जूठे ही फल लागे।
आवहिं जूठै जाहिं भी जूठे, जूठै मरहि अभागे।।
अगिनि भी जूठी पानी जूठा, जूठै वैसि पकाया।
जूठी करछी अन्न परोसा, जूठै जूठा खाया ।। (पद ७१)

१८. कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी।

१९. कोई कहै मैं ग्यानी रे भाई कोई कहै मैं त्यागी।
कोई कहै मैं इन्द्रीजीती अहं सभनि को जागी।
कोई कहै मैं योगी रे भाई, कोई कहै मैं भोगी।।
मैं ले आपा दूरि न डारा कैसे जीवै रोगी।। (पद ३१५)

२०. का नांगे का बाँधे चाम। जौ नहिं चीन्हसि आतमराम।।
नांगे फिरै जोग जो होई, बन का मिरिग मुकुति गया कोई।
मूड़ मुड़ाए जो सिद्धि होई, सरगहि भेड़ न पहुँची कोई।।
बिंदु राखि जौ तरिये जाई, तौ खुसरो क्यूँ न परम गति पाई।
कहै कबीर सुनो रे भाई, राम नाम बिनु किन सिधि पाई ।। (पद ७७)

२१. माला फेरै मनमुखी ताते कछू न होइ।
मन माला को फेरता, घट उजियारा होइ।। ३ ।।
कबीर माला मनहिं की और संसारी भेख।
माला पहर्‌या हरि मिलै तो अरहट के गलि देख ।। ६ ।। (भेष को अंग)

२२. केसन कहा बिगारिया, जे मूड़े सौ बार। मन को काहे न मूड़िये, जामे विषय विकार। (१२)

२३. स्वांग पहिरि सोहदा भया, खाया पीया खूदि। जिहि सेरी साधु गया, सो तो राखी मूँदि।।१५।।

२४. तन को जोगी सब करै, मन को विरला कोइ। सब सिधिसहजै पाइए जे मन जोगीहोइ (७)
कबीर यह तरे एक है, परदा दीया भेष। भरम करम सब दूरि करि, सबही मांहि अलेख ।१८।
(भेष को अंग)

२५. कबीर भेष अतीत का करतूति करै अपराध। बाहरदीसे साधुगति, मांहे महा असाधु।
उज्ज्वल देखि न धीजिए बग ज्यौं मांडे ध्यान। धीरे बैठि चपेटसी, यौंले बूड़े गयान।। २ ।।
(असाधु को अंग)

२६. निबैरी निहंकामता, सांई सेती नेह। विषया सो न्यारा रहै, संतनि का अंग एह । (साषीभूत को अंग)

२७. काया मांजसि कौन गुंना।
घट भीतरि है मलना।।
हिरदै कपट मुखि ग्यानी, झूठै कहा बिलोवसि पानी।
तूबी अठसठि तीरथ, नहाई, कड़वापन तऊ न जाई।
कहै कबीर बिचारी, भव सागर तारि मुरारी।। (पद ७९)

२८. मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांनि।
दस द्वारे का देहरा, तामें जोति पिछानि।। १० ।।

२९. के० एम० असरफ : हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ, पृ०१०३

३०. डॉ० रामविलास शर्मा, लोक जीवन और साहित्य, पृ० २१

३१. जिन कलमा कलि माँह पढ़ाया, कुदरत खोजि तिनहु नहिं पाया।
कर्म ते कर्म करै करतूती, वेद कितेब भई सब नीती।
कर्म तो सो जो भव अवतरिया, कर्म तो सो नियाज को धरिया।
कर्म ते सुन्नति और जनेऊ, हिन्दू तुरुक न जानेउ भेऊ।। रमैनी ३९।।

३२. दर की बात कहो दरवेशा, पातसाह है कवने भेषा।
कहां घूमै कह करै मुकामा, कवन सुरति ते करहु सलामा।
मै तोहिं पूछहु मूरसलमाना, लाल जरद की नाना बाना।
काजी काज करहु तुम कैसा, घर घर जबह करावहु भैसा।
बकरी मुर्गा किन फरमाया, किसके हुकुम तुम छुरी चलाया।
दरद न जानहु पीर कहावहु वेता पढि पढि जग भरमावहु।। (रमैनी ४९)

३३. आदम आदि सुधिह नहिं पाई, माया हउआ कह से आई
तहिया होते तुरुक न हिन्दू, न माकै रूधिर पिता के बिंदू।
तब नहिं होते गाय करसाई, तब कहु बिसमिल किन फुरमाई।
तब नहिं होते कुल औजाती, दोजक भिस्त कवन उतपाती । (रमैनी ४०)

३४. कबीर काजी स्वाद वश ब्रह्म ..... हतै तब दोइ।
चढि मसीति एकै कहै, दरि क्यों साँचा होइ।। ६ ।।
काजी मुल्ला भरमिया, चला दुनी के साथि।
दिल से दीन बिसारिया, करद लई जब हाथि। ७ ।। (सांच को अंग)

३५. सो मुल्ला जो मन सो लरै, अहनिसि कालचक्र सौ भिरै।
काल पुरुष का मरदे मानु, तिस मुल्ला को सदा सलाम।
काजी सो जो काया विचारे, काया की अगिनि ब्रह्म परजारे।
सुपिनै बिंदु न देई झरना, तिसु काजी कउ जरा न मरना।। पद ३४६।।

३६. मींयां तुम्ह सो बोल्या बनि नहिं आवै।
हम नसकिन खुदाई ददे तुम्हरा जस मनि भावै।।
अल्लह अवलि दीन को साहिब जोर नहीं फुरमाया।
मुरसिद पीर तुम्हारे है को कहौ कहाँ ते आया।
रोजा करे निवाज गुजारै कलमें भिस्ति न होई।
सत्तर काबे घट ही भीतर जै करि जानै, कोई ।। पद २२९

३७. संतो राह दूनी हम दीठा।
हिन्दू तुरुक हटा नहिं मानै, स्वाद सबनि को मीठा।।
हिन्दू बरति एकादसि साधै, दूध सिंघाड़ा सेती।
अन्न को त्यागै मन नहिं हटके, पारन करे संगोती।
तुरक रोजा निमाज गुँजारे बिसमिल बाँग पुकारै।
इनकों भिस्त कहाँ ते होइहै, जो साझे मुरगी मारै।।
हिन्दू की दया मेहरितुरकनि की दूनो घट से त्यागी।।
वै हलाल वै झटका मारैं, आगि दुओ पर लागी। (पद ३०४)

३८. कोई फेरे माला कोई फेरे तसबी, देखी रे लोगा दोनो कसबी।
कोई जावे मक्का कोई जावै कासी, दोऊ के गलि परि गयी पासी।। (पद ३८)

३९. हमारे राम रहीमा करीमा, कैसो, अलह रामं सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई।
इनके काजी मुला पीर पैगम्बर, रोजा पछिम निवाजा।
इनके पूरब दिसा देव दिज पूजा, म्यारसि गंग दिवाजा।।
तुरुक मसीति दैहुरै हिन्दू दुहुठा राम खुदाई।
जहों मसिति देहुरा नाँही तहं काकी ठकुराई।।
हिन्दू तुरुक दोऊ रह टूटी फूटी अरु कनराई।
अरध उरध दसहूँ दिसि जित तित, पूरि रहा राम राई।। (पद ३२९)

४०. ऐसा भेद बिगूवनि भारी।
वेद कतेब दीन अरु दुनियाँ कौन पुरिख कौन नारी।
एक रुधिर एकै मल मूतर एक चाम एक गूदा।
एक बूँद तें सृष्टि रची है, कौन बांह्मन कौन सूदा। ।। पद ५५

४१. कहु रे मुल्ला बाग निवाजा। एक मसीति दसो दरवाजा।
मनु करि मका किबला करि देही। बोलनहारा परम गुरु एही (पद ७२)

४२. काबा फिर कासी भया, रामहि भया रहीम।
मोट चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम।। (मधि को अंग)

कबीर : समाज दर्शन

डॉ० प्रेमशंकर

मध्यकालीन व्यवस्था में पंडिताई, शास्त्र, कर्मकाण्ड आदि का जो वर्चस्व था, उसे चुनौती देने का कार्य सरल न था, पर कबीर ने इसे अपनी सहज प्रखरता से स्वीकार किया। यों तो यह कवि अपने सात्त्विक विनयभाव के बावजूद आत्मविश्वासी है, पर कबीर में एक दुर्लभ प्रहारात्मकता है, जो उन्हें दूसरे से अलग व्यक्तित्व देती है। अनुभव को उन्होंने ज्ञान का दर्जा दिया और पूरे साहस से कहा कि दूसरे लोग पोथी-पंडित हैं, पुस्तकीय बातें करते हैं,मैं 'आंखिन देखी' कहता हूँ। जाहिर है कि उनमें अद्‌भुत निरीक्षण क्षमता रही होगी और अपनी यायावरी में उन्होंने बहुत कुछ जाना - समझा होगा। वे तथाकथित पोथी - पंडितों को ललकार कर कहते हैं कि हमारे - तुम्हारे मन - मत एक कैसे हो सकते हैं: **मेरा - तेरा मनुआ कैसे इक होई रे, मैं कहता आंखिन की देखी तू कहता कागद की लेखी।** यहाँ कबीर विरोधी दृष्टियों का उल्लेख करते हैं, जैसे दिशाएँ अलग-अलग हों। ज्ञानी सुलझाना चाहता है, पर पंडित उलझाकर रखता है। कबीर चेतावनी के कवि हैं, सबको जगाए रखना चाहते हैं। वे स्वयं को सम्बोधित करते हैं, और दूसरों को भी - अलख जगाते हुए। पंडित सही नहीं कहते, झूठ बोलते हैं : **पंडित बाद बदे सो झूठा, राम कहें दुनिया मति पावै, खांड़ कहे मुख मीठा।** कोरे शास्त्र के आधार पर अनुभूतिविहीन पंडिताई का क्या अर्थ है? कबीर दुखी हैं कि कैसा कलिकाल है कि मिथ्याडम्बर को आदर है: **कबीर कलि खोटी भई, मुनियर मिलै न कोय, लालच लोभी मसकरा, तिनकूं आदर होय।** ऐसे में अनुभव -ज्ञान का माहात्म्य स्थापित करते हुए कबीर लोक से लोकोत्तर का संकेत देते हैं, जहां मुख्य चिन्ता उच्चतम मानव - मूल्यों की है।

कबीर विकल्प के स्वप्नद्रष्टा हैं और यहीं उनका समाज - दर्शन महत्वपूर्ण है। समय का विकल्प है - जागरण और निरन्तर जागरण, जिसकी कई ध्वनियाँ

हैं - सचेत, सजग ताकि विकार न घेर लें और निरन्तर ऊर्ध्वमुखी यात्रा का प्रयत्न। कबीर जानते हैं कि यह मार्ग सरल न होकर, अत्यंत कठिन है, क्योंकि साधना - पंथ है। कथनी - करनी के द्वैत को पाटना होगा और दोमुंहेपन के लिये यहां कोई स्थान नहीं है। मुखौटे उघाड़ने होंगे, तब सही दिशा मिल सकेगी: **मन रे जागत रहियो भाई, गाफिल होइ बसत मति खोवे, चोर घुसे घर जाई।** यह आत्मजागरण तो है ही, दूसरों के लिए उद्‌बोधन भी है क्योंकि जागरण सबके साथ ही श्रेयस्कर है। कबीर का अहसास है कि उच्चतर मानवमूल्यों के जिस मार्ग का संधान वे कह रहे हैं, उसकी साधना कठिन है। उनका बहुउद्धृत दोहा है: **कबिरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ, जो घर फूंके आपना सो चले हमारे साथ।** कबीर की साधना गुह्य साधना नहीं है, वह सरेआम है, जहाँ लुकाठी (जलती लकड़ी) हाथ में लेकर कबीर चल पड़ा है। जो अहं को मिटा सकता है, वही इस राह पर चल सकता है। कबीर के शब्दों में: **कबीर मारग अगम है, सब मुनिजन बैठे थाकि, तहाँ कबीरा चलि गया, गहि सतगुर की साषि।** यह है कबीर का गहरा आत्मविश्वास, आरम्भिक प्रस्थान के रूप में जिसका श्रेय वे विवेकी गुरु को देते हैं, फिर तो स्वयं ही अग्रसर होना है।

कबीर के काव्य की विपरीत प्रतीति देने वाली दिशाएं मूल्यांकन की कठिनाई उत्पन्न करती हैं। एक ओर सजग सामाजिक चेतना है, दूसरी ओर आध्यात्मिक स्वर, जिसे अधूरे साक्षात्कार के कारण रहस्यवाद भी कहा गया। कबीर निर्गुनियां हैं, पर 'राम' का प्रयोग बार - बार करते हैं, यद्यपि उनके राम का स्वरूप 'दशरथसुत' से भिन्न है। ज्ञान का उनमें प्रबल आग्रह है, पर प्रेम भाव, भक्ति से संयोजित हुआ है और इन दोनों में संगति की कठिनाई हो सकती है क्योंकि कबीर में प्रेम उच्चतम धरातल पर विवेचित है। वे कहते हैं, प्रेम ही सत्य है : **पोथी पढ़ि - पढ़ि जग मुवा पंडित भया न कोय, ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय।** सबसे अधिक बाधा उपस्थित करती है, योग की शब्दावली, जो परम्परा में प्रचलित थी। ऐसे निश्चित अर्थ के वाहक शब्द जो प्रतीक हैं - सुरति - निरति, इला - पिंगला, ब्रह्मरन्ध्र कमल, अनहदनाद, अलख निरंजन आदि और इस आधार पर कबीर को रहस्यवादी घोषित किया जाता है। इन विरोधी प्रतीत होने वाली दिशाओं अथवा धाराओं को मध्यकालीन सामंती समाज के अन्तर्विरोध के रूप में देखना भी सरलीकरण होगा, क्योंकि कबीर उलझाव के कवि नहीं हैं। उनमें कोरा भाववाद भी नहीं है कि उनकी भक्तिभावना को एक आवेश - क्षण कह दिया जाय। मेरा विचार है कि कबीर किसी शास्त्रीय प्रतिपादन के लिए यत्नशील नहीं हैं, पर उनकी रचनाओं से समाज - दर्शन का जो समग्र संसार

उभरता है, उसमें विरोधी दिशाएं संयोजित होती हैं। गन्तव्य एक है, उच्चतर मानवमूल्यों की आचरण - प्रतिष्ठा, उसकी भंगिमाएं अलग हैं। दो मार्ग एक ही गन्तव्य पर पहुंचना चाहते हैं, एक सामान्यजन से संवाद की सहज स्थिति में है, दूसरे के लिए किंचित श्रम की आवश्यकता है।

सजग सामाजिक चेतना में कबीर का क्रान्तिकारी रूप मुखर है, जो सामाजिक विद्रोह का प्रतिबद्ध रूप है। वैयक्तिक विद्रोह की रचना में सीमा है, कई बार वह निर्वीर्य फूत्कार बनकर समाप्त हो जाता है, पर इसकी प्रयोजनवती भूमिका में वृहत्तर समाज सम्मिलित होता है। कबीर के प्रखर व्यंग्यकार को रेखांकित किया जाता है, पर उसके मूल में निहित मानवीय करुणा भाव की समझ होनी चाहिए। कबीर 'चिन्ताकुल कवि' हैं, उन्हें समाज की विसंगतियाँ उद्वेलित करती हैं। समाज के दो दृश्य हैं, एक सम्पन्न निश्चिंत और दूसरा विषाद - डूबा। बहुप्रचलित दोहे की अर्थध्वनि दूर तक जाती है: **सुखिया सब संसार है, खावै औ सोवै, दुखिया दास कबीर है जागे औ रोवै।** सामंती समाज में अभिजन समाज है, वैभव सम्पन्न, पर बहुजन वर्ग उनका जो अभावग्रस्त है, यह सामाजिक स्थिति है। पर आध्यात्मिक संकेत भी कि वे सुखी, निश्चिंत हैं, जो आत्मबद्ध हैं, बड़ी चिन्ताएँ नहीं पालीं। कबीर जाग्रत चेतना के कवि हैं, वे समाज की बेबसी से दुखी हैं, अलख जगाना चाहते हैं और आध्यात्मिक अर्थ में लोक से उच्चतर मूल्य - संसार की ओर प्रयाण संत कवि का वांछित कवि - स्वप्न है। कुंवरनारायण के शब्दों में: 'हाय, पर मेरे कलपते प्राण तुमको मिला कैसी चेतना का विषम जीवन - मान / जिसकी इन्द्रियों से परे जाग्रत हैं अनेकों भूख' (चक्रव्यूहः आशय)। योगपरक शब्दावली कठिनाई उपस्थित करती है और सम्प्रदायगत दृष्टि को, उन्हें रहस्यवादी प्रमाणित करने की सुविधा है। पर कबीर की सामाजिक चेतना और अध्यात्म लोक दोनों उच्चतम आशय से परिचालित हैं, जहां कवि ऐसे विकल्प का संकेत करता है, जिसमें मध्यकालीन सामन्ती समाज को ललकारा गया है। व्यंग्य हमारी समझ में आ जाता है, क्योंकि प्रायः वह मुखर है, पर उच्चतर मूल्य संसार के आध्यात्मिक लोक तक पहुंचने में किंचित कठिनाई होती है। पर यह उच्चतर लोक मानवीय चिंता का ही सर्वोत्तम सोपान है, जिसे संत कवि की अभीप्सा के रुप में देखना चाहिए।

कवि का स्वप्न उसके 'विज़न' से सम्बद्ध होता है, जिसमें सर्जनात्मक कल्पना की भूमिका होती है। ज्ञान - प्रेम के रसायन से भक्ति का निर्माण करते हुए कबीर देहवाद का विरोध करते हैं, जो सामन्ती समाज की मुखर प्रवृत्ति है और जिसके कई रूप हैं। जब वे मायाजन्य निस्सारता और मरणशील जीवन का

वर्णन विस्तार से करते हैं, तब उनका यह भी प्रयोजन है कि आख़िर मृत्यु पर विजय कैसे पाई जाय। उनके कई प्रश्न हैं कि जब जीवन काल के वश में है तो मोह क्यों? मृत्यु -भय के द्वारा कबीर मनुष्य को वास्तविकता का बोध कराकर, ऐन्द्रिक संसार से उसकी रक्षा करना चाहते हैं। बड़े भाग्य से मनुष्य - तन मिलता है, उसे यों ही गंवा देना उचित नहीं: **मानुख तन पायौ बड़े भाग, अब बिचारि कै खेलौ भाग**। कबीर का प्रश्न है मायाजन्य संसार यदि मरणशील है, तो फिर मुक्ति - मार्ग क्या है? और यहां वे वैकल्पिक राह सुझाते हैं कि ज्ञान के सहारे भक्तिमार्ग का अनुसरण। यहां ज्ञान - प्रेम में कोई अन्तर नहीं है, दोनों के संयोजन से भक्ति प्रतिष्ठित होती है। प्रेम - रस, हरिरस की चर्चा बार-बार आती है: **हरि रस पीया जांणिये, जे कबहुं न जाइ खुमार, मैमंता घूंमत रहै, नांही तन की सार**। यह अनिर्वचनीय सुख है, गूँगे के गुड़ की तरह। आध्यात्मिक शब्दावली में जीव के ब्रह्म अथवा चरम सत्य से साक्षात्कार का जो प्रयत्न है, वह उच्चतम मूल्य - संसार है। इसे किसी ऐसे अपरिभाषित गुह्य संसार में ले जाने की आवश्यकता नहीं, जहां तक पहुंचा ही न जा सके। कबीर के अनुसार यों है यह मार्ग कठिन, पर साधना से इसे पाया जा सकता है।

ज्ञान के साथ प्रेम कबीर के भक्तिभाव, समाज - दर्शन का अविभाज्य अंग है। इसे व्यक्त करने के लिए उन्होंने उक्तियों के स्थान पर रूपकों का सहारा लिया ताकि अपना मन्तव्य संपूर्णता में प्रकाशित कर सकें। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, जिन्होंने कबीर के फक्कड़पन को रेखांकित किया है, उनका भी विचार है कि 'कबीरदास की भक्तिसाधना का केन्द्रबिंदु प्रेमलीला है, जो व्यापक और विशाल है' (कबीर, पृ.-८७)। **'ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होइ'** उनका परम वाक्य है। कबीर ने आध्यात्मिक रतिभाव की परिकल्पना की और स्वंय को राम की बहुरिया के रूप में प्रस्तुत किया। एक में वे स्वयं को 'राम का कूता' कहते हैं, जिसका नाम मुतिया है और जो दास्य भाव का, प्रपत्ति-समर्पण का प्रतीक है। दूसरी ओर स्वयं को बहुरिया रूप में चित्रित करते हैं, प्रगाढ़ प्रीतिभाव, जो रागात्मकता से सम्पन्न है। कबीर में यह आध्यात्मिक प्रेमभाव विस्तार से आया है और उन्होंने आध्यात्मिकता के वृत्त को पूर्ण करने के लिए आन्तरिक वियोग की कल्पना की है, जब आत्मा ब्रह्म अथवा परम सत्य की प्राप्ति के लिए विकल होती है : **चकवी बिछुरी रैणि की, आइ मिली परभाति, जे जन बिछुरै राम सूं, ते दिन मिलै न राति**। स्वयं को आध्यात्मिक विरहिणी की स्थिति में रखकर कबीर सत्य के साक्षात्कार का आग्रह करते हैं। वेदना का यह स्वरूप उच्चतर धरातल का बोध कराता है, जिसे सूफ़ियों ने 'इश्क़ हक़ीक़ी'

कहा। इस मूल्यगत पीड़ा से चेतना शुद्ध होकर निखरती है और कबीर ने इसके लिए चातक का उपयोग किया है: **नैनां नीझर लाइया, रहट बहै निस जाम, पपीहा ज्यूं पिव - पिव करौं, कबरू मिलहुगे राम।** जायसी, सूर, मीरा में भी इस आध्यात्मिक वियोग की स्थिति व्यक्त हुई है, जहां आशय उच्चतम मूल्य संसार की ओर प्रयाण है। यह साधना की प्रक्रिया है, जिससे गुजरकर ही परम सत्य को पाया जा सकता है। कबीर आध्यात्मिक रतिभाव को एक मार्मिक पद में व्यक्त करते हैं कि साधना की उपलब्धि ऐसी कि परमात्मन् पति स्वयं वरण के लिए आये हैं:

दुलहिनी गावहु मंगलचार
हम घरि आए राजा राम भरतार
तन रत करि मैं मन रति करिहौं पांचउ तत्त बराती
राम देव मोरे पाँहुने आए मैं जोबन मैंमाती

कबीर के अद्वैतवाद, एकेश्वरवाद में विभेद की सीमाएं टूटती हैं, इसलिए उन्होंने इसका वरण किया। एक साथ कई प्रश्नों के उत्तर यहां मिल जाते हैं: 'राम - रहीम में कोई अन्तर नहीं, हिंदू तुरुक का करता एकै।' एक पद में कबीर इस अद्वैत भाव को व्यक्त करते हुए अभेद संसार का संकेत करते हैं:

हम तो एक एक करि जानां
दोइ कहैं तिनहीं कों दोजग, जिन नाहिंन पहिचानां।
एकै पवन एक ही पानीं, एक जोति संसारा
एक ही खाक गढ़े सब भांड़े, एक ही सिरजनहारा।

यह अद्वैतभाव दार्शनिक शब्दावली का है और इसकी व्याख्याएं भी अलग विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि। पर कबीर में यह व्यापक आशय का शब्द है - सामाजिक चेतना से लेकर आध्यात्मिक लोक तक।यह समदर्शी की समान भूमि है, जिसमें पार्थक्य समाप्त होते हैं : **कहै कबीर मैं हरिगुन गाऊं, हिन्दू तुरुक दोऊ समझाऊं।** कबीर समन्वय पथ की सीमाएँ जानते हैं कि यह अस्थायी भी हो सकता है, इसलिए एक प्रबुद्ध संत की तरह वे ऐसी समभूमि की तलाश करते हैं, जहां विभेद का अवसर ही न हो। कबीर सीमाओं के अतिक्रमण का आग्रह करते हैं - स्वयं से बाहर आना समाजीकृत होना भी है और उच्चतर मूल्य - स्तर पर आध्यात्मिक भीः **हदे छाड़ि बेहदि गया, हुवा निरंतर वास, कवल जु फूल्या फूल बिन, को निरखे निज दास।** कबीर इसे सहज पंथ कहते हैं, सहजता का दर्शन काव्य के माध्यम से प्रतिपादित करते हुए। सहजता दुर्लभ गुण है जो भक्तिमार्ग में अनिवार्य है और जिसे शास्त्रीय रूप देने का प्रयत्न भी किया गया।

यौगिक शब्दावली से प्राप्त शब्द कबीर के काव्य में प्रयुक्त हुए हैं, जो कई बार अर्थ तक पहुँचने में कठिनाई भी उपस्थित करते हैं पर कबीर सर्वत्र शास्त्रीय अर्थ में ही उनका उपयोग करते हों, ऐसा नहीं है । यहाँ कवि की सर्जनात्मक कल्पना सक्रिय है। देवी शंकर अवस्थी ने कबीर की असंगतियों का संकेत किया है (भक्ति का संदर्भ पृष्ठ ११७) पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कबीर की सामाजिक चेतना और आध्यात्मिकता में संयोजन की कठिनाई भी उपस्थित करता है। पर जहां वह वृहत्तर संवेदन - संसार में विलयित है और उच्चतर मूल्य - संसार का निष्पादन हुआ है, वहाँ कवि के मानवीय प्रयोजन तक पहुंचा जा सकता है। कबीर ने सहज - साधना का आग्रह किया है: **साधो, सहज समाधि भली** अथवा **सो जोगी जाकै सहज भाई, अकल प्रीति की भीख खाई।** कबीर के लिए सहज साधना आत्मसाक्षात्कार है, जहाँ इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर योगी आत्मस्वरूप में स्थित है। सहजता विकार रहित जीवन पर आश्रित है, जहां चेतना सर्वोच्च मूल्य - धरातल पर पहुंचती है। सहज होना ब्रह्म ज्ञान, चरम सत्य में सहायक है, पर यह जितेन्द्रिय द्वारा ही संभव है और सहजता का यह लोक चरम सुख से सम्पन्न है, जिसे कबीर ने कई प्रकार से कहा है । यह अनिर्वचनीय सुख है: **सुख - दुख के इक परे परम सुख, तेहि में रहा समाई।** पर सहज - साधना का यह मार्ग अत्यन्त कठिन है: **सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ, जिंहि सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोइ।** यह सहज मार्ग महारस का निर्माता है: **रस गगन गुफा में अजर झरै।**

कबीर की यौगिक शब्दावली स्वतंत्र अध्ययन का विषय है और विचारणीय यह कि प्रचलित पारिभाषिक शब्दों को उन्होंने किस अर्थ में प्रयुक्त किया है। इससे उनके समाज - दर्शन को समझने में सहायता मिलती है। उनका यौगिक शब्द -भाण्डार बड़ा है, जिसमें पारिभाषिक शब्द हैं - कुण्डलिनी, मूलाधार पद्म, ब्रह्मरन्ध्र, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि जो सिद्ध - नाथ साहित्य में भी प्रयुक्त हुए हैं। कबीर ने अपने मूल्य - आशय के लिये शून्य, निरंजन, अनहद, नाद, अवधूत, ब्रह्मज्योति, सुरति - निरति, ब्रह्माण्ड आदि कई शब्दों का प्रयोग किया है। इन्हें सार्थक अभिव्यक्ति देने के लिये वे पूरा प्रतीक संसार गढ़ते हैं - धरती, आकाश, नदी अमृत, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा आदि का। कवि द्वारा शब्दों को काव्योचित बनाने का यह प्रयत्न है, यद्यपि सर्वत्र उन्हें सफलता नहीं मिली है और जहां पारिभाषिक शब्दों की प्रचुरता है, वहां काव्य - मर्म तक पहुंचने में कठिनाई होती है। इस दृष्टि से कबीर के समाज - दर्शन के सन्दर्भ में यह प्रश्न बराबर बना रहेगा कि उनके व्यक्तित्व की कई दिशाओं में एकसूत्रता के बिन्दुओं की खोज

करते हुए, उनमें संयोजन कैसे स्थापित किया जाय, विशेषतया सामाजिक चेतना और आध्यात्मिक चेतना में।

जहां संभव है, कबीर अपनी सर्जनात्मक कल्पना का उपयोग करते हुए शब्दों को नया अर्थ देते हैं, अपने अभीप्सित आशय तक पहुँचने के लिए। उन्होंने 'सबद' शब्द का प्रयोग करते हुए, उसे अर्थ व्याप्ति दी है। शब्द ब्रह्म की शक्ति है, अक्षर - निर्मित है और साधना में 'सबद' का महत्व है और सिख धर्म में इसकी मान्यता है - सबद, कीर्तन आदि के रूप में। कबीर के लिए शब्द इस अर्थ में प्रमाण भी है कि वह पुस्तकीय नहीं है, अनुभव - प्रसूत है और इसलिए ऋषि-मुनि द्वारा प्रतिपादित मंत्र भी इसके अन्तर्गत आते हैं। इस दृष्टि से 'सबद' प्रमाणित शब्द है - आचरण योग्य। गुरु से प्राप्त 'सबद' कबीर के लिए मूल्यवान हैं क्योंकि उनसे भ्रम का नाश होता है, आलोक मिलता है। साधनापरक शब्दावली का प्रयोग करते हुए कबीर अंतिम लक्ष्य के प्रति सजग हैं: **जब थै आतम तत्त विचारा, तब निरबैर भया सबहिन थैं काम, क्रोध गहि डारा।** कबीर सावधान हैं कि अर्थ सम्प्रेषित होना चाहिए, इसलिए वे ठेठ शब्दावली में अपनी बात कहते हैं: बालम, खसम, बहुरिया - दुलहिनि, नदी-नीर, धरती-आकाश, गंगा-यमुना, माता-पूत, सूर्य -चन्द्र आदि के साथ जुलाहा व्यवसाय में प्रचलित पूरी शब्दावली। इस दृष्टि से उनके पद उल्लेखनीय हैं, जहां लोक से उच्चतर मूल्य-आशय की व्यंजना की गई है। कबीर कहते हैं: **जोलाहा बीनहु हो हरिनामा, जाके सुर-नर-मुनि धरे ध्याना।** कबीर के नाम पर भी पद प्रचलित हुए और वास्तविकता की पहचान में कठिनाई हुई। 'झीनी-झीनीरे बीनी चदरिया' में जुलाहा-व्यवसाय का उपयोग करते हुए कबीर पंचतत्त्व निर्मित शरीर का चित्र बनाते हैं। माया में लिपट कर सबने इसे मलिन कर दिया, पर कबीर आत्मविश्वास से कहते हैं: **दास कबीर जतन तें ओढ़ी, जस की तस धर दीन्हीं चदरिया।** इस प्रकार के पदों में कवि का समाज - दर्शन बहुत स्पष्ट है कि लोक से उच्चतर मूल्यों की ओर प्रयाण करना होगा। गृहस्थ भी अपने सत्कर्मों से उच्चतम मानवीय धरातल पर पहुंच सकता है।

कबीर अपने समय से टकराने वाले प्रमुख कवियों में हैं और उन्होंने निडरता से बेलाग भाषा में अपने विचारों को व्यक्त किया, जिससे सामान्यजन से संवाद स्थापित हो सका। विचार उनका प्रस्थान है जिससे चलकर वे आध्यात्मिक भावभूमि तक आए और दोनों में उच्चतर मानवमूल्यों के समान सूत्र हैं। सामाजिकता में आशय सम्प्रेषित होता है, पर अध्यात्म के परम्परित रूप को छोड़ दें, तो जहां वह सहज भूमि पर है, उसके आशय तक थोड़ा प्रयत्न करके,

पहुँचना कठिन नहीं। अपने प्रयोजन के लिए उन्होंने उलटबाँसियों तक का सहारा लिया, ताकि विचलन उत्पन्न हो क्योंकि वे झकझोरना चाहते हैं। कबीर का 'विज़न' उनके समाज-दर्शन का सबसे सबल पक्ष है। निषेध है सामंती समाज का, जिससे वे विक्षुब्ध हैं, पर वे कोरी नकारात्मकता के कवि नहीं हैं, सजग संत कवि हैं और विकल्प स्वप्न प्रस्तुत करने की क्षमता रखते हैं। उनके आक्रोश में करुणा , असंतोष, साहस, विक्षोभ है तो जो प्रतिसंसार वे सर्जित कर रहे हैं, उसमें उच्चतम मूल्य संसार है, जिसे आध्यात्मिकता कहा गया, पर रहस्यवाद के अन्तर्गत परिगणित करने से एक क्रान्तिकारी कवि की सतेज छवि धूमिल होती है। काव्य में अध्यात्म, लोक के भीतर से ही उपजता है और जिसे लोकोत्तर, ब्रह्मानन्द, महासुख अथवा किसी भी ऐसे उच्चतम आशय के शब्द से व्यंजित किया जाता है, वह लोक के अतिक्रमण से निर्मित सर्वोत्तम सोपान है। आखिर मनुष्य ही गुणसमुच्चय होकर देवत्व की कवि-कल्पित भूमि पर पहुंचते हैं। कबीर ने अपनी आध्यात्मिकता को ऋतुराज कहा है, जिसमें सभी देवताओं का उल्लेख है और जो मानव मूल्यों का उच्चतम धरातल है।

जहां खेलति वसन्त ऋतुराज, जहां अनहद बाजा बजे बाज
चहुं दिसि जोति की बहै धार, विरला जन कोइ उतरै पार
कोटि कृष्ण जहं जोड़ै हाथ, कोटि विष्णु जहं नावैं माथ
कोटिन ब्रह्मा पढ़ैं पुरान, कोटि महेश धरैं जहं ध्यान

कबीर में संत-कवि की सम्मिलित भूमि है, जिसे ध्यान में रखकर ही उनके समाज दर्शन को समझा जा सकता है और दोनों के संयोजन से वे सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका का निर्वाह करते हैं। संत उनका क्रांतद्रष्टा रूप है, पर वे जानते हैं कि प्रवचन पर्याप्त नहीं होते, उन्हें आचरण का आधार देना होता है। कविता में विचारों को, संवेदन - सम्पत्ति बनाते हुए, वे अपने सांस्कृतिक दायित्व के प्रति सजग हैं और इसलिए वे अपना मुहावरा जीवन से सीधे ही प्राप्त करते हैं। यहां तक कि आध्यात्मिक आशय को भी दैनंदिन बिम्बों-प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करना चाहते हैं, ताकि यथासंभव कवि का अभिप्राय सम्प्रेषित हो सके। समाज, राजनीति, परिवार, व्यवसाय में प्रयुक्त मुहावरों का वे मनोवांछित प्रयोग करते हैं और इससे अपने मन्तव्य को प्रेषणीय बनाते हैं। फाग, कबिरा हिन्दी समाज में दूर - दूर तक प्रचलित हैं, जिनमें सामान्यजन की रुचि है और वे मौखिक परम्परा की मूल्यवान धरोहर हैं। कबीर की भाषा स्वतंत्र अध्ययन का विषय है, पर जिस ठेठ शब्दावली का प्रयोग उन्होंने किया है, वह आभिजात्य को चुनौती देती हुई, अपना विशिष्ट स्थान बनाती है और ऐसे अनुभव-अर्जित मुहावरे

में लिखने वाले फिर नहीं आए। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर को 'वाणी का डिक्टेटर' कहते हुए, उनकी विरोधी प्रतीत होने वाली दिशाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है: 'सिर से पैर तक मस्त - मौला, स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचण्ड, दिल के साफ़, दिमाग के दुरुस्त; भीतर से कोमल, बाहर से कठोर, जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वन्दनीय' (कबीर', पृ. १६७)। इनमें संयोजन की क्षमता उनके प्रखर व्यक्तित्व में थी, जिसे उन्होंने प्रतिबद्ध काव्य से संभव किया।

कबीर ने मध्यकालीन भारतीय समाज को चुनौती के रूप में देखा और उसका समाधान अपने ढंग से पाना चाहा। विरोधी प्रतीत होने वाली दिशाएं एक ही उच्चतर गन्तव्य तक पहुंचती हैं और इसे कबीर के व्यक्तित्व की समाहार-सामर्थ्य के रूप में देखना होगा। समय के अन्तर्विरोध हो सकते हैं, पर उनमें उलझाव का अवसर नहीं है। आश्चर्य होता है कि एक आक्रोशी व्यंग्यकार दो टूक भाषा में समाज की विसंगतियों पर आक्रमण करता है, वही ज्ञान को सर्वोपरि स्थान देता है, साथ ही प्रेम भक्ति में पूरे राग-भाव से उतरता है। ऐसे कई दिशाओं वाले संश्लिष्ट व्यक्तित्व के समाज - दर्शन की पहचान का कार्य सरल नहीं होता। कबीर के प्रेम में भी साहस की अपेक्षा है: **प्रेम न खेतहिं नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय, राजा-परजा जिस रुचे, सिर दे सो लै जाइ।** उनके लिए प्रेम का सर्वोच्च राग भाव, भक्ति में परिणत होता है और इस बिंदु पर पहुंचकर सब अनिवर्चनीय हो जाता है: **हमन हैं इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या। रहें आज़ाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या।** एक प्रसिद्ध पद में कबीर रूपक के माध्यम से मानव-जीवन के मूल्यपरक गन्तव्य का चित्रण करते हैं, जिसमें संत-कवि का गहरा आत्मविश्वास भी सम्मिलित है:

झीनी झीनी बीनी चदरिया
काहे का ताना काहे की भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया
इंगला-पिंगला ताना-भरनी, सुखमन तार से बीनी चदरिया
आठ कंवल दल चरखा डोलै, पांच तत्व गुन तीनी चदरिया
साईं को सियत मास दस लागै, ठोक-ठोक के बीनी चदरिया
सो चादर सुर-नर-मुनि ओढ़िन, ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया
दास कबीर जतन से ओढ़िन, ज्यों के त्यों धर दीनी चदरिया।

इस प्रकार के पदों में कबीर का व्यक्तित्व संयोजित हुआ है, जहां वे जीवन के उच्चतम आशय का संकेत करते हैं, सहज भाषा में । सहजता -सरलता में अन्तर होता है और कबीर इस अर्थ में सरल कवि नहीं हैं कि अर्थ ऊपर-तैर रहा

हो। वे गहन आशय के कवि हैं, अर्थगर्भी और प्रभावी। व्यंग्य जहां उनके निर्भय साहस का प्रतिनिधित्व करते हैं, वहीं राग - रागिनियों में निबद्ध उनके पद प्रगाढ़ भक्तिभाव का, जहाँ प्रेम प्रधान है। उनके लिए मायाजन्य संसार मायका अथवा नैहर है, जहां दो - चार दिन खेल लेना है, फिर तो स्थिति यह कि **लै डोलिया जाइ बन में उतारिन, कोइ नहीं संगी हमार**। जिस उच्चतम धरातल पर पहुंचना है, वहः **जहंवा से आयी अमर वह देसवा, पानी न पौन न धरती अकसवा, चांद न सूर न रैन दिवसवा**। इस आध्यात्मिक लोक की प्राप्ति की आकांक्षा मनुष्यता को क्षुद्रताओं से मुक्ति दिलाती है। पर कबीर अपने समय के सामन्ती समाज को भी जानते हैं कि अत्यंत कठिन मार्ग है यह और इस पर बिरले ही चल सकते हैं। संत-कवि को बार-बार अहसास है कि वह कह तो सही ही रहा है, पर उसे समझेगा कौन, क्योंकि समय ने सबको भटका दिया है। देहवाद चतुर्दिक व्याप्त है और उच्चतर मानवमूल्यों के आचरण की चिंता किसी को नहीं है। एक लंबे पद में कबीर इस स्थिति का अंकन करते हैं, जहां छद्म ही छद्म हैः नेम-व्रत, धर्म-स्नान, थोथा ज्ञान, पाषाण-पूजन आदिः

साधो, देखो जग बौराना
सांची कहौ तो मारन धावै, झूंठे जग पतियाना
हिन्दू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहमाना
आपस में दोऊ लड़े मरतु हैं, मरम कोइ नहिं जाना

x x x x x x

गुरुवा सहित शिष्य सब बूड़े अंतकाल पछिताना
बहुतक देखे पीर-औलिया, पढ़ैं किताब कुराना
करैं मुरीद कबर बतलावैं, उन हूं खुदा न जाना

कबीर को कई बार विशेष प्रकार के मूर्तिभंजक के रूप में देखा जाता है, जिनका मूल स्वर व्यवस्था-विरोधी है पर यह रचना का प्रस्थान है, समापन नहीं। कबीर तर्क की भाषा से कविता को पैनापन देते हैं, उनका प्रेम-भाव भी ज्ञान-समन्वित है, इसलिए प्रगतिशील इस अर्थ में कि यहां किसी कर्मकाण्ड की अपेक्षा नहीं है। गुरु के आलोक से भक्ति - मार्ग पर अग्रसर हुआ जा सकता है। यह भक्ति ऐसी जहां कर्मकाण्ड रहित, जाति विहीन व्यवस्था है। मराठी संत कवियों ने इसे रेखांकित किया है कि भक्ति में सब एक हैं : **नामे सांई सेविया जहं देऊरा न मसीत** । कबीर जब तल्लीन होते हैं, तब भी विवेक जाग्रत रहता है, और उनका मूल्यपरक गन्तव्य समक्ष रहता है। कई बार आश्चर्य कि व्यंग्यकार इतना विनयशील कैसे हो गया? पर दोनों के मूल में मनुष्य की चिन्ता

है और उच्चतर मूल्यों से ही मनुष्य बनता है - विवेक, करुणा आदि। कबीर में सिद्ध - नाथ - संतकाव्य की परम्परा अपना सर्वोत्तम प्राप्त करती है। वे सामान्यजन, दलित वर्ग के सबसे प्रखर प्रवक्ता हैं। अपनी बात बहुजन समाज तक पहुंचाने के लिए उन्होंने भाषा की सीमाएं तोड़ीं और अवधी, ब्रज, खड़ी बोली, भोजपुरी, अरबी, फ़ारसी कई बोलियों के शब्द उनमें आए हैं। भाषा की अनगढ़ता से ही वे काव्य को मार्मिकता देते हैं, प्रभावी बनाते हैं। कबीर ने अपने समय को गहरे स्तर पर पहचाना और प्रश्नों के उत्तर तलाशने का सार्थक प्रयत्न भी किया। वे किसी दार्शनिक धारा के माध्यम से काव्य में नहीं आए थे और उन्हें कथा कहने की सुविधा भी न थी, पर उन्होंने दो भिन्न प्रतीत होने वाली दिशाओं के निर्वाह का साहस किया, इसलिए समाज दर्शन का कोई समग्र रूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया और अपने मूल प्रयोजन सामाजिक - सांस्कृतिक परिवर्तन तथा उच्चतर मानवमूल्य का निष्पादन ईमानदारी से करते हुए, शेष को पाठक - श्रोता पर छोड़ दिया। पर उनकी रचनाओं से जो समाज-दर्शन उभर कर आया, वह परिवर्तनकामी है, गहरे स्तर पर। वह तात्कालिकता से ऊपर उठा हुआ है और मानव - मूल्यों के अध्यात्म लोक तक जाता है, जिसमें केन्द्रीयता मानव-हित की है। इस दृष्टि से कबीर सबसे प्रासंगिक कवियों में हैं, मध्यकालीन समाज में जाग्रत प्रतिरोध का स्वर बनकर, साथ ही विकल्प का संकेत करते हुए। ●

संत कबीर का समाज-दर्शन

प्रो० चमनलाल गुप्त

संत कबीर के व्यक्तित्व में साधक, साहित्यकार और समाज द्रष्टा के तीन रूप एक साथ दिखाई पड़ते हैं। कबीर का शाब्दिक अर्थ ही "महान" है शायद इसीलिए विद्वानों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उनकी महानता का संधान कहीं पर महान साधक संत के रूप में किया, कहीं पर उन्हें हिन्दी का प्रथम कवि एवं महानतम जन-साहित्यकार घोषित किया और कहीं पर उन्हें समाज-द्रष्टा और दलित-शोषित मानवता का मसीहा चित्रित किया। कबीर की साधना, साहित्य और समाज-दर्शन को समझने की मूल कुंजी क्या है ? उनके व्यक्तित्व की मूल-प्रेरणा क्या है, इसपर विचार करके ही हम उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का सही आकलन प्रस्तुत कर सकते हैं।

महात्मा कबीर का आविर्भाव तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में काशी में हुआ।[1] काशी एक ओर भारत की सांस्कृतिक-धार्मिक राजधानी थी जिसके पण्डितों द्वारा दी गई व्यवस्था पूरे देश को मान्य होती थी दूसरी ओर व्यापार का बड़ा केन्द्र थी तथा आध्यात्मिक, सांसारिक ज्ञान की गंगा भी यहाँ बहती थी। देश विदेश के विद्वान अपने ज्ञान की प्रामाणिकता का आधार यहाँ के पंडितों की स्वीकृति में खोजते थे। इसके साथ ही काशी सामंती समाज की पूर्ण विकृतियों को भी समेटे हुए थी।[2] यहाँ पण्डों, ठगों तथा रांड़ और सांड़ को लेकर कही गई उक्तियाँ यहाँ फैले व्यभिचार, रूढ़िवादिता, अन्धविश्वास, जड़ता एवं धर्मान्धता की सूचक थीं। ऐसे परिवेश में कबीर ने आँख खोली। समाज के निम्नतम सोपान पर खड़ा बालक कबीर[3] इस तीर्थ नगरी की सभ्यता और संस्कृति के महलों, मंदिरों और मीनारों को भी देख रहा था और इसके घाटों, गली-मुहल्लों तथा चौराहों पर फैले व्यभिचार, शोषण, कुरूपता की दुर्गन्ध को भी झेल रहा था।

कबीर के व्यक्तित्व का निर्माण जिन विस्फोटक परमाणुओं से हुआ उनमें

कबीर को एक क्रान्तिकारी समाज-द्रष्टा बनाने की क्षमता मौजूद थी। कबीर का साहित्यकार और साधक रूप उनकी गहन समाज-सम्पृक्ति और मानव मात्र से जुड़ने की ललक का परिणाम है। कबीर की साधना सामूहिक सामाजिक मुक्ति के लिए है और उनका साहित्य मानव मात्र को मुक्त कराने के लक्ष्य से प्रेरित है। मानव मुक्ति का संधान उन्होंने सामाजिक जीवन में सहजता, सत्यता एवं शुचिता लाकर करना चाहा। सामाजिक जीवन में स्थिरता लाने के लिए उन्होंने जिन आध्यात्मिक, व्यावहारिक जीवन मूल्यों की स्थापना की वे निश्चय ही हमारी गतिशील परम्परा और उनकी क्रान्तिकारी प्रतिभा की रगड़ से उपजे थे।

कबीर उस मध्ययुग की उपज थे जिसमें जीवन अनिवार्य रूप से धर्म द्वारा परिचालित होता है। समाज-व्यवस्था धर्म-व्यवस्था का ही अभिन्न अंग होती है। सामंती समाज में वर्ण-व्यवस्था किसी न किसी रूप में रहेगी ही। एक ओर पीढ़ी दर पीढ़ी ज्ञान और वैभव, उच्च वंशीय परम्पराओं और विशिष्ट जीवन शैली का अभिमानी तथा उच्च पदों पर आसीन सामंत वर्ग रहता है जिसकी छत्रछाया में पंडित, पुरोहित, मुल्ला, काजी तथा अन्य बुद्धिजीवियों का वर्ग चलता है[4] दूसरी ओर साधारण किसान और कारीगर, छोटे-मोटे दुकानदार और समाज के दीन-हीन लोग होते हैं जो उच्च वर्ग द्वारा शोषित और पीड़ित होते हैं और निम्न वर्ग में जन्मे व्यक्ति को छूने या इसके पास से भी गुज़रने पर दण्ड दिया जाता है। भारत का यह सामंती ढांचा मुस्लिम शासकों के आगमन से टूटने लगा था। दिल्ली, इलाहाबाद, बनारस और पटना बड़ी व्यापारिक मंडियां बन गई थीं। फिरोजाबाद, फतहबाद, फिरोजपुर और बदायूँ जैसे नगर फिरोजशाह तुगलक बसा रहा था। तुर्क बादशाह व्यापार को बढ़ावा देने के लिए सिक्कों और बाटों में सुधार कर रहे थे। बादशाहों के भाई-भतीजे सौदागरी से धन कमा रहे थे। कृषि पर आधारित सामंती अर्थ-व्यवस्था को व्यापार पर आधारित पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था से चुनौती मिल रही थी जिसके परिणामस्वरूप सामंती समाज का ढांचा भी टूट रहा था, बदल रहा था।[5] जात-पात एवं कठोर कर्म-कांड पर आधारित समाज नहीं चल सकता था क्योंकि पूंजीवादी उत्पादन जन्म पर आधारित रूढ़िबद्ध जातीय सीमाओं को स्वीकार नहीं करता। वर्ण-व्यवस्था शिथिल होने लगी थी। गोस्वामी जी ने वर्णाश्रम व्यवस्था को अस्वीकार करने वाले और अपने को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ बताने वाले जिन तेली, कुम्हारों आदि वर्णों-धर्मों में उत्पन्न कलियुगी संतों को भला-बुरा कहा है वे तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था के टूटने का अच्छा प्रमाण हैं। व्यापारिक संस्कृति ने बड़े शहरों को जन्म दिया, शहरों में विभिन्न वर्णों और वर्गों के लोग एक साथ काम करने के लिए विवश हुए परिणाम

स्वरूप क़ौमी भाषा का जन्म हुआ। इसी भाषा के प्रथम मुखर प्रयोक्ता कबीर थे।[6] कबीर की भाषा का मूल्यांकन इसी संदर्भ में होना चाहिए। कबीर की भाषा किसी एक जनपद की भाषा न होकर उत्तरी भारत के अधिकांश भागों में प्रचलित भाषाओं का सम्मिश्रण थी। हिन्दी खड़ी बोली का प्रारम्भिक रूप इसी में है।

कबीर का आविर्भाव समाजेतिहास के उस बिन्दु पर हुआ जहाँ सामन्ती समाज टूटने लगा था और पूँजीवादी समाज उभरने लगा था। इस संक्रान्ति वेला में मानव समाज मूल्य विघटन एवं मूल्य जड़ता की स्थिति में होता है और उसे किसी ऐसे महापुरुष की तलाश रहती है जो मानवता को इस दुविधाजनक मनोस्थिति से उबार सके। कबीर मानो समय की आवश्यकता के अनुरूप भारतीय समाज के मार्गदर्शन के लिए अवतरित हो गए, भले ही अवतारवाद में कबीर की आस्था नहीं है। कबीर की कुंठा अत्यंत गहरी रही होगी क्योंकि काशी में एक ऐसे निर्धन, अज्ञात कुलशील वाले, अनपढ़ और निम्नजातीय जुलाहे का सम्मानपूर्वक जी सकना संभव नहीं था। विशेषकर जब वह गहन संवेदना, सूक्ष्म विवेचन विश्लेषण और अदम्य साहस से भरपूर हो। सामाजिक दमन एवं शोषण ने उनकी प्रतिभा को और अधिक सान चढ़ाया। कबीर की क्रांतिकारी प्रतिभा में तत्त्व ग्रहण, तत्त्वधारण, उद्भावन और अभिव्यक्ति के चारों अंग प्रखर रूप से विद्यमान थे। **''सार सार को गहि रहे, थोथा देई उड़ाय''**[7] का गान करने वाले कबीर तत्त्वग्राही थे इसलिए पाखंड-नगरी काशी में रहकर भी पाखंडी नहीं बने बल्कि सम्पूर्ण सत्य के पक्षधर बने, तत्त्व या सार को समझकर जीवन में धारण करने के कारण ही कबीर ने न घरबार छोड़ा, न कातना और बुनना[8] और न ही ज्ञान-ध्यान और साधु-संगत,[9] वे तत्त्व को जीवन में धारण किए रहे, उनकी कथनी और करनी में रंचक मात्र भी भेद न था।[10] कबीर परम्परा को ढोने वाले नहीं थे उनकी उद्भावना शक्ति या कल्पना शक्ति अद्भुत थी। काव्य-विन्यास के अभिन्न अंग के रूप में ही नहीं सामाजिक मान-मर्यादा, मूल्य एवं दार्शनिक आध्यात्मिक चिन्तन में भी उनकी उद्भावना शक्ति का चमत्कार देखा जा सकता है।[11] कबीर ने अपने राम और ब्रह्म को हिन्दुओं और मुसलमानों के ईश्वर और अल्लाह से जैसे अलग चित्रित किया यह उनकी उद्भावना शक्ति का ही चमत्कार है। कबीर की उद्भावना मूक अन्तर्मुखी नहीं थी, मुखर थी इसलिए उन्होंने अपने साहित्य में जितने मुखर रूप से और प्रभावी ढंग से उसे अभिव्यक्ति दी है वह सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। अभिव्यक्ति का मापदंड सम्प्रेषण क्षमता है और संत कबीर का काव्य भाषा, भाव, विचार और कला के स्तर पर इतना अधिक सम्प्रेषण हुआ कि भिखारी उसके दोहों को गाकर भीख मांगता है,

महात्मा उनके शब्दों को दोहराकर अपने कथनों की प्रामाणिकता सिद्ध करता है तथा विद्वान बुद्धिजीवी अध्ययन-अध्यापन और शोध का ही नहीं उच्च स्तरीय विचार-गोष्ठियों का विषय बनाकर कृतार्थ होता है। कबीर की वाणी की गूंज गरीब की झोपड़ी से लेकर विश्वविद्यालयों के परिसर में एक साथ सुनी जा सकती है। कबीर की प्रतिभा जिस कुंठा और त्रास की शिला पर घिसघिसकर पैनी हुई वह उनके युग के यथार्थ से उभरी थी। कबीर का काव्य मात्र आक्रोश और विद्वेष का काव्य नहीं है जैसा कि अम्बेदकरवादी दलित चेतना के झण्डावरदार डा० धर्मवीर अपनी पुस्तक "कबीर के आलोचक" में हमें समझाना चाहते हैं। उनका काव्य एक व्यापक विद्रोह एवं क्रांति-चेतना का काव्य है सस्ते द्वेषजन्य आक्रोश का नहीं। आक्रोश की अभिव्यक्ति दिशाहीन, अन्धे और असमर्थ क्रोध के रूप में होती है जिसका मुख्य आधार घृणा, आक्रामकता और अक्षमता-जन्य हीनता रहती है। कबीर क्रांतिकारी हैं क्योंकि उनके विरोध करने में भी मूल्य-चेतना है, निर्माण-लालसा है, गहन — रागात्मकता है, उदार परोपकारिता है, और है मानव मात्र के कल्याण की उत्कट इच्छा। कबीर जहाँ कहीं भी सामाजिक विकृतियों से उद्वेलित होते हैं, सामन्ती समाज के ठेकेदार सामन्तों, पण्डित-मौलवियों को दुतकारते-फटकारते हैं[12] तो वहाँ पर वैयक्तिक द्वेषभाव एवं हीनभाव रंचमात्र भी नहीं है। कबीर उनको भी सुधरने के लिए बार-बार कहते हैं क्योंकि कबीर, पूरी मानवता की कल्याण-कामना करते हैं। कबीर के काव्य में जो एक प्रकार की मस्ती, फकीराना अन्दाज और आक्रामकता है उसके मूल में भी उनकी समाज-कल्याण की भावना ही है। कबीर से पूर्व सिद्ध-साधकों ने भी जात-पात, छुआछूत, ऊँच-नीच, वेदशास्त्र, कर्मकाण्ड एवं बाह्याडम्बरों का विरोध किया था[13] परन्तु उनके विरोध में हीनता-जन्य आक्रोश अधिक था, उदार मानवतावादी के स्थान पर वैयक्तिक रूप से वंचित-शोषित होने की प्रतिक्रिया अधिक थी। कबीर के काव्य में दमित भाव रहे भी होंगे तो भी उन भावों का उदात्तीकरण हो गया है इसलिए उनके काव्य में विरोध का स्वर मस्ती भरा है,[14] ईर्ष्या-द्वेषजन्य कटुता से युक्त नहीं है। उनका व्यंग्य आक्रामक भी है और अनेक स्थानों पर मृदुल भी परन्तु उसमें सर्वत्र सुधार-परिष्कार का भाव निहित है।

कबीर का समाज-दर्शन अथवा आदर्श समाज विषयक उनकी मान्यताएँ ठोस यथार्थ का आधार लेकर खड़ी हैं। अपने समय के सामन्ती समाज में जिस प्रकार का शोषण दमन और उत्पीड़न उन्होंने देखा, सुना था, उनके मूल में उन्हें सामन्ती स्वार्थ एवं धार्मिक पाखण्डवाद दिखाई दिया जिसकी पुष्टि दार्शनिक सिद्धांतों की भ्रामक व्यवस्था से की जाती थी और जिसका व्यक्त रूप बाह्याचार

एवं कर्मकाण्ड थे।[15] कबीर ने समाज व्यवस्था, सत्यता, सहजता, समता और सदाचार पर आश्रित करना चाहा जिसके परिणामस्वरूप कथनी और करनी के अन्तर को उन्होंने सामाजिक विकृतियों का मूलाधार माना और सत्याग्रह पर अवस्थित आदर्श मानव समाज की नींव रखी।

महात्मा कबीर को वेद-पुराण विरोधी मूर्तिभंजक और सम्पूर्ण सनातन धर्म का विरोधी सिद्ध करने के इच्छुक तथाकथित प्रगतिशील और दलित चेतना के पक्षधर विचारक उन्हें सम्पूर्ण सांस्कृतिक धरोहर से काटकर उस पर अपने एकाधिकार की मुहर लगाना चाहते हैं परन्तु कबीर का विराट व्यक्तित्व उनके छिछले वादों ओछे स्वार्थों के घटिया पैमानों में नहीं समा पाता इसीलिए वे झुंझलाकर या तो उनके अधिकांश काव्य को प्रक्षिप्त घोषित कर देते हैं या फिर उसकी मनमानी व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि कबीर प्राचीन सांस्कृतिक विरासत के अनुपयोगी, मृतपाय एवं अहितकारी तत्त्वों का विरोध करके भी अपनी परम्परा से जुड़ रहे हैं उसके सहज एवं स्वस्थ प्रवाह का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। कबीर को वेद-उपनिषद, पुरान-कुरान, मन्दिर, मस्जिद, तीर्थ, व्रत, छापा तिलक से विरोध नहीं, विरोध है उनके दुरुपयोग से। कबीर में कठमुल्लापन खोजने वाले भूल जाते हैं कि कबीर किसी शास्त्र का, किसी वाद का गुलाम नहीं वह तो बेहद्दी मैदान का फक्कड़ घुमक्कड़ है, हदों में बंधना उसके व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं है।

सहज सामाजिक जीवन की पक्षधरता

महात्मा कबीर ने न तो घर छोड़कर संन्यासी बनने की वकालत की और न ही सिद्धों की तरह पांच मकारों की साधना करते हुए, सम्पूर्ण भोग भोगते परन्तु उनमें लिप्त न होते हुए सिद्धियां पाने का प्रयास किया।[16] नाथों का हठयोग और उसके सहारे अमर जीवन तथा जीवन्मुक्ति की धारणा में भी उनकी आस्था नहीं थी।[17] "सिद्धों का सहज 'महासुख' है जो पंचकायगुणों के भोग से प्राप्त होता है। कबीर का सहज राम है जो चित्त की निर्मलता, इन्द्रियगत आसक्ति से त्याग और आपा के क्षय से पाया जाता है। उस परमप्रिय से परिचय की पहली शर्त है आपा का, मैं या अहंकार का, निश्शेष भाव से त्याग।[18] कबीर विषय तृष्णा को माया का सबसे बड़ा शस्त्र मानते हैं यही मनुष्य की सहजता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। विषय तृष्णा मन में पैदा होती है इसलिए मन को मारने की बात कबीर कहते हैं।[19] कबीर ने अनुभव किया था मन की तृप्ति विषय-विकारों से कभी नहीं हो सकती। सहज की प्राप्ति के लिए इन्द्रिय संयम आवश्यक है[20] और इसी से सहज सामाजिक जीवन विकसित हुआ। कबीर की

सहजता सीधेपन की सूचक है। कबीर ऐसे गुरु का सम्मान करते हैं जो घर की ओर मोड़ता है क्योंकि घर में गृहस्थी में भी मुक्ति संभव है। वे स्वयं अपने पैतृक व्यवसाय से जुड़े रहे इसीलिए उनका चिन्तन किसी बैठे-ठाले का आकाश-विचरण अथवा परजीवी का बौद्धिक विलास नहीं है बल्कि एक आत्मनिर्भर, कर्मठ, सद्गृहस्थ का व्यावहारिक सहज चिन्तन है। वेश, साधना पद्धति, विचार, रहन-सहन, आचार-व्यवहार की सिधाई ही कबीर की सहजता है। वे मानते हैं कि अगर सहजता आ गई, सारे जीवन में एक दत्तभाव रिस गया, मन निर्द्वन्द्व और निर्विषय हो गया तो फिर जो कुछ करो वही पूजा बन जाएगा, जहाँ जाओ वहीं परिक्रमा बन जायेगी। सहज सामाजिक जीवन में परिश्रम को महत्व देना, संयम और संतोष से रहना, सत्य अहिंसा को अपनाना तथा हर प्रकार की विलासिता, संग्रह, क्रूरता एवं कदाचार का विरोध करना स्वाभाविक[22] है कबीर ने अपने आचरण द्वारा सहज जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया।

सदाचार ही जीवन की कसौटी है

महात्मा कबीर व्यावहारिक संत थे। उन्होंने सामाजिक जीवन में विचार नहीं, आचार को महत्त्व दिया। सदाचार की दृष्टि से दो बातें अपेक्षित हैं - एक तो व्यक्ति का आचरण विश्वसनीय हो अर्थात् उसकी कथनी और करनी में पूरा सामंजस्य हो, दूसरे चरित्र में पारदर्शिता हो अर्थात् व्यक्ति का चरित्र उसके कृतित्व में झलकता हो, उसके चिन्तन मनन के अनुरूप हो। महात्मा कबीर ने अपने युग में साधारण गृहस्थों की बात क्या, धर्म के ठेकेदारों, समाज के रक्षकों और जापियों-तपियों तक के जीवन में विश्वसनीयता और पारदर्शिता का अभाव देखा।[23] यही कारण है कि उन्होंने व्यवहार को मनुष्य की कसौटी स्वीकार करते हुए आडम्बरयुक्त समाज पर[24] व्यंग्य किए। "हिन्दू-मुसलमान, साधु-संत, योगी-यती, पशु-पक्षी, राजा-रंक सबकी परीक्षा का आधार उन्होंने उनके विचार को नहीं आचार को बताया है। शाक्त उन्हें इसी आचार-भ्रष्टता के कारण शूकर और श्वान से भी गया बीता दिखाई देता है।[25] वैष्णव के प्रति उसकी सारी आस्था आचार के कारण है।[26] पांडे[27] और मुल्ला[28] को उसने उसी आचार की कसौटी पर खोटा पाया था। हंस और बगुले के प्रति उसकी सारी स्वीकृति-अस्वीकृति का यही एक मात्र कारण है।[29] कबीर के युग में सामंती ढाँचा टूट रहा था जिससे जुड़ी सामन्ती संस्कृति में दरारें पड़ रही थीं और लोक संस्कृति उभरने लगी थी। इसी लोक संस्कृति के वाहक कबीर थे जो निराशावादी पद्धति और अर्थहीन गतानुगतिका को त्याग कर जीवन के स्वस्थ उपभोग का संदेश देती है। मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाती और अन्य कृच्छ साधनाओं का निषेध करती

है। सदाचार की शिक्षा देने में गुरु की उपादेयता कबीर ने स्पष्ट की है। सद्मार्ग को प्रशस्त करने में शास्त्र ज्ञान की अपेक्षा गुरु का आश्रय अधिक सुगम, श्रेयकर एवं सफलता देने वाला है। सदाचारी के आदर्श के रूप में सती[30] और शूर[31] को उन्होंने प्रस्तुत किया है। कबीर की सदाचार विषयक मान्यताएँ विवेकाश्रित, व्यवहार सिद्ध एवं समाजोपयोगी हैं। रूढिवादिता उनमें नहीं है परन्तु उनकी मान्यताएँ एक आध्यात्मिक मानव को ही आदर्श मानकर चली हैं, भोगवादी भौतिक मानव को उन्होंने स्वीकार नहीं किया है। जिन जीवन मूल्यों को कबीर सदाचार का आधार बनाते हैं वे परम्परागत वेद-शास्त्र विहित यम और नियम ही हैं जिनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, और अहंकार आदि विकारों का त्याग, सत्य, दया, क्षमा, अस्तेय, आत्म निग्रह, अचौर्य आदि का पालन निहित है। माया के रूप में जिन मानवीय विकारों से बचने की बात कही गई है वह भी परम्परानुमोदित है। जो लोग कबीर को नए दलित धर्म का संस्थापक सिद्ध करने में लगे हैं उन्हें अपनी दलित धर्म की मूलभूत अवधारणा स्पष्ट कर लेनी चाहिए और कबीर के समग्र व्यक्तित्व और कृतित्व पर चिंतन करना चाहिए। संत कबीर को साम्यवादी या दलित समाज के सांचे में बलपूर्वक अटाने के प्रयास में वे कबीर की महानता को नष्ट कर रहे हैं।

समता मूलक समाज की परिकल्पना

सामन्ती समाज में विषमता बद्धमूल है परन्तु कबीर जैसा विचारक जो कथनी और करनी,[32] विचार और आचार की समानता का पक्षधर है यह सहन नहीं कर सकता कि चिन्तन के क्षेत्र में मानव मात्र की समता और एकता के पक्षधर अद्वैतवादी दार्शनिक व्यवहार के क्षेत्र में सामाजिक ऊँच-नीच और वर्ण-भेद के शिकार हो जाएं। समाज का जातीय आधार पर जन्मजात बंटवारा सामंती समाज की आवश्यकता हो सकता है परन्तु कबीर जैसे क्रांतिकारी विचारक के लिए सह्य नहीं। यदि सभी मनुष्य, सृष्टि के सभी प्राणी पंचतत्त्वों से बने हैं एक ही मिट्टी के बर्तन, एक ही नूर से उपजे हैं, एक ही प्रभु की सन्तान हैं, एक ही परमात्म स्वरूप के अंश हैं तो फिर यह छुआछूत ऊँच-नीच का भेदभाव क्यों ?[33] यह शुचिता-अशुचिता का शोर क्यों ? महात्मा कबीर की खण्डन-मण्डनात्मक उक्तियों में मानव मात्र की समता का उद्घोष है। इसी समता और एकता से उपजा है उनका हिंसा-विरोध।[34] प्राणिमात्र के विरुद्ध हिंसा किसी भी धार्मिक, आध्यात्मिक सिद्धांत की आड़ में भी पाप ही कहलायेगी, पुण्य नहीं। मन, वचन और कर्म की हिंसा का विरोध सामाजिक समरसता एवं वैयक्तिक जीवन में पवित्रता का पोषक है। मांस और मदिरा आदि के सेवन का

विरोध कबीर इसी आधार पर करते हैं।

महात्मा कबीर के सुधी समीक्षकों में जो नाम प्रमुख रूप में आते हैं उनमें रवीन्द्र नाथ ठाकुर, आचार्य क्षितिमोहन सेन, अयोध्यासिंह उपाध्याय, डा० श्याम सुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० गोविन्द त्रिगुणायत, सरनाम सिंह, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, राजदेव सिंह और डा० राम निवास चंडक आदि के नाम प्रमुख हैं। "कबीर के आलोचक" पुस्तक के रचयिता अम्बेदकरवादी, दलित साहित्य के पक्षधर लेखक डा० धर्मवीर की नज़रों में इन ब्राह्मण, बनिया और ठाकुर आलोचकों ने कबीर वाणी का अंग-भंग एक समझी योजना के अन्तर्गत किया और यह सब कबीर वाणी के हत्यारे हैं। वे अपनी पुस्तक में सिद्ध ये करना चाहते थे कि कबीर दलित साहित्यकार थे, उन्होंने दलितों के लिए लिखा और विशिष्ट दलित समाज की रचना उनके काव्य का लक्ष्य था। सम्पूर्ण ब्राह्मणवादी या मनुवादी चिन्तन, परम्परा और समाज-व्यवस्था को नकारते हुए उन्होंने केवल और केवल दलित समाज का हित सोचा था। धर्मवीर जी यदि कबीर के काव्य से सारे आध्यात्मिक, दार्शनिक अंश निकाल भी दें तब भी किसी जाति विशेष के पक्षधर कबीर को नहीं खोज पायेंगे। कबीर को जातीय विद्वेष का जनक और दलित पक्षधरता का पुरोधा स्थापित करना न उनके समाज चिन्तन के प्रति न्याय है और न उनके साहित्यिक गौरव के प्रति।

साम्यवादी लेखक कबीर को जनवादी कवि के रूप में देखते हैं और उनके खण्डन-मण्डन में उन्हें वामपंथी तेवर नज़र आते हैं। कबीर का खण्डन-मण्डन उस निर्माण का हिस्सा है जिसे आध्यात्मिक मानव एवं राम राज्य की स्थापना का स्वप्न कहा जा सकता है। कबीर के क्रांतिकारी तेवरों की प्रशंसा करके भी उनकी आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि को भौतिकवादी वामपंथी कैसे पचा सकते हैं ? जिस प्रकार स्वामी विवेकानन्द का अध्यात्म, मजबूत राष्ट्रभक्ति की भित्ति पर खड़ा है, भगतसिंह का क्रांतिकारी चिन्तन उग्र राष्ट्रवाद की मजबूत चट्टान पर स्थित है उसी प्रकार कबीर का समाज-चिन्तन अपने परिवेश और परम्परा के घात प्रतिघात से उपजा है कोई वायवीय, काल्पनिक चीज नहीं है। यदि ऐसा नहीं होता तो कबीर का काव्य कालजयी न होता। कबीर को समाज के निम्न वर्गों का प्यार मिला क्योंकि कबीर उस दलित-उपेक्षित वर्ग के थे और उनके विरुद्ध कहने को उनके पास कुछ था भी नहीं। शोषक वर्ग को प्रताड़ित करने के कारण कबीर लोकप्रिय हुए।

महात्मा कबीर के काव्य का अनुशीलन यह सिद्ध करता है कि उनके

काव्य की मूलभूत चेतना समाज-संग्रह है वैयक्तिक मुक्ति का विधान नहीं। कबीर की भक्ति समाजोन्मुखी है, नर में नारायण की खोज करती है। कबीर, मानव मात्र की समता, एकता एवं स्वतन्त्रता का उद्घोष करते हैं और एक आदर्श आध्यात्मिक मानव निर्माण के माध्यम से समतामूलक, शोषण रहित, हिंसा रहित एवं समरस समाज का स्वप्न देखते हैं। समाज की विसंगतियों, कुरीतियों, विषमताओं और विकृतियों पर निर्मम प्रहार करते हुए भी वे समाज विरोधी नहीं हैं, मनुष्य की कमजोरियों, कुप्रवृतियों, कुवासनाओं और कुरूपताओं पर प्रहार करते हुए भी वे मानव मात्र के प्रति अगाध प्रेम, करुणा और सहानुभूति से भरपूर हैं। जिस आदर्श समाज का सपना कबीर ने देखा था उसमें वर्णाश्रम पर आधारित भेदभाव नहीं है, साम्प्रदायिक खेमेबन्दी नहीं है, शुद्ध मानवतावादी दृष्टि है। गाँधी के सपनों का रामराज्य और स्वतंत्र भारत के संविधान में कल्पित वास्तविक धर्मनिरपेक्ष, लोक कल्याणकारी, सामाजिक समता एवं समरसता पर आधारित समाज क्या उससे भिन्न है, यह विचारणीय है। ●

संदर्भ संकेत :

1. कबीर साहित्य की परख - परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, इलाहाबाद - पृष्ठ 268
2. सबद - पृष्ठ 486 - पद 10 - डा० जयदेव सिंह, डा० वासुदेव सिंह
3. श्याम सुन्दर दास - कबीर ग्रन्थावली - पृष्ठ 170, - परिशिष्ट पद 49
4. ❖ ऊँचे कुल क्या जनमियां, जे करनी ऊँच न होइ।
   सुवरन कलस सुरा भरा, साधू निन्दै सोई।। - साखी/कुसंगति को अंग - 7
   ❖ सबद -134 - संपादक डा० जयदेव सिंह डा० वासुदेव सिंह
5. देखिए - कबीर आधुनिक संदर्भ में - डा० राजदेव सिंह - पृष्ठ 6-7
6. देखिए - कबीर आधुनिक संदर्भ में - डा० राजदेव सिंह - पृष्ठ 11
7. वसुधा बन बहु भांति है, फूलै फलै अगाध
   मिष्ट सुवास कबीर गहि, विषम गहै नहीं साध।। - साखी/सारग्रही को अंग - 4
8. सबद/154/संपादक - डा० जयदेव सिंह डा० वासुदेव सिंह
9. संत न छांडै संतई जो कोटिक मिलै असंत।
   चंदन भुवंगम बेढिया, तउ सीतलता न तजंत।। - साखी/साध साषीभूत को अंग/ 2
10. ❖ जैसी मन तैं नीकसै तैसी चालै नाहि।
    मानुख नहीं ते स्वान गति बांधे जमपुर जांहि।। - साखी कथनी बिन करनी/ 3
    ❖ करता दीसै कीरतन ऊंचा करि करि तुंड।
    जानै बूझै कछु नहीं, यों ही अंधा रुंड।। - साखी/करनी बिना कथनी को अंग/5
    ❖ पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोय।
    एकै आखर पीव का, पढ़े सो पंडित होइ।। - कथनी बिना करनी का अंग/ 4

11. ● सात समुंद की मसि करौं, लेखनी सब बनराइ।
धरनी सब कागद करौं, (तऊ) हरि गुन लिखा न जाइ।। - साखी/सम्रथाइ को अंग/ 5
● सपने में सांई मिला, सोवत लिया जगाइ।
आंखि न मीचौं डरपता, मन सपना ह्वै जाइ।। - साखी/उपजणी को अंग/ 6

12. सबद/299 सम्पादक जयदेव सिंह एवं डा० वासुदेव सिंह

13. कबिरा कलि खोटी भई, मुनिवर मिलै न कोइ
कामी लोभी मसखरा, तिनका आदर होइ।। - साखी/वांणक को अंग/ 8

14. वैद मुवा रोगी मुवा, मुवा सकल संसार।
एक कबीरा न मुवा, जाके राम अधार।। - साखी/जीवत मृतक को अंग/ 6

15. सबद/७६/सम्पादक जयदेव सिंह एवं वासुदेव सिंह - सबद 77 वही

16. खा अन्ते पीअन्ते सुरअ रमन्ते। - दोहाकोश, राहुल, दोहाकोश गीत संख्या 48

17. राजदेव सिंह - कबीर आधुनिक संदर्भ में, पृ० - 110-111

18. ● आप मेटे हरि मिले, हरि मेटे सब जाइ।
अकथ कहानी प्रेम की, कहै न कोई पतियाइ। - साखी/जीवन मृतक को अंग/ 10
● रोडा ह्वै रहु बाट का तजि पाषंड अभिमान।
ऐसा जे जन ह्वै रहे, ताहि मिलैं भगवान।। - साखी/जीवन मृतक को अंग/ 14

19. ● ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै, औरन को सुख होइ।। - साखी/उपदेश को अंग/ 9
● मन गोरख मन गोविन्द, मन ही औधड़ होइ।
जो मन राखे जतन करि, तौ आपै करता सोइ।। - साखी/मन को अंग/ 10
● भगति दुवारा सांकरा, राई दसएं भाइ।
मन तो मैगल होइ रहा, क्यूं करि सकै समाइ।। - साखी / मन को अंग/ 26
● मन मनोरथ छोड़ि दे, तेरा किया न होइ।
पानी में घी नीकसै, तौ रूखा खाइ न कोइ।। - साखी / मन को अंग/ 29

20. संत न बांधे गाठरी, पेट समाता होइ।
आगै पीछै हरि खड़ा, जो मांगै सो देइ।। - साखी/बेसास को अंग/ 10

21. बैरागी बिरकत भला, गिरही चित्त उदार।
दुहुं चूका रीता पड़े ताको वार न पार।। - साखी/उपदेश को अंग/ 4

22. अभिनव भारती - संयुक्तांक १९९१-९३, हिन्दी साहित्य एवं आलोचना की वार्षिक पत्रिका - पृ० 209

23. ● सबद/165/डा० जयदेव सिंह डा० वासुदेव सिंह
● रमैनी/61/डा० जयदेव सिंह डा० वासुदेव सिंह
● रमैनी/35/डा० जयदेव सिंह डा० वासुदेव सिंह

24. ● हम भी पाहन पूजते, होते रन के रोझ।
सतगुरु की किरपा भई, डारा सिरतैं बोझ।। साखी/भ्रम विधौसन को अंग/4
● जप तप दीसै थोथरा, तीरथ व्रत बेसास।
सूवै सैबल सेविया, यों जग चला निरास।। साखी/भ्रम विधौसन को अंग/8
● केसन कहा बिगारिया, जे मूंडे सौ बार।
मन को काहे न मूडिए जाने विषय विकार।। साखी/भेष को अंग/12

25. ● भगति हजारी कपड़ा, तामैं मल न समाइ।
सकल काली कामरी, भावै तहा बिछाइ।। साखी/साधू को अंग/13

- साकत बाह्मन मति मिलै, वैसनौ मिलै चंडाल।
  अंकमाल दै भेटिए, मानो मिलै गोपाल।। साखी/साधू महिमा को अंग/9

26. मेरे संगी दोइ जन, एक वैष्णो एक राम।
  वह दाता मुकुति का, वो सुमिरावै नाम।। साखी/साधू को अंग/4

27. • पंडिता कवन कुमति तुम लागे। सबद/164/जयदेव सिंह, वासुदेव सिंह
  • पंडित देखहु मन मे जानी। सबद/166/डा० जयदेव सिंह, वासुदेव सिंह
  • सबद/169/डा० जयदेव सिंह, वासुदेव सिंह

28. कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब दोइ।
  चढि मसीत एकै कहै, दरि क्यूं सांचा होइ।। साखी/सांच को अंग/5

29. मानसरोवर सुभग जल, हंसा केलि कराहिं।
  मुक्ताहल मुक्ता चुगै, अब उड़ि अनत न जाहिं।। साखी/परचा को अंग/39

30. • दोजख तो हम अंगिया यहुं डर नाहिं मुज्झ।
  भिस्त न मेरे चाहिए बाझ पियारे तुज्झ।। साखी/निहकर्मी पतिव्रता को अंग/7
  • सती जरन कौं नीकसी, चित धरी एक उमेख।
  तन मन सौंपा पीव को (तन) अंतर रही न रेख।। साखी/सूरातन को अंग/37

31 • सूरा जूझै गिरद सौं, इक दिसि सूर न होइ।
  कबीरा या बिन सूरिवां, भला न कहिसी कोइ।। साखी/सूरातन को अंग/4
  • जिस मरनै ते जग डरै, सो मेरे मन आनंद।
  कब मरिहूं कब देखिहूं, पूरन परमानंद।। साखी/सूरातन को अंग/13

32. सबद/७६/संपादक डा० जयदेव सिंह डा० वासुदेव सिंह

33. कहु पंडत सूचा कवन ठांऊ सबद/९३ सं० जयदेव सिंह डा० वासुदेव सिंह

34. • साखी /सांच को अंग/8
  • साखी /सांच को अंग/14

क्रान्तिकारी समाज-सुधारक तथा युग-प्रवर्तक कवि

अवधेश नारायण मिश्र 'दीपक'

महात्मा कबीरदास के विषय में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन कि "हिन्दी साहित्य के हजार वर्ष के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ।"[1] सर्वांशतः सत्य है। वास्तव में, कबीर अपने युग के सर्वाधिक प्रतिभा-सम्पन्न, प्रभावशाली तथा चर्चित व्यक्ति थे। वे प्रचण्ड अथवा दबंग व्यक्तित्व के धनी थे। वे एक सदाचारी सन्त तथा परम ज्ञानी निर्गुण भक्त थे। वे एक निर्भीक स्पष्ट वक्ता, प्रभावशाली धर्मोपदेशक तथा कठोर आलोचक थे। व्यक्तिगत स्वार्थ और सांसारिक मोह-माया से मुक्त वे अपने मन के बादशाह थे। उनका आत्म-कथन है :–

चाह मिटी, चिन्ता गई, मनुआ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिए, सोई शाहनशाह।।

"ऐसे थे कबीर-सिर से पैर तक मस्तमौला; स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़; भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचण्ड, दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त; भीतर से कोमल, बाहर से कठोर; जन्म से अस्पृश्य, कर्म से बन्दनीय।"[2]

कबीर मूलतः और मुख्यतः एक सहृदय भक्त, अप्रतिम सन्त और महान ज्ञानी थे। इससे भी अधिक, वे एक युग-चेता कवि, क्रान्तिकारी विचारक तथा प्रबल समाज-सुधारक भी थे। उनका युग-बोध अत्यन्त यथार्थवादी, गंभीर और व्यापक था। कल्पनालोक में - आध्यात्मिक जगत में विचरण करते हुए भी वे सदैव इहलोक और इस धरातल से जुड़े रहने वाले साधु-साधक थे। अपने देश-काल तथा वातावरण का उन्हें सम्यक बोध था।

कबीर की समकालीन परिस्थितियाँ (संवत् १४५६ से संवत् १५७५ तक)[3] अत्यन्त जटिल तथा द्वन्द्वपूर्ण थीं। पंद्रहवीं शताब्दी के आरम्भ तक भारत का अधिकांश भू-भाग मुसलिम आक्रान्ताओं के अधीन हो चुका था। प्रायः सभी शीर्षस्थ हिन्दू शासक अपनी स्वाधीनता खोकर नत-मस्तक हो चुके थे। उत्तर भारत में सैय्यद तथा लोदी वंश के सुलतानों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। परन्तु अवसर पाते-ही छोटे-मोटे तुर्क, अफ़गान तथा हिन्दू सरदार विद्रोह करने से न चूकते थे। अतः देश में राजनीतिक कलह-कटुता, पारस्परिक संघर्ष, विघटन व अस्थिरता का वातावरण बना हुआ था। जनता के मन में आतंक, चिन्ता और भय व्याप्त था। आर्थिक दृष्टि से भी उत्तर भारत बहुत श्री-सम्पन्न तथा सुख-समृद्ध नहीं था। हिन्दू व मुसलिम समाज रूढ़िवाद, जाति-भेद, ऊँच-नीच, छुआ-छूत, बाह्याडम्बर तथा अंधविश्वास जैसी नाना कुरीतियों एवं दुर्गुणों से ग्रस्त थे। धार्मिक क्षेत्र में हिन्दू पौराणिक धर्म तथा इस्लाम धर्म (मज़हब) एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे। अनेक पंथ, मत और सम्प्रदाय विद्यमान थे। हिन्दू धर्म में सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की उपासना पद्धतियाँ प्रचलित थीं। पुरोहितवाद और कठमुल्लापन का बोलबाला था। मजहबी भूत सवार होने के कारण मुसलमान शासक तलवार के बल पर धर्म-प्रसार तथा बलात् धर्मान्तरण पर तुले हुये थे। नैतिक मूल्यों का निरन्तर विघटन और ह्रास हो रहा था। ऐसी विषम परिस्थितियों में हिन्दू भक्तिवाद और पश्चिमी सूफ़ीवाद मानवीय सौहार्द, पारस्परिक प्रेम, धार्मिक सहिष्णुता एवं सांस्कृतिक समन्वय का मार्ग प्रशस्त करने का अथक प्रयत्न कर रहे थे।

महात्मा कबीरदास एक सजग युग द्रष्टा और सक्रिय युग-स्रष्टा कलाकार थे। अतः उन्होंने अपनी समकालीन चतुर्मुखी असन्तुलित अव्यवस्था को भली-भाँति देखा, परखा, समझा और अपना युगोचित कवि-कर्त्तव्य निश्चित किया। उन्होंने मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों को सुव्यस्थित, सुपरिष्कृत तथा सुसन्तुलित बनाने का दृढ़ निश्चय किया। अपने मर्मस्पर्शी युगबोध से प्रेरित होकर कबीर ने युग-परिवर्तन और समाज-सुधार का बीड़ा उठाया। उनका उद्देश्य समकालीन प्रशासन, समाज, धर्म, नीति, चरित्र आदि में अन्तःव्याप्त कुरीतियों व कुसंस्कारों का समूल विनाश करना, मूलबद्ध रूढ़ियों को तोड़ना, अंधविश्वासों एवं बाह्याचारों को समाप्त करना था। वे स्वच्छ-संशोधित, संतुलित और युगोचित नवीन व्यवस्था के सबल पक्षधर थे। अतएव मन का वह बादशाह ज्ञान-रूपी हाथी पर सवार होकर और ज्ञान की तलवार हाथ में लेकर समकालीन सामाजिक-धार्मिक-नैतिक रूढ़ियों, कुसंस्कारों तथा बाह्याचारों के सुदृढ़ जंजालों पर टूट पड़ा और

सच्चे शूर की भाँति अन्त तक जूझता ही रहा। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार -- "वे समस्त बाह्याचारों के जंजालों और कुसंस्कारों को विध्वंस करने वाले क्रान्तिकारी थे। समझौता उनका रास्ता नहीं था।"[4]

कबीर सर्वप्रथम भक्ति-तत्त्व-शोधक साधक थे। "भक्ति-तत्त्व की व्याख्या करते-करते उन्हें बाह्याचार के उन जंजालों को साफ करने की जरूरत महसूस हुई जो अपनी जड़ प्रकृति के कारण विशुद्ध चेतन-तत्त्व की उपलब्धि में बाधक हैं। यह बात-ही समाज-सुधार और साम्प्रदायिक ऐक्य की विधात्री बन गई।"[5] उनके जैसे विशुद्ध भगवद-भक्ति-रूपी सत्य-तत्वान्वेषी के लिये अज्ञान जन्य समस्त बाह्याचारों का विच्छेदन करना परमावश्यक युग-धर्म था। अतएव, अपने इस युग-धर्म का कुशल निर्वाह करने के लिये कबीर समस्त संचित ज्ञान-राशि लेकर सामने आये। अपना अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त करने के लिये उन्होंने महान दार्शनिकों के जैसी खण्डन-मण्डन-विधि का प्रयोग किया। असत्य का खण्डन, सत्य का मण्डन; अज्ञान का खण्डन, ज्ञान का मण्डन; घृणा का खण्डन, प्रेम का मण्डन; बाह्याचार का खण्डन और शुद्ध चेतन तत्त्व का मण्डन। उन्होंने अपने अकाट्य तर्कों, मार्मिक उपदेशों और प्रभावी प्रवचनों से देश, समाज, धर्म और व्यक्ति को दूषित और पथभ्रष्ट करनेवाले समस्त कुविचारों और बाह्याचारों की स्पष्ट शब्दों में कठोर आलोचना एवं तीव्र भर्त्सना की तथा उन सब पर यथाशक्ति प्रबल प्रहार किया। उन्होंने अपनी सतेज वाणी तथा ऊर्जस्वित कविता के माध्यम से व्यक्ति-परिष्कार, धर्म-शोधन तथा समाज-सुधार से सम्बद्ध अपने युक्ति-युक्त विचारों का सहज उद्‌घाटन किया। उन्होंने अपने दोहों, वाणियों, रमैनी, पदों जैसे विविध काव्य-रूपों और विभिन्न छन्द-रूपों में अपनी समकालीन ज्वलन्त सामाजिक-धार्मिक-व-नैतिक समस्याओं तथा उनके समाधानों का अनूठे ढंग से प्रतिपादन किया है। तीखी-आक्रोश-पूर्ण-चुटीली भाषा में व्यंजित उनकी अनुभव-सिद्ध उक्तियाँ और वाणियाँ वेधने वाली और उनके गूढ़ व्यंग्य चोट करने वाले प्रमाणित हुए हैं। और फिर, आत्मा-परमात्मा के मिलन-वियोग-सम्बन्धित उनके रहस्य-रूपक तो पाठक को भक्ति-रस-मज्जित करने में पूर्ण सक्षम हैं। उनके काव्य-साहित्य का बहुत बड़ा भाग इसी प्रकार की उक्तियों, वाणियों और रहस्यवादी पदावलियों से समृद्ध और परिपूर्ण है। उदाहरण-स्वरूप उनमें से कुछ प्रासंगिक पंक्तियाँ यहाँ उद्‌धृत की जा रही हैं।

१. **मूर्ति-पूजा का विरोध** :- कबीर मुख्य रूप से ज्ञानमार्गी निर्गुणोपासक भक्त थे। उन्होंने देखा कि मूर्ति-पूजा के प्रश्न पर हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के कट्टर शत्रु बने हुए हैं। अतः उन्होंने हिन्दू-समाज में प्रचलित मूर्ति-पूजा के

साथ-साथ पौराणिक अवतारवाद तथा बहुदेववाद का दृढ़तापूर्वक खण्डन किया। उन्होंने मूर्ति-पूजा की निस्सारता प्रतिपादित करते हुए कहा कि :--

दुनिया ऐसी बावरी, पाथर पूजन जाय।
घर की चाकी कोइ न पूजे; जाको पीसो खाय।

उन्होंने हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा और मंदिर-निर्माण की प्रथाकी भाँति मुसलमानों के द्वारा मसजिद निर्माण और उनकी नमाज-अजान पर भी तीव्र व्यंग्य किया है:-

कांकर-पाथर जोरि कै, मस्जिद लई चुनाय।
जा चढ़ि मुल्ला बाँग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय ?

इस सन्दर्भ में उन्होंने हिन्दू पण्डितों और मुसलिम मुल्लाओं की अच्छी खासी खबर ली है।

२. **धार्मिक वैमनस्य तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता पर प्रहार एवं हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रतिपादन** :-- कबीरदास ने तत्कालीन धार्मिक वैमनस्य और साम्प्रदायिक संकीर्णता तथा कटुता का सर्वत्र खंडन तथा विरोध किया है। ईश्वर की सर्वव्यापकता और राम-रहीम की एकता घोषित करके उन्होंने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के मध्य वैचारिक भेदभाव की गहरी खाई को पाटकर दोनों में धार्मिक सद्भाव और साम्प्रदायिक सौहार्द स्थापित करने का भरसक प्रयास किया। उन्होंने स्पष्ट घोषित किया :--

भाई रे ! दुइ जगदीश कहाँ तें आया, कहु कवने भरमाया?
अल्लह-राम, करीमा-केशव, हरि-हजरत नाम धराया ।

"उनका कहना था कि उस महान और निराकार शक्ति को चाहे खुदा कहो या राम कहो; शिव कहो या अल्लाह कहो - एक ही बात है। उस ईश्वर का वर्णन चाहे क़ुरान में हो या पुराण में हो - एक-ही है। हिन्दू-तुर्क, जैन, योगी सभी एक-ही ईश्वर को मानते हैं; पर उनकी उपासना-पद्धतियाँ अलग-अलग हैं।"[6] देखिये --

हिन्दू मूये राम कहि, मुसलमान खुदाय।
कहै कबीर सो जीवता, दुइ में कदे न जाय।।

वास्तव में कबीरदास भारत में हिन्दू-मुसलिम-एकता के अग्रदूत थे। इस तथ्य को आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने भी स्वीकार किया है--

"राम-रहीम और केशव-करीम की एकता स्वयं-सिद्ध है। कबीरदास से अधिक जोरदार शब्दों में इस एकता का प्रतिपादन किसी ने नहीं किया।"

३. **अंधविश्वासों तथा बाह्याचारों का खण्डन** :- कबीर के समकालीन समाज और धर्म में अनेक प्रकार के बाह्याचार, अंधविश्वास और आडम्बर

प्रचलित थे। परन्तु "बाह्याचार की निरर्थक पूजा और संस्कारों की विचार-हीन गुलामी कबीर को कतई पसन्द नहीं थी।"[8] वे अपने समाज और धर्म को परिष्कृत और संशोधित रूप में देखना चाहते थे। अतएव उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों और उनके पौराणिक एवं इस्लामी धर्मों में प्रचलित निरर्थक कर्मकाण्डों, पूजा-पद्धतियों, अंध विश्वास-मूलक बाह्याचारों आदि का डटकर विरोध किया। जप, माला, छापा, तिलक, केश-मुंडन, व्रत-उपवास, तीर्थ-यात्रा, अजान, रोजा, कब्र-पूजा, हज, पीर, औलिया आदि की निरर्थकता और निस्सारता प्रतिपादित करने में लेशमात्र भी न झिझके। उनके विचार से ये सभी आडम्बर (ढकोसला) मात्र हैं; मनुष्य के स्वस्थ विकास और आत्मोन्नयन में इनकी कोई उपयोगिता नहीं है; यथा :–

(क) **मूँड़ मुड़ाए हरि मिले, सब कोई लेय मुँड़ाय।**
बार-बार के मूँड़ते, भेड़ न बैकुंठ जाय ।।

(ख) उन्होंने व्रत-उपवास, उत्सव-त्योहार आदि सबको अस्वीकार कर दिया –

हिन्दू वरत-एकादसि साधैं, दूध-सिंघारा सेती।
अन्न को त्यागैं, मन को न हटकैं, पारन करें सगोती
तुरुक रोजा-नीमाज गुजारैं, बिसमिल बाँग पुकारैं।
इनकी भिस्त कहाँ तें होइ है, साँझै मुरगी मारैं।।

(ग) इसी प्रकार श्रद्धाहीन अशुद्ध मन से माला फेरना भी व्यर्थ है :–

माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर।
कर का मनका छाँड़ि कै, मन का मनका फेर।।

(घ) उनके मतानुसार ईश्वर-प्राप्ति के लिये तन से नहीं बल्कि मन से जोगी होना आवश्यक है :–

तन को जोगी सब करैं, मन को बिरला कोय।
सब विधि सहजे पाइए, जो मन जोगी होय।।

४. मानवीय दोषों के परित्याग पर जोर :- कबीर-कालीन समाज में अधिकांश लोग परछिद्रान्वेषण, छल-कपट, झूठ, दम्भ-द्वेष-वैर, कुसंगति, दुर्व्यसन इत्यादि नाना प्रकार के दोषों, दुर्गुणों अथवा मानवीय दुर्बलताओं से ग्रस्त थे। इनसे समग्र समाज दूषित हो रहा था। अतः कबीर ने अपने प्रवचनों और उपदेशों में प्रयुक्त व्यंग्य-वाणों से तमाम दुष्प्रवृत्तियों पर कठोर प्रहार किये। इस प्रकार की कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत हैं :–

(१) (परछिद्रान्वेषण)

दोष पराये देखि कै, चले हसन्त-हसन्त।
अपने चित्त न आवहीं, जिनका आदि न अन्त।।

(२) (कुसंगति)

मूरख संग न कीजिए, लोहा जल न तिराइ।
कदली-सीप-भवंग-मुखि, एक बूँद ठिटहै भाइ।।

(३) (मानापमान)

कबिरा वहाँ न जाइये, जहाँ कपट का हेव।
जणूँ कली अनार की, तन रातौ मत सेव।।

अतः स्पष्ट है कि कबीर दास ने समाजगत तथा व्यक्तिगत दोषों का कुशलतापूर्वक खण्डन करके शुद्धता, सादगी, समरसता, सदाचार जैसे वरेण्य मूल्यों की स्थापना का स्तुत्य प्रयास किया है।

५. सारग्राही बनने का उपदेश :- कबीर ने जातिगत, कुलगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत, शास्त्रगत, सम्प्रदायगत, समाजगत समस्त भेद-भावों को तिरोहित करके व्यष्टि और समष्टि-उभय स्तरों पर सारग्रहण, समरसता, सहिष्णुता, सौहार्द्र तथा समन्वयशीलता की प्रवृत्ति विकसित करने पर सर्वत्र जोर दिया है। उन्हीं के शब्दों में --

साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार-सार को गहि रहै, थोथा देहि उड़ाय।।

६. निर्मल-सत्य-रूप प्रेम-तत्त्व का महत्त्व-प्रतिपादन :- कबीर प्रधान रूप से एक सच्चे ईश्वरभक्त और आध्यात्मिक साधक थे। अतः उन्होंने केवल उस निर्मल-निरंजन-सत्य-रूप प्रेम-तत्त्व पर सर्वाधिक बल दिया है जिसके द्वारा परम ब्रह्म परमेश्वर को सहज ढंग से प्राप्त किया जा सकता है। समस्त धर्मग्रंथों में संचित ज्ञान की अपेक्षा वे इस ढाई अक्षर वाले प्रेम को ही अधिक श्रेयस्कर मानते थे--

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।।

भक्त के पवित्र हृदय में इस प्रेम-ज्योति के प्रकट होते ही सारा भ्रम-अज्ञान दूर हो जाता है और उस परमतत्त्व के साथ अद्वैत-भाव की दिव्य अनुभूति सहज सिद्ध हो जाती है। कबीर के शब्दों में :-

पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोत अनंत।
संसा खूटा, सुख भया, मिल्या पिआरा कन्त।।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि महात्मा कबीरदास एक अप्रतिम क्रान्तिकारी समाज-सुधारक, असाधारण विचारक तथा युग-प्रवर्त्तक कवि थे। उन्होंने अपने समकालीन समाज, धर्म और हिन्दी काव्य-साहित्य को एक नवीन युग-बोध, भाव-स्फूर्ति और नवीन जीवन-दर्शन देकर अमोघ शक्ति-सम्बल प्रदान किया था। उन्होंने वैचारिक क्रान्ति, समाज-सुधार तथा आध्यात्मिक चेतना की मशाल प्रज्वलित कर के तत्कालीन दिग्भ्रान्त और पथभ्रष्ट जनों का सफल मार्ग-दर्शन किया था। वे सगुण और निर्गुण, ज्ञान और भक्ति, उच्च और निम्न के बीच अद्‌भुत समन्वयकर्त्ता तथा हिन्दू-मुस्लिम-एकता के महान अग्रदूत थे। मैं मनीषी विद्वान आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी के इस मत से पूर्णतः सहमत हूँ कि "युगावतारी शक्ति और विश्वास लेकर वे पैदा हुए थे और युग-प्रवर्त्तक की दृढ़ता उनमें वर्त्तमान थी, इसीलिये वे युग-प्रवर्त्तन कर सके थे।"[9] निःसन्देह, अपने द्वारा सम्पादित महत् कार्य के लिये वे सदैव अमर और चिरस्मरणीय रहेंगे।

शून्य मरै, अजपा मरै, अनहद-हू मरि जाय।
राम-सनेही ना मरै, कह कबीर समुझाय।। ●

संदर्भ संकेत :

१ व २ कबीर-आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० २२२ व १७४।
३ कबीर-ग्रंथावली-बाबू श्यामसुन्दरदास के मतानुसार कबीरदासजी का जन्म संवत् १४५६ में तथा उनकी मृत्यु संवत् १५७५ में हुई थी।
४. कबीर - आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - पृ० १९२।
५. कबीर - आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - पृ० २२६।
६. ऐतिहासिक निबंध (महात्मा कबीर) - डॉ० दयाप्रकाश रस्तोगी - पृ० २३०
७. कबीर - आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - पृ० २२४।
८. कबीर - आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - पृ० २२३।
९. कबीर - आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - पृ० १७७।

कबीर का समाज, उनकी भक्ति और नारी

रूपा गुप्ता (पटेल)

सभ्यता के उत्तरोत्तर जटिल विकास का लक्ष्य मनुष्य को अधिक से अधिक बंधनों में बाँधना रहा है। समाज-वैज्ञानिकों ने इसे सामाजिक संदर्भ में समझने का प्रयास किया तो दार्शनिकों और भक्तों ने इसकी इहलौकिक के साथ पारलौकिक व्याख्या भी की। बृहस्पति, चार्वाक और बुद्ध जैसे चिन्तकों को छोड़ कर भारतीय दर्शन की केन्द्रीय धुरी आध्यात्मिकता ही रही है। इन चिन्तकों ने इस संसार की चिन्ता धर्म और अध्यात्म के संदर्भ में अधिक की है। उनके यहाँ "इस लोक के समाज के प्रति कर्म" "उस लोक में फलप्राप्ति की पीठिका के रूप में" ही अधिक आये हैं। इस प्रकार के चिन्तकों में सूरदास एवं तुलसीदास की तरह कबीरदास पहले ही से इस परम्परा में उपस्थित हैं, किन्तु कबीरदास के साहित्य की भिन्न-भिन्न प्रकार की आलोचनाओं ने एक संकट उत्पन्न कर दिया है।

अन्य भक्त कवियों से इतर कबीरदास सामाजिक कुरीतियों एवं उनके सुधार के सम्बन्ध में बड़ा स्पष्ट मत रखते हैं। इस स्पष्ट और दृढ़ विचारधारा के कारण आलोचकों के एक बड़े वर्ग ने उन्हें केवल समाज-सुधारक मान लिया है, वहीं दूसरा वर्ग कबीर के भक्त रूप को सर्वस्व मान उनके सक्रिय सामाजिक रूप को छिपाता डोलता है। पहले वर्ग ने कबीर के भक्त रूप को निरन्तर "अन्डरप्ले" करने में सक्रियता दिखाई, तो दूसरे वर्ग ने उन्हें समाज से विच्छिन्न, साधु-संगति में लीन, मुक्ति के परम आकांक्षी भक्त के रूप में ही सराहा। इनसे भी अधिक कबीर पर उनके सम्प्रदाय के संस्थापकों एवं अनुयायियों ने कहर ढाया। उन्होंने कबीर की जीवन भर की कमाई पर उसी अंध-श्रद्धा का पानी फेर दिया, जिसके विरुद्ध कबीर आजीवन युद्धरत रहे। इस प्रकार समाज सुधारक भक्त कबीर का एक संतुलित और अनुकरणीय रूप अपनी समग्रता में सामने नहीं आ सका।

इसी कारण कबीर के इन प्रतिभास्फुट, किन्तु खंडित चित्रों से वांछित फल प्राप्त नहीं किया जा सका।

आलोचकों के पहले वर्ग ने, जो कबीर के केवल क्रान्तिकारी समाज सुधारक रूप से प्रभावित रहा है, अपने जोश में इस तथ्य को बिल्कुल ओझल कर दिया कि वे जिस कबीर का प्रयोग भारतवर्ष की 'सेक्यूलर' परम्परा को सिद्ध करने में जी भर कर रहे हैं, वे कबीरदास **धर्म विमुख** नहीं हैं। कबीर जितने प्रतिबद्ध समाज सुधारक हैं उतने ही विह्वल भक्त भी। यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर की 'धर्मनिरपेक्षता' का प्रयोग करते समय हम उनकी धार्मिकता को भुला बैठते हैं और इसी कारण जो 'सेक्यूलरिज़्म' हमारे सामने निकल कर आता है, वह आम जनता को अपील नहीं करता। आम जनता 'राम के मोतिया' कबीर को जानती है। इधर सेक्यूलरिज़्म के व्याख्याता कबीर को इस रूप में प्रस्तुत करने का संकट ''संभाल'' नहीं सकते फलतः निष्कर्ष सीधे मूल से जुड़ा हुआ प्रतीत नहीं होता। वह केवल बौद्धिक विलास बन कर रह जाता है। इस छवि में कबीर के भक्तरूप को एकदम गोल कर दिये जाने के कारण साधारण जन को उनकी यह छवि अपरिचित-सी लगती है। इस कबीर को वे जानते तो हैं, किन्तु यह उनके लिए पराया हो जाता है।

अतः कबीर के समाज पर चर्चा करने के लिए यह स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है कि धर्म उनके जीवन की धुरी है। ''राम नाम का मरम है आना'' कहने से परम्परानुसार प्रचलित मर्म तो स्थानापन्न किया जा सकता है, किन्तु निर्गुण राम के प्रति उनकी धार्मिक भावना को नहीं। ऐसा करके हमने कबीर के एकांगी चित्र ही पाये हैं।

आलोचकों के दूसरे वर्ग ने कबीर के ''शुद्धिकरण'' के प्रयास में उनके सामाजिक चित्रों की या तो भरसक चर्चा नहीं की है और कहीं चर्चा करने के लिए बाध्य होने पर उसकी यथासंभव धार्मिक नहीं तो आध्यात्मिक व्याख्या कर दी है।

वस्तुस्थिति यह है कि कबीर की भक्ति और उनका समाज घुला-मिला है। उनके भक्ति सम्बन्धी उपमान सीधे उनके कर्म जगत से आते हैं। जैसे सजीव उनके सामाजिक सरोकार के पद हैं वैसे ही सहज उनके भक्ति सम्बन्धी पद हैं। यद्यपि कबीर अपने धार्मिक पंथ के विषय में स्पष्ट घोषणा करते हैं कि वे प्रचलित किसी भी मार्ग के अनुयायी नहीं हैं-- न वे हिन्दू हैं, न मुसलमान, न गोरखपंथी हैं, न सहजयानी। वे तो बस भक्त हैं।

किन्तु यह भक्त सांसारिक कर्म से आँखें मूँदे, जटा बढ़ाये, धूनी रमाये

किसी गुफा शरणम् गच्छामि नहीं हो जाता। वह अपने संसार तथा आस-पास के जगत के प्रति एक खुली और सचेत दृष्टि रखता है। जगत में छाये अधर्मों को वह भली-भाँति पहचानता है। वह जानता है कि इस अधर्म के विरुद्ध जो बोलेगा उस पर संकट है--

''देखो रे जग बौराना साधो
देखो रे जग बौराना।
साँची कहौं तो मारन धावै
झूठ कहे पतियाना।''

कबीर इस संकट को मोल लेते हैं। मार के डर से कबीर जैसा निधड़क साधक मिथ्या नहीं कह सकता। वह सत्य कहता है। कबीर के सत्य से पहले समाज का अपना सत्य चला आ रहा है। समाज के इस सत्य पर कबीर प्रश्न उठाते हैं--

क्या लै माटी भुइ सौं मारे क्या जल देह न्हवाएं।
खून करै मिसकीन कहावै गुनही रहै छिपाएं।।
क्या ऊजू जप मंजन कीएं क्या मसीति सिरु नाएं।
दिल महिं कपट निवाज गुजारै क्या हज काबै जाएं।।

मान्य शास्त्र और प्रचलित पद्धति दोनों ही के प्रति प्रश्न उठाने से कबीर नहीं चूकते। अगर उन्हें ''शास्त्रों'' पर संदेह है तो ''लोक'' को भी उन्होंने नहीं बख्शा है--

लोका तुम हौ मति के भोरा।
जउ कासी तनु तजहि कबीरा तौ रामहि कौन निहोरा।।

कहने का तात्पर्य है कि कबीर ने केवल ''शास्त्रीयता'' की ही ख़बर नहीं ली है। शास्त्रसम्मत अथवा शास्त्र विरुद्ध लोक प्रचलित उन ''ब्यौहारों'' पर भी तीखे प्रश्न उठाये हैं जो पूजा और मुक्ति से जुड़े हैं--

एक निरंजन अलह मेरा, हिन्दू तुरक दुहूँ नहीं नेरा।।
राखूँ ब्रत न महरम जांनां, तिसहीं सुमिरूँ जो रहै निदाना।।
पूजा करूँ न निमाज गुजारूँ, एक निराकार हिरदै नमसकारूँ।
ना हज जांऊं न तीरथ पूजा, एक पिछांण्यां तौ क्या दूजा।।

कबीर ने तीर्थों को नकारा तो हज को अस्वीकारा। मगहर और काशी को एक जैसा माना। कबीर ने सहज भाव से अपने कर्म के निर्वाह को सबसे बड़ा धर्म माना। कबीर अपने काल के अन्य भक्तों एवं चिन्तकों की तुलना में निस्संदेह अधिक क्रान्तिकारी हैं, किन्तु जैसा कि पहले कहा गया है इन तथ्यों के

प्रभामण्डल में **कबीर की वे सीमाएँ छिप जाती हैं जो उनके बाद भी समाज में फलती फूलती रहीं**। कबीर-काव्य के अन्तर्विरोधों को आँखों से ओट कर देने पर भारतीय समाज, विशेषकर हिन्दी प्रदेश के समाज की सही छवि सामने नहीं आती। आलोचना से कतरा कर निकल जाने और "सब कुछ अति उत्तम है" प्रकार के चित्रण के प्रयास की बौद्धिक कसरत समस्या से जूझने की प्रवृत्ति से पलायन है। कबीर सभी धर्मों के पाखण्डों पर प्रहार करते हैं, किन्तु धर्म को नहीं नकारते। वे अगर कहते हैं--

"जो तू बाम्हन बाम्हनी जाया
और राह ह्वै क्यौं नहीं आया।"

तो प्रचलित प्रभावी विचारधारा को मान कर कभी-कभी जाति को मान्यता भी दे देते हैं--

"पूरबजनम हम बाम्हन होते ओछे करम तप हीनां।
राम देव की सेवा चूका पकरि जुलाहा कीन्हां।।"

वे अवतारवाद के घोर विरोधी हैं और अपने पक्ष के लिए लोक को भी ललकार बैठते हैं--

"लोका तुम ज कहत हौ नंद कौ नंदन नंद कहौ घूं काकौ रे।
धरनि अकास दोऊ नहिं होते तब यहु नंद कहाँ थौ रे।।"

तो कभी वे विष्णु और उसके अवतार गोविन्द दोनों का स्मरण करते हैं--

"मेरी जिभ्या बिस्नु नैंन नाराइन हिरदै बसहिं गोबिंदा।
जम दुवार जब लेखा मांगै तब का कहसि मुकुंदा।।

वे लोक प्रचलन के अनुसार राम की माया के तीन पुत्र ब्रह्मा, विष्णु, महेश मानते हैं। इस सृष्टि में ब्रह्म ही एक पुरुष है शेष सभी स्त्रियाँ हैं, इस मान्यता के कारण कबीर राम से अपना पति-पत्नी का सम्बन्ध जोड़ते हैं। भक्ति में अत्यन्त गर्वपूर्वक यह घोषणा करने वाले अक्खड़ कबीर कि **"हम न मरैं मरिहै संसारा। हम को मिला जियावनहारा"** तुलसीदास की सी दीनता से भी अपनी भक्ति-भावना श्रीराम के चरणों में निवेदित करते हैं--

दीन गरीब दीन को, दुंदर को अभिमान।
दुंदुर दिल विष सूँ भटी, दीन गरीबी राम।।

कहीं-कहीं तो कबीरदास राम की सामर्थ्य वर्णना के लिए जिन उदाहरणों का प्रयोग करते हैं, तुलसीदास में भी वे ही प्रयोग मिलते हैं। कबीरदास कहते हैं--

जौ जाचों तो केवल राम। आन देव सूँ नाहीं काम।।
जाके सूरिज कोटि करें परकास। कोटि महादेव गिरि कविलास।।

ब्रह्मा कोटि बेद ऊचरें। दुर्गा कोटि जाके मरदन करें।।
कोटि चंद्रमा गहैं चिराक। सुर तेतीसुं जी मैं पाक।।

और आगे कबीरदास कहते हैं कि जिसके दरबार में नौ ग्रह खड़े हैं, धर्म जहाँ प्रतिहारी है, कुबेर जिसका भंडार भरता है, लक्ष्मी जिसका श्रृंगार करती हैं, इंद्र जिसकी सेवा करता है वे राम सर्वोपरि हैं।

"बेद कतेब कथैं व्यौहार" कहने वाले सहज कबीरदास के जटिल रहस्यवाद पर विचार करते समय यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि वे निरक्षर थे-

चमकैं बिजुरी तार अनन्त, तहाँ प्रभु बैठे कवलाकंत।।
अखंड मंडिल मंडित मंड, त्रि स्नाँन करै श्रीखंड।
....अबरन बरन स्याँम नहीं पीत, हो जू जाइ न गावै गीत।
अनहद सबद उठै झणकार तहाँ प्रभू बैठे समरथ सार।।
कदली पुहुप दीप परकास, रिदा पंकज में लिया निवास।
द्वादस दल अभिअतरिभ्यंत, तहाँ प्रभु पाइसि करिले च्यंत।।

कबीर अपने साहित्य में वेद, पुराण और ब्राह्मण द्वारा रचित-प्रचारित आचार-विचार के विरुद्ध खड़े हैं, किन्तु अपनी भक्ति की परम गहनता और चरम विह्वलता के क्षणों में अपनी अभिव्यक्ति के प्रतीक वहीं से चुनते हैं। ऐसे में यदि कुछ आलोचक कबीर के इस पक्ष को अपने तीखे प्रहारों से गोल कर जाने का प्रयास करें तो वह हास्यास्पद ही होगा। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस कथन पर कि कबीर का समाज सुधारक रूप उनकी भक्ति का बाई प्रोडक्ट या फोकट का माल है, पर आपत्ति तो की जा सकती है, किन्तु किसी पैनी आपत्ति के माध्यम से कबीर के पारम्परिक भक्त रूप को स्मृति पटल से ओझल नहीं किया जा सकता । इसे अगर अन्तर्विरोध के रूप में भी स्वीकारें तो भी इसकी उपस्थिति नकारी नहीं जा सकती। अधिक से अधिक सहानुभूतिपूर्वक यही कहा जा सकता है कि कबीर के चिन्तन में इस प्रकार के अन्तर्विरोध कम मिलते हैं।

इस प्रचलित प्रभावशाली विचारधारा के जिस एक और अन्तर्विरोध को कबीर में अत्यन्त स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है वह है उनके स्त्री सम्बन्धी विचार। डॉ० रामविलास शर्मा हिन्दी नवजागरण में भारतेन्तु परम्परा का विकास दिखाते हुए डॉ० महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचंद और निराला का उल्लेख करते हैं। यदि इस क्रम को पीछे ले जाया जाये तो कबीर अत्यन्त सहजता पूर्वक इस कड़ी का आरम्भिक बिन्दु हो सकते हैं। धर्म, जाति और स्त्री- हिन्दी प्रदेश के सम्मुख खड़े इन तीन विकराल प्रश्नों का उत्तर ढूँढने में हर विचारक का संतुलन डगमगा जाता है।

कबीर की स्त्री सम्बन्धी धारणाएँ प्रचलित मान्यताओं से भिन्न नहीं हैं। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि कबीर जब अपने काव्य का विषय और रूपक प्रचलित समाज से चुनते हैं तब हम उनकी सराहना में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते। कबीर जब प्रचलित धर्म की रूढियों पर आघात करते हैं-- तो हम उन्हें क्रान्तिकारी कहते हैं, किन्तु कबीर की नारी सम्बन्धी उक्तियों को उद्धृत करते ही हम उनका आध्यात्मिकीकरण कर देते हैं। कबीर एकाएक समाज सुधारक, क्रान्तिकारी चेता के स्तर से उठकर भक्ति की उस दिव्य भावभूमि पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं जहाँ माया त्याज्य है और चूँकि माया स्त्रीलिंग है इसीलिए स्त्री माया है और स्त्री को त्याग करने के लिए कहने का अर्थ माया त्यागने के लिए कहना है। यह आध्यात्मिक विवेचना वैसी ही रुपहली और अपारदर्शी-सी है जैसी कि कबीर को केवल क्रान्तिकारी सिद्ध करने वाले लोगों की आलोचना जो उनके धार्मिक पक्ष को लुप्त कर उन्हें केवल जाति और रूढ़ि के विरुद्ध खड़ा हुआ व्यक्तित्व बताते हैं। या उन धार्मिक लोगों की आलोचना जैसी है जो कबीर की प्रत्येक बात का एक रहस्यवादी पाठ प्रस्तुत करते हैं।

कबीरपंथियों का मानना है कि कबीरदास अविवाहित थे, दूसरी ओर कबीर के कुछ महत्त्वपूर्ण शोधार्थियों का कहना है कि कबीर के दो विवाह हुए थे। उनकी प्रथम पत्नी का नाम लोइ था और दूसरी पत्नी धनिया या रमजनिया थी, किन्तु कबीर की अविवाहित स्थिति के समर्थकों का कहना है कि लोइ का अर्थ है लोग तथा धनिया का अर्थ हुआ धन्या अर्थात् यह स्त्रीवाचक शब्द है न कि उनकी पत्नी का नाम। कबीर की अविवाहित स्थिति के समर्थक इस सम्बन्ध में जिस तीव्रता से तर्क प्रस्तुत करते हैं उससे प्रतीत होता है कि कबीर द्वारा विवाह किये जाने को स्वीकारना मानो उनके द्वारा किये गये किसी पाप कर्म को स्वीकारना है।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने अन्तः साक्ष्यों के आधार पर कबीर की पत्नी का नाम लोइ बताया है। कबीर के दो विवाहों के संदर्भ में कबीर का यह वक्तव्य मिलता है--

''पहली कुरूप कुजाति कुलखनी साहुरे पेइये दुरी।
अबकी सरूप सुजाति सुलक्खनी सहजे उदर भरी।।
भली सरी मुई मेरी पहली बरी।
जुग जुग जीवौ मेरी अबका धरी।।''

यहाँ पर कबीर पहली पत्नी के 'बर'(जल) जाने पर संतुष्ट हैं तथा दूसरी 'धरी' (पकड़ी) हुई पत्नी की लंबी आयु की कामना करते हैं। वैसे जोरू के

सम्बन्ध में कबीरदास का मत है--

जोरू जूठनि जगत की भले बुरे का बीच।
उत्थम ते अगले रहैं निकटि रहैं ते नीच।।

इस तरह के उद्धरण आते ही विज्ञ-जन कबीर के पक्ष में सभी प्रकार के तर्क जुटाने लगते हैं। आचार्य विश्वनाथ त्रिपाठी इस सम्बन्ध में कहते हैं-- "कबीर जैसा सदाचारी और सहृदय कवि नारी को सर्वथा निन्दनीय समझे यह उचित नहीं जँचता। ज्ञात होता है कि कबीर के लिए नारी केवल साधना में बाधक होने के लिए निन्दनीय नहीं थी। तत्कालीन सामन्तों की विलास-वृत्ति के प्रति घृणा का भाव भी कबीर के यहाँ नारी-निन्दा के रूप में प्रकट हुआ है। यह बात कबीर ही नहीं सभी संत कवियों के विषय में समझनी चाहिये।" कबीरदास ने माया, परनारी, और वेश्या के विरुद्ध लिखा है। गृह-कलह करने वाली नारी की भी उन्होंने ताड़ना की है। नारी के सती और पतिव्रता रूप की उन्होंने सराहना की है, किन्तु कबीर काव्य में नारी का यह रूप कम स्थानों पर उल्लेखित है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में लेखकों के वैवाहिक जीवन और उनकी पत्नी पर जो जानकारी मिलती है वह अत्यल्प है। ऐसे में कबीर और तुलसी के दाम्पत्य जीवन की प्रामाणिक और पूर्ण सूचना की आशा करना व्यर्थ है। फिर भी प्राप्त सूचनाओं के आधार पर लगता है कि कबीर और तुलसी जैसे महान विचारक भी अपने व्यक्तिगत अनुभवों से निरपेक्ष काव्य रचना नहीं कर पाये। कबीरदास ने अपनी गृहस्थी की कलह की चर्चा की है। परनारी तो बुरी है ही पत्नी भी सुशीला नहीं। कनक और कामिनी दोनों ही विष हैं--

"एक कनक अरु कामिनी, विष फल किया उपाय।
देखत ही तें विष चढ़ै, चाखत ही मरिजाय।।"

वैसे कामिनी कनक के बिना भी बुरी है--

"रंचक लावन के फिरै, आँधा होय भुजंग।
कबीरा तिन की कौन गति, नित नारी सों रंग।।"

यह कनकामिनी सुवासिता सुंदरी माता होने पर भी त्याज्य है--

"सर्व सोना की सुन्दरी, आवै बास सुबास।
जो जननी ह्वै आपनी, तौहु न बैठे पास।।"

नारी विष फल है, नारी नागिन है जो अपना जाया हुआ खा जाती है, नारी ऐसी रचना है जिसमें अवगुण ही अवगुण हैं, जीवित रहने पर यह कलेजा खाती है और मरने पर नर्क ले जाती है, नारी नख से शिख तक खा जाती है, जल में

डूबा तो उबर सकता है पर नारी का डूबा नहीं, नारी जैसा यम नहीं है और नारी से कोई-कोई ही बच पाया है--

''नारी कूंड़ी नरक की, बिरला थांमें बाग।
कोई साधु जन ऊबरा, सब जग मूवा लागि।।''

यह संसार नारी-पुरुष द्वारा रचित है। जो पुरुष-पुरुष द्वारा रचित होता तो वह बिरला होता--

''नारी रचंते पुरुषय है, पुरुष रचंते नार।
पुरुष पुरुषते राचते, ते बिरलै संसार।।''

नारी को निहार कर मत देखिये। देखते ही विष चढ़ जाता है, नारी के अथाह जल से बचने वाले साधू विरले हैं। यह सर्वहारी (सर्वग्रासी) है, (सर्वहारा नहीं)--

''नारी सेती नेह, बुद्धि विवेक सबहीं हरै।
बृथा गमावै देह, कारज कोई ना सरै।।''

इस प्रकार के उद्धृत-अनउद्धृत उद्धरणों की लम्बी सूची है। और ऐसे स्थानों पर बड़ी आसानी से नारी को माया के स्थानापन्न कर कबीर काव्य की सुगम व्याख्या की जा सकती है। यद्यपि कबीर के निम्न कथन में आध्यात्मिकता के आरोपण की संभावना कम है फिर भी है---

''नारी तौ हम भी करी पाया नहीं बिचार।
जब जानी तब परिहरी, नारी बड़ा विकार।।''

कबीरदास द्वारा नारी की इस प्रकार की गई निन्दा के सम्बन्ध में विश्वनाथ त्रिपाठी कहते हैं-- ''कबीर ने नारी की निन्दा कम नहीं की है। फिर भी, हमारा अनुमान है कि वह नारी-मात्र को निन्दनीय न मानते रहे होंगे। रचनाकारों के वक्तव्यों से अधिक विश्वसनीय उनका चित्रण होता है। कबीर नारी-निन्दा इतनी तीव्रता से संभवतः परम्परा पालन के लिए करते हैं।''

किन्तु कबीर की ख्याति तो परम्परा तोड़ने के लिए है। कबीर जैसे अनलजीवी तपे-तपाये अक्खड़ कर्मशील साधक-विचारक द्वारा इस प्रकार की परम्परा का पालन विचित्र जान पड़ता है। उनके हृदय की धधकती आग सब ओर पहुँचती हैं बस स्त्री उससे अछूती रह जाती है। आज ऐसे में जबकि कबीर के केवल क्रान्तिकारी रूप पर बल दिया जा रहा है, उन्हें दलित चेतना के अग्रदूत के रूप में चित्रित किया जा रहा है, उनकी चिन्तन पद्धति की सांगोपांग विवेचना ही उचित होगी। ●

कबीर की नारी चेतना

रामेश्वर नाथ मिश्र 'अनुरोध'

कबीर का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण अतिशय विवाद का विषय है। कबीर ने एक ओर नारी को साधना और मोक्ष मार्ग में बाधक मानकर उसकी तीखी आलोचना और घोर निन्दा की है, तो दूसरी ओर ईश्वर के प्रति अपनी अनन्य प्रीति का आदर्श सती या पतिव्रता नारी को मानकर उसे अतिशय आदर दिया है। उनके इन परस्पर विरोधी विचारों के कारण आलोचकों में कबीर के नारी-विषयक दृष्टिकोण को लेकर काफी मतभेद है।

आधुनिक युग के मार्क्सवादी समीक्षक मैनेजर पाण्डेय का कहना है कि कबीर और तुलसी का नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण एक था यानी दोनों स्त्री-विरोधी संस्कृति के बड़े कवि थे, जब कि सूरदास और मीरा में स्त्रियों के स्वातंत्र्य के प्रखर स्वर थे।[1] परन्तु डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत का कहना कुछ और है। उनके विचार में, "कबीर के युग में वासना अपना भयंकर रूप धारण करती जा रही थी। कबीर को उसका डटकर सामना करना पड़ा था। उसके लिए उन्हें स्त्री की निन्दा करनी पड़ी थीं।" डॉ० त्रिगुणायत के स्वर में स्वर मिलाते हुए प्रो० पुष्पपाल सिंह भी कहते हैं "स्त्री निन्दा करते हुए उनका (कबीर का) मुख्य उद्देश्य साधक और समाज के सामान्य व्यक्तियों को चरित्र-भ्रष्टता से बचाना था।"

डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इन दोनों मतों के मध्य का मार्ग ग्रहण करते हुए 'कबीर ग्रंथावली' की प्रस्तावना में लिखा है-- "ज्ञानी संतों ने स्त्री की जो निंदा की है, वह दूसरी ही दृष्टि से है। स्त्री से उनका अभिप्राय स्त्री के कामवासनापूर्ण संसर्ग से है। स्त्री की निन्दा कबीर से बढ़कर कदाचित् ही किसी ने की हो, परन्तु पति-पत्नी की भाँति न रहते हुए भी लोई का आजन्म उनके साथ रहना

प्रसिद्ध है।''

कबीर के प्रशंसकों द्वारा आज कबीर का जो रूप हमारे समक्ष खड़ा किया जाता है, वह है उनका क्रांतिकारी या विद्रोही रूप। उनके बारे में कहा जाता है कि वे एक संघर्षशील प्रगतिवादी समाज-सुधारक संत थे। उन्होंने दलितों के लिए वर्णाभिमानियों तथा जाति-कुल-गोत्र को बड़ा मानने वालों से डटकर लोहा लिया। वे अत्यंत निर्भीक और दलितों के सबसे बड़े उद्धारक थे। उन्होंने सामाजिक बुराइयों पर करारा प्रहार किया। रूढ़ियों का पालन और परम्परा का अन्धानुकरण न करके उन्होंने समाज में फैली विकृतियों का प्रभावशाली स्वर में विरोध किया। उनके धाकड़ तेवर ने जाति-पाँति, धर्माडम्बर और छुआछूत जैसी दुष्प्रवृत्तियों की धज्जियाँ उड़ा दी। परन्तु कबीर का यह विद्रोही रूप उस समय टूटता या ढहता सा प्रतीत होता है जब वे नारी के समक्ष खड़े होते हैं, या नारी उनके समक्ष खड़ी होती है।

कबीर नारी के प्रति एकदम दक़ियानूस विचार रखते हैं। वे उसके प्रति अतिशय निष्ठुर और असंवेदनशील हैं। उन्होंने उसे माया बना डाला है और माया के रूप में या बहाने से चुन-चुन कर अपशब्द कहे हैं।

'माया महाठगिनि हम जानी।
केशव के कमला ह्वै बैठी, शिव के भवन भवानी।।
योगी के योगिन ह्वै बैठी, राजा के घर रानी।
भक्तों के भक्तिन ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।।'

में कबीर ने माता लक्ष्मी, माता सरस्वती और जगदम्बा भवानी (पार्वती) जैसी पूजनीय देवियों को माया का विविध विग्रह मानकर उनकी भयंकर भर्त्सना कर डाली। नारी को उन्होंने 'नरक का कुंड' बताया है –

नारी कुंड नरक का, बिरला थंभै बाग।
कोई साधूजन ऊबरै, सब जग मूँवा लाग।। (कबीर ग्रंथावली (२०।१५)

सुन्दरी से उन्हें सूली भली लगती है।[2] तीनों लोक में नारी काली नागिन के समान है।[3] वह खांड़ की मधुमक्खी के सदृश है जो छेड़ने पर डंक मार देती है।[4] कामिनी कूप के समान है जिसमें गिरकर मनुष्य डूब मरता है।[5] वह माया की आग है जिसमें सारा संसार जल गया है। रूई में लिपटी हुई इस आग से कौन बच सकता है (१६।३२) ?

नारी के संसर्ग में रहने वाला व्यक्ति शीघ्र नष्ट हो जाता है, क्योंकि वह पुरुष के विवेक और बुद्धि का बलपूर्वक अपहरण कर लेती है।[6] नाना प्रकार के व्यंजनों के स्वाद का सुख और नारी के संग राग-रंग करना त्याग दे नहीं तो ऐ

मनुष्य ! तेरा शीघ्र ही मोह भंग हो जायेगा (२०।९)।

कबीर का कहना है कि नारी जिस पुरुष के साथ रहती है उसकी तीन चीजें नष्ट हो जाती हैं। ये हैं--भक्ति, मुक्ति और आत्मज्ञान--

नारि नसावै तीनि सुख, जा नर पासैं होइ।
भगति, मुकुति, निज ग्यान मैं, पैंसि न सकइ कोइ।। (२०।१०)

कामिनी विष-फल के समान है, इसको देखने मात्र से विष चढ़ने लगता है, भोगने पर तो मौत पक्की है[7]--

एक कनक अरु कांमनी, विषफल की एउ पाइ।
देखै ही थै विष चढ़ै, खायैं सूँ मरि जाइ।। (क. ग्र. २०।११)

कामिनी आग के समान दाहक है। उसके दर्शन मात्र से शरीर प्रज्वलित हो उठता है, स्पर्श करने पर सर्वनाश सुनिश्चित है। कबीर के विचार में नारी वह मानक है जिसके आधार पर उत्तम और अधम व्यक्ति का ज्ञान किया जा सकता है। जोरू जगत की जूठन (उच्छिष्ट) है। भले-बुरे में अन्तर बतलाती है। जो पुरुष इससे दूर रहते हैं, वे उत्तम हैं और जो इसके निकट रहते हैं वे नीच हैं-

जोरू जूठणि जगत की, भले बुरे का बीच।
उत्यम ते अलगे रहैं, निकटि रहैं तें नीच।। (क. ग्रं. २०।१४)

कबीर का यह भी कहना है कि नर का नारी के संग रहना सबसे बड़ा अपराध है। और अपराध तो भगवान क्षमा कर देंगे परन्तु नारी-संग-जन्य अपराध को कभी नहीं क्षमा करेंगे (क. ग्रं. २०।१७)। वास्तव में वनिता और वित्त को देखने से पाप लगता है-- **वनिता विवधि न राचिये, देषत लागै षोड़ि** (क. ग्रं. २६।६)। अतः कामिनी से विरक्त होना ही श्रेयस्कर है[8] जहाँ सुन्दरी नारी का शव-दाह हुआ हो, वहाँ भी मनुष्य को नहीं जाना चाहिए, अन्यथा वह राख होकर शरीर से लिपट जायेगी[9] । कबीर इतने से ही संतुष्ट नहीं होते। वे नारी को खूँखार नाहरी (सिंहनी) तक कह बैठते हैं-- **''नारी नाहीं नाहरी करै नैन की चोट''**[10] अर्थात् 'नारि - न अरि मनुष्य का शत्रु नहीं है' यह समझना भूल है, वह वस्तुतः नाहरी-रक्तलोलुप सिंहनी है जो नेत्रों से चोट करती है। मैंने ज्ञान प्राप्त करके कनक (धन-समृद्धि) और कामिनी दोनों का परित्याग कर दिया है-- **'कबीर त्यागा ज्ञान करि, कनक कांमनी दोइ।**[11]' संसार के ऐ मनुष्यो ! तुमलोग भी शीघ्रातिशीघ्र नारी को त्याग दो नहीं तो तुम्हें बाद में पछताना पड़ेगा-- **'बेगि छाड़ि, पछिताइगा, ह्वै है मूरति भंग'**[12]। सांसारिक धन-सम्पदा और कामिनी नारी दोनों दुर्गम घाटी के समान हैं, इन्हें लाँघ कर कोई विरला व्यक्ति ही उस पार जा सकता है--

चलो चलो सब कोई कहै, पहुँचे बिरला कोय।
एक कनक औं कांमनी दुर्गम घाटी दोय।।[13]

नारी विषधर भुजंग से भी अधिक भयानक है, जिसकी परछाई पड़ने मात्र से भुजंग भी अन्धा हो जाता है। भला सोचिए उस पुरुष की क्या दशा होगी जो नित्य नारी के साथ रहता है–

नारी की झाईं परत, अन्धा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कौन गति, जे नित नारी संग।।[14]

इस तरह कबीर ने नारी का जो अति घृणित, घातक, विध्वंसकारी, प्रभु-प्राप्ति-मार्ग में बाधक और समाज के शत्रु के रूप में चित्र खींचा है वह नारी जाति के प्रति अन्याय है। कबीर को चाहिए था कि वे नारी के प्रति प्रचलित जड़ मान्यताओं के विरुद्ध उस तेवर से अपनी आवाज़ उठाते जिस तेवर से उन्होंने छुआछूत, ऊँच-नीच, जाति-पाँति, धर्माडंबर और अन्य सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई है। परन्तु कबीर भी लकीर के फकीर निकले। उनकी सारी क्रांतिकारिता प्राचीन पौराणिक नारी मान्यताओं के अशिव पक्ष के समक्ष गलकर पानी बन गई। वे नारी का भला तो नहीं कर सके, अपितु जितना उनसे हो सकता था, उतना बुरा कर गए। समाज सुधारक, दलितोद्धारक और महान क्रांतिकारी जैसी उपाधियों से विभूषित किए जानेवाले 'महात्मा' कबीर 'वारवनिताओं' के प्रति तनिक-सी सहृदयता का प्रदर्शन नहीं करते। गणिका-संतानों का भी वे निर्ममता से उपहास उड़ाते हैं। यदि कबीर का तात्कालिक उद्देश्य सामाजिक क्रांति था तो वे समाज में सबसे अधिक दबी-कुचली नारी-जाति के स्वाभाविक दर्द और कारुणिक यथार्थ से क्यों रुबरू नहीं हो सके ? समस्त सृष्टि को ईश्वरमय मानने वाले कबीर कहते हैं-

राम पियारा छांड़ि करि, करै आन का जाप।
बेस्यां केरा पूत ज्यूँ, कहे कौन स्यूं बाप।।

अर्थात् जो मनुष्य परम प्रिय राम को छोड़ कर अन्य किसी ईश्वर की उपासना करता है उसकी दशा 'वेश्या पुत्र' के समान है जो किसी एक व्यक्ति को अपना पिता नहीं कह सकता। यहाँ पर कबीर धार्मिक सहिष्णुता को लाँघते हुए धार्मिक संकीर्णता और कट्टरवादिता तक जा पहुँचे हैं। 'वेश्या' समाज की कुत्सा और पुरुषों की अनियंत्रित वासना का फल है। उसका या उसकी संतानों का अपमान करना कबीर के 'महात्मापन' को छोटा बनाता है। पतित नारी के उद्धार के बदले उसे निन्दनीय ठहराना तथा उसकी निर्दोष संतान को पतित करार देना कहाँ तक उचित है ? उसका निर्मम उपहास कबीर की मानवीय

संवेदना पर प्रश्न-चिन्ह खड़ा करता है।

जिसका घर काँच का हो उसे दूसरों के घरों पर पत्थर फेंकने का साहस नहीं करना चाहिए। कबीर के जन्म की कथा सामाजिक दृष्टि से बड़ी प्रीतिकर और प्रशंसायोग्य नहीं है। कबीर यदि उधर ध्यान देते तो शायद नारी की विवशता के प्रति सहानुभूति प्रकट करते और वेश्यावृत्ति में बलात् फेंक दी गई नारियों को प्रताड़ित कर समाज से बहिष्कृत करने का अवांछनीय उद्योग न करते। भगवान ने तो गीध' अजामिल और गणिका सबका उद्धार किया है। भगवान राम ने तो शबरी के जूठे बेर तक खूब सराह-सराह कर खाए थे। नारी ठगिनी है, डाकिनी और डायन है, वह सबको खानेवाली है, शैतान का प्रतिरूप है आदि आरोप लगाना नारी-जाति के विरुद्ध भयानक कुचक्र है। इस दृष्टिकोण से नारी-जाति को प्रताड़ित करने वालों में कबीर अग्रगण्य बन जाते हैं। इक्कीसवीं सदी और नई सहस्राब्दि की देहरी पर खड़ा मानव-समाज कबीर की नारी-विरोधी प्रवृत्ति का कदापि समर्थन नहीं कर सकता।

हमारे देश के महान ऋषि गृहस्थ-संन्यासी थे। वशिष्ठ, अगस्त, अत्रि, याज्ञवल्क्य, भृगु, कक्षीवान् आदि अनेक ऋषि गृहस्थ संन्यासी थे। उनकी पत्नियाँ और संतानें थीं। वे सब अपनी स्त्रियों का अतिशय आदर सम्मान करते थे और भगवत्-भक्ति या अध्यात्म-चिन्तन में, ईश्वर-साधना और अपनी तपश्चर्या में बाधा स्वरूप नहीं मानते थे। ऋषि कण्व के आश्रम में गौतमी, प्रियंवदा और शकुन्तला जैसी नारियाँ थीं। शकुन्तला को पति-गृह भेजते समय कण्व भोकार छोड़कर रोने लगते हैं। नारी ने क्या उन्हें जलाया, खाया या उनके तप में विघ्न उपस्थित किया ? अरुन्धती, मुद्रालोपा, अनसूया, मैत्रेयी, गार्गी, अपाला आदि नारियाँ कबीर के जन्म से सहस्रों वर्ष पूर्व संत-महात्माओं और सम्मान्य पुरुषों द्वारा अभिनन्दनीय और वन्दनीय मानी गई हैं। इन स्त्रियों की प्रशस्ति से ग्रंथ के ग्रंथ भरे हैं। क्या कबीर के जीवनकाल में नारी जाति इतनी भयंकर हो उठी कि उसके सामाजिक बहिष्कार के बिना भक्ति, मुक्ति और आत्मज्ञान को प्राप्त करना कठिन हो गया ? इस लिहाज से कबीर के गुरु रामानन्द कबीर से अधिक क्रांतिकारी और प्रगतिशील थे। उच्चवर्ण के होते हुए भी उन्होंने तत्कालीन समाज की मान्यता के विरुद्ध उसकी लक्ष्मण रेखाओं का उल्लंघन करके निम्न जातियों-निम्न वर्णों में उत्पन्न लोगों को अपना शिष्य बनाया। उनके शिष्यों में सेना नाई, रैदास चमार, धन्ना जाट और कबीर जुलाहा थे। उन्होंने पद्मावती और सुरसरी नाम की दो शिष्याओं को भी विधिवत् दीक्षा देकर अपने सम्प्रदाय में शामिल किया। स्वामी रामानन्द का पद्मावती और सुरसरी को अपनी शिष्या

के रूप में स्वीकार करना यह सिद्ध करता है कि वे अपने शिष्य कबीर से अधिक क्रांतिकारी थे और नारी को साधना या तपस्या में बाधक नहीं मानते थे। उन्होंने जिस अवधूत परम्परा का श्रीगणेश किया था उसमें जाति-पाँति, भेद-भाव, ऊँच-नीच, छूत-अछूत, कर्मकाण्ड, लिंग-भेद, धर्माडम्बर आदि के लिए कोई स्थान नहीं था। परन्तु कबीर अपने गुरु के नारी-विषयक प्रगतिशील विचार को नहीं अपना सके और अपनी अद्‌भुत ऊर्जा नारी-निन्दा में खर्च कर बैठे।

भक्ति, मुक्ति, आत्मज्ञान या ईश्वर हेतु साधना केवल पुरुषवर्ग की बपौती नहीं है। अध्यात्म के क्षेत्र में अंडाल, सहजोबाई, दयाबाई, मुक्ताबाई, मीराबाई आदि नारी-रत्नों का नाम अमर है। वेद-मंत्रों की रचना करने वाली कई ऋषिकाएँ हैं जिनके अध्यात्म-ज्ञान का लोहा आज भी लोग मानते हैं। श्रद्धा कामायनी, सार्पराज्ञी जरिता, गोधा, सुकीर्ति काक्षीवती, घोषा काक्षीवती, जुहू ब्रह्मजाया, सरमादेवशुनी, वैवस्ती यमी, उर्वशी, सुलभा, गार्गी वाचक्नवी, रोमशा, लोपामुद्रा, विश्ववत्वारा, आत्रेयी अपाला, वागाम्भृणी, अदिति, शशीयसी, सूर्या सावित्री, सीता ममता आदि ढाई तीन दर्जन स्त्रियों ने ऋचाओं को रचकर मानव-इतिहास के पृष्ठों को गौरवमण्डित किया है। कौन कह सकता है कि इन नारियों ने पुरुष-समाज का अहित किया है या आध्यात्म के राज्य में नारी-प्रवेश वर्जित था। सिक्खों के प्रसिद्ध धर्मग्रंथ 'गुरु ग्रंथ साहब' में कबीर और मीरा दोनों के पद एक साथ संकलित हैं। मीरा तो नारी ही थीं, क्या उन्हें माया का प्रतिरूप मानकर कोई दुर्वचन कह सकता है ?

क्या भक्तिमार्ग या आत्मज्ञान के मार्ग में नारी ही पुरुष के लिए बाधक है ? क्या पुरुष नारी के मार्ग में बाधक नहीं है। इन्द्र-अहल्या, राजा दण्ड-अरजा आदि प्रसंग इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं कि नारी पुरुष से अधिक संयमशील होती है। उसके पतन की आधारशिला पुरुष ही रखता है। क्या नारी के कामिनी रूप को ही दृष्टि में रखकर उसे वासना की मूर्ति मान लेना उचित है ? क्या नारी की निन्दा करके पुरुष-समाज को चरित्रवान बनाया जा सकता है ? यह पुरुष की दुर्बलता है जो अपने ऊपर संयम नहीं रख पाता और अपनी दुर्बलता पर पर्दा डालने के लिए स्त्री की भर्त्सना करता है। **'अल्ला एक नूर उपजाया, ताकी कैसी निन्दा। ता नूर थैं जग कीया, कौन भला, कौन मंदा।।** अथवा **'खालिक खलक, खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई'** का उद्‌घोष करने वाले कबीर को स्त्री को अध्यात्म के क्षेत्र से निष्कासित नहीं करना चाहिए था। यदि ईश्वर ने स्त्री-पुरुष दोनों का निर्माण किया है और वह ही सब घट में समाया हुआ है तब पुरुष कैसे उत्तम हो गया और स्त्री अधम ? परमात्मा की

दृष्टि में दोनों समान हैं । वह पक्षपात नहीं करता। उसकी प्राप्ति का मार्ग स्त्री-पुरुष दोनों के लिए खुला है।

कबीर द्वारा की गई नारी की अनर्गल आलोचना रचना के स्तर पर सांस्कृतिक मूल्यों के व्यापक मानवीय संदर्भ को नहीं रेखांकित करती। सामाजिक मूल्यों पर दृष्टि रखने वाले कबीर स्त्री के समक्ष अन्धता का अनुभव करते हैं। युग-युग से पददलित पराधीन नारी को, उसके व्यक्तित्व को विखंडित करनेवाले कारकों से, स्वतंत्रता दिलाने की आवश्यकता थी। कबीर जैसे निर्भीक अक्खड़-फक्कड़ संत को उसके पक्ष में खड़ा होना चाहिए था, क्योंकि उन्हें किसी का भय नहीं था। वे अपना घर जलाकर और हाथ में लुकाठा लेकर बीच बाजार में आ खड़े हुए थे। परन्तु कबीर ऐसा नहीं कर सके। उनकी नारी-संबंधी उक्तियों की यदि यह कहकर उपेक्षा की जाय कि उन्होंने वैराग्य भाव से प्रेरित होकर वैसा कहा है, तो यह भी कहना होगा कि कबीर सम्पूर्णरूप से क्रांतिकारी नहीं थे और न तो समाज के समग्र परिवर्तन के प्रति प्रतिबद्ध थे।

कबीर यदि रूढ़िवादिता के विरोधी थे, तो उन्हें स्त्री-जाति के विरुद्ध कही जानेवाली असम्मानजनक बातों के विरुद्ध आपत्ति व्यक्त करनी चाहिए थी; परन्तु उन्होंने ऐसा न करके नारी को हेय, निन्दनीय और त्याज्य ठहराया है। उसे माया का साक्षात् स्वरूप माना और उसकी भरपूर भर्त्सना की है। सामाजिक उत्पीड़न और धार्मिक पाखण्ड पर निर्मम प्रहार करनेवाले कबीर नारी को 'अग्नि की ज्वाल' 'दुर्गम घाटी' आदि कहकर समाज को क्या संदेश देना चाहते हैं ? इससे उनका कौन-सा रूप प्रकट होता है ? आज उनके इस संदेश की क्या सार्थकता है ? कबीर अपनी कटूक्तियों से नारी को हमारे सम्मुख जिस रूप में खड़ी करते हैं, क्या वह घृण्य एवं त्याज्य नहीं है ? जिस नारी के अभाव में सृष्टि क्रम का जारी रहना किसी प्रकार संभव नहीं है, उसको कबीर ने जी भरकर गरियाया है। क्या यह किसी भी प्रकार शोभनीय ठहराया जा सकता है ? कबीर विश्वधर्म की परिकल्पना करते हैं, 'साईं के सब जीव हैं' कहते हैं, परन्तु नारी को उस विश्वधर्म की परिधि से बाहर रख कर करते हैं। जातिभेद का विरोध करने वाला संत लिंग-भेद का समर्थन करता है ? कर्मकाण्डों की खुलकर भर्त्सना करनेवाला विद्रोही 'सती प्रथा' जैसी अमानवीय प्रथा का प्रशंसक बन बैठता है। शताब्दियों की संकुचित चित्तवृत्ति से प्रपीड़ित नारी के प्रति समाज को उदार बनाने के बदले उन्होंने उसे और संकुचित चित्त और अनुदार बना दिया।

कबीर ने सती प्रथा जैसी बर्बर प्रथा का समर्थन क्यों किया है ? यह अक्खड़ प्रश्न अक्खड़ विद्रोही के सामने खड़ा होता है। सती प्रथा, जिसमें स्त्री

सोलहों श्रृंगार करके काठ की चिता में बैठकर या बलपूर्वक बैठायी जाने पर तिल तिलकर जल मरती है, का समर्थन करना, उसकी प्रशंसा करना, उसे आदर देना, गौरवान्वित या महिमामण्डित करना कबीर जैसे रूढ़िभंजक व्यक्ति के व्यक्तित्व से बिल्कुल मेल नहीं खाता। सती प्रथा को कीर्तिमण्डित करना प्रकारान्तर से उसे प्रासंगिक और समीचीन बनाना है। कबीर जैसे बागी व्यक्ति को इस नृशंस सामाजिक बुराई के विरुद्ध आवाज उठानी चाहिए थी। उनका यह कार्य सती प्रथा के उन्मूलन के पक्षधरों को इस कुत्सित प्रथा से लड़ने और समाज को इसके दानवी चंगुल से मुक्त कराने की प्रेरणा प्रदान करता। आज भी सती प्रथा जब-तब जहाँ-तहाँ अपना कुरूप सिर उठाती रहती है।

कबीर ने नारी को माया स्वरूप मानकर जब लक्ष्मी, सरस्वती और पार्वती तक को नहीं बख्शा और उनकी पानी पी पीकर निन्दा की, तब उन्होंने 'सती' या 'पतिव्रता' नारी की प्रशंसा कैसे की ? क्यों की ? यह चिन्ता का विषय है। क्या वे सती के रूप में नारी की इसलिए प्रशंसा करते हैं जिससे कि प्रशंसा से फूलकर सारी नारियाँ पतियों के निधन पर उनके शव के साथ स्वयं चितारोहण करके जल मरें और संत-महात्मा एवं साधकों का मार्ग-निष्कंटक हो जाये ? क्या कबीर पतिव्रता नारी की प्रशंसा इसलिए करते हैं जिससे कि वह पुरुष के प्रति एकनिष्ठ प्रेम करे, समर्पण रखे और सदा उसकी इच्छा की वशवर्तिनी बनी रहे? क्या नारी-विरोधी कबीर नारी की प्रशंसा के माध्यम से उसकी स्वतंत्रता का अपहरण कर लेना चाहते हैं ? पति चाहे जैसा हो पत्नी पतिव्रता बनी रहे, यह उनकी इच्छा है। क्या उन्होंने व्याजस्तुति के द्वारा प्रशंसा के बहाने नारी की निन्दा की है ? वे सती की प्रशंसा करते हुए कहते हैं--

बिरहणि थी तौ क्यूं रही, जली न पीव की नालि।
रहु रहु मुगुध गहेलड़ी, प्रेम न लाजूँ मारि ।। (३।३६)

"यदि तू वास्तविक अर्थों में वियोगिनी थी तो जीवित क्यों रह गई ? प्रिय के साथ चिता में ही क्यों न भस्म हो गई ? अपनी सज्जा के कारण प्रिय मिलन में असफलता प्राप्त करा देने वाली मुग्धा ! तू अधिक बात मत बना, बस कर, क्यों व्यर्थ प्रेम को भी लज्जित करती है।"[15]

सती नारी का चिता में जलकर मरना या आत्मदाह करना महात्मा कबीर के लिए एक महान आदर्श है। वे कहते हैं--

अब तौ ऐसी ह्वै पड़ी, मन का रूचित कीन्ह।
मरनै कहा डराइये, हाथि स्यंधौरा लीन्ह।। (४५।१२)

भला जब सती होने वाली स्त्री ने हाथ में सिन्दूर का पात्र ले ही लिया है,

तो उसे मृत्यु का क्या भय दिखलाते हो, वह तो सती होगी ही।

कबीर जल मरने के लिए नारी की पीठ ठोंकते हुए कहते हैं-

सती बिचारी सत किया काठौ सेज बिछाइ।
ले सूती पिव आपणां, चहुँ दिसि अगनि लगाई।। ४५।३४
सती सूरा तन साहि करि, तन मन कीया घांण।
दिया महौला पीव कूँ, तब मड़हट करै बषाँण।। ४५।३५
सती जलन कूँ नीकली, पीव का सुमरि सनेह।
सबद सुनत जीव नीकल्या, भूलि गई सब देह।।४५।३६
सती जलन कूँ नीकली, चित धरि एकबमेख।
तन-मन सौप्या पीव कूँ, तब अंतर रही न रेख।। ४५।३७

अर्थात् सती बेचारी ने काठ की लकड़ियों की सेज बिछाकर सत्य आचरण किया। उस सेज के चारों ओर आग लगा कर वह प्रियतम पति को लेकर सो गई--जलकर राख हो गई। सती नारी और शूरवीर ने अपने पति के लिए स्वयं को सजा-बजाकर आग में जला दिया। उन दोनों ने अपने प्रियतम को इतना महत्त्व दिया तभी तो मरघट भी उनके आत्मबलिदान की प्रशंसा करता है।

अपने पति का स्मरण करके सती नारी चिता में जलने के लिए निकली। शब्द सुनते हुए उसके प्राण निकल गए, उसे अपनी देह का ध्यान ही नहीं रहा।

एकमात्र अपने पिया का ध्यान करके सती नारी जलने के लिए निकली। उसने अपना तन-मन सब प्रियतम को समर्पित कर दिया और जलकर उससे एकाकार हो गई।

कहना न होगा कबीर का उक्त कथन सती प्रथा को जीवित रखने के पक्ष में है जो भारतीय समाज का मानवीय दृष्टि से सोचने पर एक कलंक है।

जिन कबीर का कहना है कि नारी पुरुष की भक्ति, मुक्ति और आत्मज्ञान को नष्ट कर देती है वही कबीर कहते हैं कि सती नारी, संतोषी व्यक्ति और मोह-माया से सावधान जन ये तीन लोग अनहद नाद के महत्त्व से परिचित होते हैं क्योंकि इनका चित्त और मन पूर्णरूप से निर्मल होता है।[16] कैसा अन्तर्विरोध है। कबीर एक ओर नारी को निकृष्ट, भगवत्प्राप्ति में विघ्नस्वरूपा समझते हैं तो दूसरी ओर उसे 'अनहद नाद' सुनने की अधिकारिणी मानते हैं। वे एक स्थान पर कहते हैं कि नारी ने ऋषिवर श्रृंगी को अपने संसर्ग से भृंगी (कीट) बना दिया और तपस्वी पराशर ऋषि को स्त्री ने पतित कर दिया। किन्तु यह विज्ञप्त तथ्य है कि नारी संसर्ग से श्रृंगी और पराशर ऋषि पतित नहीं, पूज्य हुए थे। श्रृंग ने पुत्रेष्टि यज्ञ कराकर राजा दशरथ को राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न जैसे पाप-मोचक

पुत्रों को दिया था और पराशर ने केवट कन्या की कुक्षि से महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास वादरायण को उत्पन्न करके महान लोकोपकार किया था। भारतीय संस्कृति और धर्म के श्रीराम और वेदव्यास ये दोनों ही शलाका पुरुष हैं।

मुझे लगता है कबीर के सामने जब नारी खड़ी होती है अथवा नारी के सामने जब कबीर खड़े होते हैं तब उनका अनगढ़ पुरुष-अहंकार जाग उठता है और वे नारी के समस्त गुणों को भुलाकर उसे 'नरक' की संज्ञा दे देते हैं । परन्तु वही कबीर जब भगवान के सामने खड़े होते हैं तब स्वयं भावुक नारी बन जाते हैं। वे विरहिणी नारी के समान अपने प्रियतम ईश्वर से मिलने के लिए जल विहीन मछली के समान छटपटाते हैं। वे कहते हैं--

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहीं चैन, रात नहीं निंदिया, तलफ तलफ कै भोर किया।।

कबीर चिल्लाकर कहने लगते हैं--

'हरि मोरा पीव, मैं राम की बहुरिया। राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।'

वे बाकायदे राम से व्याह रचाते हैं और 'दुलहिनों' को मंगलचार गाने का निमंत्रण देते हैं--

दुलहिनि गावहु मंगलचार।
हम घरि आये हो राजा राम भरतार।
तन रत करि मैं मन रत करि हूँ, पंचतत्त बराती।
रामदेव मोरै पाहुनैं आये मैं जोबन मैं माती।।

कबीर का सौभाग्य है कि उनके पतिदेव घर में आ गए--

'बहुत दिनन थैं प्रीतम पायें, भाग बड़े घरि बैठे आये।
मंदिर माँहि भयो उजियारा, ले सूतों अपना पीव पियारा।।'

इतना ही नहीं वे परदेशी पति प्रियतम का स्वागत करते हैं, प्रेम-प्रीति में उलझाये रखना चाहते हैं[17], ननद के बीर पति से अपने देश ले चलने का आग्रह करते हैं[18], उन्हें अपना शरीर एक डोली सा प्रतीत होता है[19]। उनके शरीर में प्रिय के प्रेम का 'अनियारातीर' चुभा हुआ है--

राम बान अनियाले तीर, जाहि लागे सो जानै पीर।
एक ही रूप दीसै सब नारी, ना जानौं को पियहि पियारी,
कहै कबीर जा मस्तकि भाग, ना जानूं काहू देइ सुहाग।।

कबीर की आत्मा को नैहर नहीं भाता। वह कहती है--

नैहरवा हमको न भावै
केहि विधि ससुरे जाउँ मोरी सजनी, बिरहा जोर जनावै।

प्रियतम का दर्शन करने के लिए घूँघट पट खोलना होगा–

'घूंघट का पट खोल रे तोहि पीव मिलेंगे।'

कबीर रूपी नारी का दुल्हा रूठ गया है–

चन्दन काठ कै बनल खटोलना, तापर दुलहिनि सूतल हो।
उठ री सखी मोरि माँग सँवारो, दुलहा मोसों रुठल हो।।

इस तरह हम देखते हैं कि ईश्वरोपासना में कबीर पूर्णरूप से प्रेमपरायण पतिव्रता सती नारी दिखाई देते हैं और जीवनगत संदर्भों–दाम्पत्य जीवन के प्रसंगों से नहीं बच सके हैं। उनके पदों में पग-पग पर लौकिक प्रेम की मादकता लहकार मारती है। वे अपनी अति सघन भाव व्यंजना नारी के रूप में ही व्यक्त कर पाते हैं। कबीर-साहित्य में दाम्पत्य प्रेम भावपरक श्रृंगारिक पदों का बाहुल्य है, (यद्यपि उनका मूलस्वर अध्यात्म का ही है) कहीं-कहीं कबीर ने कामुकता को उद्दीप्त करनेवाले पद रच डाले हैं। उदाहरण के लिए निम्नांकित पद द्रष्टव्य है-

बाल्हा आव हमारे गेह रे, तुम्ह बिन दुखिया देह रे।
सबको कहै तुम्हारी नारी, मोकौं इहै अदेह रे।
एक मेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे।।
आन न भावै नींद न आवै, ग्रिह बन धरै न धीर रे।
ज्यूँ कामी को काम पियारा, ज्यूँ प्यासे को नीर रे।। (पद ३०७)

इस संदर्भ में 'कबीर : साधना और साहित्य' के लेखक डा० प्रताप सिंह चौहान का कहना है कि 'कबीर ने श्रृंगारिक अथवा कामशास्त्रीय प्रसंग (संभोग-प्रक्रिया) को आत्मा-परमात्मा के एकत्व के लिए उद्भावित किया है; बिना इस प्रसंग का आश्रय लिए वे अभीष्ट एकता की स्थापना करने में सर्वदा अक्षम थे। (पृ० ३३१)

मेरे विचार में कबीर की अभुक्त कामवासना जो ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा दमित हो गई थी, वही स्त्री-पुरुष के रूपक के रूप में अध्यात्म के झीने आवरण में प्रकट हुई। इच्छाएँ कभी नहीं मरतीं, अपितु दमित होकर अवचेतन मन में चली जाती हैं और समयानुकूल सुअवसर पाकर छद्मवेश में प्रकट होती हैं। कबीर के साथ भी कुछ ऐसा ही घटित हुआ प्रतीत होता है। स्वयं कबीर ने एक मार्के की बात कही है–

''गावन ही में रोज है, रोवन ही मैं राग।
इक बैरागी ग्रह करै, एक गृही बैराग।।

जैसे गाने में रोना और रोने में राग (गाना) छिपा होता है वैसे ही वैरागी के मन में आसक्ति अथवा कामवासनाएँ छिपी रहती हैं और गृही के मन में विरक्ति छिपी रहती है।

''सेजैं रमत नैन नहिं पेखउं, यह दुख कासौं कहौं रे'' में कबीर की अमुक्त-काम-पिपासा की पीड़ा परिलक्षित होती है।

जाहिर है, यह कहना कि 'कबीर' ने अपने युग की भयंकर कामवासना का डटकर सामना करने के लिए नारी निन्दा को जरूरी समझा बिल्कुल तथ्यहीन कुतर्क है। इसी तरह यह कहना गलत है कि साधक और समाज के सामान्य व्यक्तियों को चरित्रभ्रष्टता से बचाने के लिए नारी का तिरस्कार करना आवश्यक था। विज्ञप्त तथ्य है कि महात्मा तुलसी दास को भगवद्भक्ति की ओर उनकी पत्नी ने मोड़ा था। वस्तुतः पुरुषों को कामवासना से बचाने के लिए नारी की निन्दा न करके 'कामवासना' और 'विषयानुरक्ति' की निन्दा आवश्यक थी। क्या आज पुरुषों में कामवासना कम है ? क्या कामवासना पर अंकुश लगाने के लिए नारी-निन्दा की जानी चाहिए ? और क्या आज ऐसा कर सकना संभव है? आधुनिक काल में क्या महर्षि अरविन्द के साथ 'श्री माँ', रामकृष्ण परमहंस के साथ शारदा माता एवं स्वामी विवेकानन्द के साथ भगिनी निवेदिता नहीं रहीं ? क्या इन नारियों के संसर्ग-संपर्क से वे महापुरुष चरित्र-भ्रष्ट हुए थे ? आनन्दमयी माँ नारी थीं, परन्तु उनका अपने समाज में पुरुष और नारी दोनों वर्ग पर विस्मयकारी प्रभाव था। उन्होंने क्या किसी पुरुष को कभी चरित्र-भ्रष्ट किया ?

कहा जाता है कि कबीर ने जहाँ एक ओर नारी की निन्दा की है, वहीं दूसरी ओर सती और पतिव्रता नारी की दिल खोल कर प्रशंसा भी की है। दर असल सती नारी का आदर्श स्त्री को सर्वदा के लिए पुरुष की दासी बनाये रखने की एक सुनियोजित चाल थी। अन्यथा कलेजा निकालकर खानेवाली नारी की प्रशंसा कबीर क्यों करते ?[20] अतः यह कहना कबीर के प्रति अन्याय नहीं होगा कि नारी की निन्दा सबसे बड़ा मानवतावादी माने जानेवाले कबीर के[21] व्यक्तित्व पर लगा वह बदनुमा दाग है जो आधुनिक युग में प्राप्त सारे साबुनों को घिस देने पर भी नहीं मिट सकेगा। ●

संदर्भ संकेत

१. भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य : मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन।
२. सुंदरि थै सूली भली, बिरला बचै कोय।
लोह निहाला अगिनि मैं, जलि बलि कोइला होय।। (२०।१६)
३. कामिणि काली नागणी, तीन्यूलोक मझारि।
राम सनेही ऊबरे, बिषई खाये झारि।। (२०।१)
४. कांमणि मीनी पाँडि की, जे छेड़ी तौ खाइ। (२०।२)
५. रज बीरज की कली, तापरि साज्या रूप।
राम नाम बिन बूड़िहै, कनक कॉमिणी कूप।। (१६।१९)

६. नारी सेतीं नेह, बुधि बिवेक सब ही हरै।
काँइ गमावै देह, कारिज कोई नां सरै ।। (२०।८)
७. एक कनक अरु कांमनी, दोऊ अगनि की झाल।
देखे ही तन प्रजलै, परस्यौं हवै पैमाल । (क. ग्र. २०।१२)
८. कांमणि अंग बिरकत भया, रत भया हरि नांइ।
साषी गोरखनाथ ज्यूं, अमर भये कलि मांहि ।। (क. ग्र. २९।१२)
९. जहाँ जलाई सुन्दरी तहाँ तू जिनि जाइ कबीर।
भस्मी हवै करि जासिसी, सो मैं सबाँ सरीर।। (क. ग्र. २०।४ख-५)
१०. कबीर ग्रंथावली २०-४ ख ६
११. कबीर ग्रंथावली ३७-४ ख ६
१२. कबीर ग्रंथावली २०।९
१३. विशाल भारत / अक्टू १९४२/पृ० २८७
१४. वही (विशाल भारत)
१५. कबीर ग्रंथावली सटीक : प्रो० पुष्पपाल सिंह, पृ० १०१
१६. सती संतोषी सावधान, सबद भेद सुविचार।
सतगुरु के परसाद थैं, सहज शील मत सार।४०।२
१७. चरन लगी करौं सेवकाई, प्रेमप्रीति राखैं उरझाई।।
१८. अब मोहि ले चल नणद के बीर, अपनै देसां।
१९. सांई मेरे साजिदई एक डोली
२०. साँप - बिच्छू का मंत्र है, माहुर हू झारा जाय।
बिकट नारि के पाले परे, काढ़ि कलेजा खाय।। कबीर।।
२१. द्रष्टव्य - हिन्दी साहित्य में कबीर से बड़ा मानवतावादी कोई नहीं हुआ। - पारसनाथ तिवारी - कबीर वाणी संग्रह

संत कबीर और बौद्ध धर्म : एक अन्तर्यात्रा

डॉ० वसुंधरा मिश्र

कबीर मध्यकालीन संत परम्परा के प्रमुख संतों में थे, जिन्होंने बौद्ध सिद्धों और नाथ सिद्धों की पुरानी पद-रचना को अपनाया। संत-संप्रदाय का विकास सिद्ध-संप्रदाय, नाथ-पंथ, सूफी आदि के साथ मुल्लाओं, मौलवियों, पंडितों सभी की विचारधाराओं से उपयोगी तत्त्वों को लेकर हुआ। संतों ने जाति, वर्ण, बाह्याडंबर, कर्मकाण्ड का विरोध किया और निर्गुण उपासना पर बल दिया। भक्तिकाल के पूर्व साहित्य के विभिन्न रूप मिलते हैं--सिद्ध-काव्य, नाथ-काव्य, जैन-काव्य, रासो-काव्य, कृष्ण-काव्य और राम-काव्य। भरतसिंह का विचार है कि संत-साधना वस्तुतः बौद्ध धर्म का ही भग्न रूप है। मध्यकालीन संत बौद्धों के ठीक उत्तराधिकारी हैं। निर्गुण धारा के संतों पर बौद्ध साधना का विशेष प्रभाव था। विद्वानों का विचार है कि ऋग्वेदकालीन धारा लोकभाषा का माध्यम ग्रहण कर बौद्ध साहित्य में आई। उसी की अविच्छिन्न धारा अपभ्रंश काव्य से प्रभावित रही। संत-काव्य इसी परंपरा की परिणति है। कबीर ने चौरासी सिद्धों का उल्लेख अपनी रचनाओं में किया है। कबीर के समय सिद्धों और नाथों का युग समाप्त हो चुका था। वैष्णवों ने भगवान् बुद्ध को एक अवतार मान लिया था। पूर्ववर्ती सन्तों ने शिव, हरि, कृष्ण और राम को उपास्य मानते हुए अप्रत्यक्ष रूप से बुद्ध को भी अलख-निरंजन, शून्य, अन्तर्यामी, सिद्धिपथ, निर्वाण, उद्धारक आदि रूपों में माना है। संतों में उलटवासी या विपर्यय का प्रयोग गूढ़ अर्थों में मिलता है, जो पहले सिद्धों की संध्या भाषा में हुआ था। इनकी भाषा भी जनसाधारण की भाषा है। इस आधार पर परशुराम चतुर्वेदी ने उसे जनकाव्य कहा। संतों की साखियां सिद्धों के दोहों के समान तथा बानियाँ एवं सबदी चर्यागीतियों के समान हैं। कथन शैली बौद्ध धर्मानुयायी। सिद्ध कवियों के फुटकर पद्य, दोहे तथा चर्यापदों के विवेचन के अनुकूल है। बौद्ध सिद्धों की

वैचारिक सम्पत्ति नाथ सिद्धों के माध्यम से आयी। सत्संग, भूत, दया, समदृष्टि इत्यादि बौद्ध विचार सिद्धों के माध्यम से जीवित रहे जिसे अप्रत्यक्ष रूप से कबीर साहब ने ग्रहण किया। कबीर साहब पर बौद्ध धर्म के प्रभाव के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं।

प्रभाव के लिए कोई बाह्य साक्ष्य उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर कहा जाय कि सन्त कबीर का बौद्धों से कभी कोई सम्पर्क हुआ। हम कबीर साहब एवं बौद्ध धर्म का अध्ययन समानता के आधार पर कर रहे हैं। कबीर का कार्यक्षेत्र निम्नवर्ग था। फलतः उन्हें सिद्धों की स्वीकृत शब्दावली अपनानी पड़ी। कबीर हठयोग की भाषा के उपयोग के लिए नाथ-पंथियों के माध्यम से बौद्धतंत्र साधना के ऋणी हैं, जिसका उन्हें स्वयं पता न था।

भगवान् बुद्ध ने तत्कालीन परिवेश को देखते हुए शील, सदाचार तथा वैयक्तिक निर्वाण पर अत्यधिक जोर दिया था। प्रारंभिक बौद्ध धर्म में बुद्ध की शिक्षा और दर्शन को यथावत् रखने की कोशिश की गई थी, लेकिन मतों में भेद होने के कारण बौद्ध दर्शन में कई परिवर्तन आये। बुद्ध द्वारा उपदिष्ट अव्याकृत के आधार पर महायान एवं सिद्धों में रहस्यवाद का विकास माना जाता है तथा कहा जाता है कि बुद्ध के पास एक गुह्य उपदेश था जिसे उन्होंने चुने हुए शिष्यों को दिया। बौद्ध धर्म के मुख्य संप्रदायों में हीनयान, महायान एवं वज्रयान में आये कुछ प्रमुख तथ्यों को लेंगें जो कबीर के विचारों के साथ समानता का भाव रखते हैं।

अनित्यता :- भगवान् बुद्ध का प्रमुख सिद्धांत 'अनित्य दुख अनात्म' है। भगवान् बुद्ध ने सभी संस्कारों को नाशवान होने के कारण अनित्य कहा था। शरीर की वास्तविकता का परिचय कराते हुए उसके आन्तरिक विकारों की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। सद्गुरु कबीर ने स्वयं अनुभव की बात कही है। भगवान् बुद्ध ने भी यही बात कही है –

यं गया सामं दिट्ठं तमहं वदामि। –मज्झिम निकाय

कबीर साहब के इस दोहे में अनित्यता की स्पष्ट झांकी मिलती है। उन्होंने शरीर को मिट्टी के घड़ों के समान नश्वर बतलाया है :–

यह तन काचा कुंभ है, लिया फिरै था साथि।
ठपका लागा फुटि गया, कछु न आया हाथि। –क. वा. ३, पृ० ११५

संसार को जल के बुदबुदे के समान कहा है।

यहु तन जल का बुदबुदा, बिनसत नहीं बार –क. वाङ्मय, पृ० १३

मृत्यु हमारे केश पकड़े हुए है। 'काल गहे कर केस' शरीर हाड़, चाम, माँस का पुतला है, जो नश्वर है। तखत बना हाड़ चाम काली इत्यादि उदाहरण

अनित्यता को दर्शाते हैं।

तृष्णा :- संसार को दुःखमय बताते हुए भगवान् बुद्ध ने तृष्णा को सभी दुःखों का कारण कहा था। इसके कारण ही प्राणी जन्म-मरण के चक्र में पड़ते हैं। तृष्णा के निरोध से दुःख समूह रुक जाते हैं।

दुनिया भाँड़ा दुःख का, भरी मुँहा मुहभूष कबीर साहब ने भूख और तृष्णा को दुख का कारण कहा है। संत कबीर ने इसी शरीर में काम, क्रोध, मद, लोभ आदि चारों की स्थिति बताई है तथा उनसे सावधान रहने को कहा है –

जागि रे जीव जागि रे।
चोरन कौ डर बहुत कहत हैं, उठि उठि पहनै लागि रे।

अव्याकृत एवं मौनावलम्बन :- भगवान बुद्ध ने कई अनुपयोगी बातों को बिना विचार किये ही छोड़ दिया था, जिन्हें अवर्णनीय बताया है। इस संदर्भ में मूल भेद यह है कि कबीर ने अगम्य होने के कारण अवर्णनीय बतलाया है जैसे आकाश में उड़ने वाले पक्षी का मार्ग। भगवान् बुद्ध ने अव्याकृत को बालू की रेत की गणना के समान बताया है। कबीर ने परमतत्त्व के वर्णन में अपनी अक्षमता व्यक्त की है। इन्हीं बातों को भगवान बुद्ध ने अनुपयोगी और असार बताया है।

पुरुषार्थ :- कबीर साहब ने 'कथनी' पर ही विश्वास किया –

'कथनी कथी तो क्या भया, जो करनी ना ठहराई।'' यही बात भगवान् बुद्ध ने कही थी। जब तक मनुष्य आचरण नहीं करेगा, तब तक फल की प्राप्ति नहीं होगी। भगवान् बुद्ध ने अपने को मात्र मार्गद्रष्टा कहा।

कबीर ने बाह्याडंबरों का खंडन किया है। बुद्ध ने पूजा-पाठ का निषेध किया था और पर्वत, वन, उद्यान, वृक्ष, चैत्य आदि को देवता मानकर उनकी शरण में जाना भय का कारण बताया था, जिसमें दुःख से छुटकारा नहीं मिलता –

बहु वे सरणं यन्ति पब्बतानि वनानि च।
आराम करव्वं चेत्यानि मनुष्सा मयतज्जिता ।। ४४।। (धम्मपद)
नेतं रवो सरणं खेमं नेतं सरणमुत्तमं।
नेतं सरणागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ।।८१।।'' (धम्मपद)

कबीर मोतियों की माला फेरना व्यर्थ बताते हैं। मन की माला को समझने पर बल देते हैं –

माला फेरत जुग भया, फिरा न मन का फेर।
कर का मनका डारि दे, मन का मनका फेर।।

विवेक के बिना वेश-आडम्बर व्यर्थ बताते हैं।

बैर न भया तो क्या भया बूझा नहीं विवेक। –क. ग्र. पृ. ४६

भगवान् बुद्ध ने भी यही कहा है कि जो मन की रक्षा करता है वह स्वयं अपना स्वामी है। मन तीव्रगामी और चंचल होता है –

फन्दनं चपलं चित्तं दुक्खं दुन्निवारयं।
उजुं करोति मेधावी उसुकारो व तेजनं।। –धम्मपद, ३३

दमन किया हुआ मन सुखदायक होता है –

मनो पुब्बङ्गमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततो नं दुख्खमन्वेति चक्कै व वहतो पदं।। – धम्मपद, १

कबीर और बुद्ध दोनों ही बाह्य आडंबरों में फँसना व्यर्थ बताते हैं। कबीर ने पत्थर की पूजा को व्यर्थ बताया है। वे तो कहते हैं कि अगर पत्थर पूजने से ही हरि मिल जाते तो वे पूरा पहाड़ ही पूजते–

पाहन पूजे हरि मिले, तो मैं पूजौं पहार।
तातैं ये चाकी भली, पीसि खाय संसार।। –संत बानी संग्रह, भाग १

वेदादि ग्रंथों की प्रामाणिकता भगवान् बुद्ध ने भी नहीं मानी है। कबीर भी ग्रंथ, पाठ, जप, तप, स्नान-शुद्धि आदि को व्यर्थ बताते हैं और ग्रंथों को जल में बहा देने को कहते हैं।

वेद कतेब की गम्म नाहि।
कबीर पढ़िबा दूरि करि पुस्तक देइ बहाइ।

बौद्ध-ग्रंथ 'प्रमाण-वार्त्तिक में वेद प्रमाण को मानना, नहाने में धर्म का ख्याल रखना, जातिवाद मानना, पाप दूर करने के लिए शरीर को कष्ट देना मूर्खता कहा गया है--

वेद प्रामाण्यकस्याचित् कर्तृवादः, स्नाने धर्मेच्छा
जातिवादावलेपः। संतापारम्भ पापहानाय चेति,
ध्वस्त प्रज्ञानां पन्चलिंगनि जाख्ये। –प्रमाणवार्त्तिक, १/३४२

भगवान् बुद्ध ने स्पष्ट कहा है कि उनका धर्मोपदेश बेड़े की भाँति निस्तार पाने के लिए है, पकड़ने के लिए नहीं।

महायानी ग्रंथों में स्पष्ट कहा गया है कि भिक्षु लोग बुद्ध के वचन उपयोगी जान लेने के पश्चात् ही परीक्षा कर ही ग्रहण करें, बुद्ध के गौरव के कारण नहीं। स्वर्णकार जिस तरह तपा कर सोने की परीक्षा करता है, उसी तरह उनकी शिक्षा को ग्रहण करें।

भगवान् बुद्ध और कबीर दोनों ने ही समाज में व्याप्त वर्णव्यवस्था का विरोध किया है। बुद्ध जन्म से किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र न मानकर, उसके

कर्मों के आधार पर मानते है --

न जच्चा बसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणे।

कम्चुना बसलो होति कुम्ना होति ब्राह्मणो। -सुत्त निपात, बसल सुत्त,२१-२३

ज्ञान के आधार पर व्यक्ति का वर्ण निर्धारित करते हैं--

जाति न पुच्छि चरणं पुच्छ

भगवान् बुद्ध ने जातिवाद का खुला विरोध किया था और स्पष्ट कहा था कि वे किसी की माता की योनि से उत्पन्न होने के आधार पर ब्राह्मण होना नहीं मानते, क्योंकि ब्राह्मण स्त्रियां भी दूसरों की ही तरह ऋतुमती, गर्भिणी होती हैं, प्रसव करती हैं, दूध पिलाती हैं और योनि से उत्पन्न होती हैं।

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्ति सम्भवं।

भो वादि नाम सो होति स चे होति स किञ्चनो।

अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणः

धर्म विनय में कोई जाति या गोत्र के भेद को स्वीकार नहीं किया गया है। सभी को श्रमण कहा गया है।

कबीर ने भी जाति को प्रमुखता न देकर ज्ञान को प्रमुखता दी है--

जाति न पूछो साधु की पूछि लीजिए ज्ञान। -कबीर, पृ. ३२४

कबीर ने जनता के पथ-प्रदर्शक बने ब्राह्मण को पतन का कारण माना है।

नारी-विचार :-- भगवान् बुद्ध नारी का कल्याण चाहते थे, लेकिन संघ में उनके प्रवेश से व्यभिचार के प्रति भी सचेष्ट थे। इसलिए उन्होंने उनके लिए विभिन्न नियमों का प्रतिपादन किया। भगवान् बुद्ध ने स्त्री को ब्रह्मचर्य का मल कहा है। (क. वा. पृ. १७२) सद्गुरु कबीर ने नारी को सर्पिणी से भी भयंकर बतलाया है। इनका कहना है कि नारी की छाया से साँप अंधा हो जाता है, जो नित्य नारी के साथ रहते हैं, उनका क्या हाल होता होगा। नारी पुरुष की भक्ति, मुक्ति और ध्यान को नष्ट करती है।

निर्वाण :-- भगवान् बुद्ध ने निर्वाण की स्थिति के सम्बंध में कहा था कि वहाँ जल, वायु नहीं पहुँचता, शुक्र, तारों, चंद्रमा का प्रकाश नहीं पहुँचता, अंधकार भी नहीं होता। भिक्षु रस सरस और सुख-दुःख से मुक्त हो जाता है। निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है बाण से बाहर निकलना। निर्वाण ऐसी स्थिति है जहाँ सभी तृष्णाओं का अंत हो जाता है। निर्वाण भय से शून्य है। सदगुरु कबीर ने भी ऐसी ही बात कही है। उन्होंने निर्वाण की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि आत्म-अनुभव होने से हर्ष विषाद आदि द्वन्द्व मिट जाते हैं तब यह स्थिति आती है, दीपक के सदृश शांत हो जाते हैं। (क. वा. ३६)।

''चित्त दीप सम ह्वै रह्यौ तजि करि वाद-विवाद।''

निर्वाण की अवस्था के सम्बंध में कबीर ने कहा है कि वह न खाली है, न भरी। इसी जीवन काल में समाधि के रूप में निर्वाण प्राप्ति का वर्णन है--

भरो होई सो रीत, रीतो होय भराय।
रीता भरे न पाइए अनुभव सोइ कराय।

निर्वाण में जरा-मरण, शोक आदि नहीं रहते।

महायानी त्रिकायवाद की झलक हमें सद्गुरु कबीर के साहित्य में मिलती है। महायानियों ने बुद्ध की धर्मकाय, निर्माणकाय और संभोगकाय के रूप में कल्पना की है। बुद्ध का यह अवतारी रूप माना गया है। त्रिकाय महायान संप्रदाय का मुख्य सिद्धांत है। भगवान् बुद्ध के प्रति श्रद्धा ने उनके मानवीय रूप को बदल दिया। धर्मकाय बुद्ध के निर्माण करने वाले समस्त धर्मों से बना हुआ शरीर तथा परमार्थ से सम्बंधित है। धर्मकाय में बुद्ध को एक कहा गया है और अनेकत्व का निषेध किया गया है।

कबीर परमात्मा को असीम, अनंत और अपरिमित मानते हैं।

आदि मधि अरूजन्तलौ, अविहड सदा अमंग।
कबीर उस रकता की, सेवक तजै न संग।

कबीर परमात्मा को घट-व्यापक मानते हैं और उनमें द्विविधा नहीं मानते हैं-

साधो एक रूप सब माहीं।
अपने मन ही विचार कै देख अरू दूसरे नाहीं।

धर्मकाय न चित्त रूप है, न रूपमय है, फिर भी उभयात्मक है। कबीर ने कहा कि राम का नाम लेकर दाशरथी रामचन्द्र ने दृष्टिलाभ किया था। धर्मकाय, निर्माणकाय और संभोगकाय की आधार भूमि है। कबीर ने सोहं, हंसा को सबमें विद्यमान माना है, जो भेद काया के कारण दिखाई देता है, जैसे मिट्टी के सैकड़ों बर्तन।

सोहं हंसा एक समान, काया के गुण आनहिं आन।
माटी एक सकल संसारा, बहु विधि भाँड़े घड़े कुंभारा।।

धर्मकाय लौकिक महापुरुषों के लक्षणों से रहित है। अलख-निरंजन को कोई नहीं देखता--

अलख-निरंजन लखै न कोई निरमै निराकार है सोई।

वह सिर्फ अनुभव से जाना जा सकता है। धर्मकाय भी अनिवेद्य और अनिर्वचनीय है।

निर्माणकाय भगवान् बुद्ध दूसरों के उपकार के लिए धारण करते हैं। शरीर

के द्वारा दान, शील, ध्यान, समाधि, चित्त, प्रज्ञा, ज्ञान, स्कन्ध आदि का अभ्यास करते हैं। कबीर संसार में संदेश लाये हैं और शब्द-साधना द्वारा मनुष्य सत्य लोक पहुँच सकता है।

दास कबीर ले आये संदेसवा। सार शब्द गहि चलो वहि देसवा।

एक अन्य स्थल पर कबीर शरीर धारण करके लोगों को साखियों के सहारे उपदेश देकर उद्धार करते हैं--

साईं यहै विचारिया साखी कहै कबीर।
भवसागर के मध्य में कोई पकड़े तीर। --क. ग्रं.

निर्माणकाय की तुलना अवतार-विग्रह से की गई है। संभोगकाय बोधिसत्त्वों का सूक्ष्म शरीर है। बौद्धों ने उसे बुद्ध का वह रूप माना है जो तुषित लोक में प्रतिष्ठित रहता है। कबीर साहब ने हंस तथा देव रूप की कल्पना की है, जो बौद्धों के संभोगकाय से मिलता है।

माया :- जीवन में माया का प्रभाव सर्वव्यापी है। मनुष्य माया से इस प्रकार घिरा है कि त्यागने की इच्छा करने पर भी वह टूटती नहीं है। जप, तप, भोग आदि का दिखावा भी माया के कारण होता है। जल, थल, आकाश आदि माया के परिणाम हैं। स्त्री-पुत्र माया के अतिशय रूप हैं--

माया के दुई रूप हैं सत्य मिथ्या संसार।

x x x x x x

माया जप तप माया जोग, माया बाँधे सबही लोग। --क. ग्रं.

संत कबीर ने माया का त्रिगुणात्मक वर्णन किया है। संसार की जितनी आकर्षक और मोह में आबद्ध करने वाली वस्तुएँ हैं, सब माया हैं। कबीर तो कहते ही हैं-- "माया महाठगिनी हम जानी"। माया को त्रिगुणात्मक सत्त्व, रजस्, तमस् तीनों गुणों से युक्त माना है।

बौद्ध धर्म में दो सत्यों संवृत्ति सत्य तथा पारमार्थिक सत्य की कल्पना की गई है। सद्गुरु कबीर ने संसार को व्यवहारिक सत्य कहते हुए परमार्थ रूप से उसे मिथ्या कहा है, जो माया रूप है।

शून्य :- कबीर साहब में बौद्ध सिद्धों के प्रति एक घोर उपेक्षा का भाव मिलता है, दूसरी ओर विविध प्रसंगों में प्रभाव और समानता भी दिखाई देती है। वज्रयान में सिद्धों में भगवान् बुद्ध को वज्रसत्व की उपमा दी गई और सिद्धान्त भी बदल गये। यहाँ परमतत्त्व की प्राप्ति को महासुख कहा गया।

सद्गुरु कबीर ने शून्य को परमतत्त्व के रूप में ग्रहण किया है। शून्य को अलख-निरंजन तथा शून्यत्व माना है। शून्य में समाधि लगाई है। शून्य में जल,

पृथ्वी, आकाश नहीं है तथा तन, मन या आत्मीयता भी शुद्ध शून्य ही है। उसे ऊपर, नीचे, बाहर, भीतर नहीं बतलाया जा सकता, उसे समुद्र के रूपक द्वारा समझाया है—

उदक समुंद सलिल की सखिया नदी तरंग समावहिगे।
सुनहि सुनु मिलिआ रामदरस सीपवन रूप होई जाप हिजे।

—संत कबीर

कबीर के अनुसार साधक षट्चक्र का भेदन कर सहस्रार चक्र में पहुँचता है जहाँ अनहद नाद सुनाई पड़ता है। इस शून्य का आनन्द कबीर के लिए सिद्धों के महासुख के समान है, जहाँ द्वैत का नाश हो जाता है। सभी अनुभूतियाँ, चेतना ब्रह्म में लीन हो जाती हैं। सहज शून्य में निरंजन मन की स्थिति मानी गई है—

सहज सुन्न में कीन्ह ठिकाना, काल निरंजन सबदी ने माना

सहज को आदितत्त्व कहा है जिसमें सब उत्पन्न होते हैं और समा जाते हैं।

सहज की अकथ कथा है निराली —संत कबीर, पृ. ५११

संत कबीर ने शून्य सहज में रामरस पाने का अनुभव किया है। सहज को आदितत्त्व बतलाते हुए कबीर ने कहा है जिसमें सब उत्पन्न होते है और समा जाते हैं। सहज को ब्रह्म की संज्ञा दी है। ब्रह्मा में पाँच तत्त्व बतलाये हैं— स्नेही ब्रह्म, इच्छा ब्रह्म, मूल ब्रह्म और ब्रह्माण्ड। ये तथागत के पाँच ध्यानी बुद्धों की कल्पना से मिलते-जुलते हैं (सिद्ध साहित्य : धर्मवीर भारती : पृष्ठ ३७५) कबीर ने परमतत्त्व की उपलब्धि सहज जीवन पद्धति द्वारा बतलाई है। कहा है कि संसार सहज आत्म तत्त्व को छोड़कर भ्रम छलनाओं के पीछे दौड़ रहा है।

कबीर ने सिद्धों के समान ही कहा है कि मदिरा रस को (ईश्वरीय प्रेम का प्रतीक) कँवल कुँआ में बैठकर प्रेम से पीते हैं। इसी अमीरस को कबीर साहब ने रामरस या राम रसायन नाम दिया है जिसमें भक्ति है।

बिना पियालो अमृत अँचवे नदिय तीर भरि राखे।
कहहिं कबीर सो जुगु जुग जीवै राम सुधारस चाखै।।

कबीर ने संतों की हीन भावना से ऊपर उठकर आत्मविश्वास के साथ रूढ़ियों का खंडन किया। उन्होंने युक्तिपूर्वक पंडितों और मुल्लाओं को फटकारा। इसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने आडंबरपूर्ण धर्म और रूढ़िग्रस्त अंधविश्वास के प्रति अपनी आवाज उठाई थी, जो तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल थी।

हठयोग :— कबीर साहब ने ईश्वर प्राप्ति का साधन हठयोग में माना है। डा० विद्यावती मालविका ने हठयोग के बीज प्रारंभिक बुद्ध वचनों में खोजे हैं और अनापान स्मृति को इसका पूर्व रूप बतलाया है। अनापन स्मृति में काय-संस्कार,

प्रीति, सुख, चित्त, अनित्य, विराग, निरोध प्रतिसर्ग की भावना करते हुए श्वास लेते हैं और छोड़ने को सुख विहार कहा है।

संत कबीर ने हठयोग को स्वीकार किया है जिसमें कहा है कि रे मन, सुषुम्ना नाड़ी में वायु को दृढ़ कर ऐसा गुरु कर कि फिर कोई गुरु न करना पड़े। गंगा (इड़ा नाड़ी) को उलट कर जमुना (पिंगला नाड़ी) में मिला दें और बिना संगम जल के तू मन ही मन में स्नान कर। यह सांसारिक प्रपंच नरक के समान है-

उल्टी गंगा जमुन बिलावउ। बिनु जल संगम मन माहिं बिउहारा
ततु बिचारी किआ अवरि बिचारा। --संत कबीर, पृ. २०

आगे चलकर कबीर साहब ने हठयोग की काफी निन्दा की। उन्होंने कनफटे योगियों की एक एक क्रियाओं को फटकारा--

अवधू जोगी जग थैं न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न खंडे धारा।
बसै गगन में दुनी न देखे चेतनि चौकी बैठा,
चढ़ि अकास आसण नहीं छाड़े पीवे महारस मीठा। --कबीर, पृ. २४

भगवान् बुद्ध ने अपने को शास्ता कहा तथा धर्म को मानने का आदेश दिया था। साथ ही गुरु एवं शिष्य दोनों के कर्त्तव्य निर्धारित किये थे। डॉ० धर्मवीर भारती ने माना है कि सन्तों का गुरु न तांत्रिक है और न वज्रयानी । वह ऐसा गुरु है जिसमें शब्द-सुख योग और भक्तियोग इन दोनों की साधना की है। (सिद्ध साहित्य, पृ. ३८७) कबीर के लिएगुरु निर्देशक, रूपक, परीक्षक और तारक होता है। गुरु का स्थान गोविंद से ऊँचा है--

गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दियो बताय।।

अनाड़ी गुरु का निषेध किया है--

जाका गुरु भी अन्धला चेला खरा निरन्ध।
अन्धे अन्धा ठेलिया दून्यूं कूप पड़न्त।। --क. ग्रं., पृ. २

महायान में गुरु का महत्त्व बढ़ गया था। इसी तरह कबीर की साखियों में प्रतीकों का प्रयोग मिलता है। भगवान् बुद्ध ने भी प्रतीकों का प्रयोग किया है। कबीर ने शरीर के लिए एक पद और इन्द्रियों के लिए पाँच पनिहारिन--

एकै कुवा पाँच पनिहारी, एकै लुंज मरै नौ नारी।
फटि गया कुँवां बिनसि गई बारी, बिलग भई पाँचो पनिहारी
--साखी, पृ. ९३-४

बौद्ध साहित्य, कबीर-साहित्य दोनों में ही उलटवासियों का प्रयोग मिलता

है। कबीर ने योगी और सहजयानियों के पारिभाषिक शब्दों की अपने ढंग से व्याख्या की है। इसका सहज-शून्य षट्चक्र, समाधि, इड़ा, पिंगला आदि सहजयानी योगियों से भिन्न अर्थ रखता था – (बोधिचर्यावतार, पृ. ३७-३८)। यद्यपि कबीर के दोहे तथा पद नाथपंथी या सहजयानी सिद्धों में ज्यों के त्यों मिलते हैं। कबीर ने नाथों का खंडन किया है किन्तु वे उसके ऋणी हैं। कबीर ने अपनी दो रचनाओं में चौरासी सिद्धों की चर्चा की है और उन्हें एक में संशय-ग्रस्त और दूसरी में माया में निरत बताया है। सिद्धों को बबूल की तरह अपने स्वार्थ के लिए शूल फलते हुए कहा है। कबीर ने सिद्धों के सांप्रदायिक सिद्धान्तों की भी आलोचना की है लेकिन उनका अनुकरण भी करते हैं। संत कबीर में सिद्धों के प्रति घोर उपेक्षा के भाव भी मिलते हैं। हिन्दी के कबीर आदि सन्तों को बौद्ध सिद्धों की वैचारिक, साधनात्मक और रचनात्मक सम्पत्ति नाथ सिद्धों के माध्यम से मिली। यह संतों में सारग्राहिता की प्रवृत्ति के कारण है। डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने कबीर और बौद्धों का अन्तर बताया है। कबीर की आत्मा अथवा दुलही रूप आत्मा अपने प्रिय से मिलने के लिए व्याकुल है जबकि बौद्धों में चित्त उपायपक्षीय बोधि अथवा प्रज्ञा प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है। (नाथ और संत साहित्य, पृ. १९)

संत कबीर और भगवान् बुद्ध दोनों ही क्रांतिकारी योद्धा थे, जिन्होंने सामाजिक बुराइयों का अन्त किया। ●

कबीर वाणी और गुरुवाणी

डॉ० फुलवंत कौर

कबीर वाणी और गुरुवाणी पर विचार करते हुए मेरे सामने जो बिम्ब उभरता है, वह है एक तरफ भग्न, जर्जर, किन्तु रूढ़िवादियों से पोषित इमारत को कठोर प्रहार से तोड़ने का और दूसरी तरफ मलबे के स्थान पर नवीन मानवीय मूल्यों, स्वस्थ परम्पराओं और अन्तर्दृष्टि सम्पन्न नयी इमारत को खड़ा करने का। तोड़ने का कार्य कबीर ने सर्वाधिक और सर्वप्रथम किया। निर्गुण परम्परा के अग्रज होने का धर्म निभाते हुए पुराने को ढाने का कार्य बड़ी त्वरा और निर्ममता से किया और नव-निर्माण का आरम्भ भी। उनके बाद गुरु परम्परा में शायद इसी कारण ऐसी तीक्ष्णता, कटुता भरे निर्मम प्रहार की आवश्यकता नहीं हुई, यद्यपि पुरातनता का, रूढ़ि और रूढ़िवादिता का विरोध वहाँ भी है किन्तु नये भवन-निर्माण का कार्य अधिक त्वरा से हुआ है और उसे अंतिम रूप भी दिया गया है। इस क्रम में मुझे गुरुवाणी में कबीर का सपना ही आकार लेता दीखता है। उन्हीं के मत का विस्तार और विकास जान पड़ता है। यदि मेरी इस बात से किसी की बद्धमूल धारणा को आघात लगा हो तो क्षमाप्रार्थी हूँ, किन्तु मैंने कबीर को जितना पढ़ा और जाना है और गुरुवाणी पर जितना विचार किया है उससे मेरा यही बिम्ब आकार पाता गया है। प्रसंगवश स्पष्ट करना आवश्यक है कि सैद्धांतिक रूप से कबीर वाणी और गुरुवाणी कहकर जिसे अलग रेखांकित किया जाता है, उसे व्यावहारिक रूप से गुरु परम्परा (सिख परम्परा) में एक ही नाम 'गुरुवाणी' कहकर समादृत किया जाता है, अर्थात् वहाँ भक्त फरीद और रामानन्द, कबीर और गुरु नानक किसी को भी गुरु परम्परा से अलग नहीं किया गया। मूलतः और तत्त्वतः गुरु ग्रंथ साहिब (आदि ग्रंथ) में सम्मिलित सारी वाणी गुरु की वाणी है और उन समग्र वाणियों का संकलित रूप आदि ग्रंथ ही गुरु है।

कबीर वाणी के रूप में मेरे अध्ययन का आधार यहाँ गुरु ग्रंथ साहिब में दर्ज

की गई उनकी वाणी है जिसे हिन्दी के विद्वान भी उनकी एकमात्र प्रामाणिक वाणी न मानें तो भी प्रामाणिक वाणी तो मानते ही हैं। इस संदर्भ में डॉ० रामकुमार वर्मा का मत ध्यातव्य है। अपनी पुस्तक 'संत कबीर' की 'प्रस्तावना' में वे लिखते हैं--

"मैंने 'संत कबीर' का सम्पादन श्री गुरु ग्रंथ साहब के पाठ के अनुसार ही बड़ी सावधानी से किया है। इसमें कबीर का काव्य पाठ्य भाग और संख्या की दृष्टि से ठीक-ठीक प्रस्तुत किया गया है। अतः कबीर की काव्य संबंधी सभी सामग्री को देखते हुए 'संत कबीर' के पाठ को अधिक से अधिक प्रामाणिक समझना चाहिए ।[1]

कबीर तथा गुरु नानक या पूरी गुरु-परम्परा के समय में परिमाणात्मक अन्तर चाहे आया हो, प्रवृत्यात्मक अन्तर नहीं के समान था। यह राजनीतिक उथल-पुथल और संक्रांति का काल था। हिन्दू राज्य प्रायः नष्ट हो चुके थे। मुसलमानों में सुल्तान होने के लिए आभिजात्य आवश्यक नहीं था। तुर्कों और अफ़गानों में उत्तराधिकार की समस्या का एकमात्र निर्णायक युद्ध ही होता था। सामान्य जनता में राजनीतिक चेतना का अभाव था। राजसत्ता के परिवर्तन से उसकी आर्थिक, सामाजिक स्थिति में कोई मौलिक परिवर्तन संभव नहीं था। इसलिए उसकी उदासीनता स्वाभाविक थी। सामाजिक, धार्मिक क्षेत्र में भी अस्थिरता, अराजकता बनी हुई थी। मुसलमानों का आना वर्ण-व्यवस्था के लिए एक तीखी चुनौती था। परस्पर भेद-भाव चरम पर थे। आडम्बर और दिखावे की प्रधानता थी। संन्यास भी एक ढोंग बनकर रह गया था। अपने सामाजिक, पारिवारिक दायित्वों से बचने के लिए संन्यास एक अच्छा बहाना था। इन संतों-साधकों के समक्ष धार्मिक पाखण्ड का पर्दाफाश करने और तर्क संगत, सर्वसम्मत धर्म की स्थापना करने का लक्ष्य प्रधान हो उठा। इसके साथ ही आवश्यकता धार्मिक संरक्षण और आश्रय की भी थी। कबीर वाणी और गुरुवाणी अपने समय की चुनौतियों का सामना करते हुए यथासंभव जन-मानस का मनोबल/ शरीरबल ऊपर उठाने वाली वाणी है। उन्होंने अपने समय को किस सीमा तक आत्मसात् किया, कैसी दूरदर्शी और तलस्पर्शी दृष्टि संवेदना से सृजन किया, इसका प्रमाण आज के संदर्भों में उनकी प्रासंगिकता है।

धार्मिक संकीर्णताओं और अनेकानेक अवतारों की संकीर्ण परिधि में परस्पर काटने वाले समाज के सामने 'निरंजन' और 'करता पुरुष' (ब्रह्म) के रूप में एक ऐसा संकल्प उपस्थित किया जो सब को ग्राह्य हो सके, जो तर्क संगत हो, भेदभाव से रहित हो, समदर्शी हो और उस बिखरे बँटे, डरे हुए समाज को जोड़े,

उन्हें निर्भीकता प्रदान करे। कबीर और गुरुवाणी का परमतत्व निराकार, अनंत और निर्गुण है, इसमें कोई संदेह नहीं। उसे कई नामों से पुकारा गया है राम, गोविन्द, केशव, मुरारि, महादेव, हरि आदि आदि। ये नाम भाषा की सीमा हैं जो लौकिक साधनों का आश्रय लेकर चलती है। ऐसी लौकिक भाषा में आध्यात्मिक सूक्ष्म अनुभूति की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति संभव नहीं है। उस असंभव को संभव बनाने के कारण ही यह नाम वैविध्य है। नामों का चिर परिचित स्वरूप दो कारणों से है, एक तो यह कि वे लोक प्रचलित होने के कारण सहज ग्राह्य थे, उनसे सम्प्रेषण की सुविधा थी। दूसरे, कबीर और गुरु नानक उन नामों से जुड़े भेदभाव, पार्थक्य और पूजाविधि की रूढ़ियों को तोड़ना चाहते थे। वे यह बताना चाहते थे कि ये सारे नाम एक ही अलख, अनन्त, निरंजन के हैं, अतः कोई चाहे किसी मत का हो निरंजन सबका मोक्षदाता है, सबका उद्धारकर्ता है, इसी कारण–

कबीर केसो केसो कूकीअै न सोईअै असार
राति दिवस के कूकने कबहू के सुनै पुकार ।[2]

पर रात-दिवस उस प्रभु को चेतना कैसे है, जबकि सांसारिक/गृहस्थ जीवन का त्याग भी नहीं करना। कबीर सुझाते हैं–

हाथ पाउ करि कामु सभु चीतु निरंजन नालि।[3]

यह दर्शन हमें संसार से विमुख करके निष्क्रिय नहीं बनाता, सांसारिक जीवन से पलायन नहीं सिखाता। यही बात पूरी गुरु परम्परा में सिख दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित है। 'किरत करना' अर्थात् सत्य की राह पर चलते हुए श्रमपूर्वक जीवन जीना ही इस दर्शन का उद्देश्य और संदेश है। प्रवृत्ति मार्ग पर चलते हुए मोक्ष प्राप्त करना गुरुवाणी का इष्ट है। यहां मजदूरी का भी महत्व है। श्रम और सत्यमार्ग से अर्जित धन को ही सद्गति का कारण माना गया है। इस दृष्टिकोण से देखें तो गुरु ग्रंथ साहिब को मानने वाला सामाजिक विधान श्रमिक जागृति भी पैदा करता है। वह आध्यात्मिक तथा अन्य क्षेत्रों में भी 'किरत' करने को ही मान्यता देता है। जपुजी (नानक वाणी) के पाँचवें खंड 'सरम' (श्रम) खंड का संदेश अत्यंत उत्कृष्ट एवं स्पष्ट है कि दैनिक जीवन में उद्यम करते हुए मानव सुख का उपार्जन कर सकता है। 'हथि कार वल, चित्त करतार वल'– एक ओर बहिरेन्द्रियाँ– हाथ पैर आदि सांसारिक श्रम में डूबे हों, किन्तु सूक्ष्म इन्द्रिय अर्थात् मन / चित्त / चेतना 'वाहिगुरु' से, करतार से जुड़ी हो, यही जीवन का लक्ष्य है।

किरत करना और बाँट कर खाना गुरु ग्रंथ साहिब के विशेष सामाजिक मनोरथ हैं जो आर्थिक स्थिति को भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते

हैं। गुरुवाणी प्रत्येक जीव को अपने-अपने कर्म में लीन देखना चाहती है, इसलिए उसकी दृष्टि से हर व्यक्ति भौतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में मजदूर है। नाम-स्मरण करना आध्यात्मिक श्रम है जो भारतीय संस्कृति में धर्म और मुक्ति के आदर्श की ओर इंगित करता है। श्रम और कर्मठता से धनार्जन करना और जीवन के सुख-साधन इकट्ठे करना भौतिक किरत है। जपुजी की अंतिम तुकें हैं-

जिनी नाम धिआ इआ गए मसकत घालि
नानक ते मुख उजले केती छुटी नाल।[4]

अर्थात् हे नानक ! जिन मनुष्यों ने अकाल पुरुष का नाम स्मरण किया है, वे अपना श्रम सार्थक कर गए हैं। अकाल पुरुष के दर पर वे उज्ज्वल मुख वाले हैं और अन्य भी कई जीव उनकी संगति में रह कर माया के बंधनों से मुक्त हो गए हैं। इस पूरे 'सलोक' में संसार को रंगभूमि का रूपक दिया गया है। जिसमें जीवात्मा रूपी खिलाड़ी अपने-अपने खेल खेल रहे हैं। प्रत्येक जीव के खेल का निरीक्षण-परीक्षण बड़ी सूक्ष्मता से किया जा रहा है। जो केवल माया का खेल खेल गए उनमें प्रभु से दूरी बढ़ती गई, पर जिन्होंने नाम-स्मरण का खेल खेला वे अपना श्रम सार्थक कर गए और अन्य कई जीवों को इस उत्तम राह पर डालते हुए स्वयं भी प्रभु की राह में लीन हो गए।

संसार में श्रम का फल अवश्य मिलता है, पर बाद में। काम-अर्थ-धर्म-मोक्ष के रूप में जीव को प्रतिदान स्वीकार करना ही पड़ता है । निष्काम भावना अपना कर भी उसमें कर्म-फल का त्याग करने की सामर्थ्य नहीं है। इसलिए गुरु-वाणी के रचयिताओं ने समस्त श्रमिक श्रेणी (सृष्टि के समस्त जीवों) के लिए दायित्वपूर्ण कर्तव्य पालन, निरंतर श्रम करने और उचित पारिश्रमिक के रूप में प्रवृत्तिमय लगन (प्रभु को पाने की लगन) को महत्व दिया है। यही उनकी आचार संहिता है, जिसका उल्लेख बीज रूप में कबीर अपनी उपर्युक्त पंक्तियों में कर देते हैं।

कबीर और गुरु परम्परा का निरंजन ज्योति स्वरूप है, एक नूर है, अनन्त प्रकाश है और सृष्टि उसी ज्योति से उत्पन्न है[5] कबीर वाणी में उस परम तत्व का विराट रूप भी चित्रित हुआ है– जहाँ वह निरंजन है, वहाँ करोड़ों सूर्य प्रकाश करते हैं, करोड़ों महादेव अपने कैलाश के साथ वहाँ वर्तमान है, करोड़ों दुर्गाएँ उसकी सेवा करती हैं, करोड़ों ब्रह्मा वेद का उच्चारण करते हैं..... किन्तु फिर भी उस ब्रह्म का अन्त नहीं मिलता[6] कहीं-कहीं उसे विष्णु के विविध अवतारों के रूप में भी उल्लिखित किया गया है, पर साथ ही यह भी कहा है कि यदि सृष्टि के समस्त साधनों का प्रयोग करें तब भी उसके गुणों का लेखन करने में वे साधन अपर्याप्त होंगे, क्योंकि **'खालिक खलक खलक महिं खालिक सबु घट रह्या समाइ।'**[7]

परम तत्व विषयक गुरु नानक की धारणा जपुजी के आरंभ में दिए गए उनके मूल मंत्र से पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है। मूल मंत्र में गुरु परम्परा के उस विराट सत्ता विषयक विचार मंत्र के रूप में, एक सूत्र के रूप में पिरो दिए गए हैं। समस्त गुरु वाणी में उसी मूलतत्व का आख्यान है। गुरु नानक लिखते हैं :

इक ओअंकार सतिनामु करता पुरखु निरभउ,
निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि।[8]

अर्थात् अकाल पुरुष (ब्रह्म) एक है, जिसका नाम सत्य है अर्थात् जो अस्तित्ववान है, जो सबमें व्यापक है, भय से रहित, वैर से रहित है, जिसका स्वरूप काल से परे है। (अर्थात् जिसका शरीर नाश से रहित है) जो योनियों में नहीं आता, जिसका प्रकाश (उद्गम) अपने आप से हुआ है और जो सतिगुरु (सच्चे गुरु) की कृपा से मिलता है।

गुरुवाणी में ब्रह्म को 'वाहिगुरु' भी कहा गया है। वाहिगुरु के गुणों की चर्चा, उसके गुणों की बातें ही शिक्षाप्रद गुरु है और वाहिगुरु स्वयं ही अपनी बातों का दाता है। वाहिगुरु की बातों के उच्चारण में ही अमृततत्व का उच्चारण है :--

बाणी गुरु गुरु है बाणी विचि बाणी अमृत सारे
गुरबाणी कहै सेवकजन मानै परतक्ख गुरु निसतारै।[9]

गुरुवाणी में भी, वेदांत की तरह, मूल सत्य केवल ब्रह्म को ही माना गया है, किन्तु जगत-रचना का मूल कारण माया नहीं, बल्कि ब्रह्म का 'हुकम'या उसकी इच्छा, उसके अन्दर का स्फुरण है जो सृष्टि की रचना के समय ब्रह्म में होता है। उसकी इच्छा ही उसका कर्म है। हम में और अकाल पुरुष में अन्तर है। हमें अपनी इच्छा को कर्म में ढालने के लिए कई साधनों की आवश्यकता होती है, किन्तु अकाल पुरुष की इच्छा ही उसका कर्म है--

हुकमी होवनि अकार। हुकमु न कहिआ जाई
हुकमी होवनि जीअ। हुकमि मिलै वडिआई।[10]

प्रश्न उठता है कि समस्त रचना यदि ब्रह्म की है तो बुराइयाँ कहाँ से आ गईं ? सांख्य दर्शन अविद्या को अनादि मानता है, वेदांत इसे माया का आवरण मानता है। कबीर भी कहते हैं कि सारी सृष्टि का कर्ता एक ईश्वर है, लोग भ्रम में भूलकर इस तथ्य को नहीं पहचानते। यह कर्ता ही उस नूर (प्रकाश/ ज्योति) का सृजनकर्ता है जिससे सारा संसार, सारे मनुष्य, सारी आत्माएं उत्पन्न हुई हैं और जब सभी उससे उत्पन्न हैं तो फिर भला और बुरा किसे कहा जाए ?''[11]

कबीर के अनुसार दोष जीव की उत्पत्ति में नहीं, उस माया में है जो उसे भ्रम में डालती है। मन उसका पति है और अज्ञान उसी माया से उत्पन्न उसका पुत्र है-

जोइ खसम है जाइआ / पूति बाप खेलाइआ
देखहु लोगा कलि को भाउ / सुति मुकलाई अपनी माउ।[12]

अर्थात् माया रूपी स्त्री ने अपने स्वामी अर्थात् अनेक देवी-देवताओं को उत्पन्न किया है। पुत्र अज्ञान ने अपने पिता अर्थात् मन को अनेक प्रकार से खेल खिलाए हैं। हे लोगो ! कलियुग की इस परिस्थिति को देखो कि पुत्र अर्थात् अज्ञान अपनी माता माया को बंधन मुक्त कराकर लाया है, यानि संसार में वापस ले आया है।

कबीर भी यह मानते हैं कि बिना सतगुरु के सही और सच्चा मार्ग अर्थात् ज्ञान का मार्ग प्राप्त नहीं हो सकता।

किन्तु गुरुवाणी के अनुसार संसार की सारी बुराइयों के मूल में (हउ मै) या अहम् है। यह हउमै या मोह भी उसी कर्ता की सृष्टि है और यही हउमै हमारे मानसिक जगत का कारण है। माया, अविद्या, त्रिगुण और उनके भिन्न-भिन्न संयोग के कारण यह सारा संसार हउमै में ही है। कबीर ने भी अहंकार के नाश की बात कही है, किन्तु उसे संसार के समस्त अज्ञान का कारण नहीं कहा। अज्ञान का कारण, कबीर के अनुसार माया है; अहंकार उसी से उत्पन्न है। गुरुवाणी में ब्रह्म से भिन्न प्रकृति की कोई सत्ता नहीं है। प्रकृति के कारण अहम् की उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि अहं के कारण प्रकृति रूप धारण करती है– "माया मोह मेरे प्रभि कीना / आपे भरमि भुलाए" अर्थात् मेरे प्रभु ने स्वयं ही माया का मोह उत्पन्न किया है, वह स्वयं ही जीवों को माया के मोह में डाल कर भ्रम में डाल देता[13] है। यह माया सदा बदलते रहने वाले नियम और उसके व्यवहार का नाम है। दृश्यमान जगत में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। जड़ और चेतन, मानसिक और प्राकृतिक, सारे पदार्थ इस नियम के अधीन हैं। पुरातन का स्थान नवीन ले लेते हैं। अतः संसार झूठ नहीं, छल नहीं, किन्तु चलायमान होने के कारण इसे सदा सत्य या तत्सत् नहीं कहा जा सकता । इस सारे संसार का आधार सत्य है और इस दृश्यमान 'असत-सत्य' का नाम ही माया है। किन्तु गुरुवाणी में संसार को सपना या धुएँ का पहाड़ भी कहा गया है, उसका अर्थ यह नहीं है कि संसार फरेब या छल है, बल्कि भाव यही है कि सपने में देखी गई वस्तु या धुएँ के पहाड़ की तरह वह सदा स्थिर रहने वाला नहीं है। उसका अर्थ यह नहीं है कि वह मूलतः या तत्वतः है ही नहीं। हाँ यह जरूर है कि हम जो कुछ संसार को समझ बैठे हैं, वह वही कुछ नहीं है -- आप सति कीआ सभु सति / तिस प्रभ ते सगली उतपति। -- अतः प्रभु स्वयं अस्तित्ववान है, जो कुछ उसने उत्पन्न किया है वह सभी अस्तित्ववान, सत्य है अर्थात् भ्रम या छलावा नहीं है,

(क्योंकि) सारी सृष्टि उस (सत्यस्वरूप) प्रभु से ही उत्पन्न हुई है।

कबीर के लिए संसार मायामय अतः नाशवान है। वे उसकी क्षणिकता के प्रति बार-बार सावधान करते हैं, क्योंकि यह संसार दिन दस के लिए ही अस्तित्व रखता है। यहाँ के वैभव, ऐश्वर्य और शारीरिक सौन्दर्य सभी साथ छोड़ देंगे, साथ जाएगा केवल प्रभु का नाम, अतः सब कुछ छोड़कर उस प्रभु का स्मरण करना ही इस संसार में जीवात्मा का इष्ट और अभीष्ट है।[14] माया के वश में पड़े हुए इस मायामय संसार में निवृत्तिमूलक प्रवृत्ति अपनाकर राम नाम का जाप करते हुए सहज समाधि में लीन होना ही कबीर जीवात्मा का लक्ष्य मानते हैं।[15]

गुरु नानक सृष्टि रचना का मंतव्य और जीवात्मा का लक्ष्य प्रकृति या माया के खेल को समझ कर अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना और जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होना नहीं मानते। गुरु परम्परा में इसका प्रयोजन मानव आत्मा का विकास माना गया है। उनका अभिमत है कि प्रभु ने इस सृष्टि (त्रिभुवन) को इसलिए रचा है कि जीवात्मा विकास द्वारा परम मनुष्यता प्राप्त करे ताकि उसके हृदय में केवल परब्रह्म का स्वरूप और उसका प्रेम ही स्थायी हो-

संत हेति प्रभि त्रिभवण धारे
आतम चीनै सु ततु बीचारे
साचु रिदै सचु प्रेम निवास
प्रणवति नानक हम ताके दास।[16]

अर्थात् परमात्मा ने मनुष्य को परम मानव, संत बनाने के लिए यह सृष्टि रची है। गुरु की शरण पड़कर जो मनुष्य अपने आप को पहचानता है, वह उसकी वास्तविकता को समझता है। गुरु के दर्शन पाकर ही वह चिर सत्यस्वरूप परमात्मा हृदय में निवास करता है, उसका प्रेम स्थायी होता है, नानक विनती करता है कि मैं भी उस गुरु का दास हूँ।

सो, गुरुवाणी के अनुसार सृष्टि एक अनिवार्य एवं परिवर्तनशील रूप पर आधारित सत्ता है जिसे संबधित अर्थों में सच समझकर मनुष्य को इसमें धार्मिक जीवन व्यतीत करना है और इसमें रहकर सिद्धि प्राप्त करनी है।

कबीर और गुरुमत इस बात में एकमत हैं कि जीवात्मा को निरंकार ने अपनी ज्योति से उत्पन्न किया है, अतः ज्योति का स्फुलिंग उसके अन्दर है। उसे प्रज्ज्वलित करके जीवात्मा निरंकार से अभिन्नता प्राप्त कर सकती है, किन्तु गुरुवाणी के अनुसार जीवात्मा ब्रह्म की ज्योति से उत्पन्न होने के कारण ब्रह्म रूप हो सकती है, मूलतः अभिन्न होने के कारण उससे अभिन्नता भी प्राप्त कर सकती है, किन्तु निराकार में लीन होकर भी उसका अंत नहीं पा सकती--

सालाही सालाहि एती सुरति न पाइआ
नदीआ अते वाह पवहि समुंदि न जाणीअहि।[17]

अर्थात् उस प्रशंसनीय प्रभु की प्रशंसा (गुणों) का आख्यान कर करके मनुष्य को यह समझ नहीं आई कि ब्रह्म कितना बड़ा (महान) है। नदियाँ और नाले समुद्र में जाकर मिलते हैं तो उन्हें अलग पहचाना नहीं जा सकता किन्तु सागर में मिलकर भी वे उस सागर की थाह नहीं पा सकते। उसी प्रकार भक्तों ने नाम स्मरण करके सुख लिया है, किन्तु किसी जीव ने उस ब्रह्म का अंत नहीं पाया।[18] यह अभिन्नचा 'हउमै' -'अहं' के त्याग से ही संभव है और जीवात्मा इसी पूर्णता को पाने के लिए देह धारण करती है। यह पूर्णता 'सिमरन' (नाम-स्मरण) से ही प्राप्त हो सकती है। नाम की राह से ही मनुष्य उसके हुकम, उसकी आज्ञा में चलता हुआ, अंत में उससे अभिन्न हो जाता है। **''जो हरिजन नामु धिआँइदे / हरि हरिजन इक समानि।''** नाम स्मरण के लिए संन्यास की नहीं प्रवृत्ति में निवृत्ति की रुचि रखने पर बल दिया गया है। कबीर की तरह गुरुवाणी भी 'सहज' साधना पर जोर देती है, किन्तु यह सहज न तो कर्मों से उत्पन्न होता है, न ही ज्ञान - ध्यान से । यह जप-तप का विषय भी नहीं है। यह प्राप्त होता है गुरु की मेहर, उसकी अनुकम्पा से । गुरु के उपदेश की राह पर चलने से अहम की मैल से उत्पन्न संशय दूर हो जाते हैं और नाम से प्रकट होने वाला सहज उत्पन्न होता है। गुरु नानक ने जपु (जपुजी) में जीवात्मा के जिन पाँच खंडों को पार करने का उल्लेख किया है, उस सिद्धि मार्ग पर यह तीसरी 'पउड़ी' (खण्ड) है।[19] इसे पार करके जीवात्मा चौथी पउड़ी अर्थात् 'करम खण्ड' (कर्म खंड) में पहुँचती है। यहाँ पहुँची आत्मा जन्म-मरण के चक्र पार करके अकाल पुरख की मेहर, उसकी अनुकम्पा की पात्र बन जाती है। यह निरंकार के निवास सच खंड का द्वार है। गुरु नानक इसे 'सोदरु' कहते हैं। इस द्वार पर अनेक जीवन मुक्त आत्माएँ अपने-अपने ढंग से अकाल पुरुष के अनन्त गुणों का गान करती रहती हैं। यहाँ तक की यात्रा अपने श्रम और गुरु की कृपा से संभव हुई, किन्तु इसके बाद की सिद्धि निरंकार की 'मेहर' से ही संभव है। वह कब अनुकम्पा करेगा और किस पर करेगा यह सब उसीके हाथ में है। इसी सचखंड से वह जीवन की अनेकोन्मुखी लीला संचालित करता है। यहाँ पहुँच कर मानव आत्मा को इस सत्य का ज्ञान हो जाता है कि समस्त सृष्टि में बसने वाले जीव और वनस्पति आदि परमात्मा की आज्ञा के अधीन अपना जीवन व्यतीत करते हैं। अतः गुरुवाणी ईश्वर की आज्ञा, उसके हुक्म के अनुसार चलने पर बल देती है। जीवन के प्रत्येक सुख और दुःख को उसका 'हुकम' उसका

आदेश समझना और उसके हर आदेश को मीठा करके मानना यह गुरसिख के जीवन की पहचान है। **''तेरा भाणा मीठा लागे / हर नाम पदारथ नानक मांगै।''** जिसे ईश्वरीय आदेश का ज्ञान हो गया, उसपर अहं का प्रभाव नहीं होता **''नानक हुकमै जे बूझै ता हउमै कहे न कोइ''** उसके 'हुकम' को जो समझ लेता है उसका अहंकार नष्ट हो जाता है। अतः नम्रता और सदाचार अर्थात् आचरण की उच्चता पर जोर दिया गया है। नम्रता दिखावे की नहीं, बल्कि मन में गरीबी का भाव वास्तविक 'सिखी' (सिख धर्म की मर्यादा) है। नाम-स्मरण, निभाणा (गरीबी यानी विनम्र) और 'साध-संगति' (साधु संगति) ये सिखी की इमारत के दृढ़ स्तम्भ हैं अतः सच्चा आचरण ही सच्ची सिखी (सिक्खी) है। गुरु नानक की उक्ति है--

सचो उरहि सभको, ऊपर सचु अचार

--सच सबसे ऊपर है, उससे भी ऊपर है सच्चा आचरण।

प्रायः विद्वान कबीर में दार्शनिक चेतना का अभाव पाते हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में ''कबीर साहब ने अपनी रचनाओं के अन्तर्गत किसी सृष्टिक्रम की कोई ऐसी व्याख्या नहीं की है जो दार्शनिक दृष्टि से विचारणीय है।''[20]

यह सच है कि कबीर ने दार्शनिक तत्त्व चिंतन नहीं किया, किन्तु ऐसा नहीं है कि उनकी कोई दार्शनिक दृष्टि है ही नहीं। कबीर के काव्य में उसकी व्याख्या अवश्य ही कम हुई है। उनकी मूल दार्शनिक दृष्टि का आख्यान उनके काव्य में उपलब्ध है आगे चलकर गुरु नानक की दर्शन-चेतना ने उसे एक पुष्ट और सर्वांगीण रूप प्रदान किया, यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है। इसी कारण हम पाते हैं कि कबीर की जो भी दार्शनिक मान्यताएँ उपलब्ध हैं उनके आधार पर दोनों की मूल धारणाओं में उपलब्ध साम्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

व्यक्ति अपनी परम्परा से बहुत कुछ ग्रहण करता है। कबीर, गुरु नानक आदि ने भी ग्रहण किया है, किन्तु प्रज्ञापुरुष, मनीषी केवल सुदूर परम्परा से ही ग्रहण करके नहीं रह जाते। वे बहुत कुछ लोक परम्परा से भी अपनाते हैं। इस दृष्टि से कबीर का अध्ययन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया है और कहना नहीं होगा कि उसने हिन्दी साहित्य की कई अबूझ गुत्थियों को सुलझाया है। इसी प्रकार ये मनीषी बहुत कुछ अपने तात्कालिक विवेक से ग्रहण करते हैं। कबीर और गुरु परम्परा में इस क्षेत्र में भी कई तथ्य रोचक और विचारणीय हो सकते हैं। दोनों की तात्कालिक प्रेरणाएं लगभग एक-सी हैं, किन्तु उससे ऊपर उनकी वरीयता कई स्थानों पर भिन्न है। उस भिन्नता और समानता के कारणों, उनके प्रभावों का अध्ययन अभी शेष है। मेरा विश्वास है कि इस प्रकार का अध्ययन विश्लेषण आज के युग की बहुत बड़ी मांग है। आज समय की माँग

जोड़ने वाली दृष्टि की है, तोड़ने का, परस्पर काटने का काम तो हम करते ही आए हैं। जोड़ना अभी भी हमें सीखना है। अगर जोड़कर देखें तो पाएँगे कि हमारी परम्परा और विरासत कैसी सम्पन्न सिद्ध होती है। हम जानेंगे कि कबीर का उत्तराधिकार किस प्रकार अपने स्वस्थतम रूप में अपनी तमाम विचार सरणियों के साथ, गुरु परम्परा में रक्षित है। उत्तराधिकार केवल इतने से पूरा नहीं हो जाता कि हम पूर्वजों की बात को हूबहू सँजो लें और उसे डिब्बाबंद कर रखें, बल्कि इस बात से सिद्ध होता है कि हम उनकी बातों को, उनके आदर्शों को जीवन में जीते हुए उसे स्वस्थ रूप प्रदान करते रहें, उसमें नये रक्त का संचार करते रहें। इस दृष्टि से न देखने का ही परिणाम है यह दोषारोपण कि गुरु परंपरा कबीर के अहिंसा मार्ग से च्युत हो गई, क्योंकि उसने शस्त्र धारण किए और रणभूमि में शत्रु का सामना किया। वस्तुतः जिन परिस्थितियों में छठे नानक गुरु हरगोबिन्द ने शस्त्र उठाए थे, उन परिस्थितियों में कबीर भी वैसा ही निर्णय नहीं लेते इसका कोई प्रमाण नहीं है। इतिहास गवाह है कि पाँचवें नानक गुरु अरजन देव तक गुरुओं ने निहत्थे, अहिंसक रह कर मुगल सल्तनत के अत्याचार सहन किए और आत्मोत्सर्ग किया। अत्याचार की इस पराकाष्ठा के बाद ही छठे गुरु हरगोबिन्द ने शत्रु का सशस्त्र सामना करने का निर्णय लिया था और धर्मसम्मत राजनीति के मार्ग पर चलने की अनिवार्यता घोषित की थी। कबीर ने युद्धभूमि और वीरत्व का जैसा रूपक अपनी वाणी में रचा है उसका ओजभरा स्वर मुझे एक लम्बे समय तक इस भ्रम में डाले रहा कि यह वाणी गुरु गोबिन्दजी की है। कबीर के वे सलोक (दोहे) हैं–

गगन दमामा बाजिओ परिओ नीसानै घाउ
खेत जु माडिओ सूरमा अब जूझन को दाउ
सूरा सो पहिचानीऐ जु लरै दीन के हेतु
पुरजा पुरजा कटि मरै कबहू न छाडै खेतु।[26]

इसी प्रकार 'अवलि अलह नूर उपाइआ कुदरत के सभि बंदे' में गुरु नानक का स्वर ध्वनित प्रतीत होता है। इनमें, सही अर्थों में, एक ही परम्परा का उद्‌गम और विकास है। स्रोत से प्रवाह को जैसे अलग नहीं किया जा सकता, कबीर वाणी और गुरुवाणी को (गुरु नानक से गुरु गोबिन्द् सिंह तक की वाणी को) अलग नहीं किया जा सकता। दर्शन ही नहीं, उनके सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक विचार भी समान हैं। वाह्याचार, कर्मकाण्ड, रूढ़ियों का खंडन और आचरण की शुद्धि के साथ मनसा प्रभु का नाम स्मरण इसपर इन्होंने एक-सा बल दिया है।

दर्शन के चिन्तन पक्ष से भक्ति के धरातल पर आते ही यहाँ प्रेमाभक्ति का एकनिष्ठ, मार्मिक रूप सामने आता है। उस निराकार से कई प्रकार के भावात्मक सम्बन्ध जोड़े जाते हैं-- माता-पिता और सन्तान, स्वामी-सेवक और पति-पत्नी का दाम्पत्य संबंध भी। उसका निर्गुण रूप इस संबंध-स्थापना में बाधक नहीं बनता--

मू लालन सिउ प्रीत बनी
तोरी ना टूटे डोरी ना छूटे
ऐसी माधउ खिंच तनी।[27]

इस प्रीति के कई रंग, कई शेड्स यहां मिलेंगे। एक प्रकार से समस्त सांसारिक संबंधों की साकार संज्ञा यहाँ भक्त और ब्रह्म के संबंधों में फलीभूत होती है। अपने प्रेम संबंधों की बहुमुखी विशेषताओं में भी कबीर वाणी और गुरुवाणी में अन्तर नहीं है।

इन रचनाओं का एक अन्य उल्लेखनीय तत्व है सामाजिक चित्रण। कबीर ने तत्कालीन समाज में व्याप्त धार्मिक पाखंड और आचरणहीनता पर विशेष प्रहार किया है, किन्तु तत्कालीन राजनीति के विषय में अन्य भक्तों की तरह, ये प्रायः मौन हैं। इसी प्रकार सामान्य नारी विषयक इनकी धारणा तत्कालीन अधिकांश भक्तों और कवियों से भिन्न नहीं है। सामान्य नारी को माया का रूप मान कर प्रायः उसकी भर्त्सना की गई। गुरुवाणी में तत्कालीन समाज और संस्कृति का बहुमुखी चित्रण हुआ है। गुरु नानक ने तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन का वर्णन प्रायः एक प्रवीण इतिहासकार की तरह किया है। उन्होंने केवल ब्यौरा ही नहीं दिया, बल्कि अपने समय में चल रहे राजनीतिक अत्याचार, सामाजिक भ्रष्टाचार और धार्मिक दुराचार की बड़ी तीखी आलोचना की है। 'आसा दी वार' इस दृष्टि से उनकी उल्लेखनीय रचना है जिसका एक छोर अध्यात्म से जुड़ा है और दूसरा धर्माचार और कर्माचार से। इस वाणी का मूल स्वर भी धार्मिक पाखण्डवाद का पर्दाफाश करना और जीवात्मा को आडम्बर रहित सहज योग की ओर आकर्षित करना है, किन्तु उसके वृहत्तर फलक में जीवन के अनेकपक्ष इसमें समा गए हैं। वे हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों की रूढ़ियों पर कठोर प्रहार करते हैं। इस दृष्टि से कबीर और गुरु नानक की समताएँ अनेक हैं। कबीर के व्यक्तित्व का वह पक्ष भारतीय जनमानस का बहु परिचित पक्ष है। गुरु नानक भी वाह्याचार के रूप में जनेऊ धारण करने, जूठे और सुच्चे तथा सूतक आदि के विषय में अपने प्रगतिशील विचार सामने रखते हैं--

मन का सूतकु लोभु है जिह्वा सूतकु कूड़
अखी सूतकु वेखणा पर त्रिय पर धन रूपु।[28]

'आसा दी वार' में उनकी विचारधारा और व्याख्या का एक छोर समाज में स्त्री की सत्ता और महत्ता से जा जुड़ता है। मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य और साधना में सम्भवतः गुरु नानक और उनकी परम्परा पहली और अकेली विचारधारा है जिसने सामाजिक निर्माण और विकास में स्त्री मात्र के योगदान को पहचाना और उसे पुरुष के समान अधिकार देने के लिए अपनी आवाज उठाई। उस वर्ग विभाजित समाज में गुरु नानक की यह उद्घोषणा क्रांतिकारी थी। अपने एक 'सलोक' में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में आदेश दिया कि स्त्री की निन्दा या आलोचना करना सामाजिक अपराध है--

भंडु मुआ भंडु भालीए भंडि होवै बंधान
सो किउ मंदा आखीऐ जित जमहि राजान।[29]

स्त्री को प्रायः सभी तत्कालीन धर्मों में बुरा कहा जाता था, उसकी निन्दा की जाती थी। गुरु नानक ने स्त्री को उचित सामाजिक मर्यादा देकर भारतीय संस्कृति को एक मौलिक विचार दिया, एक तर्क सिद्ध तथ्य दिया कि स्त्री महत्वपूर्ण है। स्त्री से गृहस्थ परिवार, समाज का बंधान होता है। उसकी हर समय जरूरत है। वह मानव की जननी है इससे बड़ी और क्या बात हो सकती है ? बड़े-बड़े महान पुरुष स्त्री से ही जन्मे। ऐसी स्त्री को 'मंदा' बुरा क्यों कहते हो?

इसी प्रकार उन्होंने सती प्रथा जैसे सामाजिक कोढ़ का उस रूढ़िवादी युग में, साहसपूर्ण विरोध किया--

सतीआ एहि न आखीअन जो मड़िआं लगि जलंनि
नानक सतीआं जाणीअनि जि बिरहे चोट मरंनि।[30]

'मड़ी' श्मशान में जलकर सती होना कोई अर्थ नहीं रखता, वास्तविक सती तो वह है जो जीवित रहकर पति वियोग में जलती रहती है और विरह के आघात से मरती रहती है। तत्कालीन कर-विधान, गऊ-ब्राह्मण पर कर, जजिआ आदि का उल्लेख वे बड़े क्षोभ के साथ करते है--

देवल देवतिआ कर लागा
ऐसी कीरत चाली।[31]

उस युग में देश या राष्ट्र की संकल्पना नहीं थी। राज्य ही देश था। नानक वाणी का एक मार्मिक, हृदय-विदारक रूप वहाँ मिलता है जहाँ वे मुगलों के नृशंस आक्रमण के परिणाम स्वरूप देशवासियों की आर्त, असहाय स्थिति देख

कर परमात्मा को उपालंभ देते हैं। वहाँ उनके सच्चे देश प्रेमी होने का प्रमाण मिलता है। खुरासानी फौज के आक्रमण से भारत के भयभीत होने और उसकी हृदयभेदी दशा का वर्णन वाणीकार की मानसिक स्थिति और देशहित की तीव्र अनुभूति स्पष्ट करते हैं। उनकी पीड़ा इन शब्दों में व्यक्त है--

खुरासान खसमाना कीआ हिन्दुस्तान डराइआ
आपै दोसु न देई करता जमु करि मुगल चड़ाइआ
ऐती मार पई कुरलाणै तै की दरद न आइआ।

X X X X X

जे सकता सकते कउ मारे ता मनि रोसु न होई।।१।। रहाउ।।
सकता सीह मारै पै वगै खसमै सा पुरसाई।[32]

गुरु नानक चार बार धर्म प्रचार हेतु लंबी 'यात्राओं' पर निकले थे। इन यात्राओं को उनकी 'उदासी' कहा जाता है। मक्के की तरफ तीसरी उदासी पूरी करके जब गुरु नानक बगदाद-काबुल की राह से सन् १५२१ ई० में भारत लौटे रहे थे, उन्हीं दिनों बाबर ने सैदपुर (ऐमनाबाद) पर आक्रमण किया था। गुरुजी भी ऐमनाबाद पहुंच चुके थे। बाबर के मुगल फौजियों के हाथों जो दुर्गति ऐमनाबाद निवासियों की अपनी आँखों देखी, उसी का उल्लेख इस शबद (पद) में करते हुए कह रहे हैं कि खुरासान किसी और को सौंप कर मुगल बाबर ने आक्रमण करके भारतीयों को भयभीत कर दिया। जो लोग अपने कर्तव्य भूलकर राग रंग में डूब जाते हैं, उन्हें उसकी सजा भुगतनी ही पड़ती है। करतार (ब्रह्म) अपने ऊपर दोष नहीं आने देता। अतः कर्तव्य भूलकर विकारों में लीन पठाण हाकिमों को दंड देने के लिए करतार ने मुगल बाबर को यमराज बनाकर हिन्दुस्तान पर चढ़ा दिया (पर हे करतार! बदमस्त पठाण हाकिमों के साथ गरीब, निहत्थे लोग भी पीसे गए) इतनी मार पड़ी की वे त्राहि-त्राहि कर उठे। क्या (यह सब कुछ देखकर भी) तुम्हें उनपर तरस (रहम) नहीं आया?

हे करतार ! यदि कोई बली (शक्तिशाली) दूसरे बली को मारे तो देखने वाले के मन में रोष नहीं जगता, क्योंकि दोनों पक्ष एक दूसरे पर आघात कर लेते हैं, पर यदि कोई सिंह जैसा बली गौओं जैसे निरीह, निहत्थे प्राणियों पर आक्रमण करे तो उसकी पूछ, उसका हाल तुम्हें ही पूछना होगा। तुम्हें ही उसकी खोज-खबर लेनी होगी।

इसी प्रकार का एक हृदय बेधी शबद गुरु ग्रंथ साहिब के पृ० ७२२ पर उपलब्ध है, जिसमें गुरु नानक बाबर के आक्रमण को पाप की बारात का आक्रमण कहते हैं और बारात के सांग-रूपक के माध्यम से तत्कालीन राजनीतिक

नृशंसता का चित्रण करते हैं। इस प्रकार की प्रामाणिक राजनीतिक उथल-पुथल का ब्यौरा देती हुई रचनाएँ उस युग में शायद ही कहीं और मिलें।

आज हमारे देश में ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी महात्मा कबीर के छठे आविर्भाव दिवस का आनन्द मनाया जा रहा है। यह अवसर कबीर का विश्लेषण करने के साथ हम भारतीयों के लिए आत्मविश्लेषण करने का भी है। कबीर जिन धर्म, जाति, वर्ग और समाजगत भेदों की संकीर्णता से ऊपर उठने का आजीवन आह्वान करते रहे, आज भी अगर हम इन संकीर्ण मनोभावों से ऊपर उठकर एक स्वस्थ और निष्पक्ष दृष्टि न अपना सके, कबीर की परम्परा और विरासत की सही पहचान न करके परस्पर आक्षेप लगाते हुए 'वर्ग विभाजन' ही करते रहे तो कहना होगा कि हमने कबीर का केवल मुंह से परिचय कराया है, अपनी चेतना तक उन्हें नहीं ले गए। आज के युग में कबीर पर आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी के मंच से यह आक्षेप लगाना कि गुरु नानक की गुरु परम्परा कबीर के मार्ग से च्युत ईसाई और इस्लामी प्रभाव के वश में जा पड़ी है, हमारे मानसिक दीवालियेपन की सूचक है। वस्तुतः हमें कबीर का ही नहीं अपना भी पुनर्मूल्यांकन करना है। इस क्षेत्र में गुरुवर विष्णुकांत जी शास्त्री (सम्प्रति महामहिम राज्यपाल, हिमाचल प्रदेश) की दृष्टि उनकी विचारणा सर्वथा स्वागत योग्य, अपनाने योग्य है। उन्होंने उसी मंच से ऐसे 'बँटवारों' की तीव्र एवं तर्कपूर्ण भर्त्सना की थी और गुरु-परम्परा या कबीर और निर्गुणिया भक्त परम्परा को पूर्णतः भारतीय और परस्पर सम्बद्ध घोषित किया था। निश्चय ही उनकी बातों में वजन था जो विरोधियों को आगे बढने से रोक सका। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि आज भी ऐसे भेदक प्रश्न उठाए जाते हैं। –यह समय हमारे मनीषियों द्वारा दिखाई राह, उनकी निर्मित संस्थाओं के सही मूल्यांकन, देश, समाज; संस्कृति को उनकी देन और आज के संदर्भों में उनकी प्रासंगिकता पर विचार करके उन्हें अपनाने का है, न कि आधारहीन तथा कुछ सीमा तक पहले से तय किये जा चुके मुद्दों को फिर-फिर उठाकर अवसर गँवाने का है ? –यह सवाल मैं आप सब के सामने रखना चाहूँगी। निर्णय आपको लेना है। ●

संदर्भ संकेत

१. संत कबीर, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० २७
२. आदि ग्रंथ, कबीर, सलोकु पृ० १३७६
३. वही, पृ० १३७६-७
४. आदि ग्रंथ - महला १, पृ० ८

नोट : आदि ग्रंथ में सभी गुरुओं की वाणी में 'नानक' छाप है क्योंकि गुरु नानक के बाद के नौ गुरु वास्तव में गुरु नानक के ज्योतिस्वरूप हैं। अतः ग्रंथ में यह स्पष्ट करने के लिए कि कौन-सी वाणी किस नानक की है, उसे छंद के अंत में 'महला' शब्द के माध्यम से व्यक्त किया गया है, जैसे गुरु नानक प्रथम गुरु हैं अतः उनके लिए महला १, और गुरु अरजन पाँचवें गुरु हैं अतः उनकी वाणी के बाद महला ५ का निर्देश गुरु परम्परा में उनके स्थान को सूचित करता है तथा वाणी की प्रामाणिकता बनाए रखता है।

५. अवलि अलह नूर उपाइआ कुदरत के सब बंदे
एक नूर ते सब जग उपजिआ कौन भले को मंदे
आदि ग्रंथ - कबीर, पृ० १३४९
मन तू जोति सरूप है आपणा मूल पछाणु
मन हरि जी तेरे नालि है गुरमती रंग माणु
आदि ग्रंथ - महला ३, पृ० ४४१

६. आदि ग्रंथ - कबीर, पृ० ११६२

७. वही, पृ० १३४९

८. वही, पृ० ०१

९. वही महला ४, पृ० ९८२

१०. अर्थात् उसके हुकम से सब आकार ग्रहण करते हैं, उसका हुकम (पहले से) कहा नहीं जा सकता। जीव उसीके हुकम से उत्पन्न होते हैं और उन्हें बड़प्पन, सम्मान भी उसी के हुकम से प्राप्त होते हैं । -- आदि ग्रंथ महला १, पृ० ०१

११. माटी एक अनेक भांति कर साजी साजन हारै
ना कुछ पोच माटी के भांडे न कछु पोच कुंभारै।
-- आदि ग्रंथ कबीर, पृ० १३४९

१२. वही, पृ० ११९३

१३. आदि ग्रंथ महला ३, पृ० ६७

१४. कबीर इहु तनु जाइगा कवनै मारगि जाइ
कै संगति करि साध की कै हरि के गुन गाइ।
— आदि ग्रंथ - पृ० १३९४

१५. हरि महि तनु है, तनु महि हरि है, सरब नरंतर सोई रे
कहि कबीर राम नामु न छोड़उ सहजे होइ सु होइ रे।
— वही, पृ० ८७०

१६. आदि ग्रंथ महला १, पृ० २२४

१७. वही महला १, पृ० ४

१८. वही महला ५, पृ० २८४

१९. 'जपु जी' के पाँच खंड है - धर्म, ज्ञान, सरम, करम और सच खंड या उस ब्रह्म का निवास स्थान जो जीव का अंतिम लक्ष्य या गन्तव्य है। इन पाँच खंडों की यात्रा बड़ी यथार्थ, मनोवैज्ञानिक और आज के संदर्भों में भी प्रासंगिक है, किन्तु विस्तारभय से उनका वर्णन संभव नहीं है।

२०. कबीर साहित्य की परख - परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ९५
२१. आदि ग्रंथ महला ५, पृ० ८२७
२२. तू मेरा पिता, तू है मेरा माता/ तू मेरा बंधप तू मेरा भ्राता
— आदि ग्रंथ महला ५, पृ० १०३
सुत अपराध करत है जेते / जननी चीति न राखसि तेते
रमईआ हउ बारिकु तेरा / काहे न खंडसि अवगनु मेरा।
— आदि ग्रंथ - कबीर, पृ० ४७८
२३. आदि ग्रंथ महला १, पृ० ४७०
२४. वही, पृ० ४७५
२५. वही महला ३, पृ० ७८७
२६. वही, कबीर, पृ० ११०५
२७. वही महला ५, पृ० ८२७
२८. वही महला १, पृ० ४७८
२९. वही, पृ० ४७५
३०. वही महला ३, पृ० ७८७
३१. आदि ग्रंथ - म-१, पृ० ११९१
३२. वही, पृ० ३६०

आभार ज्ञापन : गुरुवाणी के अधिकांश अर्थ के लिए श्री गुरु ग्रंथ साहिब दरपण के टीकाकार डॉ० साहिब सिंह के प्रति, अग्रजसम श्री जगदीश सिंह जी बजाज जिनकी विद्वत्ता और निजी गुरुवाणी संकलन से सहायता मिली, श्रीमती गुरविन्दर कौर, अध्यक्ष पंजाबी विभाग, राष्ट्रीय ग्रंथागार तथा उनकी सहयोगी श्रीमती सुनीता शर्मा, श्री दास, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, राष्ट्रीय ग्रंथागार तथा उनके सहयोगियों के प्रति जिन्होंने मेरी सुविधानुसार अपेक्षित पुस्तकों को यथाशीघ्र उपलब्ध कराया।

कबीर का संघर्ष

श्रीनिवास शर्मा

भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि :

दक्षिण भारत में छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी का समय 'भक्तिकाल' कहा जाता है। यह आलवार और नायनमार भक्तों का काल है। नवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक के साहित्य को 'मध्ययुगीन साहित्य' कहते हैं। इसी काल में अधिकांश भक्ति-साहित्य रचा गया था। मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य में धर्म-साधना और उपासना के दोनों रूपों - निर्गुण तथा सगुण पर समान बल है।

मध्ययुग में दक्षिण भारत में जब भक्ति आन्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर था, उत्तर भारत सांस्कृतिक संकट के दौर से गुजर रहा था। आचार्य शुक्ल ने उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन का कारण मुस्लिम शासकों का धार्मिक उत्पीड़न तथा हिन्दू जनता की हताशा बताया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे नहीं स्वीकारते। द्विवेदी जी भक्ति आन्दोलन को 'जाति की स्वाभाविक चेतना' के रूप में देखते हैं। डा० मलिक मुहम्मद मानते हैं कि उत्तर-भारत में भक्ति-आन्दोलन के प्रचार-प्रसार की परिस्थितियाँ पहले से मौजूद थीं। दक्षिण से आने वाला वैष्णव भक्ति आन्दोलन इस्लाम के मुकाबले हिन्दू धर्म को अधिक आकर्षक तथा सरल प्रतीत हुआ था।

चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह सशक्त और सफल माध्यम स्वामी रामानन्द के रूप में उत्तर भारत की हिन्दू जनता को पहली बार मिला था। रामानन्द ने जनभाषा हिन्दी के माध्यम से दक्षिण की भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया था। अनुकूल वातावरण पा कर यह आन्दोलन शीघ्र ही जन-आन्दोलन के व्यापक रूप में दूर-दूर तक फैल गया था। रामानन्द दक्षिण और उत्तर के भक्ति आन्दोलन की मेखला हैं। वे स्वामी रामानुजाचार्य की चौदहवीं

पीढ़ी में थे। उनके कुल बारह शिष्य बताये गये हैं- अनन्त, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, भावानन्द, पीपा, कबीर, सेन, धना, रैदास, पद्मावती तथा सुरसरी। इनमें कबीर का स्थान सर्वोपरि है।

हिन्दी प्रदेश में भक्ति आन्दोलन के तीन सोपान हैं-- (१) स्वामी रामानन्द (२) सूफीमत (३) धार्मिक सहिष्णुता का काल, अर्थात् अकबर का समय।स्वामी रामानन्द प्रथम सोपान हैं। रामानन्द जी की रामोपासना का संबंध दक्षिण से है। उत्तर भारत में रामोपासना लाने का श्रेय रामानन्द के गुरु स्वामी राघवानन्द को है। डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के अनुसार दक्षिण से उत्तर की यात्रा स्वामी राघवानन्द ने ही की थी।

भक्ति आन्दोलन के उन्नायकों में रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य के बाद स्वामी रामानन्द का विशेष स्थान है। चौदहवीं शताब्दी में रामानन्द जैसा क्रान्तिकारी व्यक्तित्व दूसरा न था। रामानन्द "मध्यकालीन हिन्दी-प्रदेश की प्रगतिशील विचारधारा के एकमात्र कर्मठ नेता और सबल प्रेरणा-स्रोत थे।"

"जाति-पांति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई"--

उनका एकमात्र मंत्र था। वे स्वयं हिन्दी में पद-रचना करते थे। शिष्यों को भी जनभाषा अपनाने की प्रेरणा दी थी। गुरु रामानन्द से प्रेरणा पा कर ही संत कबीर ने कहा था-- **"संस्कीरत है कूप जल, भाषा बहता नीर"**

कबीर का समय :

कबीर का जन्म विक्रम संवत् १४५५ ज्येष्ठ मास की शुक्ला पूर्णिमा तदनुसार ईस्वी सन् १३९८ में हुआ विद्वानों ने माना है। मृत्यु संवत् १५७५ ईस्वी सन् १५१८। आयु १२० वर्ष बतायी गयी है। जन्म-स्थान काशी तथा मृत्यु मगहर या बेलहा (जिला-आजमगढ़) में हुई थी। एक शिष्य ने संवत् १५२१ में कबीर की वाणी का संग्रह किया था जब उनकी आयु ६५ वर्ष की थी। इसकी एक हस्तलिखित प्रति संवत् १५६५ की मिलती है। मुसलमान कबीर पंथी कबीर को सूफी फ़कीर शेख तक़ी का शिष्य बताते हैं। यह ग़लत है। कबीर ने कहीं भी शेख तक़ी को गुरु-रूप में नहीं माना है। उनके वास्तविक गुरु स्वामी रामानन्द ही थे।

तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक इस्लाम भारत में अपनी स्थिति मजबूत कर चुका था। इस्लाम ने भारतीय समाज की पारंपरिक वर्ण-व्यवस्था पर प्रहार तो नहीं किया, पर वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज के लिए अभिशाप बन चुकी थी। उसका प्रारंभिक स्वरूप नष्ट हो चुका था। वर्ण-व्यवस्था अब कर्मणा न हो कर जन्मना हो गयी थी। इसने हिन्दू समाज में जाति-पांति, छूआछूत, ऊँच-नीच की भावना को जन्म दिया था। इधर मुस्लिम समाज में "अहले इस्लाम" होने के

कारण सभी बराबर थे। शाहंशाह और गुलाम एक साथ, एक पंक्ति में खड़ा हो कर मस्जिद में नमाज पढ सकते थे। हिन्दू-धर्म ऐसा न था। अवर्णों का मन्दिर-प्रवेश भी वर्जित था। जाति-धर्म का अहंकार, सामाजिक बिखराव तथा गहरे असंतोष का कारण बना था। हिन्दू-समाज की अन्दरूनी शक्ति छीजती गयी थी। वह बाहरी झंझावातों का सामना करने में अक्षम था।

राजनीतिक परिस्थितियाँ :

राजनीतिक दृष्टि से भक्ति आन्दोलन का समय इतिहास में तुर्क-अफगान काल है। यह समय बारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक का है। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में इसका अंत हो जाता है। इसके बाद मंगोल या मुगलों का काल है। तुगलक, सैय्यद और लोदी सुलतानों का शासन देश में एक जैसा न था। उसके विभिन्न सोपान थे। इनमें कुछ उदार तो कुछ बेहद कट्टर और धर्मांध थे। डा० मलिक मुहम्मद के अनुसार-- "धर्मांधता के नशे में मुसलमान आक्रमणकारियों ने हिन्दू जनता को बुरी तरह सताया था। इन मुसलमान शासकों में कुछ तो उदार धार्मिक दृष्टिकोण अपनाना चाहते थे और अपनी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय देना चाहते थे, परन्तु ये शासक अधिकतर कट्टर धार्मिक उलेमाओं के पंजे में थे, जिनके इशारे पर उनको इस्लाम के प्रचार के लिए बहुत कुछ करना पड़ता था।" मुहम्मद बिन तुगलक (सन् १३२५-५१) धर्म-निरपेक्ष शासक था। फिरोज तुगलक (१३५१-८८) धर्मान्ध था। उसने शासन-तंत्र उलेमाओं को सौंप दिया था। फिरोज तुगलक ने राजमहल के सामने एक ब्राह्मण को जीवित जलवा दिया था, क्योंकि उसने अपने धर्म को इस्लाम के सामने श्रेष्ठ साबित किया था। उसके जीवन और विचारों से प्रभावित हो कर कुछ मुसलमान औरतें हिन्दू हो गयी थीं। फिरोज आचरण भ्रष्ट, असंयमी तथा बेहद कामुक शासक था। उसने मन्दिरों को ध्वस्त किया, हिन्दुओं के धार्मिक मेलों पर रोक लगा दी। सन् १३९८ में तैमूरलंग का आक्रमण हुआ था। तैमूर की घोषणा थी-- "भारत पर आक्रमण करने में मेरा उद्देश्य यह है कि हमलोग विधर्मियों के विरुद्ध सेना ले कर हजरत मोहम्मद के सिद्धान्त के अनुसार उनको सद्धर्म में दीक्षित करें और देश को कुफ्र तथा बहुदेववाद के कलुष से मुक्त कर सकें और उनके देवालयों तथा मूर्तियों का विध्वंस कर खुदा के सामने गाजी और मुजाहिब के रूप में प्रकट हो सकें।" सिकन्दर लोदी (१४८९-१५१७) (यही कबीर का काल है) के समय "हिन्दुओं पर बलात् इस्लाम धर्म लादा जाने लगा। अनेक मन्दिरों को तोड़ कर मस्जिदें बनवायी गयीं। उसके समय में धार्मिक पक्षपात सीमा पार कर गया था। 'तारीख-ए-दाऊदी' में लिखा है कि उसने मूर्तियों को कसाइयों को दे दिया

जिन्होंने उन्हें मांस तोलने के बाट बना लिए।''

तुगलक वंश से लोदी वंश का शासन-काल दो सौ वर्षों का है। भारत के इतिहास में यह धार्मिक उत्पीड़न, बलात्-धर्म-परिवर्तन तथा आक्रमणों का काल है। मुस्लिम शासकों ने हर प्रकार से हिन्दू जनता का शोषण-दोहन किया था। उन पर जजिया कर लगाया जाता था। मुसलमान इस कर से मुक्त थे। असंख्य मन्दिर, मस्जिदों में परिवर्तित हो चुके थे।बेदियाँ 'जा-ए-नमाज' बन चुकी थीं। आर्थिक शोषण, धार्मिक उत्पीड़न से तंग आकर अनेक निम्न कोटि हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म स्वीकार लिया था।

इस कारण हिन्दू समाज में आत्मरक्षा की भावना उभरना स्वाभाविक था। हिन्दू शासक राजनीति और धर्म के बारे में उदासीन थे। वे रियासती मानसिकता से ग्रस्त थे। रियासती स्वार्थ सर्वोपरि था। राष्ट्रीयता सिरे से गायब थी। सत्तासीन वर्ग घोर विलासिता में डूबा था। हिन्दू राजे, सामंत, नवाब सभी मुजरा-प्रधान संस्कृति के कायल थे। मालवा के एक राजपूत मंत्री के अंतःपुर में दो हजार औरतें थीं। इनमें बहुत मुसलमान स्त्रियाँ भी थीं।

मुस्लिम शासकों की धार्मिक मदान्धता, इस्लाम के नाम पर होने वाले अत्याचार, बलात् धर्म-परिवर्तन, आर्थिक शोषण, वर्ण-व्यवस्था की कठोरता, ऊँच-नीच की भावना, संपन्न वर्ग का विलास, शूद्रों की दयनीय स्थिति आदि ने मिल कर उत्तर भारत में एक व्यापक सुधारवादी आन्दोलन की नींव डाली थी।

कबीर का संघर्ष :

स्वामी रामानन्द के बाद उत्तर भारत में संत कबीर ने भक्ति-आन्दोलन का नेतृत्व किया था। उनका संघर्ष बहुस्तरीय था। भक्ति-आन्दोलन के प्रवाह से शक्ति पा कर कबीर ने विशिष्ट मार्ग की खोज की थी। अपनी सहज साधना और व्यापक अनुभवों के आधार पर कबीर ने साखियों, पदों में सामान्य जीवन के रूपकों की रचना की। प्राचीन और मध्यकालीन परम्पराओं का मंथन करते हुए ज्ञान और अनुभव के बल पर अनेक प्रकार के बंधनों से ग्रस्त हिन्दू समाज को मुक्त करने का भरसक प्रयत्न किया। ईश्वर, धर्म, समाज के बारे में कबीर के विचार ज्ञान तथा अनुभवों पर आधारित हैं। उनके तर्क बौद्धिक जिज्ञासा मात्र नहीं हैं। तर्कों के पीछे निहित हैं उनके व्यापक जीवनानुभव। कबीर ज्ञानमार्गी हैं। उनके यहाँ ज्ञान भी एक मार्ग है। उनके तर्क इतने प्रबल और पुष्ट हैं कि उनके सामने बड़े से बड़ा नैयायिक, पंडित भी नहीं टिक पाता। कबीर पोथी की सत्ता को खुली चुनौती देते हैं। किताबी-ज्ञान से अनुभवजन्य ज्ञान श्रेष्ठ है। कबीर कहते हैं ---

"तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी"

आँखों देखा सत्य किताबी सत्य से बड़ा होता है। उनकी उक्तियाँ अपरिपक्व तथा संशयवादी नहीं हैं क्योंकि "संशयात्माविनश्यति"। कबीर का चिन्तन उभय समाज (हिन्दू-मुस्लिम) के परस्पर विरोधी आग्रहों से मुक्त ऐसे क्रान्तिकारी विचारक का चिन्तन है जिसके पास दुविधा की कोई गुंजाइश नहीं। परस्पर विरोधी स्थितियों को मार्क्सवाद की शब्दावली में थीसिस और एण्टीथीसिस कहते हैं। भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में इसे पक्ष-विपक्ष कहा गया है। इस दृष्टि से कबीर विपक्ष के चिन्तक हैं।

वाद-विवाद के दो रूप हैं - सृजनात्मक, ध्वंसात्मक। कबीर की पद्धति ध्वंसात्मक है, क्योंकि वे क्रान्तिकारी हैं। ध्वंस केवल विनाश के लिए नहीं; नए समाज के निर्माण-हित। सांस्कृतिक ढांचे का एक आधार होता है। यह आधार मूल्यपरक होता है। ढांचे के चरमराने पर समाज में संकट उत्पन्न होता है। इसलिए समय-समय पर संस्कृति के ऑपरेशन की जरूरत पड़ती है। यह शल्य-चिकित्सा दो प्रकार की होती है (१) बाह्य शल्य चिकित्सा (Outward operation) और (२) आंतरिक शल्य-चिकित्सा (Inward operation)।

आंतरिक शल्य-चिकित्सा संस्कृति की है और बाह्य सभ्यता की। सभ्यता संस्कृति का ऊपरी आवरण है। आंतरिक शल्य-चिकित्सा द्वारा संस्कृति के विकृत, जर्जर हो चुके तत्त्वों को निकाल फेंका जाता है। कबीर ने समाज और संस्कृति दोनों का ऑपरेशन किया।

अपने समय के यथार्थ से भिड़ने का कबीर का तरीका मनोमय न हो कर द्वन्द्वात्मक था। उनका लक्ष्य एक स्वस्थ, पंथ-निरपेक्ष समाज की स्थापना था जिसमें सभी मनुष्य सामाजिक और धार्मिक स्तर पर बराबर हों। यह एक जोखिम भरा दुस्साहसिक कार्य था। इसे कबीर जैसा अक्खड़, निर्भीक संत ही कर सकता था।

कबीर आदि संत कवियों का ऐतिहासिक अवदान यह है कि उन्होंने धर्म-साधना को व्यक्तिगत दायरे से खींच कर व्यापक सामाजिक आधार दिया। धर्म को समाज की समस्याओं से जोड़ा। धर्म अब केवल व्यक्तिगत विश्वास की वस्तु न रह कर समाज के केन्द्र में था। यह प्रेरणा संतों को इस्लाम से मिली थी। इस्लाम संगठित सामाजिक धर्म था। भक्ति आन्दोलन के पूर्व यह कार्य गौतम बुद्ध कर चुके थे। परन्तु उनके अनुयायियों ने बौद्ध-धर्म को पतन के गर्त में ढकेल दिया था। कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म को उसकी जमीन से उखाड़ फेंका था।

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त की नयी व्याख्या विवेकानन्द से भी पहले संत

कबीर ने प्रस्तुत की थी। शंकर ने "ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः" कह कर एकमात्र ईश्वर को ही सत्य माना था। साथ ही, उन्होंने ब्रह्म और जीव की एकता भी स्थापित की थी। पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर ने ब्रह्म और जीव की इसी अभिन्नता के आधार पर मनुष्य-मनुष्य की एकता - अभिन्नता स्थापित की थी। के. दामोदरन लिखते हैं-- "भक्ति आन्दोलन मनुष्य की सत्ता को सर्वश्रेष्ठ मानता था। कबीर आदि संतों ने सभी वर्गगत एवम् जातिगत भेदभावों तथा धर्म के नाम पर किए जाने वाले सामाजिक उत्पीड़न का विरोध किया।"

कबीर ने हिन्दुओं, मुसलमानों दोनो के कर्मकाण्डों की हँसी उड़ाई--

"पवित्र घाटों पर पानी के अलावा और कुछ नहीं है, मैं जानता हूँ कि वे निरर्थक हैं, क्योंकि मैं उनमें स्नान कर चुका हूँ। सभी मूर्तियाँ निर्जीव हैं, वे बोल नहीं सकतीं, मैं यह बात जानता हूँ, क्योंकि मैं उनके सामने जोर जोर से रोया-गिड़गिड़ाया हूँ। पुराण और कर्म केवल शब्द हैं, मैंने उनका पर्दा उठते हुए देखा है। कबीर अनुभव की बातें शब्दों में व्यक्त करता है और वह जानता है कि बाक़ी सब कुछ मिथ्या है।" (आदि ग्रन्थ)

"मुसलमान जो पांच बार नमाज पढ़ते हैं, वे सब बेकार हैं, क्योंकि उनकी इबादत सिर्फ एक दिखावा और ढोंग है, जबकि उनके मन में इस सारे समय दूसरे विचार घूमा करते हैं। धार्मिक आचारों का ढोंग रच कर क़ाज़ी गरीबों को ठगता है और उनकी भलाई करने के बजाय उन्हें नुकसान ही पहुँचाता है।"

भक्ति आन्दोलन के कुछ मूलभूत सिद्धान्त थे--

१ - धार्मिक विचारों के बावजूद जनता की एकता को स्वीकारना।

२ - मनुष्य और ईश्वर के बीच तादात्म्य मनुष्य के सद्गुणों पर निर्भर करता है, न कि ऊँची जाति या धन-सम्पत्ति पर।

३ - ईश्वर के सामने सबकी समानता।

४ - जाति प्रथा का विरोध।

५ - भक्ति ही आराधना का उच्चतम स्वरूप है।

"कबीर निरर्थक समय गँवाने वाले चिन्तक न थे और न कुर्सी पसन्द, आराम तलब समाज-सुधारक। वे जनता के बीच सक्रिय रूप से कार्य करते थे और कठिन परिश्रम द्वारा अपनी जीविका अर्जित करते थे। कबीर स्वयं कपड़ा बुनते थे, बाजार में उसे बेच कर गुजारा करते थे। उनका कहना था कि धार्मिक जीवन का अर्थ आलस्य में समय गँवाना नहीं है, बल्कि हर भक्त को परिश्रम करके स्वयं अपनी रोटी कमानी चाहिए और दूसरों की सहायता करनी चाहिए। वह इस बात पर भी जोर देते थे कि मनुष्य को सादा जीवन व्यतीत करना

चाहिए जैसा कि वह स्वयं करते थे।"

सामाजिक हिंसा के खिलाफ :

कबीर का समाज घोर अराजकता का था। यह भोगवादी समाज था। भोगवादी समाज परजीवी होता है। इसकी एक ही आचार-संहिता होती है- विलासिता का जीवन। हिन्दू-मुस्लिम सम्पन्न तबक़ा नाच, गान, मदिरा, जुआ में आकंठ डूबा था। बहुसंख्यक वर्ग शोषण की दोहरी चक्की में पिस रहा था। केन्द्रीय सत्ता का शोषण, रियासती शोषण, करों का बोझ, धार्मिक-सामाजिक उत्पीड़न। सुरा-सुन्दरी में निमग्न सुल्तान और सरदार, नवाब, सामन्त देश को हर दृष्टि से खोखला बना रहे थे। यह भोगवादी हिंसक समाज था जो जनता के शोषण पर फल-फूल रहा था।

हिंसक समाज भोगवादी और घनघोर व्यक्तिवादी होता है। संतों, भक्तों ने पहली चोट हिंसा की भोगवादी राजनीति पर ही की थी। कबीर इसके अगुआ थे। हिंसा द्वैत भाव है; अहिंसा अद्वैत भाव। भक्ति-आन्दोलन का सकारात्मक पक्ष यह है कि उसने समाज के उन आचारों-विचारों, कर्मकाण्डों को चुनौती दी थी जो सामाजिक जीवन में मूल्यों की विश्रृंखलता का कारण था। शासक वर्ग को हिंस्र पशु बनने से रोका था। सूफी संतों की इस कार्य में बड़ी भूमिका थी। कबीर समस्त बाह्याचारों के जंजालों और संस्कारों को विध्वंस करने वाले व्यक्ति थे। उन्होंने समस्त प्रकार के विधि-विधानों का निषेध करते हुए मनुष्य को सहज मूल्यों पर प्रतिष्ठित किया। डा० रघुवंश लिखते हैं-- "यह वह मानव-मिलन की भूमिका है जिसकी प्रतिष्ठा के लिए कवि को जाति, कुल, धर्म-मत, संस्कार, सम्प्रदाय, विश्वास तथा शास्त्र आदि के भ्रमजाल को छिन्नभिन्न करना पड़ा। मूल्यों के सांस्कृतिक समन्वय की स्थिति में भी मानव-समाज के बीच से अशान्ति, हिंसा, भ्रष्टता और आपाधापी दूर हो सकती है। कबीर इस समन्वय भावना से प्रेरित हो कर खंडन और विरोध के मार्ग से गुजरे हैं।"

हिंसा दो प्रकार की होती है - मारकाट प्रधान तथा अहिंसक हिंसा। अहिंसक हिंसा खून-खराबे वाली हिंसा से भी खतरनाक और भयावह होती है। धर्म, सम्पत्ति, जाति के नाम पर मनुष्य की सामाजिक हैसियत का बंटवारा, अस्पृश्यता, ऊँच-नीच का भाव- ये सब सामाजिक हिंसा के रूप हैं। कबीर को हिन्दू समाज का यह रूप बड़ा ही घिनौना तथा अमानवीय लगा था। उन्होंने जीवन-पर्यन्त समाज की इस हिंसा के खिलाफ संघर्ष किया।

गौतम बुद्ध ने मनुष्य के दुःखों, कष्टों को 'मानसिक प्रयत्नों' द्वारा दूर करने की बात की थी। बुद्ध का यह आदर्शवाद कालान्तर में पंडों-पुरोहितों और

शासक-वर्ग के हाथ में जनता के शोषण का हथियार बन गया था। कबीर ने मनुष्य के दुःखों, कष्टों का कारण धार्मिक उत्पीड़न, सत्ता और समाज में व्याप्त असंगतियों-विसंगतियों में पाया था। कबीर राष्ट्रीय नवजागरण के प्रतीक थे, सामाजिक विषय-वस्तु में वे जाति-प्रथा के आधिपत्य, धार्मिक उत्पीड़न और अन्यायों के विरुद्ध विद्रोह के नेता। उन्होंने मौलवियों, मुल्लाओं, पंडितों, पुरोहितों के धार्मिक आतंक तथा सामाजिक असमानता, वर्णगत अहंकार के व्यूहों के विरुद्ध संघर्ष करने वाले जनता के व्यापक हिस्से को अपने चारों ओर एकजुट किया तथा एक सुसम्बद्ध भारतीय संस्कृति के विकास में मदद पहुँचायी। समाज के उपेक्षित, दलित, पीड़ित वर्ग के मसीहा थे कबीर।

भाषिक रूप-विधान :

भाषा के स्तर पर पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर ने जोरदार संघर्ष छेड़ा था। कबीर का रास्ता स्वामी रामानन्द साफ कर चुके थे। रामानन्द ने जनभाषा हिन्दी को अपनाकर उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन को व्यापक जनाधार दिया तथा उसे जन-आन्दोलन का रूप दे दिया। भाषा के स्तर पर भी कबीर का संघर्ष बहुस्तरीय था। जनता तक अपनी बात पहुँचाने के लिए वे जनभाषा का प्रयोग करते हैं। पंडितों, ज्ञानियों के लिए प्रतीकात्मक भाषा, उलटबाँसियों का प्रयोग करते हैं। भाषा के क्षेत्र में कबीर अकेले हैं। इनकी वाणी साखी, सबद, रमैनी में है। उलटबाँसियां भी हैं। भाषा के बारे में दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में ही यह धारणा बद्धमूल हो चुकी थी--

''उक्तिविसेसो कव्वं भाषा जा होउ सा होउ''

परन्तु कबीर सतर्क हैं। 'साखी' दोहा शैली में है। 'सबद'पद शैली का नाम है। साखी वस्तुतः 'साक्षी' है। 'सबद' में सारी सृष्टि समाहित है। यह अनादि संगीत है, इसकी तान को 'सुरति' तथा ताल को 'निरति' कहा गया है। 'सुरति', 'निरति' दोनों मिल कर सृष्टि को पूर्ण करते है। 'रमैनी' में सरलता है। 'रमैनी' में कवि अपनी बात सीधे शब्दों में कहता है --

''अद्‌भुत रूप जाति की बानी, उपजी प्रीति रमैनी ठानी
गुनी अनगुनी अर्थ नहिं आया, बहुतक जने चीन्हि नहिं पाया।''

उलटबाँसियां नाथपंथी योगियों, सहजयानियों में खूब प्रचलित थीं। सहजयानियों में इसका एक और नाम मिलता है-- 'संध्याभाषा'। 'संध्याभाषा' का तात्पर्य ऐसी भाषा है जिसका अर्थ ठीक से समझ न आ सके। कबीर की भाषा को 'पंचमेल खिचड़ी', सधुक्कड़ी' तथा 'संध्याभाषा' भी कहा गया है। कबीर की उलटबाँसियों पर सहजयानियों का प्रत्यक्ष प्रभाव है। सूरदास के पदों में यह दृष्टिकूट तथा

कबीर की वाणी में उलटबाँसी है। उलटबाँसी कबीर की प्रिय शैली जान पड़ती है। इनके माध्यम से उन्होंने संसार की असारता, नश्वरता की बात कही है। कबीर रूपकों की पारिभाषिक शब्दावली का भी प्रयोग करते हैं। नाद, बिन्दु, अनहद नाद आदि ऐसे ही शब्द हैं।

कबीर-काव्य का भाषिक रूप विधान इस माने में विशिष्ट है कि उन्होंने जीवन के सभी क्षेत्रों के अनुभवों को विभिन्न रूपों एवम् स्वरों में व्यक्त किया है। अतएव यह आरोप कि उनकी भाषा काव्यभाषा नहीं है-- गलत है। दरअसल, जैसा कि डा० रघुवंश ने कहा है, "मानवीय व्यक्तित्व अपने सांस्कृतिक परिवेश और विकास-क्रम में भाषा के प्रतीक विधान पर निर्भर रहता आया है। वह इसलिए भी विशिष्ट हो जाता है क्योंकि काल का अनुभव सामान्य जीवनगत अनुभवों से किंचित् भिन्न और विशेष होता है।"

कवि को 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू' भी कहा गया है। मौलिक उद्‌भावनाओं से युक्त कवि भाषा के क्षेत्र में कुछ छूट भी लेता है। इस प्रक्रिया में वह काव्यभाषा का स्वरूप भी निर्धारित करता है। भाषा के क्षेत्र में कबीर ने कई तरह के प्रयोग किए हैं। उन्होंने भाषा को तोड़ा और जोड़ा है। कबीर के बाद आधुनिक हिन्दी कविता में यह प्रयोग निराला के यहाँ मिलता है। जनता तक अपनी बात पहुँचाने के लिए यह जरूरी भी है। यही कारण है कि कबीर भाषा के अनेक रूपों का प्रयोग करते हैं। उनकी अभिव्यक्तिगत सीमा असीम है। वे लोक से लोकोत्तर की बात करते हैं--

"लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल।।"

तथा

"जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तथ कथौ गियानी।।"

यह भाषा सामान्य जन की नहीं, पंडितों और ज्ञानियों की है। कबीर उनके आध्यात्मिक ज्ञान को चुनौती देते हुए प्रश्न करते हैं।

कबीर का व्यक्तित्व :

कबीर निर्भीक और अक्खड़ थे। अक्खड़ता विरासत में मिली थी। परिस्थितियाँ भी व्यक्ति को अक्खड़ बनाती हैं। कबीर और निराला के व्यक्तित्व में अद्‌भुत साम्य है। अक्खड़ और निर्भीक व्यक्ति ही विद्रोही होता है। विद्रोह के लिए भीतर की मजबूती चाहिए। मनोविज्ञान में व्यक्ति के दो प्रकार हैं -- बहिर्मुखी (Extrovert) अन्तर्मुखी (Interovert), कबीर का व्यक्तित्व मिश्रित है।

हमारे यहाँ शक्तियों के संदर्भ में द्राघिमा और लाघिमा की चर्चा है। द्राघिमा का तात्पर्य अपने को ऊपर उठाने से है, लाघिमा का अपने को लघु तथा विनम्र बनाने से। द्राघिमा आत्मविश्वास का एक रूप है, लाघिमा विनम्रता का। कबीर द्राघिमा के कवि हैं, तुलसी लाघिमा के। कबीर में गर्वोक्ति है, तुलसी में विनम्रता।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है-- "कबीर मस्तमौला थे। जो कुछ कहते थे, साफ कहते थे। जब मौज में आकर रूपक और अन्योक्ति पर उतर आते थे तब जो कुछ कहते थे वह सनातन कवित्व का श्रृंगार होता था। उनकी कविता में कभी सनातन सत्य खर्वित नहीं हुआ। जो कुछ कहते थे अनुभव के आधार पर कहते थे। इसीलिए सभी रूपक सुलझे हुए और उक्तियां बेधने वाली होती थीं। उनके प्रेम और भक्ति में वह गलदश्रु भावुकता नहीं थी जो जरा सी आंच से ही पिघल जाय। तीन प्रकार की बातें लिखते थे-- ज्ञानी और साधकों को लक्ष्य करके, जनसाधारण के लिए और अपनी मौज में। तीनों में उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली।"

कबीर का व्यक्तित्व अक्खड़ता और सहजता का मिश्रित रूप है। वे खंडन करते हैं और मंडन भी । नकार में दिशा-निर्देश भी है। वे फटकारते हैं, उपदेश भी देते हैं। उनमें जिज्ञासा और समाधान दोनों है। अपनी बातों को तार्किक परिणति देते हैं। तर्क करते हैं, चुनौती फेंकते हैं, विद्रोह भी करते हैं। यही भाव निराला में है। कबीर का जीवन चुनौतियों से भरा तथा संघर्षपूर्ण था। उनके व्यक्तित्व का निर्माण अनेक स्रोतों से हुआ था। यह उनके व्यक्तित्व की केन्द्रीय विशेषता थी। कबीर ने जीवन में कोई बंधन नहीं स्वीकारा। कबीर जीवन के मानवीय मूल्यों के प्रतिष्ठापक थे। धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से भटके हिन्दू-मुस्लिम समाज को उनके उपदेश प्रकाशस्तम्भ हैं। उन्होंने अपने लिए स्वतंत्र मार्ग चुना था जिस पर वे आजन्म चलते रहे थे। वेद, शास्त्र, पुराण सब कुछ को त्याग अकेले चलने का उनमें अद्‌भुत साहस और आत्मविश्वास था। पहुंचा हुआ संत ही ऐसा कर सकता था। उनके अन्दर एक प्रकाश निरन्तर भासमान था- ज्ञान का। इसीने उन्हें अपने समय का सबसे जुझारू व्यक्तित्व बनाया था।

सरह और कबीर :

वैसे तो संतों-भक्तों ने सिद्धों से काफी ग्रहण किया है पर, कबीर सरह के अधिक निकट हैं। सरह और कबीर में अनेक समानता है। सरह का समय कबीर से पांच-छह सौ वर्षों पूर्व है तथापि सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियाँ अभिन्न हैं।

सरह और कबीर दोनों ने सभी प्रकार के बाह्याचारों, पाखंडों का विरोध किया है। दोनों सहज जीवन, सहज आचरण पर बल देते हैं। सरह बुद्ध की

परंपरा में हैं, कबीर रामानन्द की। बुद्ध ने जनता के लिए मध्यमार्ग का उपदेश दिया था जो सहजता के काफी निकट है। संतुलित जीवन, संतुलित आचरण, जिसे बुद्ध सम्यक् आचार-विचार कहते हैं, ही जीवन का सहज पथ है। सहज जीवन से ही आत्मज्ञान संभव है। आत्मज्ञान के अभाव में मनुष्य सारा जीवन भटकता रहता है, बाह्याचारों, पाखंडों के चक्रव्यूह में फँस जाता है। कबीर सहजिया-सम्प्रदाय पर भी व्यंग्य करते हैं –

''सहज सहज सबको कहै, सहज न चिन्है कोई।
जिन सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोई।।''

सरह और कबीर भौतिक समृद्धि पर बल न देकर आत्मिक ज्ञान पर बल देते हैं। कबीर की कल्पना सहज, मानवीय है। ईश्वर के प्रति भक्ति और प्रेम सहज-भाव से होना चाहिए। धर्म-साधना पाखंड, कर्मकाण्ड-रहित होनी चाहिए। ईश्वर दिखावे में विश्वास नहीं करता। दिखावा विकार है। ईश्वर विकार-रहित है। जहाँ सहजता नहीं, वहाँ सत्य नहीं, जहाँ सत्य नहीं, वहाँ ईश्वर नहीं। कबीर सामाजिक-जीवन के अन्तर्गत ऐसे व्यक्ति को ही सच्चा मानते हैं और साधना-मार्ग के योग्य समझते हैं जो अपने सहज-जीवन में मूल्यों को अपनाता है, सन्तोष के साथ भाव-स्तर पर जीवन गुजारता है। उसकी कथनी-करनी में कोई अन्तर नहीं होता और वह निरन्तर 'सत्य' के पथ पर आगे बढ़ता है।

सरह और कबीर दोनों ने साधना-मार्ग के लिए योग्यता, ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, उदारता, सेवा, प्रेम, भक्ति, सहजता पर बल दिया है। सरह के दोहों और कबीर की वाणी को बाह्य नैतिकता से नहीं मानवीयता की दृष्टि से देखना चाहिए क्योंकि दोनों की कविता गहरे मानवीय सरोकारों से सम्बद्ध है। कबीर की निम्न साखी सरह के कितने करीब है–

''जिहि बन सींह न संचरै, पंखि उड़ै नहिं जाय,
रैनि दिवस का ग़म नहीं, तहँ कबीर रहा लौ लाइ।।''

सरहपाद–

''जेहि मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाइ पवेश।
लहि बंट चित्त विशाम करु, एहे कहिअ उमेश।।''

सरहपाद रहस्यवादी विचारक थे। कबीर भी रहस्यवादी हैं। सरह कहते हैं– ''यदि नग्न रहने से मुक्ति हो, तो कुत्ते और सियार भी मुक्त हो जायेंगे। शिला चुग कर खाने से यदि ज्ञान हो जाय, तो करि और तुरंग भी ज्ञानी हो जायेंगे। कबीर कहते हैं–

''का नांगे का बाधे चाम, जो नहिं चीन्हसि आतम राम
नांगे फिर जोग जो होई, बनका मृग मुकति गया कोई
मुंड मुंडाए जो निधि होई, स्वर्गहि भीड़ न पहुँची कोई।''

सरहपाद ने शास्त्रों को ज्ञान का ऐसा रेगिस्तान कहा है जिसकी भूल-भुलैया में पड़ कर मनुष्य कभी निकल नहीं सकता--

''गुण-वअणा-अमिअ रस, धवडि पा पिबिअउ जेहि
बहुसान्तात्थ-मरूत्थलेहिं, तिसिअ मरिब्बो जेहिं।।''

कबीरदास--

''अब मैं पाइबो रे पाइबो ब्रह्म गियान
सहज समाधें सुख में रहिबो, कोटि कलप विश्राम।''

सरह और कबीर दोनों ही संसार से पलायन की बात नहीं करते। उनके लिए संसार मिथ्या नहीं, वास्तविकता है। हाँ, वे भोग में डूब जाने के अवश्य विरोधी हैं। सरह ने देह को सबसे बड़ा तीर्थ कहा है, कबीर सहज भाव से जीवन-यापन की बात करते हैं। विषयों में न लिप्त होते हुए संसार को भोगना। उनका विरोध आसक्ति से है। यह गीता का प्रभाव है।

सरह के दोहे यदि हिन्दी कविता की गंगोत्री हैं तो कबीर की वाणी यमुनोत्री। सरह और कबीर की कविता गंगा-यमुना का वह संगम है जिसमें स्नान करने से मनुष्य सभी प्रकार के बाह्याचार, पाखंड, मिथ्याचार से मुक्त हो जाता है।

मोक्ष की अवधारणा और कबीर :

संस्कृत ग्रन्थों में मूल्य (value) शब्द के लिए 'पुरुषार्थ' शब्द का प्रयोग हुआ है। व्याख्या और विवाद के विषय तीन ही हैं -- धर्म, अर्थ और काम।

कामना के विषय दो हैं-- 'अर्थ' और 'काम'। अर्थ और काम मनुष्य की जीवनेच्छा तथा जीवन-संभोग के प्रतीक हैं। 'रामायण' और 'महाभारत' दोनों महाकाव्यों का प्रधान विषय संघर्ष है। 'रामायण' का संघर्ष स्त्री के लिए हुआ था, 'महाभारत' का सम्पत्ति के निमित्त। वैदिक आर्य ऐहिक जीवन को महत्त्व देते थे। ऋग्वेद में न आत्मा है, न ब्रह्म है, न मोक्ष है न मूर्तिपूजा। उपनिषद् युग में मोक्ष' के नए आदर्श की प्रतिष्ठा हुई। 'पुरुषार्थ' को लेकर मतभिन्नता है। शान्तिपर्व में एक चर्चा है। 'पुरुषार्थ' पर विदुर तथा पांडवों के बीच बहस हुई कि धर्म, अर्थ और काम में किसकी प्रधानता है। विदुर और युधिष्ठर ने धर्म को प्रमुखता दी। अर्जुन ने संसार को कर्ममय बनाते हुए 'अर्थ' को मुख्य माना था। भीमसेन ने 'काम' को मुख्य माना। नकुल-सहदेव ने 'धन' को प्रमुखता दी थी।

भाववादी भारतीय दर्शन 'आत्मा' को केन्द्र मानता है। भाववादी चिन्तन में संसार अवास्तविक है। भौतिक सुखों के त्याग बिना 'मोक्ष' संभव नहीं। संसार बंधन है, 'मोक्ष' बंधन से छुटकारा है; पुनर्जन्म से मुक्ति है। संतमत संसार से पलायन की बात नहीं करता। कबीर के यहाँ आसक्ति-रहित जीवन ही 'मोक्ष' है। अर्थात् निष्काम, निर्लिप्त भाव से संसार को भोगो। यह गीता का प्रभाव है। उपनिषद् व्यक्ति के मोक्ष की बात करते हैं; कबीर आदि संत समाज के मोक्ष की कामना करते हैं। संतों ने 'मोक्ष' की अवधारणा को सामाजिक-सन्दर्भ दिया। संतमत में सामाजिक मोक्ष की चिन्ता है। उपनिषद् से यह कई कदम आगे का चिन्तन है।

शंकर के मायावाद से भिन्न, संत जीवन-समर से पलायन की बात नहीं करते। अनासक्त भाव से जीवन को भोगने की बात करते हैं। कबीर ने कहा— "सभी पुरुष और स्त्री जो इस जगत् में निवास करते हैं, उसके (ईश्वर) सजीव प्रतिबिम्ब हैं।" उनकी शिक्षा थी— "केवल 'सत्य' ही स्वाभाविक है। अपने हृदय में 'सत्य' को खोजो क्योंकि बाह्य धार्मिक आडम्बरों में कहीं 'सत्य' नहीं है। 'सत्य' प्रेम में, शक्ति में और प्राणियों के प्रति दया में प्रकट होता है। घृणा पर विजय प्राप्त करो, समस्त मानव-जाति के लिए अपने हृदय का प्रेम उड़ेल दो"। क्या यह संसार से पलायन की बात है ? क्या इसमें जगत् और जीवन का स्वीकार नहीं है ? मध्ययुग के सामाजिक मोक्ष की यह विलक्षण अवधारणा ही आधुनिक युग में विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ, निराला के यहाँ नव्य वेदान्त के रूप में विकसित हुई है। कबीर का उपर्युक्त कथन आज के तनावग्रस्त, भेद-प्रधान तथा लाभ-शुभ पर आधारित समाज-व्यवस्था के लिए भी उतना ही प्रासंगिक है। ●

सन्दर्भ :

भारतीय संस्कृति	- डा० देवराज
कबीर	- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
कबीर समग्र	- डा० युगेश्वर
कबीर-एक नयी दृष्टि	- डा० रघुवंश
हिन्दी साहित्य की भूमिका	- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
भारतीय चिन्तन परम्परा	- के. दामोदरन
भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है, क्या मृत	- डा० देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय
कबीर साहित्य की परख	- आ० परशुराम चतुर्वेदी
वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन	- डा० मलिक मोहम्मद
सरहपाद	- डा० विश्वंभरनाथ उपाध्याय
राहुल सांकृत्यायन : व्यक्ति और वाङ्मय	- सं० श्रीनिवास शर्मा
Culture and Anarchy	- Matthew Arnold

वेदांत के कवि कबीर

डॉ० युगेश्वर

वेदांत में भक्ति का स्वरूप निर्धारित करते समय उसे (भक्ति को) स्वस्वरूपानुसंधान कहा गया है। जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है। स्वरूप भूलने का कारण माया है। माया में पड़ा जीव अपना स्वरूप भूलकर अपने को अन्य समझने लगता है। अतस्मिंस्तद् बुद्धिः। अन्य में अन्य बुद्धि। कबीर साहब इसका उदाहरण देते हैं -- शेर का बालक बकरों के साथ रहकर अपने स्वरूप को भूल जाता है। वह भी अपने को बकरा समझने लगता है। गुरुज्ञान से उसे अपने स्वरूप का स्मरण होता है।[1] स्वरूप अनुसंधान ही स्मृति है। प्रत्यभिज्ञा भी है। अन्य में अन्य के बोध का आरंभ अपनी विस्मृति से होता है। प्रत्येक गुरु शिष्य को स्वरूप की स्मृति कराते हैं। गीता में अर्जुन गुरु कृष्ण की कृपा से स्मृति लाभ करते हैं। स्मृतिभ्रंश का कारण है--नित्य और अनित्य में अंतर की पहचान न होना। इसलिये विवेक या स्मृति के लिये सर्वप्रथम आवश्यक नित्य पदार्थ और अनित्य पदार्थ के अंतर का ज्ञान।[2] नित्यानित्य विवेक के बाद नित्य के प्रति राग एवं अनित्य के प्रति विराग हो जाता है। परमात्मा के अतिरिक्त सभी अनित्य हैं। उनके सुख भी नाशवान हैं अतः साधक लौकिक पारलौकिक किसी भी प्रकार के सुख में लिप्त नहीं होता है। सुखों को छोड़ शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान इन छः सम्पत्तियों का सेवन करता है। मोक्ष को अपना उद्देश्य बनाता है।

देह, इंद्रिय, प्राण, मन, अहंकार, सुखादि सारे विषय, आकाशादिभूत, अव्यक्तपर्यंत संपूर्ण विश्व, माया, महत्तत्व से लेकर देह पर्यंत माया के संपूर्ण कार्य अनात्म एवं असत् हैं। जो भी दीखता या इंद्रियों द्वारा ज्ञात होता है, वह सब नाशवान हैं। केवल आत्मा ही सत् है। संत कबीर भी इसी प्रकार से संपूर्ण को अनित्य, अनात्म, असत् समझते हैं। यह संपूर्ण माया का प्रसार है। परमात्मा की लीला हो रही है। संपूर्ण दृश्य परमात्मा का खेल है। जल, स्थल का यह संपूर्ण

संसार जन्म-मरण, विरह-मिलन सब खेल हैं। आसमान, धरती, संपूर्ण प्रसार खेल हैं।[3] देवी, देवता, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, तैंतीस कोटि देवता, चौरासी लाख योनियाँ सभी परमात्मा के खेल के अंतर्गत हैं। सब में परमात्मा है। सब परमात्मा में है। परमात्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है। परमात्मा की कोई रूपरेखा नहीं है। वह संपूर्ण दृश्य से अतीत है। परमात्मा ही अनेक रूप धारण करता है। जगत् और जगत् के नानाविध रूपों में वही है। कटोस, थारी, पुरुष, स्त्री, सदाफल, नीबू, मुसलमान, हिंदू सब में सब वही है। मछली, कच्छप उन्हें फँसानेवाले जाल, धीवर (मल्लाह) आदि भी परमात्मा ही हैं। परमात्मा के अतिरिक्त और हो भी क्या सकता है ?[4] परमात्मा नित्य है। अविनाशी है। सत् है। और सब अनित्य, विनाशी, मिथ्या हैं। इसी से आचार्य शंकर कहते हैं 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। ब्रह्म ही एक मात्र सत् और सारा जगत् मिथ्या है। संत कबीर भी इस बात को अक्षरशः मानते हैं। उनकी संपूर्ण रचना इसी को अभिव्यक्त करती है। इसके साथ ही यह कि जीव और ब्रह्म दो नहीं एक हैं। माया के कारण वे दो दीखते हैं। माया के हटते ही जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं। जैसे घट का जल एवं नदी का जल एक है। किन्तु दो दीखते हैं। घट का आवरण हटते ही जल जल में मिल कर एक हो जाता है।

प्रश्न है माया क्या है ? आचार्य शंकर के अनुसार 'जो अव्यक्त नामवाली त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या परमेश्वर की पराशक्ति है, वही माया है। संपूर्ण जगत् इसी माया से उत्पन्न है। सुधीजन माया के कार्य से ही माया का अनुमान करते हैं।[5] इसे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं—माया न सत् है। न असत् है। न उभयात्मक है। न भिन्न है। न अभिन्न है। न उभयात्मिका है। न अंग सहित है। न अंग रहित है। न उभयात्मिका है । यह अनिर्वचनी है।[6] कवि होने के नाते कबीर साहब माया से बातचीत करते हैं। किन्तु यह बातचीत काल्पनिक है। माया का कोई रूप नहीं है। अरूप व्यक्तित्व है। यह अरूप माया कबीर के यहाँ आयी है। कबीर उसे लौटा रहे हैं। उन्हें माया की आँखों में विष दीखता है। दीखता नहीं, लगता है। विष लागै तुम्हारे नैना। यह माया कोई सुंदरी स्त्री है। जिसकी आँखों में विष है। इसी से कबीर दो काम करते हैं -- १. माया को बहन कहते हैं। बहन कहने से विषय विष का प्रभाव कम हो गया है। २. माया को लौट जाने को कहते हैं। माया बहन होकर विषबाण मारती है। भाई को ही फँसाती है। अतः ऐसी बहन से दूर रहना ही अच्छा है। जीव की बहन माया एक पिता की दो संतानें हैं। कबीर सावधान हैं। वरना माया तो नष्ट करना ही चाहती है। उसका तो स्वभाव है। यह माया स्वर्ग से आयी है। स्वर्ग को, संपन्नों को माया

अधिक पकड़ती है। धरती पर माया कबीर को अपना भर्ता, पति बनाना चाहती है। यह संकेत है उन ऋषियों की ओर। जिनकी साधना से भयभीत इंद्र अप्सराएँ भेजता है। अप्सराएँ ऋषि तपस्या का विघ्न बनती हैं। कबीर कहते हैं—गरीब के यहाँ नहीं, तुम सम्पन्नों के यहाँ जाओ।[7] माया स्वर्ग का, स्वर्गी सुख है। कबीर लौकिक एवं स्वर्गी सभी प्रकार के सुखों को माया मान कर उसका विरोध करते हैं। उन्हें गरीबी स्वीकार है। संत कबीर के जीवन से पता लगता है, वे साधारण परिवार के व्यक्ति थे। उनके समय तक कबीरपंथ के मठों का पता नहीं चलता है। कबीर के बाद मठ बनने लगे। इसके मुकाबले बौद्ध विहार संघाराम बुद्ध के जीवनकाल में ही आरंभ हो गये थे। बुद्ध के सहायक भी अनेक राजा और श्रेष्ठि थे। कबीर के भी संपन्न शिष्यों का उल्लेख है। किन्तु कबीर के रहन-सहन पर उनका प्रभाव नहीं है।

आचार्य शंकर के गुरु 'गोविंदपाद कहे जाते हैं। कबीर के गुरु ने भी उन्हें गोविंद का ज्ञान कराया था।[8] यह शब्द साम्य मात्र है। आचार्य शंकर के दीक्षा गुरु गोविंद संन्यासी हैं। कबीर के गोविंद परमात्मा हैं। दोनों ही व्यक्ति गुरुको सद्‌गुरु कहते हैं। उनके प्रति अत्यंत पूज्यभाव रखते हैं। उसी पूज्य भाव से स्मरण करते हैं। भगवत्कृपा से ही मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व (मुक्त होने की इच्छा) एवं महान् पुरुषों का सत्संग प्राप्त होता है। वेदांत का उद्देश्य है ब्रह्म की प्राप्ति। कबीर अब ब्रह्मप्राप्ति की स्थिति में हैं। उन्हें सहज समाधि प्राप्त हो गयी है। इसी समाधि में ब्रह्म की अनुभूति होती है। करोड़ों कल्पों तक दुख में थे। अब करोड़ों कल्पों का विश्राम (सुख) प्राप्त हो गया है। ब्रह्म की प्राप्ति ही सबसे बड़ा सुख है।[9] इसीलिये कबीर अपनी कविता को गीत नहीं ब्रह्मविचार कहते हैं - **तुम जनि जानौ गीत है यह निज ब्रह्म विचार**। कबीर की दृष्टि में सभी साधु वेदांत सिद्धांत गाते हैं। (१४७६)। जीव को संसारसागर से पार कराना ही वेदांत का उद्देश्य है, मुक्ति के लिये श्रद्धाभक्ति, ध्यान और योग को हेतु बताया गया है।

शिष्य गुरु से पूछता है—बंधन क्या है ? यह कैसे हुआ ? इसकी स्थिति कैसे है ? इससे मुक्ति कैसे संभव है ? अनात्मा क्या है, परमात्मा क्या है ? परमात्मा का विवेक कैसे होता है ? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर वेदांत को देना है। यही संत कबीर के भी प्रश्न, उत्तर हैं। संत कबीर शिष्य भी हैं। गुरु भी हैं। वे प्रत्येक मनुष्य को बंधन से मुक्ति का स्वप्रयत्न मार्ग बताते हैं। क्योंकि बंधन भी मनुष्य ने स्वतः, अपने कर्मों से पैदा किया है। अतः मुक्ति के लिये भी स्वप्रयत्न करना होगा। स्वप्रयत्न के कारण ही संत कबीर बार-बार अपने विनम्र कर्मों की चर्चा करते हैं। मुक्ति के कर्म, कर्म होकर भी अकर्म हैं। करनेवाला करके भी

कर्मों के संस्कार से मुक्त रहता है। वह अपने लिये न कर परमात्मा के लिये करता है। कर्म का मूल आवश्यकता में है। किन्तु संत की कोई आवश्यकता नहीं है। भवबंधन से मुक्ति ही उसकी आवश्यकता है। इसलिये वह कम से कम फल की इच्छा रखता है। प्रायः नहीं के बराबर। संत कर्म करते हुए कर्मों से अलग रहता है– **'सार करम हमारा कीया हम करमन से न्यारा'** हो। मुक्ति कर्म न तो शास्त्र, न सांख्ययोग, न कर्म, न विद्या से संभव दानपुण्य, तीर्थादि देव सेवन आदि भी मुक्ति में साधक नहीं हैं। वेदांत पुस्तकी ज्ञान ही क्यों ? परमात्म प्राप्ति किसी भी बाह्य से संभव नहीं है। इस परमात्मा की पराशक्ति को किसी भी अपरा से पाना संभव नहीं हैं, परमात्मा अपरोक्षानुभूति के विषय हैं। कोई भी अनुभूत दूसरों तक पहुँचाना संभव नहीं। पहुँचाने के सभी साधन अनात्म हैं। स्थूल और बाह्य हैं।

माया के कारण परमात्मा को देखना कठिन होता है। माया की दो शक्तियाँ प्रबल हैं-आवरण शक्ति एवं विक्षेप शक्ति। आवरण वस्तु के स्वरूप को ढँकता है। विक्षेप उसे भिन्नवस्तु बताता है। विक्षेप के कारण देह आत्मा दीखती है। आवरण से देह में स्थित भी परमात्मा को देखना संभव नहीं होता है- **'अगम अपार निरंतर बासा, आवत-जात न दीसा'**। आवत जात न दीसा का अर्थ है जब विषय में मन है। परमात्मा पास रहकर भी अगम्य, अगोचर है। विषय छूटने से आवागमन छूटता है। परमात्मा का प्रत्यक्षीकरण होता है। जीव और ब्रह्म की एकता हो जाती है जैसे सरिता सागर में मिलती है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म में मिल जाता है- **'जैसे सरिता सिंध समाई।'** माया जीव और ब्रह्म के बीच दीवाल का काम करती है। इसे भ्रम की भीत कहते हैं। इस भीत ने ही जीव और ब्रह्म को अलग कर रखा है। भ्रमवश जीव अपने को नहीं समझता है। ब्रह्म को नहीं समझता है। दोनों को भिन्न एवं कुछ का कुछ समझता है- **'भरम की भीत्ति को ढाहि मैदान कर अलख, अखंड जहँ रमै धीरा'** (१४२५)। भ्रम के कारण तेज धूप की चमक पानी दीखती है। हरिण पानी के लिये दौड़ता है। पानी दूर जाता है। क्योंकि वह तो पानी नहीं; पानी का भ्रम मात्र है। इसी भ्रम में दौड़ते हरिण की मृत्यु हो जाती है। जीव संसार सुख की चमक में दौड़ता है। किन्तु सुख को प्राप्त किये बिना ही मर जाता है। प्रत्येक सुख दूर से सुख दीखता है। धूप और बालू की चमक में पानी दीखता है। किन्तु पास जाने पर प्रत्येक सुख दुख बन जाता हैं। पुनः नये सुख की इच्छा दौड़ शुरू हो जाती है। और - और में जीवन बीत जाता है।

माया परमात्मा की है। परमेश शक्तिः। परमात्मा कहते हैं- माया मेरी

अर्धशरीरी और भक्तन की दासी। सत्त्व, रज, तम वाली माया त्रिगुणात्मिका है। **'तिरगुन फाँस लिये कर डोलै।'** इन त्रिगुणों के भेद भी अलग-अलग हैं। कोई हाथी चढ़नेवाला राजा है। किसी पर भार लदा है। भैंसे के गोत्रवाला है।[10] इसी प्रकार के अन्य विभाजन हैं।[11] संपूर्ण संसार पर तीन गुणों की बदली छायी है। इस बादल ने ज्ञान सूर्य को ढँक रखा है। किन्तु भक्तों के लिये यह ताड़ की छाया के समान है। अर्थात् शीघ्र मिटनेवाली है। माया बदली से बाहर रहनेवालों का कुछ नहीं होता है। माया के भीतर रहनेवाले भीग जाते हैं। जब कि वर्षा में भीतरवाला बचता है। बाहरवाला भीगता है।[12] गुण माया में है। परमात्मा निर्गुण है। निराकार है। फिर वह बिना हाथ, बिना पाँव, बिना कान, बिना आँख, बिना मुख, बिना जीभ के सब काम करता है।[13] यहाँ कर्म है। किन्तु आकार रहित कर्म है। न कर्म का आकार है। न कर्ता का आकार है। आकार केवल भाषित होता है। आकार का अध्यास है। वेदांत में तीन प्रकार के सत्य का उल्लेख है। एक है प्रातिभासिक सत्य। यह अध्यास है सत्य का मात्र आभास होता है। जैसे धूप में पानी का अध्यास होता है। संसार सत्य नहीं है। क्योंकि यह तो परमात्मा का स्वांग है। इसी से इस स्वांग का दूसरा नाम व्यावहारिक सत्य है। प्रातिभासिक ही व्यवहार के लिये माना गया है। असल तो है पारमार्थिक सत्य। परमात्मा पारमार्थिक सत्य है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' सभी उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं। प्रकाश केवल परमात्मा में है। शेष में उसकी छाया मात्र है। योगी इसी परमार्थ सत्य को पाना चाहता है। संसार के सारे व्यवहार माया जन्य हैं। प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक को सत्य नहीं कहना है। क्योंकि ये तो माया कार्य है। इस कार्य से ही माया का अनुमान होता है। माया और परमात्मा में यही अंतर है। माया कार्यनुमेया है। कार्य के द्वारा अनुमानित होती है। परमात्मा कार्य की समाप्ति, कार्यविराम के बाद की अनुभूति है। इसका मतलब कार्य छोड़ना नहीं है। किन्तु किसी भी कार्य द्वारा परमात्मा का बोध संभव नहीं है। इसी से शंकर कहते हैं- कार्य का उद्देश्य चित्त की शुद्धि है। न कि वस्तु की उपलब्धि।[14] साधक को केवल परमात्म वस्तु को पाना है। यह परमात्मवस्तु किसी कार्य वस्तु से प्राप्त होने वाला नहीं है। कबीर कर्म को छोड़ने कहते हैं। **'कर्म विकार राहतजि बैठो'** (क.स.पृ. १३९३)। कर्म विकार है। विकार का अर्थ बुराई नहीं है। यहाँ विकार विकास या रूपांतरण के अर्थ में है। प्रकृति का विकार ही सृष्टि है। प्रकृति विकार से सृष्टि बनती है। विकृत होकर सृष्टि पुनः प्रकृति में मिल जाती है। उपज और विनाश प्रकृति के कर्म विकार हैं- **'उपजन विनशन कर्महि कहिए'**। कर्म प्रकृति विकार है। परमात्मा कर्म नहीं करता है। वेदांत की प्रसिद्ध कथा है-

एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। एक खाता है। रस लेकर खाता है। दूसरा तटस्थ दर्शक मात्र है। एक है जीव। फलभोक्ता, कर्म कर्ता। दूसरा है परमात्मा। द्रष्टा मात्र। इसी बात को कबीर कहते हैं। एक पेड़ बिना जड़ का खड़ा है। यह फूलता नहीं। किन्तु फलता है। इसमें शाखा पत्र कुछ भी नहीं हैं। किन्तु कमल की गर्जना होती है। सकल कमलदल में सकल का संपूर्ण, अखंडित एवं सभी भी है। इस पेड़ पर चढ़े दो पक्षी बोलते हैं। एक गुरु है। एक चेला है। चेला रस खाता है। गुरु निरंतर खेलता है।[15] यहाँ परमात्मा ही गुरु हैं जीव चेला। इसी बात को कबीर और ढंग से भी कहते हैं। इस देह रूपी पेड़ में भोग का रस लेनेवाला एक पक्षी बोलता है। कुछ समझ में नहीं आता वह क्या बोलता है ? वहाँ डालियाँ हैं। घनी छाया है। पक्षी का वास है। सायंकाल आते ही यह पक्षी उड़ जाता है। किसी को अपना भेद नहीं बताता है। कबीर एक दूसरे पक्षी की खोज में हैं। यह पक्षी शरीर के भीतर बोलता है। यह रूप रहित है। प्रेम की छाया में बैठता है। कबीर इसी अगम पक्षी की खोज में हैं।[16]

सभी इंद्रिय संवेद्य के प्रति कबीर में वैराग्य है। क्योंकि सभी पुनरावर्तनवाले हैं। कबीर अब इस शरीर गाँव, संसार में नहीं बसेंगे। क्योंकि जीवात्मा या माया के कर्मचारी बड़े होशियार हैं। उनसे कबीर का नहीं पट सकता है। लोग झूठमूठ शरीर संसार को अपना घर कहते हैं। **'जो घर माँहैं बोलैं सोई नहीं तन तेरा'** (पृ. ६२१)। इसी कारण कबीर संसार की सभी वस्तुओं में दोष देखते हैं। सब माया है। बुरा है। यह शम है। इसी प्रकार कबीर ने दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा का प्रयोग किया है। उनकी बुद्धि सदा ब्रह्म से 'समाधान' पाती है। अपने स्वरूप को प्राप्त कर कबीर अन्य सबको छोड़ते हैं। यही मुमुक्षुता है। कबीर के विचारों में ज्ञान, भक्ति, योग, कर्म, श्रद्धा का सम्मेल है। दृश्य प्रपंच का विलय और आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के बिना नामोच्चार से कुछ भी होनेवाला नहीं है। **'नाम लिये का होई'**। शब्द में भीतर के शब्द से जुड़ने की क्षमता है। बाह्य शब्द भीतर के शब्द से जुड़ें। अनाहत बन जायँ। विषय भोग से किसी प्रकार की आशा नहीं करनी है। संत कबीर को आशा केवल राम की है। संसार की किसी वस्तु से आशा नहीं है। संसार के नाशवान् से क्यों, कैसी आशा ? संसार की कोई वस्तु मिल भी जाय तो वह न तो संतुष्ट कर सकती है। न आनन्द दे सकती है। आशा से कुछ मिलनेवाला भी नहीं है। क्योंकि फल तो परमात्मा की कृपा है। आशा दुख है। निराशी सुखी है। देह में किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होनी चाहिए। देह को कितना भी बलवान बनाओ। सजाओ। वह नष्ट होगा ही। देह दिह् संचय धातु से बना है। यह संचय प्रतिक्षण बिखर रहा है। संसार जिसे बढ़ना, वृद्ध

कहता है, वह घटना है। इसीसे घटती को बढ़ती कहने पर कबीर दुखी हो रहे हैं। देह की आसक्ति छोड़ सदा आत्मा में आनन्द करना चाहिए। आत्मज्ञान ही मुक्ति है।

वेदांत में अहंकार के लिये कोई स्थान नहीं है। वही कर्म उचित है जो प्रभु को समर्पित हो। इसलिये संपूर्ण बाह्य का निषेध कर मन को मन में प्रवेश कराना चाहिए। मन के इस निषेध एवं निरोध से मन में ईश्वरी प्रसन्नता होती है। मन के आनन्द में ही परमात्मा का साक्षात्कार होता है। परमात्म साक्षात्कार का आनन्द इतना अधिक है, आकर्षक है कि फिर संसार मिथ्या लगता है। संसार की किसी वस्तु में रुचि नहीं रहती है। रुचि कौन कहे ? विरक्ति हो जाती है। जो मन बाहर था। विषयों में था। वह अब कहाँ है? विषयी मन तो नष्ट हो गया। बाहर घूमता मन भीतर है। बाहर का मन विषयों में रमण करता था। भीतर का मन परमात्मा में रमण करता है। मन की चंचलता समाप्त हो गयी है। चंचलता अल्प में थी। पूर्ण पूर्णतः स्थिर है। मन मस्त है। परमात्मदर्शन का हीरा प्राप्त हो गया है। परमात्म क्षेत्र अगम देश है। यह जितना अगम्य है, उतना ही गमहीन। यहाँ अखंड आनन्द है। यहाँ अखंड मुरली बज रही है। प्रेम झंकृत है। प्रेम को पार कर कबीर सत्तलोक में पहुँच गये हैं। यह बिना आरपार के सुगंध उठ रही है। करोड़ों सूर्य के रंग हैं। रूप हैं। वीणा की विचित्र ध्वनि बज रही है।[17]

कबीर के गुरु रामानंद को बताया गया है। रामानंद मूलतः रामानुज सम्प्रदाय के थे। रामानुज संप्रदाय से भिन्न रामानंद राम के उपासक थे। रामानुज लक्ष्मी और विष्णु का उपासक था। संभवतः इसी से कबीर राम को विष्णु का अवतार न मान कर भी वैष्णव प्रशंसक हैं। अपने को वैष्णव कहते हैं। शंकर का अद्वैत मूलतः शैवोपासक है। कबीर शिव की निंदा नहीं करते। किन्तु वे शिव की उपासना भी नहीं करते हैं। अद्वैती होने के कारम वे सीता के उपासक नहीं हैं। क्योंकि स्त्री की उपासना संभव नहीं । स्त्री तो प्रकृति है। जड़ और माया है। संपूर्ण जीव प्रकृति है। स्त्री है। पुरुष केवल श्रीराम या श्रीकृष्ण हैं। शेष सब स्त्री माया है। कबीर की दृष्टि में संसार स्त्री और पुरुष के योग से रचित है। यद्यपि स्त्री या माया भी परमात्मा की शक्ति है। कबीर की दृष्टि में माया मुक्त सृष्टि पुरुष से पुरुष की है। उस सृष्टि में माया का कोई स्थान नहीं है। मायावाली सृष्टि नाशवान् हैं। बंधन और मोह है। पुरुष से पुरुष की सृष्टि मोक्षदायिनी है– **'पुरुष हि पुरुषा जो रचै विरला करै बिचार'**।

रामानंद की परंपरा अद्वैत की अपेक्षा विशिष्टाद्वैत की है। कबीर पर रामानंद के विशिष्टाद्वैत का प्रभाव है। राम राजा हैं। प्रभु, पति, पालन, रचना एवं

नाश कर्ता भी हैं। कबीर के राम सारा काम सगुण राम सा करते हैं। वे राम को चार भागों में बाँटते हैं–

एक राम दशरथ घर डोले, एक राम घट घट में बोलै।
एक राम का सकल पसारा, एक राम है जग से न्यारा। क.स.४६२

इन चार रामों को कबीर ने स्वीकार कर भी अंतिम या चौथे राम को अधिक महत्त्व दिया है। दाशरथी राम को तो वे बिल्कुल ही अस्वीकार करते हैं। किन्तु नहीं। वे बार-बार राजा राम भी कहते हैं। जगत व्यवहार में दाशरथी राम की भी उपयोगिता है। दशरथ पुत्र राम ही आकार राम है। क्या आकार बिल्कुल व्यर्थ है ? नहीं, व्यवहार में उसकी भी उपयोगिता है। तीन राम व्यवहार के लिये हैं। जिस घट घटवासी राम को कबीर पाना चाहते हैं, वह भी व्यावहारिक है। तीसरे राम उपाधिवाले भगवान् हैं। चौथे राम नेतिनेति हैं। उपाधि को संभवतः कबीर बिंदु राम कहना चाहते हैं। क्योंकि संसार बिंदु का ही विस्तार है। रामानंद चतुर्भुज अवतार राम के उपासक हैं। कबीर अवतार राम को किसी भी स्थिति में पारमार्थिक नहीं मानते हैं। इसके बावजूद संभवतः रामानंद के प्रभाव से ही कबीर निर्गुण, सगुण में अभेद मानते हैं। **'निर्गुण सर्गुण एकहि जानौ'** (१७६८)। सगुन निर्गुन पर ही टिका है। निर्गुन का ही स्वगत भेद सा है। इस मान्यता पर विशिष्टाद्वैत का प्रभाव है। किन्तु यह कबीर की मूल मान्यता के विपरीत है। क्योंकि कबीर की मूल मान्यता में ब्रह्म भेद रहित है। कबीर भक्त हैं। अतः भक्त के लिये प्रभु की किसी न किसी साकार की कल्पना आवश्यक है। कबीर की प्रपत्ति पर भी रामानंद का प्रभाव है। कबीर परमात्मा को मात्र ज्ञान नहीं, शरणागति, प्रपत्ति से पाते हैं। योग द्वारा हृदय में अनुभव करते हैं। कुंडलिनी जागरण, त्रिवेणीस्नान, ब्रह्मरंध्र, गगन गुफा आदि योग का प्रभाव है।

भगवान् को पति और अपने को पत्नी के रूपक पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव है। कबीर ने जीव को परमात्मा की आह्लादिका शक्ति जैसा माना है। किन्तु यहाँ भी प्रभु निरपेक्ष है! सारे प्रयत्न जीव के हैं। कबीर परमात्मा को पति मानते हैं। पति के साथ की कल्पना भी करते हैं। किन्तु प्रभु में सक्रियता का अभाव है। पति पत्नी संबंध भी एक समय दीखता है । वह है मृत्युके समय। मृत्यु पति देश जाना है। यही जीव का स्थायी निवास है। जब कि गोपियों का रास लोक परलोक दोनों में होता है। गोपियों में आनन्द की माया अधिक है। कबीर में नैहर (संसार) छूटने की पीड़ा के साथ पतिप्रभु का भय भी है। संतान और परिवार से दोनों ही मुक्त हैं। क्योंकि दोनों के संबंध मुख्यतः मानसिक हैं। मुक्ति के लिये हैं। यहाँ मुक्ति का भोग है। दोनों के भोग विषय स्वयं परमात्मा हैं। संतान दो तत्त्वों के

बीच है। एक ही तत्त्व के दो रूपों के बीच की रति में मात्र आनन्द है।

परमात्मा माता, पिता, गुरु, पति आदि है। माया जीव की माँ, मौसी, बहन, पत्नी आदि संबंधों वाली है। वह वेश्या भी है। अगम्यगमन करती है। माता होकर जीव पुत्र को पकड़ती है। माया पिता, पुत्र दोनों की पत्नी है। भक्ति और भक्तों की परंपरा में अपने को रखने के कारण कबीर ने अजामिल, गीध, शबरी, गणिका, ध्रुव, प्रह्लाद, अम्बरीष आदि भक्तों का उल्लेख किया है। परमात्मा शरणागत के रक्षक ही नहीं, अन्नदाता भी हैं। वैष्णव पुराणों पर वेदांत का सीधा प्रभाव है। ये पुराण ही कबीर के चिंतन ग्रंथ हैं। इसके अनेक उदाहरण हैं। पुराणों की कथा प्रसिद्ध है। महर्षि भृगु ने क्रोध में भगवान् विष्णु के वक्ष में लात मार दी। इसी बात को कबीर साहब कहते हैं --

'कहा विष्णु को घटि गयो जो भृगुमारी लात'। - क.स.प-.४४२

कबीर सामान्यतः अविद्या माया का ही वर्णन करते हैं। किन्तु उन्हें माया के दो भेदों अविद्या और विद्या का ज्ञान है - **'माया दोय प्रकार की, जो कोई जानै जाय। एक मिलावै राम को एक नरक ले जाय'**। (२३१)

मिलानेवाली माया सतोगुणी है। नरक ले जानेवाली अविद्या माया रज, तम वाली है। काम, क्रोध, लोभ, दंभ, असूया, अभिमान, ईर्षा, मत्सर, रजोगुणी माया के धर्म हैं। तमोगुण में आवरण और विक्षेप की प्रबल शक्ति है।

वेदांत के अनुसार सृष्टि विकास आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी और पानी से पृथ्वी में होता है। ये पाँचों तत्त्व क्रम एक दूसरे में रहते हैं। पृथ्वी में पाँच तत्त्व होते हैं। क्योंकि पृथ्वी अंतिम विकास है। आकाश शून्य है। नाश की प्रक्रिया विकास की प्रक्रिया से विपरीत है। नाश प्रक्रिया को कबीर कहते हैं-- कबीर को पुनः नहीं आना है। उन्होंने राम, शून्य को पा लिया है। पृथ्वी के गुण पानी में मिल गये हैं। पृथ्वी का गुण गंध है। पानी में विलय के बाद पृथ्वी की गंध समाप्त हो जाती है। पानी का गुण रस है। पानी अपने रस एवं पृथ्वी की गंध सहित अग्नि में मिल गया। अग्नि अपने रूप एवं दो पूर्ववर्ती (गंध एवं रस) को लेकर वायु में मिल गया। वायु का गुण स्पर्श है। वायु अब चार गुणों (रूप, रस, गंध, स्पर्श) वाला होकर आकाश, शून्य में मिल गया है। अब आकाश में पाँच गुण हैं। आकाश का गुण शब्द एवं चार पूर्ववर्ती।[19] मनुष्य स्वर्ण के गहनों से अलग दीखता भर है। गहना पुनः जल कर सोना बन जाता है। परमात्मा सब करके भी कर्मों से अलग रहता है। क्योंकि किसी भी कर्म में उसका कोई स्वार्थ नहीं है। उसकी ओर प्रकृति करती है। प्रत्येक कार्य का कारण होता है। यह कारण ही जन्म, मरण है। इस कारण निरपेक्ष कर्म से, साधक कर्म या कर्म योग से ही मिटाया जा सकता है। कर्म छोड़ कारण से मुक्ति संभव नहीं है। वेदांत में

कर्म तीन प्रकार के माने जाते हैं। संचित कर्म, जो पूर्व जन्म का कर्म है। क्रियमाण कर्म, जो किया जा रहा है। प्रारब्ध जिसका फल भोग रहे हैं। क्रियमाण कर्मों की श्रेष्ठता द्वारा ही संचित और प्रारब्ध, से भक्ति संभव है। योग कर्म संचित नहीं होता है। जैसे अग्नि में भुना बीज जन्म नहीं लेता है। कबीर पुरुष से पुरुष की रचना वेदांत के अनुसार करते हैं। प्रकृति रचना की स्वतंत्र शक्ति नहीं है। पुरुष ही रचना करने में समर्थ है--

'पुरुषहि पुरुषा जो रचै सो बिरला संसार'। ●

<u>संदर्भ संकेत</u>

1. इक केहरि सुत लाय गड़ेरिया, पाल पोस के कियो सयाना।
   रहत अचेत फिरत अजयन संग, अपना हाल कछू नहिं जाना। - क.स.प-.१२९५
2. आदौ नित्यानित्य वस्तु विवेकः। विवेक चूड़ामणि १९। .....इहामुत्र फल भोग विरागः।
3. कर्ता एक और सब खेल, मरन जनम बिरह मेल।
   खेल जल थल सकल जहाना, खेल जानौ जमीं असमाना।
   खेल का यह सकल पसारा, खेल मोंहि रहै संसारा। क.स.प-.७८२
4. आप कटोरा आपै थारी, आपै पुरिया आपै नारी
   आप सदाफल आपै नीबू, आपै मुसलमान आपै हिंदू।
   आप मछ कछ आपै जाल, आपै धींवर आपै काल। क.स. पृ. ६६१
5. अव्यक्त नाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
   कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते। वि. चू. ११०
6. वही १११
7. तुम धरि जाहु हँमारी बहिनौं, बिष लागै तुम्हारे नैना। .....
   सरगलोक सौं हम चलि आई, करन कबीर भरतारी .....
   तहाँ जाहु जहँ पाट पटंबर अगर चंदन घसि लीनौं
   आइ हमारे कहाँ करौगी, हम तो जाति कमीनौं। क.स.पृ. ६३५
8. बलिहारी गुरु आपणा गोविंद दियो बताय। - क.स. २१९
9. अब मैं पाइबो ब्रह्म गियान, सहज समाधे सुख से रहिबो, कोटि कलप बिश्राम - क.स.पृ.५२६
10. सोइ गजराज राजकुल मंडन..... और सकल ए भार लदाऊ महिषीसुत कै गोती । क.स.पृ.११९८
11. तीन गुनन की बादली, ज्यों तरुवर की छाँह।
    बाहर रहे सो ऊबरै, भीजै मंदिर मांहि। क.स.पृ. ४३०
12. बिनु हाथनि पाँइन बिन काँननि बिन लोचन जग सूझै।
    बिन मुख खाइ चरन बिनु चालै, बिनु जिभ्या गुण गावै। - क.स.पृ. ५८५
13. चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये। वि. चू. ११
14. तरवर एक मूल बिन ठाढ़ा, बिन फूले फल लागे।
    साखा पत्र कछू नहीं वाके, सकल कमल दल गाजै।
    चढ़ तरवर दो पंछी बोले, एक गुरू एक चेला।
    चेला रहा सो रस चुन खाया, गुरू निरंतर खेला। क.स.पृ. ७७१

15. वही पृ. ७६६
16. आसा बेली कर्म बन गरजै मन के साथ। तिसना फूल चमकना फल करता के हाथ। क.स.पृ. ४२९
17. मुरली बजत अखंड सदाए, तहाँ प्रेम झनकारा है
प्रेम हद तजी जब भाई, सत्त लोक की हद पुनि आई।
उठत सुगंध महा अधिकाई, जाको वार न पारा है।
कोटि भान राग को रूपा, बीन सतधुन बजै अनूपा। क.स.पृ.७७२
18. जग में चारों राम हैं, तीन राम व्यवहार
चौथ राम निज सार है, ताका करो विचार। क.स.पृ. ४६२
19. बहुरि हम काहे कूँ आवहिंगे।
बिछुरे पंच तत्त की रचना तब हम रामहिं पावेंगे।
पृथी का गुन पानी सोष्या, पानी तेज मिलावहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि, सहज समाधि लगावेंगे। क.स.पृ. ५८०

विवशता है कि वेदान्त, जो दिक् दिगन्तर में एक ही पारमार्थिक सत्ता के सिवा किसी दूसरी सत्ता को नहीं मानता-को मुझे दो भागों में बांटना पड़ रहा है- एक लोक-वेदान्त, दूसरा शास्त्रीय वेदान्त। कबीर के साथ न्याय करने के लिए, जब भी कोई विकल्प सामने हो तो संकल्प यही होना आवश्यक है कि लोक और शास्त्र को लेकर जब भी सन्देह या संभ्रम हो तो फ़ौरन शास्त्र को छोड़ो और 'लोक' को पकड़ो। लोक से शास्त्र निर्मित होते रहते हैं, शास्त्र से लोक नहीं। आचार्य शंकर लिख गए हैं-- **''समुद्रो हि तरंङ्गः, क्वचन समुद्रो न तारङ्गः।''** अर्थात् तरंग समुद्र की ही कहलाएंगी, समुद्र कभी तरंगों का नहीं कहलाता। इतना ही नहीं, आज़ से दो हज़ार साल पहले ईसा पूर्व तक में आचार्य चाणक्य ने 'अर्थशास्त्र' में एक जगह लिखा है-- **'सर्वज्ञता लोकज्ञता। सर्वज्ञोऽपि अलोकज्ञः मूर्खतुल्यः।'** यानी, सर्वज्ञ होने का मतलब है लोकज्ञ होना; जो 'सर्वज्ञ' होकर भी अलोकज्ञ है, उसे मूर्ख ही समझना चाहिए।

कबीर तक पहुँचने का सहज-सीधा मार्ग 'लोक' है, शास्त्र नहीं। लोक-व्याप्त वेदान्त-दर्शन की व्यवस्थित 'प्रतिध्वनि' शास्त्र बन जाती है। इसलिए, कबीर काव्य का सम्बन्ध शास्त्रीय वेदान्त से न होकर लोक-विकसित वेदान्त से है। जहाँ-तहाँ शास्त्रीय उक्तियाँ कबीर-काव्य में मिल जाती हैं, उनकी अपनी अदा व भाषा में। जैसे-- **'तत्त्वमसी इनके उपदेसा'** आदि। लेकिन, इन्हें कबीर के यायावरी सत्संगों में उद्धृत 'कोटेशन' से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। शास्त्रीय वेदान्त की विख्यात बृहत्त्रयी-- उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता के स्वाध्याय, मनन या अवतरण के पुष्ट व पर्याप्त संकेत कबीर-काव्य में दुर्लभ हैं। अतः एक दर्शन के रूप में वैदान्तिक सिद्धान्तों का निर्वचन, केवल तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से भले ही रोचक हो-- कबीर को उससे 'प्रभावित' बताना व्यर्थ होगा। इसीलिए, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भक्तिकाल की ज्ञानाश्रयी शाखा का समापन करते हुए 'इतिहास' में लिखते हैं-- ''निर्गुण पंथ के सन्तों के संबंध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि उनमें कोई दार्शनिक व्यवस्था दिखाने का प्रयत्न व्यर्थ है। उन पर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि का आरोप करके वर्गीकरण करना दार्शनिक पद्धति की अनभिज्ञता प्रकट करेगा।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, शुक्ल, पृष्ठ-५१)

वेदान्त का लोक-पक्ष क्या है ? प्रत्येक अणु-परमाणु में सर्वत्र एक ही परम सत्ता का दर्शन -- उसी में आत्म-दर्शन। स्वयं की सत्ता और दृश्यमान् सत्ता का अभेद। एकत्त्व की अनुभूति। एकत्व भी प्रायोजित नहीं, सहज प्रकृत्या एकत्व की अनुभूति। अतः अहिंसा, फलतः प्रेम और जीवन्मुक्त अवस्था में परम परिणति।

आचार्य शुक्ल जिसे बार-बार वर्गीकृत कर दुहराते नहीं थकते-- निर्गुण और सगुण -- कबीर इसे पहले ही खारिज कर गए हैं-- **'निरगुण सरगुण से परे तहाँ हमारा ध्यान'** और **'हद्द छांड़ि बेहद भया'**। यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि क्या कबीर के सहज लोकधर्मी वेदान्त और श्रीरामकृष्ण परमहंस सशिष्य विवेकानन्द के 'व्यावहारिक वेदान्त' में समानता है ? सोचने पर यह समानता दिखाई देगी-- अनेक सन्दर्भों में। सर्व धर्म समभाव, प्राणिमात्र को आत्मवत् मानकर उसे पीड़ा से उबारने, एकत्व-दृष्टि, अस्पृश्यता की समस्या के निवारण, हर तरह की विषमता के निषेध और ईश्वर व ज्ञान की उपासना से बढ़कर 'मानव-सेवा' पर ज़ोर आदि मिलकर कबीर और विवेकानन्द के वेदान्त को एक धरातल पर ले आते हैं-- यद्यपि दोनों मनीषी लोक और शास्त्र के **'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'** ध्रुवों से संबद्ध हैं।

परमसत्ता अनुभव-गम्य है, अभिव्यक्ति-गम्य नहीं। आँखें बन्द कर अन्तर्मुखी होते ही जो 'ब्रह्म' हस्तामलकवत् दिखाई देता है-- वही आँखें खोलकर दूसरों को बताए जाते समय अनिर्वचनीय हो जाता है। 'उसकी' अनुभूति, अभिव्यक्ति में पूर्णता नहीं पा सकती। कबीर को पढ़ते हुए और उनके द्वारा संकेतित परमतत्त्व को शब्दों की बैसाखियों से हम नहीं पा सकते। इस भारी संकट का उल्लेख स्वयं कबीर ने किया है--

बोलनां का कहिए रे भाई,
बोलत बोलत तत्त नसाई।।

अर्थात् सत्य को बताने की प्रक्रिया में सत्य विलुप्त हो जाता है। क्या करें? शब्द ही हमारा आश्रय है। हमें कबीर की ही भाँति शब्द के माध्यम से शब्दातीत को पकड़ना है, पहचानना है-- हालांकि यह प्रक्रिया कठिन है।

परमसत्ता की अनिर्वचनीयता की एक रहस्यमय झलक कबीर के शब्दों में देखें--

ऐसा लो नहिं तैसा लो, केहि बिधि कहौं गंभीरा लो।
भीतर कहूं तो जगमग लाजे, बाहर कहूं तो झूठा लो।।
बाहर भीतर सकल निरन्तर, चित्त अचित्त दोउ मीठा लो।
दृष्टि न मुष्टि परगट अगोचर, बातन कहा न जाई लो।।

(कबीर, द्विवेदी ह. प्र., २३८)

ठीक यही अवस्थिति उपनिषदों में आसानी से तलाशी जा सकती है। जैसे उपर्युक्त मंथन के समानार्थक मन्त्र देखिए-

(क) **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।**
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन।।

—तैत्तिरीय उपनिषद्, शीक्षा वल्ली, मंत्र ।।

(ख) **न तत्र चक्षुर् गच्छति, न वाक् गच्छति नो मनः।**
न विद्मो न विजानीमः यथैत्द अनुशिष्यात् ।।

केनोपनिषद्, ३

—इस तरह, वेदान्त की बृहत्त्रयी से, कबीर-काव्य के भाव और विचारों की समानता दिखाने वाले मन्त्रों, सूत्रों और श्लोकों का यहां अंबार लगाया जा सकता है और यह सिद्ध किया जा सकता है कि कबीर-काव्य में पदे-पदे वेदान्त-दर्शन के सिद्धान्त परिव्याप्त हैं। लेकिन, यहां उद्देश्य यह नहीं है। उद्देश्य तो यह है कि कबीर का जो वेदान्तिक ज्ञान-पक्ष है, वह कितना लोकोपयोगी, व्यावहारिक और उपासनानुकूल बन पड़ा है।

प्रसंगवश, एक चुभती हुई और ज़रूरी चर्चा पहले हो जाय। कबीर को लेकर आचार्य शुक्ल की 'कृपणता' से हिन्दी-जगत् सुपरिचित है— जिसकी चरितार्थता आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के हाथों 'कबीर' नामक पुस्तक से हुई। कबीर का 'ज्ञान-पक्ष' शुक्लजी के गले नहीं उतरता। वे कबीर को 'अड़क-पंडित' (गंवई पंडित) से अधिक नहीं मानते। जायसी और तुलसी के काव्य की समीक्षा करते हुए शुक्लजी 'लोक-संग्रह, लोक-धर्म, लोक-रुचि, लोक-मंगल की दुहाई देते नहीं थकते; लेकिन कबीर की समीक्षा में उनका यह लोक-नाद बहुत संकुचित और लगभग 'संकीर्ण' हो उठता है। ऐसा क्यों ?

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखते समय उन्होंने अपनी सहृदयता का 'कोटा' जायसी और तुलसी के लिए एक विमाता की भांति बचा कर रखा और कबीर के प्रति उनकी सहृदयता के अंश सायास ढूँढ़ने पड़ते हैं। बल्कि, कबीर से उनकी सहृदयता कम, 'सहानुभूति' अधिक है। शुक्लजी उनकी भाषा को 'सधुक्कड़ी', ज्ञान-पक्ष को रहस्य और गुह्य की भावना से विकृत और ऊटपटांग, रचना-प्रक्रिया को अव्यवस्थित, अद्वैतवाद के ज्ञान को स्थूल बताते हुए उनके 'पढ़े-लिखे' (अर्थात् शास्त्रज्ञ) न होने पर मानो अफ़सोस प्रकट करते हैं। ''भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित न होने पर भी कबीर की उक्तियों में **कहीं-कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है।** प्रतिभा उनमें बड़ी प्रखर थी, इसमें सन्देह नहीं।'' (इतिहास, शुक्ल, पृ० ४५) अच्छा होता, यदि यह कहीं-कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार भी नहीं होता! शुक्लजी की यह कौनसी ग्रन्थि है कि, जब वे शिष्ट, शिक्षित, संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी की बात उठाते

हैं, तो उस विराट और विशाल लोक-समुदाय को प्रायः अशिक्षित, निम्न श्रेणी और निम्न वर्ग - ऐसे विशेषण देने लगते हैं ? वही लोक-समुदाय, जो सदियों से अपमानित, उत्पीड़ित और शोषित - उसी संस्कृत - सवर्ण - समाज द्वारा होता रहा है! क्या एक महान् आचार्य द्वारा कबीर की ऐसी ही समीक्षा हो सकती थी ? क्या, उन्होंने निर्गुण-पंथ के लिए अपने हृदय के द्वार खोले ? नहीं। वे हृदय-कपाट को बन्द किए, भीतर से ही 'बेमन से' कबीर के लिए कुछ कह गए हैं ! एक महान् समीक्षक की एक महान् कवि के प्रति अवमानना की इस विडंबना में ही वेदान्त की मूल अवधारणा– 'समत्वदृष्टि' दम तोड़ देती है ! अस्तु।

वेदान्त की जो लोकाश्रित चित्तवृत्ति है, उसमें शास्त्रोक्त अद्वैतवाद के सभी घटक पहले से विद्यमान चले आ रहे हैं। यथा– जगत् का मिथ्यात्व (माया), उस परमसत्ता की अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूपता, जीव की ब्रह्म से अभेदता, ब्रह्म और माया की अनिर्वचनीयता, संसार की नश्वरता आदि। ये सभी घटक कबीर-काव्य में सुलभ हैं। वेदान्त में, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, अद्वैतवाद और अन्य सभी द्वैताद्वैत विषयक वाद शामिल हैं। फिर भी, वेदान्त की पूर्ण व सर्वसम्मत सार्थक परिणति 'अद्वैतवाद' में ही मानी जाती है और यही कबीर में सर्वाधिक रूप में निर्भ्रान्त ढंग से व्यक्त हुआ है। इस अद्वैत को लेकर आचार्य शंकर ने अत्यन्त संक्षेप में एक 'फार्मूला' प्रस्तुत किया–

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।।

यही बात बिना शास्त्र पढ़े, सहज भाव से कबीर में मिलती है–

क. पार ब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परवान।।

ख. घट मांहै औघट लह्या, औघट मांहै घाट।
कहि कबीर परचा भया, गुरू दिखाई बाट।।

ग. लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।।

घ. कबीर माया मोहनी, मौहे जांण सुजांण।
भागां ही छूटै नहीं, भरि भरि मारै बांण।।

ङ. माया महा ठगिनी हम जानी।
तिरगुन फांस लिए कर डोलै, बोलै मधुरै बानी।।

च. जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि हैं मैं नांहि।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या मांहि।।

छ. अगम अगोचर गमि नहीं, जहां जगमगै जोति।
तहां कबीरा बन्दगी, पाप पुन्नि नहिं छोति।।

आश्चर्य की बात यह है कि शास्त्रीय वेदान्त और कबीर के सहज अनुभूतिमूलक वेदान्त में कहीं भी भावगत या विचारगत अन्तर्विरोध या विरोधाभास नहीं मिलता। आश्चर्य यह भी है कि बड़े से बड़े वेदान्त के आचार्य ने, सामाजिक स्तर पर शूद्रों से अस्पृश्यता बनाए रखी और चिन्तन से समत्ववादी बने रहे– जबकि कबीर उनसे ज़्यादा ईमानदार व पवित्र हैं जो विचार और आचरण में दोहरे मानदण्ड नहीं अपनाते। वे सच्चे वेदान्ती हैं।

तथागत ने अपने शिष्य आनन्द से कहा था कि "यह जो ज्ञानरूपी नौका तुम्हें मैंने दी है, वह संसाररूपी सागर से पार उतरने के लिए है, न कि पार उतरने के बाद सिर पर ढोए-ढोए फिरने के लिए।" हजारों वर्ष की चिन्तन-परंपरा से विकसित और समृद्ध, संसार में उत्कृष्ट कोटि का ज्ञान वेदान्त है, जो भारत के लिए गर्व करने लायक है। यह उत्कृष्टता में एम्यूनिएल काण्ट के दर्शन से भी बढ़कर है। किन्तु, एक शास्त्र, दर्शन और ज्ञानधारा के रूप में यह वेदान्त ग्रन्थों और पंडितों के मस्तिष्कों की वज्रकारा को तोड़कर सामाजिक सरोकारों से नहीं जुड़ पाया। ऊँचे से ऊँचे, महान् से महान् विचार वेदान्त के ग्रन्थों में घुटते व दम तोड़ते रहे हैं।

सन्त कबीर ने वेदान्त के शास्त्रीय रूप से अनभिज्ञ और अपठित होने पर भी जीवन, समाज और मानवता के धरातल पर उसे एक उपयोगी, प्रगतिशील और व्यावहारिक आचरण प्रदान किया। समत्वदृष्टि, समत्वबुद्धि ही नहीं होती, अपितु वह कबीर जैसे सन्तों के समत्व-आचरण में ढलकर वेदान्त जैसे ज्ञान को मनुष्यता की प्रगति में नियोजित कर सार्थकता प्रदान करती है। ●

कबीर की सांस्कृतिक मनोभूमि

डॉ० रामचन्द्र तिवारी

भारतीय इतिहास में पन्द्रहवीं शती (विक्रमीय) घोर राजनीतिक उथल-पुथल, सांस्कृतिक मंथन और मूल्यगत संक्रांति की शती है। इसी शती में कबीर का आविर्भाव हुआ था। कबीर का व्यक्तित्व मूलतः एक धर्मसाधक का व्यक्तित्व है। कबीर के पूर्व भारतीय धर्म साधना उपासना भेद के आधार पर बिखर कर अनेक मत-मतान्तरों में विभक्त हो चुकी थी। बौद्ध और जैन धर्म प्रभावहीन होने पर भी क्रमशः देश के पूर्वी (बंगाल और उड़ीसा) तथा पश्चिमी (राजस्थान और गुजरात) प्रदेशों में जीवित थे। नाथ-योगियों का प्रभाव यों तो पूरे देश में था, किन्तु उत्तर-भारत में वे अब भी विशेष सक्रिय थे। शैव और शाक्त मत सीमित दायरे में सामान्य जनता पर अपना प्रभाव बनाये हुये थे। वैष्णव भक्ति आन्दोलन इस समय सबसे अधिक प्रभावशाली था। दक्षिण से चलकर यह आन्दोलन महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान से होता हुआ समस्त उत्तर भारत में फैल गया था। वैष्णव भक्ति आन्दोलन ने योगियों के प्रभाव को कम कर दिया था। इस समय तक दिल्ली में मुसलमानों का राज्य कायम हो चुका था और उस पर गुलाम वंश, खिलजी वंश, तुगलक वंश और सैयद वंश के शासक हुकूमत कर चुके थे। कबीर के समय में दिल्ली में लोदी वंश का शासन था और सिकन्दर लोदी जैसा कठोर शासक, अपना प्रभाव बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील था। इस प्रकार कबीर के समय तक भारत इस्लाम की सांस्कृतिक परिधि के भीतर आ गया था। इस्लाम के अन्तर्गत धर्म-साधना की दो धारायें थीं। एक धारा कट्टर मुल्ला-मौलवियों की थी। इनमें मजहबी जोश भरा हुआ था। दूसरी धारा उदार सूफी फकीरों की थी। सूफी फकीरों का सामान्य जनता में विशेष प्रभाव था। मुसलमान इस देश में विजेता के रूप में आये थे। इसलिये उनमें मजहबी जोश अधिक था। इस्लाम उनका राजधर्म था। इसलिये हिन्दू जनता के लिये वह एक

चुनौती के रूप में उपस्थित था। भारतीय समाज में धार्मिक बंधन कठोर नहीं थे। हिन्दुत्व की परिधि के भीतर आस्था के अनेक केन्द्र थे। इसलिये भारतीय जन मानस इस्लाम का सामूहिक और संगठित विरोध करने में असमर्थ था। वस्तुतः धर्म का सम्बन्ध आस्था से है। कोई भी धर्म राजधर्म बनकर (सत्ता से जुड़कर) आतंकित कर सकता है, जनता का विश्वास नहीं प्राप्त कर सकता। जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिये प्रत्येक धर्म को मनुष्यधर्मी होना पड़ता है। पन्द्रहवीं शती में इस देश में जो सांस्कृतिक मंथन हुआ उसके फलस्वरूप उस महत्त्वपूर्ण भक्ति आन्दोलन को व्यापक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई जो दक्षिण से चलकर उत्तर भारत में आया था, जो अपनी प्रकृति में मनुष्यधर्मी था और जिसका नेतृत्व नामदेव, कबीर, नानक आदि समाज के निचले स्तर से आये हुये भक्तों ने किया था। इनमें सबसे प्रखर और आत्मविश्वास से भरा हुआ स्वर कबीर का था।

सामान्यतः समझा जाता है कि कबीर की भक्ति-साधना नाथपंथी योगियों और वैष्णव भक्तों के संश्लेष का परिणाम है। कुछ लोगों का मत है कि कबीर पर बौद्ध सिद्धों, नाथ योगियों, वारकरी सम्प्रदाय के भक्तों, सूफियों तथा एकेश्वरवादी इस्लाम के अनुयायियों इन सभी का थोड़ा बहुत प्रभाव है। बौद्ध-सिद्धों और नाथ योगियों से कबीर का सम्बन्ध पाँच समानताओं के आधार पर प्रमाणित किया जाता है--१. उच्चवर्गीय या ब्राह्मणों द्वारा अनुमोदित व्यवस्था का विरोध, २. गुरु का महत्त्व, ३. पिण्ड-ब्रह्माण्ड की एकता, ४. 'सहज' या 'परमतत्त्व' की अवधारणा, ५. भाषा शैली एवं काव्य रूप। इसमें सन्देह नहीं कि उपर्युक्त पाँचों स्तरों पर कबीर बौद्ध-सिद्धों और नाथ योगियों से प्रभावित हैं किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि सभी स्तरों पर कबीर केवल इनके अंध अनुगामी नहीं हैं। कबीर की निजता परंपरा के अनुसरण में नहीं अतिक्रमण में है। यही स्थिति वारकरी संतों, सूफियों और इस्लाम मतानुयायियों के प्रभाव को लेकर भी है। कबीर सबसे प्रभावित किन्तु सबसे अलग हैं। कबीर मध्ययुगीन सांस्कृतिक स्रोतों के संश्लेष मात्र नहीं, इन स्रोतों के सकारात्मक मनुष्यधर्मी तत्त्वों के आधार पर एक सच्चे मानवधर्म के संस्थापक संत हैं। 'कबीर' ने अपने विचार और आचार से एक ऐसी संस्कृति को जन्म दिया है जो चिर-नूतन है। यह तो निर्विवाद है कि कबीर दास के पास ज्ञान की जो पूँजी है वह अनुभव से, सत्संग से और गुरु-कृपा से प्राप्त है। किसी भी धर्ममत की शास्त्रीय मीमांसा से कबीर को कुछ खास लेना-देना नहीं था। वे अधीत नहीं थे, बहुश्रुत थे। उनके पास सबसे बड़ी पूँजी आस्था की थी। अनेक धर्म मतों से अच्छी बातों का संग्रह कर लेने से अच्छाइयों का संदर्भकोश बन सकता है, 'आस्था' का निर्माण नहीं हो सकता। कबीर की

सांस्कृतिक चेतना का विश्लेषण करते हुये हमें ध्यान रखना होगा कि किसी भी सांस्कृतिक प्रवाह के आलोक में उन्हें ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता। कबीर ने किसकी चुनौती स्वीकार नहीं किया है और किसे चुनौती नहीं दिया है। अवधू, पाण्डेय, पीर, औलिया, मुरशिद, नबी, मुल्ला, पंडित, जोगी, जंगम, वैष्णव, शाक्त, काजी, श्रावक आदि जितने भी धर्म-प्रतिनिधि उनके समय में थे सभी को उन्होंने चुनौती दी है। यह चुनौती उनके आचार-पक्ष में आई हुई विकृतियों को लेकर दी गई है। वे अवधू से चुनौती भरे स्वर में कहते हैं--

अवधू नादैं व्यंद गगन गाजै, सबद अनाहद बोलै।
अंतरिगति नहीं देखै नेड़ा, ढूँढ़त बन बन डोलै।।

हे अवधूत ! नाद, बिन्दु गगन में ध्वनित अनाहत नाद यह सब सूक्ष्म आन्तरिक क्रियायें हैं। इनको बिना जाने वन-वन में क्या ढूँढ़ते फिरते हो ? इसी प्रकार एक अन्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पद में वे कहते हैं--

अवधू ! छाड़हु मन विस्तारा।
सो पद गहौ जाहिते सदगति, पारब्रह्म ते न्यारा।।

पूरा पद लम्बा है। पद का सार यह है कि 'परब्रह्म' अपनी आदि अवस्था में अकेला होता है। उस अवस्था में न महादेव होते हैं, न मुहम्मद, न हरि, न हजरत। न आदम होते हैं न ब्रह्मा। न धूप, न छाया। न अस्सी हजार पैगम्बर होते है न अठासी हजार मुनि। न सूर्य होते हैं न चन्द्रमा, न तारागण, न मत्स्य और कच्छप अवतार होते हैं और न यह इन्द्रिय-गोचर संसार। न वेद, न कुरान, न स्मृति न संयम। उस अवस्था में जीव की छाया तक नहीं होती। न बाँग होती है, न नमाज, न कलमा। न राम होते हैं न खुदा। 'परमपद' की उस मूल अवस्था में आदि, मध्य, अंत, की अवधारणा भी नहीं होती। मन भी उस स्थिति में नहीं होता। अग्नि, पवन, जल, आदि भूत भी उस स्थिति में नहीं होते। चौरासी लाख योनियाँ भी उस समय नहीं होतीं। उस समय प्रमाण रूप में प्रस्तुत की जाने वाली 'साखी', 'सबद' और 'बानी' भी नहीं होती। हे अवधू ! अब विचारणीय यह है कि पूर्ण ब्रह्म कहाँ से प्रकट हुए और यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई ? पूरे पद पर ध्यान दीजिए। जिन बातों को लेकर सारे धर्म और सम्प्रदाय एक दूसरे से टकराते हैं, भेद मानते हैं, और कभी-कभी एक दूसरे की जान लेने पर उतारू हो जाते हैं, उन बातों में कितना सार है ? जिसे धर्म के प्रतिनिधियों ने सत्य मान लिया है, वह सब तो मन का विस्तार है। कबीर ने इसी मनोभूमि से धर्म के ठेकेदारों को चुनौती दी है। उस समय सबसे बड़ी समस्या हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता को लेकर थी। दोनों जिन ऊपरी भेदों को लेकर टकरा

रहे थे उनके मिथ्यात्त्व को उजागर करते हुए कबीर कहते हैं–

हमारे राँम रहीम करीमा केसो, अलह राँम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई।।

वे सीधे प्रश्न करते हैं–

तुरक मसीति देहुरै हिन्दू, दुहँठा राम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरा नाहीं, तहँ काकी ठकुराई।।

कबीर के लिये अनुभूति-रहित सारा वाक्य-ज्ञान मिथ्या था। आचार-व्यवहार सम्बन्धी सारा कर्म-काण्ड व्यर्थ था। विडम्बना यह थी कि सभी धर्मोपदेशक अनुभूति को महत्त्व न देकर धर्मशास्त्रों में निरूपित ऊपरी आचार-व्यवहार को महत्त्व देते थे। इसीलिये शुद्ध-अशुद्ध का टंटा खड़ा करने वाले पंडित से वे कहते हैं– **''पाँड़े बूझि पियहु तुम पानी।**

जेहि मटिया के घर मँह बैठे, तामें सृष्टि समानी।।''

जिस तर्क से पंडित लोग नीची समझी जाने वाली जातियों के घरों में रखे हुए मिट्टी के पात्रों और उसके जल को अशुद्ध मानकर उसके पीने का निषेध करते थे उसी तर्क से कबीर यह प्रतिपादित करते हैं कि हे पाँडे ! यह मिट्टी, यह नदी का जल, यह गाय का दूध सब अशुद्ध है। इसी मिट्टीमें मरने के बाद छप्पन करोड़ यादव, अठासी हजार मुनि और जाने कितने पैगम्बर विलीन हो गये हैं। इस नदी में जिसके जल का प्रयोग आप निस्संकोच करते हैं–पशुओं और मनुष्यों की लाशें सड़ गल कर बहती रहती हैं । यह दूध, जिसे आप शुद्ध मानकर पीते हैं, पशुओं की हड्डी से झर कर और गूदे से गलकर आता है। मिट्टी में रखे हुये जल को तो आप अशुद्ध मानते हैं किन्तु नदी के जल और गाय के दूध को शुद्ध। यह कहाँ का न्याय है ?

''नदिया नीर नरक बहि आवै, पसु मानुष सब सरिया।
हाड़ झरी झरि गूद गली गल, दूध कहाँ ते आया।।
सो लै पाँडे जेंवन बैठे, मटियहिं छूति लगाया।।''

इसी प्रकार काजी को सम्बोधित करते हुये वे कहते हैं–

''काजी तैं कवन कतेब बखाँनी।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकौ नहिं जानी।।''

कबीर मनुष्य को उसके सहज रूप में महत्त्व देते हैं। मनुष्य अपने प्रकृत रूप में न तुर्क है, न हिन्दू। न शैव, न वैष्णव, न बौद्ध, न जैन। यह सारे भेद मनुष्य-कृत हैं। भेद पैदा करने वाले हैं। मनुष्य को बाँट कर छोटा बनाने वाले हैं। वे काजी से कहते हैं कि तुम धर्म के नाम पर मनुष्य की 'सुन्नति' करते हो।

सुन्नति करके तुर्क बनाते हो। यदि खुदा 'तुर्क' होने के लिये 'सुन्नति' करना जरूरी समझते तो स्वयं खत्ना करके पैदा करते ?

''जौ रे खुदा तुरुक मोहि करता, तौ आपहि कटि किन जाई।''

और यदि सुन्नति कराकर तुर्क होना है तो औरतों का क्या होगा ? सुन्नति को 'तुर्क' होने का लक्षण मान लेने पर नारी के रूप में तुम्हारा आधा समाज तो हिन्दू ही रह जाता है।

''सुनति कराइ तुरुक जौ होना, तौ औरति कौं का कहिए।
अरध सरीरी नारि न छूटैं, ताते हिन्दू रहिए।।

इसी स्तर पर ब्राह्मण को सम्बोधित करते हुए वे कहते हैं--यदि जनेऊ पहनने से मनुष्य ब्राह्मण हो जाता है तो स्त्रियों का क्या होगा ? उन्हें तो जनेऊ पहनने का अधिकार ही नहीं है। वे तो जन्म से शूद्र ही रह गईं। फिर उनका परोसा भोजन क्यों खाते हो ?

''घालि जनेऊ ब्राह्मन होता, मेहरिहिं का पहिराया।
वै जनम की सूद्रि परोसै, तुम पाँडे क्यों खाया।।

अंत में वे निर्णय के स्वर में प्रश्न करते हैं--

हिन्दू तुरुक कहाँ ते आए ? किन यह राह चलाई।।
दिल महिं खोजि देखि खोजा दे, भिस्ति कहाँ ते आई ?
छाँड़ि कतेब राम भजु बउरे, जुलुम करत है भारी।।
कबीर पकरी टेक राम की, तुरुक रहे पचि हारी।।

हिन्दू और तुर्क के बनावटी भेद को निर्मूल करते हुए कबीर सत्य को पहचानने के लिए आग्रह करते हैं। वे साफ कहते हैं कि हिन्दू और तुर्क कहाँ से आ गए ? ईश्वर ने तो 'मनुष्य' पैदा किया था। अपने दिल में ही प्रभु को प्राप्त कर सकते हो। उसके लिए 'विहिस्त' जाने की आवश्यकता नहीं। 'सत्य' को प्राप्त करने के लिए धर्मग्रंथ का आधार लेने की आवश्यकता नहीं है। कबीर ने तो दृढ़तापूर्वक 'राम' को (परम तत्त्व को) अपना आधार बना लिया है। धर्मग्रन्थों का आधार लेने वाले 'सुन्नति' कराकर तुर्क बनने वाले और धर्म के नाम पर जुल्म करने वाले तो प्रयत्न ही करते रह गए। न उन्हें प्रपंच से मुक्ति मिल पाई न वे 'सत्य' को ही पहचान पाये। सारे भेद-प्रभेद से परे जो परम तत्त्व 'राम' है, कबीर ने उसी की टेक पकड़ी है। वही कबीर की 'आस्था' का केन्द्र है। वही कबीर का स्वामी, प्रिय, प्रभू, सखा, माता-पिता, रक्षक, भ्राता सब कुछ है। वह कबीर के हृदय में ही निवास करता है। उसी से मिलकर कबीर ने सब कुछ प्राप्त कर लिया है। उसे जान लेने के बाद उन्हें कुछ भी जानना नहीं रह गया

है। उन्होंने अपने स्वत्व को उसी में लीन कर दिया है। कबीर में अब न किसी प्रकार की वासना रह गई है, न आकांक्षा। अहंकार को विगलित करके, मन के सारे विकारों को त्याग कर, भेद-बुद्धि-जनित सारे प्रपंचों से ऊपर उठकर, अपने को लोक और वेद दोनों के द्वारा विहित बाह्याचार के बन्धनों से अलग करके कबीर ने राम रूपी कसौटी पर खरा प्रमाणित किया है। यह वह कसौटी है जो भेद-बुद्धि का परिहार कर देती है, जो सुख-दुख की सांसारिक अनुभूतियों से ऊपर उठकर सच्चे साधक को सदैव आनन्दमग्न रखती है। यह वह कसौटी है जिसपर खरा उतरने के लिये अपने को मिटा देना पड़ता है। इसे स्पष्ट करने के लिये कबीर ने कुछ प्रतीकों को सामने रखा है। वे सोचते हैं कि पाषंड और अभिमान की चट्टान को तोड़ कर खण्ड-खण्ड करके बिछा देने से भगवान् मिल सकते हैं। फिर उन्हें लगता है कि तुच्छ रोड़ा होने पर भी पथिकों के कष्ट का कारण हुआ जा सकता है। रोड़े में भी अहंकार का कुछ अंश तो रह ही जाता है; तब वे सोचते हैं कि भगवान् को प्राप्त करने के लिये राह की धूल बन जाना उचित होगा। फिर उनके ध्यान में आता है कि 'खेह' भी हवा के साथ उड़ कर राह में चलने वालों के अंग को मैला करती है, इसलिए खेह होना भी ठीक नहीं। इससे बेहतर होगा कि साधक अपने को 'जल' की तरह तरल बना ले। यह प्रतीक भी उन्हें पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं कर पाता। जल भी तो कभी ठण्डा और कभी गर्म होता रहता है। द्वैत तो यहाँ भी है। द्वैत के रहते 'राम' कैसे मिल सकते हैं ? तब वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'हरिजन' को हरिरूप ही होना चाहिए।

रोड़ा होइ रहु बाट का, तजि पाखंड अभिमान।
ऐसा जे जन होइ रहै ताहि मिलैं भगवान।।
रोड़ा भया तो क्या भया, पंथी कौ दुख देइ।
हरिजन ऐसा चाहिए ज्यौं धरनी की खेह।।
खेह भई तौ क्या भया, उड़ि-उड़ि लागै अंग।
हरिजन ऐसा चाहिए ज्यों पानी सरबंग।।
पानी भया तौ क्या भया, ताता-सीरा होय।
हरिजन ऐसा चाहिए जैसा हरि ही होय।।

हरि और हरिजन एक हैं। यों कहिए कि हरिजन हरि के साथ 'एकमेक' होकर ही अपनी साधना को सार्थक बनाता है। यह अद्वैतता शास्त्रज्ञान से या जप-तप, संयम-नियम, व्रत-उपवास, रोजा-नमाज, तीर्थ-हज से नहीं निश्छल 'प्रेम' से ही प्राप्त हो सकती है। इस प्रेम-मार्ग पर चलना सबके बस की बात नहीं। यह खाला का घर नहीं है। इस पर चलने के लिए सती की मानसिक दृढ़ता और

शूर का अविचल साहस चाहिए। कबीर अपार साहस लेकर इस मार्ग पर अग्रसर हुए थे। यह कहना ठीक नहीं है कि "कबीरदास ऐसे मिलन-बिन्दु पर खड़े थे, जहाँ एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है ओर दूसरी ओर मुसलमानत्व; जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा; जहाँ पर एक ओर योग मार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्ति-मार्ग; जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण भावना।" सत्य तो यह है कि कबीरदास अद्वैत की उस मनोभूमि पर स्थित थे जहाँ आत्म और पर का, नाम और रूप का, जड़ और चेतन का, तथा हरि और हरिजन का भेद समाप्त हो जाता है।

कबीर की साधना और उनके विचारों को किन्हीं पूर्ववर्ती धर्म मतों या चिन्ताधाराओं के आलोक मे देखना उनकी स्वानुभूति की निजता या मौलिकता के साथ अन्याय करना होगा। कबीर मूलतः साधक हैं। रहस्यदर्शी हैं। परमतत्त्व को उन्होंने अनुभूति के बल पर पहचाना था। उनकी वाणी में यही अनुभूति अखण्ड आस्था के साथ व्यक्त हुई है। बौद्धिक धरातल पर कोई भी विचारक उसकी व्याख्या अपने ढंग से कर सकता है। इसीलिये कभी उन्हें 'एकेश्वरवादी' कहा गया कभी 'अद्वैतवादी' । कभी उन्हें द्वैताद्वैत विलक्षण 'समतत्त्ववादी' कहा गया कभी 'ईश्वराद्वयवादी'। कबीर की वाणियों में संगति बैठाना, उन्हें वैचारिक व्यवस्था देना यह पंडितों का काम है। इस सम्बन्ध में डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी का यह कथन सर्वथा उचित है कि "अभिव्यक्ति तो समाज-दत्त भाषा के ही माध्यम से होगी और अनुभव के लिए साधन परंपरा और निर्देश भी परम्परा से ही मिला होगा--यही कारण है कि अनुभूति के नितांत मौलिक होने पर भी साधना और अभिव्यक्ति की दृष्टि से वे किसी न किसी परम्परा से भी संबद्ध हैं।" (तंत्र और संत, पृ० ७५) इसी लाचारी के कारण 'कबीर' को भी अनेक परंपरागत पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है। लेकिन इन शब्दों का प्रयोग करते हुये भी कबीर ने उनमें नया अर्थ भरा है। कबीर के यहाँ 'सहज', 'शून्य', 'नाद', 'बिन्दु', 'सुरति', 'निरति', 'निरंजन' आदि अनेक परंपरागत (तांत्रिकों, बौद्ध-सिद्धों और नाथ योगियों में प्रचलित) शब्द प्रयुक्त हैं। इन सभी को उन्होंने अपनी आस्था के अनुसार नया अर्थ दिया है। सहज, शून्य, निरंजन ये सभी शब्द कबीर के लिये 'राम' से अभिन्न हैं। कबीर की 'निरति' भी पूर्णतः अभावात्मक नहीं है। उनके यहाँ 'सुरति' के 'निरति' में समाने से सिंह द्वार खुल जाता है और 'शिवत्व' की अनुभूति होती है। कबीर का 'परमतत्त्व' राम से अभिन्न है। इसीलिये परमतत्त्व वाची सभी परंपरागत शब्द उनके यहाँ 'राम' के द्योतक हैं।

'संस्कृति' वह मानवीय मूल्यवत्ता है जो चेतना का संस्कार और परिष्कार

करके मनुष्य को सभी प्रकार के भेदों से ऊपर उठा देती है। संस्कृत-मानस पारदर्शी होता है। कबीर की मनोभूमि पूर्णतः संस्कृत है। इसीलिये वह पारदर्शी भी है। उनका युग संक्रांति का युग है। धर्म और साधना के क्षेत्र में ही नहीं जीवन के सभी क्षेत्रों में भेद-भाव की पराकाष्ठा उस युग की सामान्य विशेषता है। शासक-शासित, धनी-गरीब, ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू-तुर्क का भेद तो है ही शैव, शाक्त, वैष्णव, योगी, सिद्ध, श्रावक आदि अनेक धर्ममत भी अपनी रूढ़ियों और विकृतियों के साथ उनके युग में विद्यमान हैं। कबीर के पारदर्शी मानस में ये सारे भेद, यह सारी विकृतियाँ साफ-साफ उभर आई हैं। वे ऐसे साधक नहीं हैं जो आत्मलीन होकर एकान्त में पड़े रहें। वे जगत-गति से आन्दोलित होते हैं और जहाँ कहीं उन्हें आडम्बर, संकीर्णता, भेद-भाव और थोथा अहंकार दिखाई पड़ता है, वहाँ प्रहार करते हैं। इसीलिए सामाजिक धरातल पर उनके विचार क्रांतिकारी प्रतीत होते हैं। समाज सुधार चाहे उनका लक्ष्य न हो, लेकिन सामाजिक कुरीतियों पर उनके द्वारा किया गया प्रहार अत्यन्त सार्थक और प्रासंगिक है। वे अच्छी तरह जानते हैं कि 'तत्त्व' एक और अद्वय है। इसलिये सभी प्रकार के भेद झूठे और थोथे हैं। कबीर ने बोध के धरातल पर, अनुभव के स्तर पर, सत्य का साक्षात्कार किया है, इसलिये उनका सत्य उनसे अलग नहीं है। वे सत्य को जीते हैं। अद्वैतता को चरितार्थ करते हैं। उनकी वाणी को उनकी क्रिया प्रमाणित करती है। इसीलिये उनके शब्द छूछे नहीं हैं। संस्कृति, धर्म, साधना, यह सब उनके लिये पोथियों में लिखे गये कोरे शब्द नहीं हैं, इन सभी को उनके आचरण से अर्थ प्राप्त होता है। इसी बिन्दु पर कबीर अपने युग के अन्य साधकों से अलग हो जाते हैं। कबीर के मानस का साक्षात्कार करने के लिये हमें स्वयं अपनी चेतना को परिष्कृत और संस्कृत करना होगा। अभेद की उस भूमि तक पहुँचना होगा जहाँ खड़े होकर कबीर ने अपने युग के प्रोंगापंथी धर्म-नेताओं को चुनौती दिया था। केवल यह कहने से काम नहीं चलेगा, कि कबीर संतमत के प्रवर्तक हैं और "संतमत का चरम तत्त्व 'द्वयात्मक अद्वय' है--समरस है--आगम सम्मत अद्वैत है।" यह तो कबीर को उसी पुस्तक-ज्ञान में बाँधना हुआ जिसका उन्होंने विरोध किया था। 'कबीर' को समझने के लिये 'प्रीति' की 'पीर' उत्पन्न करनी होगी। आत्म का प्रसार करना होगा। भेद-बुद्धि को मिटाना होगा। 'भेद' की पूँछ पकड़ कर संसार से पार नहीं उतरा जा सकता। कबीर को तो इसी बात की कसक थी कि लोग भेद की पूँछ पकड़कर संसार-सागर से पार होना चाहते थे- **कबीर इस संसार को समझाऊँ कै बार। पूँछ ज पकड़ै भेद की, उतर्‌या चाहै पार।।**

काश, कबीर ने जो समझाया था हम उसे समझ सके होते। ●

कबीर के कवित्व का स्वरूप

डॉ० दिनेश्वर प्रसाद

कबीर के कवित्व के प्रसंग में हिन्दी समीक्षा के असमंजस का इतिहास लगभग एक सदी पुराना है। जहाँ उनके कवित्व की महिमा के सम्बन्ध में, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के "कबीर" (१९४० ई०) के प्रकाशन के बाद, हिन्दी समीक्षा की आश्वस्ति बढ़ती गयी है और उसके विश्लेषण के कई सार्थक प्रयत्न हुए हैं, वहाँ उनके कवित्व के संरचनात्मक वैशिष्ट्य की ब्योरेवार पहचान अब भी बाकी है। वस्तुतः तुलसी, सूर, जायसी या उनके बाद के रीतिकालीन और आधुनिक बड़े कवियों के कलात्मक प्रतिमानों का जितना विस्तृत और सुसम्बद्ध निरूपण हुआ है, उतना कबीर के काव्य प्रतिमानों का नहीं। सच तो यह है कि वह आज भी हमारे समीक्षकों के लिए चुनौती बने हुए हैं।

कबीर कवि ही नहीं, महाकवि हैं -- इसका सबसे बड़ा तर्क यह है कि वह पढ़ते ही बड़ी गहराई से प्रभावित करते हैं। उनकी वाणियों से एक बार भी मनोयोग से गुजरने पर कोई उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। वह केवल सामान्य सहृदय पाठक को ही अभिभूत नहीं करते, जड़ काव्यशास्त्री भी उनकी उपस्थिति में अस्तव्यस्त हुए बिना नहीं रह पाता और अपनी पराजय को उनके आंशिक स्वीकार या पूरे नकार के रूप में प्रकट करता है। स्वविवेक और स्वानुभूति से निर्मित उनका विचार-संसार कट्टर रूढ़िवादियों को विक्षुब्ध, उत्तेजित और विचलित करता है, क्योंकि वह उनके विचार-संसार के विरोध में खड़ा होकर उसके अन्तर्विरोधों को उजागर करता है।

कबीर के कवित्व के मूल्यांकन का इतिहास बतलाता है कि उसके प्रति पूर्णतः आश्वस्त लोगों ने उसके विश्लेषण का व्यापक और समग्र प्रयत्न नहीं किया है। लेकिन यह भी सच है कि उनके कवित्व को नकारने वाली समीक्षा परम्परा को उसके मूल्यांकन के लिए प्रयुक्त कसौटियों के खरेपन पर बारम्बार

पुनर्विचार करने की लाचारी झेलनी पड़ी है और पूरे नकार को अधूरे सकार में बदलना पड़ा है। इसके उदाहरणों का एक पूरा इतिहास हमारे सामने है।

कभी हिन्दी के प्रारम्भिक समीक्षकों में उल्लेखनीय मिश्रबन्धुओं के मन में विक्रमादित्य और अकबर के दरबार के नवरत्नों की तरह हिन्दी के दरबार के नवरत्नों की खोज की इच्छा उत्पन्न हुई और उन्होंने अपनी यह खोज हिन्दी नवरत्न (१९१० ई०) के रूप में प्रस्तुत की। उनकी खोज के 'हिन्दी नवरत्नों' में कबीर का उल्लेख नहीं है। किन्तु मिश्रबन्धुओं के दुर्भाग्य से हिन्दी नवरत्न के प्रकाशन के बाद कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पुस्तक 'वन हंड्रेड पोइम्स आफ़ कबीर' (१९१४ ई०) इण्डिया सोसाइटी, लन्दन से प्रकाशित हुई, जिसमें कबीर की सौ कविताओं का अँगरेजी में अनुवाद किया गया है। शीघ्र ही इस पुस्तक के रूसी, फ्रेंच, इटालियन, डच और स्पेनिश अनुवाद प्रकाशित हुए और कबीर की कीर्ति देशान्तरव्यापी हो गयी। यह बात बहुत कम लोगों को मालूम है कि रवीन्द्रनाथ से पहले प्रसिद्ध अँगरेजी कवि एज़रा पाउण्ड, कबीर का अनुवाद प्रारम्भ कर चुके थे। उन्होंने 'कबीर' के दस पदों का अँगरेजी अनुवाद कलकत्ता के मॉडर्न रिव्यू (जून, १९१३ ई०) में प्रकाशित किया था और बाद में कुछ अन्य रचनाओं का अनुवाद और एक टिप्पणी एक स्वतंत्र पुस्तिका के रूप में छापी थी। रवीन्द्रनाथ और एजरा पाउण्ड, दोनों को कबीर के अनुवाद की प्रेरणा आचार्य क्षितिमोहन सेन के 'कबीर' में संकलित रचनाओं से मिली थी। यह पुस्तक बँगला में १९१० ई० में प्रकाशित हुई थी। किन्तु हिन्दी समीक्षा के लिए महत्वपूर्ण बात रवीन्द्रनाथ द्वारा कबीर को प्रदत्त वह सम्मान है, जिसने मिश्रबन्धुओं के साहित्य-विवेक को कठघरे में लाकर खड़ा कर दिया और उन्होंने अपनी लाज बचाने के लिए हिन्दी नवरत्न के दूसरे संस्करण (१९२४ ई०) में कबीर को सातवें स्थान पर सम्मिलित कर लिया।

मिश्रबन्धुओं के बाद की हिन्दी समीक्षा की एक पूरी परम्परा कबीर की कविता के मूल्यांकन को लेकर असमंजस झेलती रही है। जहाँ एक महान, मौलिक और क्रान्तिकारी चिन्तक के रूप में उनकी मान्यता बढ़ती गयी है, वहाँ आज भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनके कवित्व के स्वतंत्र विश्लेषण का कोई बड़ा कार्य हुआ है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' (१९४१ ई०) के पूर्व उन पर जो भी लिखा गया, वह उनके कवित्व की महिमा के प्रति अधूरी आश्वस्ति या उसके प्रायः नकार का द्योतक है। 'मिश्रबन्धु विनोद' में मिश्रबन्धुओं ने लिखा कि "इनमें (अर्थात् कबीर में) न तो कला - पक्ष की महत्ता है, न हृदय पक्ष की; किन्तु मस्तिष्क - प्रबलता इनमें बहुत चोखी है।" (पृष्ठ १०३) "कबीर-

वचनावली'' की भूमिका में हरिऔध ने शब्द भेद से यही बात कही है: ''(कबीर के) इन ग्रन्थों की अधिकांश कविता बहुत साधारण है। कबीर साहब के ग्रन्थों का आदर कविता की दृष्टि से नहीं, विचार की दृष्टि से है।'' (पृष्ठ ३०) इनकी तुलना में 'कबीर ग्रन्थावली' (१९२८ ई०) के नाम से कबीर की समस्त रचनाओं के प्रथम संकलनकर्ता डॉ० श्यामसुन्दर दास की स्थिति कुछ भिन्न है। किन्तु यह भिन्नता ऐसी नहीं है, जो अन्तर्विरोध रहित हो। इस पुस्तक की भूमिका में वह कहते हैं कि ''उनकी आधी से अधिक रचना दार्शनिक पद्यमात्र है जिसको कविता नहीं कहना चाहिए'' (पृ. ६६)। 'लेकिन इसके बाद जो आधा बच जाता है, वह सच्चा और श्रेष्ठ काव्य है: ''इसमें सन्देह नहीं कि कबीर में ऐसी भी उक्तियाँ हैं जिनमें कविता के दर्शन नहीं होते - और ऐसे पद्य कम नहीं हैं - किन्तु उनके कारण कबीर के वास्तविक काव्य का महत्व कम नहीं हो सकता, जो अत्यन्त उच्च कोटि का है'' (पृ. ६३)। डॉ० श्यामसुन्दर दास को कबीर में वे सभी विशेषताएँ मिलती हैं जो किसी व्यक्ति को कवि बनाती हैं। उनकी दृष्टि में कबीर की 'प्रतिभा हृदय - समन्वित है' और 'हृदय की उमंग की लपेट में जो सहज विदग्धता उनकी उक्तियों में आ गई है, वह अत्यन्त भावापन्न है।' किन्तु जब वह कहते हैं कि 'उनकी कविता में साहित्यिकता का सर्वथा अभाव है' (पृ. ६६) तब कबीर के सम्बन्ध में उनकी विचार-पद्धति के अन्तर्विरोध स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं। उनकी भूमिका के बाद के पृष्ठों से भी यह बात सामने आती है कि कबीर के कवित्व की उत्कृष्टता की स्वीकृति के बावजूद वह उसका स्पष्ट और विश्वास्य मानचित्र बनाने में असमर्थ रहे हैं।

इस प्रसंग में कबीर की कविता के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की स्थिति निर्भ्रान्त रही है। पूरे निर्गुण पंथ के विषय में उनकी धारणा यह है कि 'संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पन्द्रहवाँ पुनर्मुद्रण, पृ० ७३)। वह यह स्वीकार करते हैं कि कबीर की 'प्रतिभा बड़ी प्रखर थी और उनकी उक्तियों में कहीं - कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है' (पृ० ८२), लेकिन वह उनके कवित्व को उतना भी विचार योग्य नहीं मानते, जितना भक्तिकाल या रीतिकाल के कई कवियों को।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' का इस दृष्टि से युगान्तरकारी महत्त्व है। यह पुस्तक कबीर के लिए वही काम करती है, जो काम आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास, गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास और जायसी ग्रंथावली की भूमिका द्वारा तुलसी, सूर और जायसी के लिए किया है। यह पुस्तक कबीर

को हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना प्राप्य दिलाती है तथा उनकी विचारधारा के क्रान्तिकारी स्वरूप और प्रासंगिकता का ही नहीं उनके कवित्व की महिमा का भी निरूपण करती है। द्विवेदी जी ने कबीर के कविरूप के विषय में जो कुछ कहा है, वह इस सम्बन्ध में विचार के पूरे परिदृश्य को बदल देता है और उनके महाकवित्व की स्थापना करता है। वह शास्त्रीय और अभिजात संस्कार-संवलित कविता से भिन्न ठेठ लोक परम्परा की कविता की संरचनात्मक भिन्नता और सम्भावनाशीलता को भी सामने लाता है। किन्तु द्विवेदी जी का 'कबीर' पूरे ब्योरे में जाकर, एक स्वतंत्र विषय के रूप में, कबीर के कवित्व पर विचार की अपेक्षा भी पैदा करता है। इस प्रकार का कार्य करने के लिए कबीर - सम्बन्धी बहुत-सारे पूर्वाग्रहों से मुक्त होने की जरूरत है।

कबीर सम्बन्धी ऐसे ही पूर्वाग्रहों में एक है - उनकी कविता के मूल्यांकन के एक निर्णायक आधार और सीमा के रूप में उनके अशिक्षित होने की धारणा।

सच तो यह है कि कबीर के शिक्षित या अशिक्षित होने का उनके कवित्व के मूल्यांकन में कोई निर्णायक महत्त्व नहीं है। उन्होंने कविता के व्याकरण या शास्त्र का अध्ययन भले ही नहीं किया हो, उनकी रचनाएँ इसकी साक्षी हैं कि वह अपने समय की काव्य रचना-परम्परा से पूरी तरह परिचित थे। यह परम्परा उन्हें लोकश्रुति या मौखिक रूप से प्राप्त हुई थी। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन कवियों द्वारा प्रयुक्त काव्यरूपों, छन्दों और वाग्विकल्पों की जो सम्पदा साधु-संन्यासियों और लोक गायकों के सम्पर्क से मौखिक रूप में प्राप्त की थी, वह उनके रचनात्मक मानस का प्रकृत अंग बन गयी थी। यदि वह स्वभाव से ही कवि नहीं होते, तो यह मौखिक परम्परा उनके भावों और विचारों की अभिव्यक्ति का साँचा नहीं बनती। वस्तुतः जब आदमी लिखना-पढ़ना नहीं जानता था, उसने लिपि का आविष्कार नहीं किया था और उसने शिलालेख और ग्रन्थ-जैसे माध्यमों की खोज नहीं की थी, तब भी वह कविता करता था। समाज-विशेष द्वारा विकसित कविता के छोटे और बड़े ढाँचे, श्रुति और आवृत्ति द्वारा, उसके मानस में इस तरह अवस्थित हो जाते थे कि वह उनका उपयोग अपनी रचनात्मकता के बने-बनाये, सहजलब्ध साँचों के रूप में करता था। समस्त वैदिक साहित्य इसी बात का उदाहरण है और यह कहना कठिन है कि रामायण एवं महाभारत के कितने अंश लिखित परम्परा के हैं और कितने मौखिक परम्परा के।

यदि यह सच नहीं होता, तो कबीर ने अनायास ही दोहा, चौपाई और पद-बन्धों का उपयोग नहीं किया होता और उनके साहित्य में अपने युग के वे काव्य-

रूप नहीं मौजूद होते, जो उसमें वसन्त, चाँचर, बिरहुली, कहरा, हिंडोला, चौंतीसा, विप्रमतीसी, उलटबाँसी आदि के रूप में मिलते हैं। इन रूपों में से अनेक का वह नामतः उल्लेख करते हैं; जैसे-

(क) जहाँ बारह मास बसंत होय, परमारथ बूझै बिरला कोय।

(ख) आदि अंत नहिं होत बिरहुली, नहिं जर पल्लो पेड़ बिरहुली।

(ग) भरम हिंडोलना झूलै सब जग आय।

(घ) दास कबीर कीन्ह यह कहरा, महरा माहिं समाना हो।

(ङ) सुनहु सभन्हि मिलि विप्रमतीसी।

यही नहीं, जिस तरह कबीर की रचनाओं का राग-रागिनियों में वर्गीकरण किया गया है, उससे यह संकेत भी मिलता है कि वह अपने युग के लोकप्रिय संगीत रूपों से भी परिचित थे और उन्होंने इनका उपयोग कविता के साँचों के रूप में किया था।

कबीर के अशिक्षित होने को उनकी आशंसा का आधार बनाने के कारण उनके समीक्षक एक अन्य असमंजस का सामना करते रहे हैं। उनके मन में यह धारणा बद्धमूल हो गयी है कि काव्यशास्त्र के मानकों का बोध केवल शिक्षित कवियों को होता है । यही कारण है कि काव्यशास्त्र की दृष्टि से कबीर की कविता के विश्लेषण का कार्य या तो निरर्थक मान लिया गया है या बहुत-कुछ संकोच के साथ हुआ है। किन्तु ब्योरे में जाकर देखने पर कबीर के प्रसंग में भी इसकी कसौटियाँ वही सार्थकता रखती हैं, जो सुशिक्षित कहे जाने वाले कवियों के प्रसंग में। यह बात उदाहरणों द्वारा स्पष्ट हो जाती है कि उनमें न तो ध्वनि और वक्रता के विविध रूपों का अभाव है, न ही अलंकारों का। इसके कारण स्वयं काव्यशास्त्र में मौजूद हैं। रीति और अलंकार, ध्वनि और वक्रता कविता पर बाहर से आरोपित न होकर उसके स्वभाव के अंग है, वे काव्यभाषा के अलग - अलग आयामों के संरचनात्मक लक्षण - संकुल हैं। इसलिए कबीर में उनके सन्धान की चिन्ता से कहीं अधिक महत्त्व उनमें रीति, अलंकार, ध्वनि, वक्रता, रस आदि में से प्रत्येक के सन्दर्भ में उसके भेदों की बारम्बारता और अनुपात की जानकारी का है। इससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि उनमें किन अलंकारों का प्रयोग सर्वाधिक बार हुआ है, ध्वनि और वक्रता के किन-किन भेदों की संख्या सबसे अधिक है याकि रस के किन भेदों को अधिमान मिला है। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल के ये संकेत एक आधार का काम दे सकते हैं:

"इनकी उक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था; जैसे-

है कोई गुरुज्ञानी जगत महँ उलटि बेद बूझै।
पानी महँ पावक बरै, अंधहि आँखिन्ह सूझै।।
गाय तो नाहर को धरि खायो, हरिना खायो चीता।

अथवा-

नैया बिच नदिया डूबति जाय।

अनेक प्रकार के रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा ही इन्होंने ज्ञान की बातें कही हैं, जो नई न होने पर भी वाग्वैचित्र्य के कारण अपढ़ लोगों को चकित किया करती हैं। अनूठी अन्योक्तियों द्वारा ईश्वर प्रेम की व्यंजना सूफियों में बहुत प्रचलित थी.....। (इतिहास, पृ० ८०-८१)

कबीर में उपलब्ध काव्यशास्त्रीय युक्तियों के उल्लेख का प्रयोजन यह बतलाना नहीं है कि वह इनसे नामतः परिचित थे। इसका प्रयोजन मात्र यह संकेत करना है कि कोई रचनाकार सुशिक्षित हो या अशिक्षित, काव्यशास्त्रविद् हो या काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से अनभिज्ञ, भाषा का प्रयोग करने पर वह अनायास ही इनका प्रयोग कर रहा होता है। वस्तुतः किसी काव्यशास्त्रीय युक्ति के भेदोपभेदों की बारम्बारता और अनुपात का सम्बन्ध रचनाकार के सम्प्रेष्य या संवेदना के स्वरूप से होता है। इसलिए कबीर की कविता की बनावट और उनकी भाषा के विभिन्न रंगों की समझ के लिए उनके सम्प्रेष्य की समझ आवश्यक है।

कबीर के सम्प्रेष्य या विषयक्षेत्र को केवल उपदेशात्मकता और रहस्यवाद तक सीमित मानना सही नहीं है, बल्कि उसकी परिधि में उनके युग का समस्त सामाजिक-सांस्कृतिक और भौतिक परिवेश सम्मिलित है। उनके विषयक्षेत्र के अन्तर्गत अनेकानेक प्राकृतिक वस्तुएँ और दृश्य हैं, ग्राम और नगर जीवन की बहुत सारी छवियाँ हैं, सभी वर्ग और प्रमुख जातियाँ हैं, विभिन्न व्यवसाय और कारोबार हैं, सभी धर्म और सम्प्रदाय हैं और सभी प्रमुख विचार-परम्पराएँ हैं। उसके अन्तर्गत मनुष्य और मनुष्य, मनुष्य और प्रकृति तथा मनुष्य और परमसत्ता के वे सारे सम्बन्ध हैं, जो काल विशेष के चरित्र को निर्मित और परिभाषित करते हैं। किन्तु कबीर का सब कुछ केवल इतना और यही नहीं है। इन सब के भीतर और इन सब के ऊपर विराजता है उनका अपराजेय, सप्रश्न और प्रखर बौद्धिक व्यक्तित्व, जो दूसरों की प्रसन्नता और अप्रसन्नता, समर्थन और विरोध की चिन्ता किये बग़ैर उनकी जाँच परख कर सही को सही और ग़लत को ग़लत कहता है। इस प्रकार के बहुत - सारे प्रसंगों में उनका असहमतिवादी स्वर आक्रोश और व्यंग्य, भर्त्सना और अवमानना के आवेश के

रूप में अभिव्यक्त होता है।

कबीर के वस्तुगत वैविध्य की तरह ही उनका भावात्मक और विचारात्मक वैविध्य आश्चर्यजनक है। उनमें आक्रोश और व्यंग्य ही नहीं, कोमल और तरल अनुभूतियाँ भी हैं। उनमें अपने समय के सामाजिक जीवन के बड़े संवेदनशील चित्र मिलते हैं। उनके भाव-जगत का एक बड़ा भाग भक्ति और आध्यात्मिक दाम्पत्य प्रणय की अन्तरंग अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखता है। उन्होंने प्रकृति को भले ही माया कहा हो, उनकी अन्योक्तियों, रूपकों, अतिशयोक्तियों और दृष्टान्तों में उसके भीषण, कोमल और अद्‌भुत चित्र मिलते हैं। उनके विचारों की दुनिया केवल तर्क-वितर्क से नहीं बनी है, बल्कि उसमें मानव अस्तित्व के उन बुनियादी प्रश्नों पर भी विचार किया गया है, जो शताब्दियों से मनुष्य की चिन्ता के केन्द्र में रहे हैं। उनके विचार-संसार के ही अंग हैं मनुष्य के मनोविज्ञान, व्यवहार, पारिवारिक-सामाजिक सम्बन्ध आदि अनेक छोटे-बड़े विषयों पर उनके अभिमत और निर्देश, जो अपने समय की जनता के मार्गदर्शन के लिए प्रस्तुत किये गये हैं और जिन्हें नीति और उपदेश के खाते में डाला जाता रहा है।

अभिप्राय यह कि कबीर का सम्प्रेष्य या विषयजगत् बहुत बड़ा है। स्वाभाविक है, इसकी अभिव्यक्ति के लिए वह अपने युग के सभी उपलब्ध काव्यरूपों और भाषिक उपकरणों का उपयोग करते हैं। यह कहना कि उनकी भाषा अनगढ़, ऊबड़खाबड़ और पँचमेल है, उनकी सूक्ष्म भाषिक चेतना की अवमानना करना है। उनकी एक साखी है:

सोई आखर सोइ बैन, जन जू - जू वाचवंत।
कोई एक मेले लवनि, अमीं रसाइन हंत।।३३।७

वही अक्षर हैं, वही वाणियाँ हैं, जिन्हें लोग बोलते (बाँचते) हैं। लेकिन कोई एक व्यक्ति ऐसा भी होता है , जो उन्हीं अक्षरों और वाणियों में अपनी आत्मा का लवण या लावण्य मिला देता है, तो वे अमृत रसायन बन जाते हैं।

यद्यपि 'विचार कौ अंग' की इस साखी का अर्थ पाठक (बाँचने वाले) के पक्ष में घटित किया जाता रहा है, किन्तु यह रचनाकार के विषय में भी समान रूप से सत्य है। लोग जिन अक्षरों और वाणियों का प्रयोग करते हैं, कविता में उनका ही प्रयोग होता है, किन्तु रचनाकार की आत्मानुभूति के लावण्य से दीप्त होकर वे ही गुणात्मक रूप में परिवर्तित हो जाते हैं और असामान्य आकर्षण से भर उठते हैं।

जो व्यक्ति व्यवहार भाषा के काव्यभाषा बनने की प्रक्रिया से परिचित हो, उसकी भाषा के विषय में यह कहना काफी नहीं है कि वह अनपढ़, ऊबड़खाबड़

और पँचमेल है। ऐसा कहना इस प्रश्न से कतराना है कि वह किस प्रकार इस तथाकथित अनगढ़ भाषा के उपयोग द्वारा मनचाही अभिव्यक्ति करते और अपनी कविता में विविध रंग घोलते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर तभी सम्भव है, जब हम कबीर की रचना की प्रकृति को समझने का प्रयत्न करें।

कबीर ने अपनी कविता के उपकरण केवल योग और दर्शन से नहीं लिये हैं। उन पर दुरूहता और रूक्षता का आरोप लगाने वाले समीक्षक इन उपकरणों का उल्लेख विशेष रूप से करते हैं। सच तो यह है कि उन्होंने योग, तंत्र और दर्शन से जितने उपकरण लिये हैं, उनसे कई गुना अधिक अपने आसपास के मूर्त संसार से। ये उपकरण उनके निजी पेशे, बाजार और व्यापार, खेत-खलिहान और किसानी, गाँव और घर, अपने समय के प्रशासन तंत्र, विभिन्न वर्गों के जीवन आदि के हैं। वह इनका बहुविध प्रयोग करते हैं। वह इनके द्वारा भावों के सम्प्रेषण के विविध ढाँचे तैयार करते हैं और कभी कभी एक केन्द्रीय भाव या विचार की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति की एक समग्र और बड़ी इकाई निर्मित करते हैं; जैसे-

जतन बिनु मिरगनि खेत उजारे।
टारे टरत नहीं निसु बासुरि, बिडरत नांहिं बिडारे।
अपनैं - अपनैं रस के लोभी, करतब न्यारे - न्यारे।
अति अभिमांन बदत नहिं काहू, बहुत लोग पचि हारे।
बुधि मेरी किरषी गुरु मेरो, बिझुका, अक्खिर दोइ रखवारे।
कहै कबीर अब चरन न देइहौं, बेरियाँ भली संभारे।।

खेती - किसानी कोई साधारण काम नहीं है। थोड़ी भी असावधानी हुई कि इसे बिगड़ते देर नहीं लगती। यदि किसान आलसी या असावधान हो और खेत चरने वाले पशुओं को डराने के लिए बिझुका (पुतला) न खड़ा करे, तो उसकी खेती नष्ट हुई समझिये। मनुष्य का जीवन भी ऐसा ही है। कबीर खेत के प्रतीक द्वारा यह व्यंजित करते हैं कि काम, क्रोध आदि मनोवृत्तियों के मृग हमारे जीवन के खेत को उजाड़ रहे हैं। ये मृग इतने ढीठ हैं कि भगाने पर भी नहीं भागते। इन्हें खदेड़ने की कितनी ही कोशिश क्यों न की जाये, ये एकदम नहीं मानते और रातदिन बने रहते हैं। काम, क्रोध आदि के ये मृग अपने - अपने रस के लोभी हैं, इनके आचरण भी अलग - अलग हैं। ये इतने उद्दण्ड हैं कि किसी की नहीं सुनते। इन्हें भगाने — इनसे मन को मुक्त करने की कोशिश करने वाले बहुत - सारे लोग हार गये हैं। लेकिन इस खेत की रखवाली तो करनी ही होगी,

लेकिन कैसे होगी यह रखवाली? इन मृगों को कौन भगा पायेगा? क्या इसका कोई निदान नहीं है? कबीर की इस चिंता में केवल साधक की ही चिन्ता नहीं है। यह उनके समय के आम कृषक की भी चिन्ता है, जिसकी खेती सूखे, ओले या अतिवृष्टि से ही नष्ट नहीं होती, बल्कि उसकी थोड़ी - सी चूक से भी उसे चर जाने वाले ढीठ मृग उसे बर्बाद कर देते हैं। लेकिन किसानों के बीच कोई किसान ऐसा भी है, जो इनसे अच्छी तरह निबट लेता है और यह अनुभव करता है कि भगवान की कृपा से वह तो बच गया। वह अपने बचाव का अनुभव अपनीं बिरादरी के दूसरे भाइयों (किसानों) को बता देना चाहता है, उन्हें उस युक्ति की जानकारी देना चाहता है, जिससे उसकी खेती बची रह गयी और जिसका लाभ उठाकर दूसरे भी अपनी - अपनी खेती बचाये रख सकते हैं। वह कहता है - "भाई! मैने अपनी खेती बुद्धि से की है। मैने अपने खेत में गुरु-रूपी बिझुका (पुतला) खड़ा कर दिया है और रामनाम के दो अक्षरों — र और म — को रखवाला बना दिया है। अब मेरे खेत के कई रक्षक हैं। तुम भी यही करो, नहीं तो खेती बचने से रही। मैं तो अपनी खेती मृगों को चरने नहीं दूँगा। अब भी अवसर बीता नहीं है, तुम भी अपनी खेती बचाने की व्यवस्था कर निश्चिन्त हो जाओ।"

कबीर की पीड़ा भले ही आध्यात्मिक हो, उसके भावन और सम्प्रेषण के प्रतीक आम आदमी के जीवन के हैं। जब वह ईश्वर तक अपनी पहुँच की कठिनाई का उल्लेख करते हैं, तब उनके सामने अपने युग का जो यथार्थ सामने आता है, वह यथार्थ है - किसी गरीब की सुलतान के पास पहुँचने की कठिनाई। तत्कालीन राजव्यवस्था कहती है कि साधारण-से-साधारण प्रजा भी अपनी दुःख-तकलीफ की फरियाद लेकर सुलतान तक जा सकती है। लेकिन क्या कोई मामूली और गरीब आदमी सच में सुलतान तक पहुँच सकता है? वास्तविकता यह है कि किसी गरीब के सुलतान के दरबार तक पहुँचने के रास्ते में न जाने कितने दुर्लंघ्य व्यवधान हैं:

तहाँ मो गरीब को को गुदरावै।
मजलिसि दूर महल को पावै।।
सत्तर सहस सलार हैं जाके, सवा लाख पैगंबर ताकै।
सेख जु कहिअहिं कोटि अठासी, छप्पन कोटि जाकै खेलखासी।
कोटि तेतीसूँ अरु खिलखाँनाँ, चौरासी लख फिरैं दिवानां।
बाबा आदम पै नजरि दिलाई, उन भी भिस्ति घनेरी पाई।
तुम दाते हम सदा भिखारी, देउँ जवाब होइ बजगारी।
दासु कबीर तेरी पनह समाना, भिस्ति नजीकि राखि रहिमाना।

भला मुझ गरीब को अपनी फरियाद सुनाने के लिए कौन सामने करेगा? उस सुलतान रूपी प्रभु ईश्वर की सभा बहुत दूर है, और उसके महल तक कौन पहुँच सकता है? उसके सत्तर हजार सेनानायक (सलार) हैं, उसके सवा लाख पैगंबर हैं। उसके शेखों की बात करें, तो उनकी संख्या अठासी करोड़ है। उसके क्रीड़ा - सेवक (खेल खासी) छप्पन करोड़ हैं। उसके तैंतीस करोड़ सहचर (खिलखाना) हैं और चौरासी लाख दीवान (मंत्री) जो उसके आगे पीछे घूमते रहते हैं।

जिसके इतने अधिक सेवक और पदाधिकारी हों जो कि अन्तराय बन कर खड़े हों वहाँ कोई पहुँचना चाहे तो कैसे पहुँचे। इनमें से एक - एक व्यक्ति उस सुलतान (प्रभु ईश्वर) तक पहुँचने में बाधक बन जाता है। कोई गरीब उसके पास पहुँचे तो कैसे? हाँ, कभी ऐसा हुआ था, जब उसकी कृपादृष्टि बाबा आदम पर पड़ गयी थी और उनको श्रेष्ठ स्वर्ग (भिस्ति या बहिश्त) मिला था। भला कबीर उसके पास पहुँचने में बाधक व्यक्तियों की चर्चा कर उसकी आलोचना करे, तो वह कैसे करे? प्रभु, प्रभु है। कबीर कहते हैं-तुम दाता हो और मैं सनातन भिखारी। यदि तुम्हारे साथ कोई तर्क वितर्क करूँ, तो वह गाली या अशिष्टता होगी। मैं तो केवल याचना कर सकता हूँ। मैं तेरी शरण में आया हूँ। दयालु ईश्वर (रहमान)! मुझे अपने स्वर्ग (भिस्ति) में (अपने) पास रख लो।

कबीर द्वारा प्रस्तुत ईश्वर के दरबार का चित्र बहुत-कुछ वैसा ही है, जैसा किसी प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री के दरबार का, जहाँ किसी गरीब आदमी का पहुँच पाना बहुत कठिन है। वह उसके अंगरक्षकों, पदाधिकारियों और दरबारियों को पार कर उसके पास पहुँचे, तो कैसे? और यदि वह वहाँ पहुँच भी जाये, तो क्या वह उससे अपने जैसे गरीब लोगों के प्रवेश को सीधा और सरल बनाने के पक्ष में कोई तर्क वितर्क कर सकता है और उसके तर्क वितर्क को अशिष्टता नहीं माना जायेगा? वह अधिक से अधिक अपना दैन्य ही उसके सामने प्रकट कर सकता है, जिससे शायद यह प्रभु (प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री या इसी प्रकार का कोई अधिकारी) उस पर तरस खाकर उसकी याचना पूरी कर दे।

इस प्रकार के पदों की अन्तर्ध्वनि सीधे-सीधे आज के जीवन - प्रसंगों से टकराती है। जहाँ इनमें व्यक्त जीवन - प्रसंग केवल कबीर के समकालीन सामाजिक यथार्थ तक सीमित हैं, वहाँ भी इनमें आम आदमी के उत्पीड़न, दैन्य और दुःख की अभिव्यक्ति हुई है।

भले ही अपने आधार विषय के स्वरूप के कारण कबीर की बहुत - सारी रचनाओं का अर्थ पहले पाठ या पहली श्रुति में स्वल्पस्पष्ट या अस्पष्ट रह जाता

हो, उनकी वस्तु योजना और बिम्बविधान स्पष्ट, मूर्त, संवेद्य और सुग्राह्य रहते हैं। इसका कारण वस्तुजगत् की उनकी गहरी और अन्तरंग संवेदना है। जो कवि बादल के गम्भीर गर्जन, बिजली की कौंध, आँधी और तूफान, हल्की बूँदा -बूँदी और सब कुछ बहा ले जाने वाली वर्षा, सूर्य के प्रकाश में खिलते हुए कमल, जर्जर हो गये घर की टेढ़ी शहतीर और लटकी हुई ओलती आदि की गहरी अनुभूति रखता हो, वही इस प्रकार की पंक्तियाँ लिख सकता है।

i) **गगन गरजि बरसै अमीं, बादल गहिर गँभीर।**
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर।।

ii) **गगन घटा घहरानी साधो, गगन घटा घहरानी।**
पूरब दिसि ते उठी बदरिया, रिमझिम बरसै पानी।

x x x x x

iii) **आपन - आपन मेड़ सम्भालों, बह्यौ जात यह पानी।**

iv) **घर जाजरो बलीड़ो टेढ़ो ओलतिया अरराइ।**

v) **कबीर. कँवल प्रकासिया, ऊगा निर्मल सूर।**
निसि अँधियारी मिटि गई बाजे अनहद तूर।।

यह सही है कि उपर्युक्त पंक्तियों का व्यंग्यार्थ कुछ और है, उनका वास्तविक अर्थ उनके प्रत्यक्ष अर्थ में नहीं समाप्त होता है। लेकिन यह बात भी कम सही नहीं है कि उनका प्रत्यक्ष अर्थ कम आकर्षक और महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि उसके द्वार से होकर, उसकी बिम्बात्मकता और भावप्रवणता से गुजर कर ही दूसरे अर्थ तक पहुँचा जा सकता है। इससे यह संकेत मिलता है कि कबीर अपने प्रयोज्य अर्थ या व्यंग्यार्थ की वैचारिकता को किस तरह के ढाँचे में संवेदनीय बनाते हैं। यदि वह ढाँचा कबीर की अभिव्यंग्य वैचारिकता को भावात्मकता के स्तर तक ले जा कर इस तरह उन्नीत करता कि वह संवेद्य बन जाता और ज्ञान मात्र ज्ञान या सूचना नहीं रह जाता, बल्कि वह ऐन्द्रिय बन जाता है, तो उनके शुष्क और बौद्धिक व्यायामपरक होने का आरोप कोई अर्थ नहीं रखता। स्वयं कबीर मात्र बौद्धिकता और पांडित्य को कोई महत्त्व नहीं देते। उनकी दृष्टि में महत्व लिखालिखी का नहीं, देखा देखी और 'आतम अनुभव' या आत्मानुभूति का है और उनकी जिन कविताओं को साधनात्मक रहस्यवादपरक कहकर नीरस एवं अकाव्यात्मक करार दे दिया जाता है, वे उनके मनप्राणों को विह्वल करने वाली अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हैं:

राजाराम अनहद किंगरी बाजै।
जाको दिस्टि नाद लव लागै।।

x x x x

ऐसे गिआन प्रगटा पुरखोतम कह कबीर रंग राता।
अउर दुनी सभ भरमि भुलानी मैं राम रसाइन माता।।

वस्तुतः इस धारणा को निरस्त करने की जरूरत है कि कबीर की आध्यात्मिक और योगपरक रचनाओं के विषय सामान्यतः शुष्क और नीरस हैं और उनकी अभिव्यक्ति भले ही भावप्रवण और आकर्षक प्रतीत होती हो, उनका वास्तविक अर्थ जान जाने पर उनका सारा सौन्दर्य फीका पड़ जाता है। इसलिए विभिन्न दृश्यों और व्यापारों के जो चित्र अपने आप में बड़े कवित्वपूर्ण लगते हैं, अर्थ जान जाने पर वे वही नहीं रहते। किन्तु जैसा कि संकेत किया जा चुका है, कबीर में इन विषयों का सम्प्रेषण अननुभूत और असंवेदित रूप में नहीं हुआ है और इनका अपने आप में भी महत्व है।

यदि कबीर - साहित्य के विभिन्न विषय क्षेत्रों और वैचारिक प्रसंगों के आधार पर उनके कृतित्व के विषय में कोई समग्र धारणा निर्मित करने का प्रयत्न किया जाये, तो यह कहा जा सकता है कि वह मानव मुक्ति के कवि हैं। वह व्यक्ति मानव और समष्टि मानव, दोनों को मुक्त करना चाहते हैं। व्यक्ति मानव की मुक्ति की साधना द्वारा वह स्वयं मुक्त हो चुके थे। उन्होने इस प्रक्रिया में यह अनुभव किया था कि अपने विवेक को जगाये और उसकी कसौटी पर विभिन्न विचार परम्पराओं की जाँच - परख किये बिना अपने भव-बन्धनों को काटने का मार्ग निकाल पाना असम्भव है। यह अकारण नहीं कि वह 'आंखिन देखी' और 'आतम अनुभव' की बात करते हैं। यदि वह अपने समय के धर्म सम्प्रदायों की कथनी और करनी की आलोचना करते हैं, तो स्पष्ट है कि उन्हें इनकी प्रामाणिक जानकारी है। योग, वैष्णव और भक्ति मत तो उनके साधे हुए मत हैं और इनको साधने के क्रम में वह इनकी सीमाओं को भी जान चुके हैं। उत्कट आत्ममंथन, स्वानुभूति और प्रखर विवेक द्वारा वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो साधना मनुष्य को भीतर से नहीं बदलती -- उसका समग्र चैत्य परिवर्तन नहीं करती, वह सच्ची साधना नहीं है और इस दृष्टि से सच्ची साधना भक्ति साधना है। अपने और समस्त सृष्टि में समान रूप से अवस्थित परमसत्ता पूर्ण होती है। किन्तु भक्ति द्वारा परमसत्ता से तादात्म्य केवल वैयक्तिक मुक्ति नहीं है, बल्कि यह मानवमात्र की मुक्ति के संघर्ष की भी प्रेरक है। भगवान् के साथ तादात्म्य की वह अनुभूति, जो व्यक्ति के भवबन्धनों को काटती और उसे मुक्त करती है, उसमें मानव मात्र की एकता और

अभिन्नता का बोध भी उत्पन्न करती है:

i) **भाई रे अद्‌भुत रूप अनूप कथा है, कहौं तो को पतियाई।**
जहँ जहँ देखौं तहँ तहँ सोई, सब घट रहा समाई।।

ii) **इनमैं आप, आप सबहिन मैं, आप आप सूँ खेलै।**
नाना भाँति गढ़े सब भाँड़े, रूप धरै धरि मेलै।।

कबीर यही बोध मानवमात्र में संक्रमित करना चाहते हैं। वह उसमें यह चेतना उत्पन्न करना चाहते हैं कि एक ही ईश्वर की सृष्टि होने के नाते सभी मनुष्य समान हैं। अतः यदि धर्म और सम्प्रदाय मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने के बजाय तोड़ते हैं, तो उनका विरोध होना चाहिए। जो वर्ण व्यवस्था किसी को श्रेष्ठ और किसी को हीन बनाती है, उसको नकार देना चाहिए। सत्ता का सत्य, भेद न हो कर अभेद है, विषमता न होकर समता है। धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग और वर्ण के बन्धन, शताब्दियों से चली आती हुई रूढ़ियाँ और अंधविश्वास मनुष्य के मन और शरीर दोनों को बाँधते हैं। इनके विरुद्ध संघर्ष वही कर सकता है, जिसमें सत्य के अद्वैतमूलक स्वभाव की चेतना उत्पन्न हो चुकी हो। कबीर की कविता उसमें यही चेतना भरती है और उसे हर तरह की ग़ैर - बराबरी से अपने को मुक्त करने की प्रेरणा देती है। ●

कबीर का रहस्यवाद

डॉ० किशोरीलाल त्रिवेदी

माया मरी न मन मरे, मर-मर गए शरीर।
आशा तृष्णा ना मरी, कह गए दास कबीर।।

जन-जन की ज़बान पर जिनके दोहे, भजन और कुण्डलियाँ चढ़ी हुई हैं, पिछले पाँच सौ से भी अधिक वर्षों से जिनके प्रेरक उपदेश भारतीय जन-मानस पर अधिकार जमाए हुए हैं, जिन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम दोनों के बाहरी आडम्बरों के विरुद्ध सबसे पहले आवाज उठाकर हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए आह्वान किया था उन्हीं संत कबीर की छठीं जन्म शताब्दी समारोह देश-विदेश के साहित्य प्रेमी बड़े मनोयोग एवं उत्साह से मना रहे हैं। प्रस्तुत लेख के माध्यम से कबीर के रस भरे रहस्यवाद को दर्शाने का प्रयास किया गया है।

यह सर्वविदित है कि कबीर ने अपनी कविताओं में एक ओर तो कर्मकाण्डी और पाखण्डी पंडितों, मुल्लाओं और जोगियों को फटकारा तो दूसरी ओर बड़े ही सुन्दर तथा सरस रहस्यवादी पदों की रचना की और जगह-जगह जाकर उन्हें गाकर सुनाया। वास्तव में इन्हीं रहस्यवादी पदों के कारण उन्हें संत कहकर पुकारा गया।

कुछ लोग कबीर के रहस्यवादी काव्य को नीरस कहते हैं, जबकि स्थिति यह है कि केवल कबीर की रहस्यवादी रचनायें ही रसपूर्ण हैं, इसीलिए अधिक प्रभावी हैं। संभवतः यही कारण था कि विश्वकवि टैगोर ने कबीर के भावों का प्रभाव ग्रहण कर अपने रहस्यवादी गीतों की रचना की और साहित्य का नोबेल पुरस्कार पाया। यहीं से कबीर के रहस्यवाद को विश्व-मान्यता प्राप्त हुई।

टैगोर ने कबीर के प्रति अपना आभार व्यक्त करने हेतु कबीर के उन सौ पदों का अंग्रेजी अनुवाद किया जिनसे उन्होंने प्रेरणा पाई थी। टैगोर द्वारा अनूदित कबीर पदावली की भूमिका 'अंडरहिल' महोदय ने लिखी और इस

भूमिका में उन पदों के रस तथा रहस्य का सही मूल्यांकन किया।

पाँच सौ वर्ष पूर्व कबीर ने अपनी रहस्यवादी रचनाओं में जिस स्वाभाविक ढंग से एकान्तिक प्रेम को प्रकट किया था, वही ढंग इस शताब्दी के विश्वकवि टैगोर ने आधुनिक युग में स्वीकार किया तथा संसार भर को स्वीकार करवाया।

रहस्यवाद के बारे में साहित्य-जगत में न जाने कितनी बार चर्चा हुई। रहस्यवाद आखिर है क्या ? समीक्षकों और विद्वानों के अनुसार यह तो एक प्रवृत्ति है--जीवात्मा की एक भीतरी प्रवृत्ति का प्रकाशन है। इसके माध्यम से कवि अलौकिक शक्ति से अपना शांत सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। धीरे धीरे यह सम्बन्ध इतना अधिक जुड़ जाता है कि दोनों के मध्य कोई अन्तर नहीं रह जाता। जीव की समस्त शक्तियाँ उस अदृश्य महाशक्ति परमात्मा के साथ जुड़ जाती हैं। जीव अपने अस्तित्व को लगभग भूल जाता है। उसे हर समय अपने उसी प्रिय का स्मरण तथा उसी के ध्यान में निमग्न रहने की ललक बनी रहती है।

ऐसी स्थिति में जीवात्मा को अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए तीन तरह की स्थितियों से गुजरना पड़ता है। पहली स्थिति में जीवात्मा परमात्मा के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ने की लालसा में उसकी ओर बढ़ती है। संसार की सीमाओं को लांघ तथा समस्त जंजालों को काटकर जब वह उस अनन्त शक्ति के निकट जा पहुँची महसूस करती है तो उसकी अलौकिक छटा को निहार कर चकित हो जाती है।

दूसरी स्थिति में आत्मा परमात्मा के प्रेम में लीन होकर उन्मादिनी-सी हो जाती है। संसार की अन्य वस्तुएँ उसके समक्ष नगण्य लगने लगती हैं। आत्मा प्रभु के प्रेम में मस्त होकर झूमने लगती है।

तीसरी स्थिति होती है आत्मा और परमात्मा के एक हो जाने की। यह चरम स्थिति होती है। आत्मा स्वयं को परमात्मा में समा गया अनुभव करने लगती है और परमात्मा के गुणों को ही प्रकट करने लगती है।

ये तो हुई रहस्यवाद की सामान्य स्थितियाँ, लेकिन कबीर के रहस्यवाद की अपनी अलग विशेषता है। वह एक तरफ तो हिन्दुओं के अद्वैतवाद से प्रभावित है तो दूसरी ओर मुस्लिम संप्रदाय के सूफीमत से भी अछूता नहीं है।

अद्वैतवाद के अनुसार आत्मा और परमात्मा एक ही शक्ति के दो भाग हैं जिन्हें माया के परदे ने अलग कर दिया है। जब उपासना द्वारा माया का परदा हटा दिया जाता है तो दोनों भाग फिर से एक हो जाते हैं। कबीर के शब्दों में इसे इस प्रकार से समझा जा सकता है--

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ, जल जलहिं समाना, यह तत कथो गियानी।।

सूफी मत में भी बंदे और खुदा का एकीकरण हो सकता है, लेकिन उसमें माया की कोई जगह नहीं। वह तो कुछ इस तरह से मानता है जैसे कोई मुसाफिर अपनी मंज़िल पर पहुँचने के लिए चल पड़े और रास्ते में उसे कुछ पड़ाव पार करने पड़े। इन चार पड़ावों के नाम हैं– १. शरीयत (धार्मिक नियम) २. तरीकत (आत्मशुद्धि) ३. हकीकत (सत्य) ४. मारिफ़त (प्रभुकी पहचान)। चौथे पड़ाव 'मारिफत' को पार करके बंदा खुद को खुदा के समान महसूस करने लगता है और कह उठता है–'अनलहक़' यानी मैं खुदा हूँ। इस तरह बंदे और खुदा का मेल 'शराब-पानी' का मेल बन जाता है। सूफी मत में प्रेम को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है, और प्रेम के साथ इसके नशे को भी बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसी नशे के खुमार को कबीर ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है-

हरि रस पीया जानिए, कबहुँ न जाय खुमार।
मैंमंता घूमत फिरै, नाहीं तन की सार।।

सूफी मत में खुदा की कल्पना 'माशूक़ा' यानी स्त्री रूप में की गई है। वहाँ भक्त पुरुष बनकर ईश्वर-रूपी स्त्री को रिझाने के लिए उस पर सब कुछ न्यौछावर करने के लिए तैयार हो जाता है। उसकी चौखट पर सिर पटक-पटक कर 'इश्क़' की भीख माँगता है। क़बीर सूफी मत से प्रभावित तो लगते हैं लेकिन पूरी तरह से नहीं। उन्होंने परमात्मा को स्त्री रूप में नहीं बल्कि पुरुष-रूप में माना, जैसा कि अद्वैतवाद में माना जाता है। सार यह है कि कबीर ने दोनों मतों में से सार-सार ग्रहण कर लिया और बाकी को छोड़ दिया। इस संदर्भ में कबीर की रहस्यवादी कविताओं के कुछ अंशों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

कबीर की आत्मा जब परमात्मा की ओर बढ़कर उसकी अलौकिक छटा को देख चकित हो जाती है तो वह उस परम-शक्ति को महसूस तो करती है लेकिन उसे शब्दों में बयान नहीं कर पाती। 'गूंगे के गुड़' की सी अनुभूति होने लगती है और वह केवल 'अद्भुत' कहकर ही रह जाती है:–

कहहि कबीर पुकारि के अद्भुत कहिए ताहि।

x x x x x

बरनहु कौन रूप ओ रेखा, दोसर कौन आहि जो देखा।

आत्मा धीरे-धीरे अपने प्रियतम सत्पुरुष को निहारती हुई मुग्ध होती जाती है और फिर मुग्ध होने की यह स्थिति यहाँ तक आ पहुँचती है कि आत्मा स्वयं परमात्मा की पत्नी बनकर यह कहने लगती है :–

हरि मोर पीव भाई, हरि मोर पीव। हरि बिन रहि न सकै मोर जीव।
हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया। राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।

कबीर के रहस्यवाद की चरम स्थिति तब आती है जब उसकी आत्मा की सत्ता का परमात्मा की सत्ता से पूर्ण मिलन हो जाता है। यह मिलन इतना परिपूर्ण होता है कि कुछ इस प्रकार की अनुभूति होने लगती है। कबीर के शब्दों में :—

हरि मरिहैं तो हमहू मरिहैं। हरि न मरै हम काहे को मरिहैं।।

जब आत्मा परमात्मा के रंग में पूरी तरह डूब जाती है तो फिर अपने प्रिय के रंग के सिवा और कोई रंग नहीं नज़र आता। कबीर की यह अनुभूति निम्न दोहे से स्पष्ट प्रकट होती है :—

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं चली, मैं भी हो गई लाल।।

यह चरम मिलन जब पूरा हो जाता है तो परमात्मा आत्मा में प्रकट होकर कबीर के शब्दों में यह कहता हुआ प्रतीत होता है :—

मोको कहा ढूँढ़े रे बंदे। मैं तो तेरे पास रे।

यहाँ कबीर की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर के इन रहस्यवादी छंदों में भी कितना रस है। पाठक इन्हें स्वयं समझ सकते हैं :—

बाल्हा आव हमारे गेह रे। तुम बिन दुखिया देह रे।

x x x x

एकमेव ह्वै सेज न सोवै। तब लग कैसा नेह रे।

x x x

आइ न सकौ तुझ पै सकूँ न तुझ बुलाइ।
जियरा यो ही लेहुगे बिरह तपाइ-तपाइ।।

x x x

अब तोहि जान न दैहों राम पियारे ज्यों भावे त्यों होहि हमारे।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये भाग बड़े, बैठ घरि आये।
चरननि लागि करौं बरियाई प्रेम-प्रीत राखौं उरझाई।।

x x x

बिरह जलाई मैं जली जलती जल-हरि जाऊँ।
मो देख्यां जल-हरि जलै संतो कहाँ बुझाऊँ।।

ऐसी विरह वेदना से ओतप्रोत कवितायें अन्य किस रहस्यवादी कवि की मिल सकती हैं ? वास्तव में, कबीर ने न तो शब्द-जाल बुने, न अपनी भाषा की पंडिताई दिखाई, और न ही विद्वत्ता प्रकट करने के लिए उलझे रूपकों का प्रयोग किया। उन्होंने तो सीधी-सरल भाषा में अपनी संवेदना तथा वेदनाओं को प्रकट

किया। इसीलिए कबीर का साहित्य आज भी जबकि हम इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर खड़े हैं और उनकी रचनाधर्मिता के पाँच सौ से भी अधिक वर्ष पूरे हो चुके हैं, मानव समाज के लिए प्रेरणा का स्रोत है।

वास्तव में इस तथ्य में कोई संदेह नहीं कि अपने युग में कबीर हिन्दी साहित्य के उत्कृष्ट रहस्यवादी कवियों से थे जिनकी तुलना केवल जायसी के रहस्यवाद से की जा सकती है। इनके रहस्यवाद पर अद्वैतवाद और सूफीमत के सिद्धान्तों का समान रूप से प्रभाव पड़ा है जिसका वर्णन इसके पूर्व किया गया है। कबीर ने अपनी रहस्यवादी रचनाओं में प्रेम को सर्वोपरि माना है और प्रेम के अन्तर्गत विरह भाव की अभिव्यक्ति और रहस्यानुभूति का वेदनामय होना अनिवार्य है। कबीर की वियोगिनी आत्मा सदैव अत्यन्त उत्कण्ठापूर्वक अपने प्रिय के मिलन की बाट जोहती है :--

वे दिन कब आवेंगे भाई।
जे कारण यह देह धरी है, मिलबो अंग लगाई।

विरह के कारण कबीर की आत्मा बड़ी विषम स्थिति में है। रोते-रोते उनकी आँखों में झाँई पड़ गई हैं और नाम पुकारते पुकारते उनकी जीभ में छाले पड़ गए हैं :-- **आँखडियाँ झाई पड़ी, पंथ निहारि निहारि**
जीभडियाँ छाला पड़्या, नाम पुकारि-पुकारि

कबीर के विरह वर्णन का उत्कृष्टतम रूप वहाँ मिलता है, जहाँ उनकी आत्मा परमात्मा के मिलन के लिए अपने शरीर को भी जला देना चाहती है :-

यह तन जारौं मसि करौं, लिखौं राम का नाऊँ।
लेखनि करौ करंक की, लिखि-लिखि राम पठाऊँ।।

अंततः कबीर के धर्म-सिद्धान्तों का संक्षेप में निरूपण करने पर यह सुस्पष्ट हो जाता है कि उनकी कविता में माया-ब्रह्म, और जीव आदि सबका वर्णन मिलता है। उस पर वेदान्त की छाप होते हुए भी वैष्णव मत का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। हिन्दी साहित्य के निर्गुण कवियों में कबीरदास का स्थान सर्वोपरि है। जहाँ एक ओर अद्वैतवादियों का ब्रह्म उपाधि शून्य तथा अनन्त ज्ञान स्वरूप है, वहीं कबीर ने अपने धर्म-सिद्धान्तों में निर्गुण ब्रह्म मानते हुए भी उसमें गुणों की कल्पना का समावेश किया है। उस ब्रह्म को अद्वैतवादियों के समान कहीं निर्विकार निरंजन तथा उपाधि शून्य माना है और कहीं उसमें गुण का सम्बन्ध कर दिया है। अपना धर्म निरूपण करते हुए कहीं-कहीं योग की छाप भी दर्शायी है। इस कबीर पंथी मत को हम अद्वैतवाद, द्वैतवाद, हठयोग तथा प्रेममार्ग की खिचड़ी तो नहीं कह सकते परन्तु इतना तो निर्विवाद रूप से

स्वीकार्य है कि महात्मा संत कबीर एक समन्वय की भावना लेकर चले थे और धर्म के क्षेत्र में जहाँ तक धर्म का समन्वय हो सका, वह उन्होंने किया।समयानुकूल इष्ट धर्म-मार्ग भी यही था। कबीर शुद्ध एवं सरल हृदयी संत थे। हिन्दू-मुसलमानों का मेल उनके जीवन का चरम लक्ष्य था एवं आत्मा-परमात्मा का मिलन उनके जीवन का रहस्यमयी दर्शन था। उनका दर्शन शताब्दियों तक मानव-समाज का मार्ग प्रशस्त करता रहेगा। ●

कबीर की चिन्ता

डॉ० बलदेव वंशी

वेद- (ज्ञान) पढ़ने की अपेक्षा अनुभूति और आचरण का विषय है। जिन लोगों ने वेद (ज्ञान) को निजी-स्वार्थों, अपने सीमित सोच के कारण सम्प्रदायगत हितों के पोषण में लगाया उन्होंने निश्चय ही समूचे समाज और देश और विश्व का बड़ा अहित किया है। कबीर इन अर्थों में आज तक के विश्व के सर्वाधिक ज्ञानवान महामानव हुए हैं। उन्होंने न केवल मनुष्य-मात्र की अपितु समस्त जीव-जन्तु की और जड़-चेतन की समान रूप से चिन्ता की है। इतना बड़ा व्यक्तित्व, मात्र सामाजिक या राजनीतिक या भौतिक चिन्ताओं के कारण ऐसी अपूर्व विराटता न पा सकता जो कबीर ने पायी है। आज डॉ० धर्मवीर और अम्बेडकरवादी कबीर के हितैषी नहीं दीखते, क्योंकि वे लोग अपनी खातिर आज कबीर को छोटा बना रहे हैं। कबीर को अपने (कबीरपंथियों के) सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष में उपयोग के लिए कबीर के चिन्तन और चिन्ताओं की काट-छांट कर सामाजिक हितों के तर्कों में डाल कर प्रस्तुत कर रहे हैं। कभी मार्क्सवादी होना फैशन था, जो आज भी थोड़ा-बहुत, कहीं-कहीं, स्वार्थ और धंधे की शक्ल में सांसें ले रहा है, जिसे विश्वमानव-हितैषी युग की उज्ज्वल विचारधारा के स्तर से भारत में नीचे उतार दिया गया है; अन्यथा मार्क्सवाद वर्तमान बाजारवाद-जातिवाद-सामंतवाद ग्रस्त भारतीय समाज के लिए बेहतर उपचार की औषध है। यहाँ के लेबल-उपाधिधारी, विदेशी-यात्राएँ सुख सुविधाएँ लपकने वाले तथाकथित मार्क्सवादियों ने ही दलितों तक की सुध नहीं ली। जिन राज्यों में इन की सरकारें थीं और हैं, वहाँ भी हर प्रकार की गैर बराबरी मौजूद है। आज का दलित-हितैषी और दलित-उद्धारक भी ऐसे तथाकथित मार्क्सवादियों की भाँति कबीर को आधा-अधूरा ही स्वीकार कर रहा है। 'कबीर के आलोचक' पुस्तक में डॉ० धर्मवीर भी डॉ० नामवर सिंह की तरह कबीर का उपयोग करते लगते हैं;

क्योंकि कबीर का जो मुख्य आधार है, चिन्तनभूमि है, चिन्ता का सरोकार है, उस से काट कर सारा विमर्श साधा गया है। यहाँ तक तो ठीक है, क्योंकि प्रमाण रूप में देखने में भारतीय समाज में दलितों की स्थिति लज्जाजनक बना दी गयी है, किन्तु समूचे हिन्दू समाज को दोष देना और कबीर के सारे आलोचकों के सोच को हिन्दूवादी सोच कह कर उनके समूचे कबीर-सम्बन्धी कार्य को नकारना किसी भी तरह उचित एवं तर्कसंगत नहीं है। अन्यथा जहाँ, जिन तथ्यों को हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने 'कबीर विमर्श' में उठा कर एक अनुकूल वातावरण बनाया है, वह भारत में ही नहीं, विदेशों तक में कबीर की सुप्त-विलुप्त ज्ञान-गंगा को पुनः जागृत कर प्रसारित-प्रवाहित करने में किसी भी भाँति कम नहीं है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के इस दाय से न भारतीय उऋण हो सकते हैं, न कबीरपंथी ही।

कबीर का चिंतन दर्शन के स्तर को यदि उपलब्ध करता है तो वह भारतीय दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में ही और वह भी पूर्ण ज्ञान के धरातल पर, जिस में मनुष्य के जन्म से मरण तक, धरती से आकाश तक और जीवन के सर्वांग तक फैली स्थितियों के प्रति चैतन्यता, समानता और सम्वेदनीयता सन्निहित है। अन्यथा आर्यसमाजियों ने सनातनी धर्म-व्यवहार को नकार कर भी वेदों को न स्वीकारा होता। एक प्रबल लहर उत्पन्न हुई थी आर्यसमाज के रूप में। वैदिक-ज्ञान के माध्यम से हिन्दू समाज को सूक्ष्म, वृहत्तर, विशाल जीवन-परिवेश से संयुक्त कर के जातिवाद, अस्पृश्यता, रूढ़िवादिता जैसे महारोगों पर बड़े, तर्कसंगत और प्रहारक हमले करके - शास्त्रार्थों के माध्यम से 'पाखंड-खंडिनी पताकाएँ' फहरा कर ललकारा गया। गम्भीर चुनौतियाँ दी गयीं। वह प्रखर लहर अपना अपेक्षित कार्य पूरा किये बिना ही आज बलहीन और क्षीण हो चुकी है। पूर्व के इन सारे प्रयत्नों को आज पुनः देखने-जांचने और खुले दिमाग से परखने की बड़ी जरूरत है। न कि सिर्फ एक तरफा नकार की और अतर्क्य बयानों की। आज हो यह रहा है कि मात्र आधे सोच पर पूरे अहं के बल पर वेद-ज्ञान को नकारने से, जो कि पूरी मानव जाति का, लाखों वर्षों से कमाया और वेदकाल में सहेजा ज्ञान है, उस से कबीर को काट कर देखने की और स्वयं को काट कर माननें-जानने की कोशिश हो रही है। यह किसी भी प्रकार, किसी के भी हित में नहीं है, न इन कबीर पंथियों के, न समाज के, न देश के। वेदान्त कबीर की सीमा नहीं, खूबी है। यही उन की शक्ति भी है। यही वह जमीन है, जिस पर खड़े हो कर कबीर पंडित-मुल्ला को ललकारते हैं और मानवमात्र को आत्मिक सम आधार पर खड़ा कर के देखते हैं। डॉ० धर्मवीर जैसे दलितपंथियों की सीमा हो सकता है वेदांत,

कबीर की नहीं, डॉ० अम्बेडकर और उन के अनुयायी डॉ० धर्मवीर की चिंता राजनीतिक वर्चस्व हो सकता है, जिस के बाद सामाजिक, आर्थिक वर्चस्व प्राप्त कर दलित लोग हिन्दू समाज में अपने दिए समयानपूर्ण समता का सम्मान-भाव अर्जित कर सकते हैं। किन्तु कबीर तो समूचे मनुष्य को आत्यन्तिक रूप में पहले और बाद में भी मनुष्य के रूप में ही देखते सोचते हैं; हिन्दू या मुसलमान के रूप में नहीं। हिन्दुओं और मुसलमानों का सोच ही आज खोटा या छोटा नहीं 'दलित' (तथाकथित) को दलित मानना ही ईश्वर के प्रति आज मनुष्य और मनुष्य-सभ्यता के लिए घोर अपराध है। जिन्होंने हिन्दू को जातीयवादी, अधिकार-भेद की सोच से देखा है, आज उस दृष्टि की बदली हुई मानव-दृष्टि में कोई भी वैधता क्या, प्रासंगिकता तक नहीं रह गई। जो लोग आज भी हिन्दू-समाज को ले कर ऐसा सोचते हैं - अर्थात वर्णवादी, जातिवादी सोच से, वे पूरे वृहत्तर समाज के शत्रु हैं। बहुत स्पष्ट सोच है कबीर की। वह हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक सोच से मनुष्य को नहीं देखते, दलितों मजदूरों-श्रमिकों को भी किसी भी प्रकार हीन या छोटा या ओछा कर के न देखते हैं, न देखने की छूट देते हैं। जो ऐसी भेदवादी दृष्टि से देखते हैं, वे किसी भी दृष्टि से कबीर को और कबीर के राम को प्रिय नहीं हैं। बल्कि निंदा के पात्र हैं। कबीर के राम कण-कण में व्याप्त, निर्गुण, निराकार होने से समूचे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं। यदि उस राम को मूर्त्त रूप में देखना है तो, मंदिर-मसजिद में नहीं, निर्धन, उपेक्षित, दलित, उत्पीड़ित, बीमार, निर्बल के हृदय में देखा जा सकता है।

कबीर का ब्रह्म मनुष्य के भीतर है, बाहर नहीं। वह हर कण में, ज़र्रे में समाया हुआ है, इसलिए क्योंकि समूचा ब्रह्माण्ड चैतन्य है। यही दृष्टि आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानंद की थी। यही दृष्टि वेदांती विवेकानन्द की और महात्मा गाँधी की थी। ये सब महात्मा लोग परमात्मा को 'प्रकृति' के भीतर ही देखते-मानते थे। यही विश्व-मानव को समानता, बंधुत्व और स्वतंत्रता देने वाली दृष्टि है, दर्शन है। जो लोग ब्रह्म को 'प्रकृति' के बाहर मानते हैं, उन की दृष्टि एक सीमा में बंधी हुई होने से आज किसी भी प्रकार उचित या उपयुक्त नहीं जान पड़ती। अतः कबीर का उपयोग मात्र सामाजिक-राजनीतिक समत्व की दृष्टि से करना भी अनुचित और अनुपयुक्त है। जबकि कबीर की चिंता तो समूचे मनुष्य एवं अस्तित्व मात्र के चैतन्य मानने-मनवाने की है। वेदान्त की ही एक दृष्टि यह भी है कि परमात्मा प्रकृति के बाहर है। इस से भी कबीर तथा दयानन्द, विवेकानन्द गाँधी सहमत नहीं हैं। अतः कबीर की दृष्टि से भ्रम की कोई सीमा नहीं रह जाती; न जातिवादी, वर्णवादी, अधिकारी-अनधिकारी सोचवादी दृष्टि

की कोई गुंजाइश रह जाती है अन्यथा व्यर्थ का वितंडावाद खड़ा करना भी उतना ही हेय और निंद्य सोच है। इक्कीसवीं शताब्दी में, साफ और सीधी एकात्मतावादी दृष्टि से जाना ही भारत के अपने लिए और पुनः विश्वकल्याण हेतु नेतृत्व के लिए अपनाना पूर्णतः शुद्ध, सत्य एवं मानवीय होगा।

हमारी दृष्टि में कबीर सर्वप्रथम भक्त हैं, फिर समाज-सुधारक, फिर कवि। उन की एकात्मवादी विश्व-दृष्टि उन्हें अध्यात्म-दृष्टि सम्पन्न क्रान्तिकारी सोच वाला मसीहा सिद्ध करती है। इस सोच और दृष्टि के रहते उन की क्रान्ति परिवर्तन और सोच की भूमिका स्वयं ही सुनिश्चित हो जाती है और इस सोच को व्यक्त करना, लोगों तक पहुँचाने के लिए उन्होंने जो भाषा और माध्यम चुना वह, काव्य-रूप में सामने आया। उन के लिए प्रयुक्त 'संत कवि' के विशेषण से भी वह संत पहले हैं और कवि बाद में। 'कवि संत' कोई नहीं कहता-मानता , उन्हें। कबीर की सोच और चिंता सेमेटिक सोच (ईसाइयत, मुस्लिम) से भिन्न तथा समग्र है, क्योंकि वह अंशों में नहीं समूचे ब्रह्माण्ड को ही एक इकाई के रूप में लेती है।

कबीर ने मानव के विकसित ज्ञान और भाव को इन के मूल स्वरूप और प्रकृति में पहचाना। इसी कारण वेद (ज्ञान) को संवेद मान कर युग को समझने, युग की पीड़ाओं, विसंगतियों, विभेदों को मिटाने की ओर बढ़े तो भाव को उस की समूची व्यापकता और गहराई में धारण कर के दोनों को परस्परता में संयुक्त किया। समूचे ब्रह्माण्ड को भावना में ले कर, ब्रह्म-कृत होने के कारण, सम्वेदनात्मक जल से पूरित माना **''जल विच मीन प्यासी, मुझे सुन-सुन आवै हांसी''**, यहाँ समूचा ब्रह्माण्ड ही चैतन्य-पूरित है। ऐसी भरपूर सम्वेदना। ऐसी विराट भावना। पहले ईश्वर और अब मनुष्य की मृत्यु की घोषणा करने वाली उत्तर आधुनिक सोच कितनी पिटी और पिछड़ी हुई है।

एक अन्य तथ्य लें। कबीर का कर्म में अटूट विश्वास है। बल्कि अपने विचार को कर्म में परिणत कर के कबीर सब से अधिक बल विचार और कर्म की संयुति पर देते हैं। आज विचार-परिसरों में केवल और मात्र विचारों के बखान के बढ़-चढ़ कर उल्लेख मिलते हैं। विचारों की आंधियाँ झुलाई जाती हैं। इलैक्ट्रॉनिक माध्यमों की सुविधा-सहयोग से आज और भी सुविधा हो गई है। लोगों के घरों में ही नहीं उनकी आँखों, कानों, दिलों और दिमागों के अति निकट पहुँच रखने वाले माध्यमों के भरोसे व्यापारी, बाज़ारी, प्रचारी लोग इन माध्यमों पर कब्जा कर के जनता को भ्रमित प्रभावित करने में लगे हैं। स्वयं को कर्म-मुक्त कर लेने की सुविधाएँ पाये विचारवान लोग (बुद्धिजीवी) अराजक होते गये हैं। विचार से कर्म को काट देने से विचार इन अर्थों में वि-श्रृंखल हो कर उत्-श्रृंखल

हो जाता है, क्योंकि वह व्यक्ति या व्यक्ति समूहों की गहन, विचार-निष्ठाओं को सामने लाने की बजाय विचार द्वारा प्रतिष्ठा पाने तक सीमित रह जाता है। आज विचारों से प्रतिष्ठा अर्जित की जा रही है। व्यवहार में उन विचारों को प्रामाणिकता देने की बाध्यता से मुक्त लोग ही हर प्रकार के अनाचार, व्यभिचार, दुराचार, अतिचार में व्यस्त हैं। विचारों और विचारधाराओं की ओट में वे उन विचारों और विचारधाराओं के उलट कार्य करते हुए भी प्रतिष्ठा पा रहे हैं। क्योंकि उन के विचार उन के कर्म और व्यवहार से कटे हुए हैं। प्रमाणित नहीं हो रहे।

चैतन्य प्रकाश धरती पर मनुष्य के अतीत इतिहास को ही नहीं, भावी अस्तित्व की राह को भी आलोकित करता है। संतों की मानवीय चैतन्य प्रकाश को विसिरणित करने वाली वाणी ही भावी विश्व की संरक्षिका भी होगी और पथ-प्रदर्शिका भी। इस वाणी में लोक और लोकायत की सम्वेदनशीलता, सत्य पर आधारित होने से, जीव-मात्र का ही नहीं समूचे परिवेश को ब्रह्माण्ड मात्र को आत्मीय सन्दर्भों में अस्तित्व का अंग मानती है। समूचा ब्रह्माण्ड चैतन्य से पूर्ण है। संतों की दृष्टि में जड़-चेतन में जीव-अजीव का अंतर तो है तथाकथित जड़-चेतन का अंतर नहीं। जड़ वस्तुओं, पदार्थों में भी न्यूनाधिक चेतना विद्यमान है। जो स्थापनाएँ आधुनिक विज्ञान ने पिछले दो-ढाई सौ वर्षों में की हैं उन की स्थापनाएँ संतों ने पांच-छः सौ वर्षों पूर्व अपनी वाणी में सहज ही कर रखी हैं। संत दादू दयाल कहते हैं :

सरवर भरया दह दिसि पंछी प्यासा जाई।
दादू गुरु परसाद बिन, क्यों जल पीवै आई।।

समूचा ब्रह्माण्ड दसों दिशाओं से ब्रह्मचेतना रूपी जल से भरा हुआ है किन्तु तो भी इस तालाब से मनुष्य जीवरूपी पक्षी प्यासा ही जाता है। केवल गुरु के कृपापूर्ण ज्ञानरूपी परसाद से लाभान्वित हो कर वह इस ब्रह्मजल को पी कर अपनी प्यास बुझा सकता है, अन्यथा नहीं। इस तथ्य को कबीर इन शब्दों में रखते हैं : **जल विच मीन प्यासी। मैं नू सुन-सुन आवै हांसी।।**

जल में रहती हुई भी मछली प्यासी रहती है - इस बात पर मुझे हँसी आती है। यहाँ भी ब्रह्मजल और जीव-मछली के रूपक के माध्यम से बात कही गई है। संत कवि मलूक पेड़-पौधों में प्राण-चेतना का उल्लेख बड़ी मार्मिकता से करते हैं और मनुष्य-प्राणियों के समतुल्य सम्वेदनशीलता का उल्लेख करते हैं :

हरी डार मत तोड़िये, लागे छूरा बाण।
दास मलूका यों कहे, अपना-सा जिव जान ।।

स्पष्ट ही हरी टहनी, जीवन्त वृक्ष का जीवित अंग है। उस टहनी को तोड़ने

से वृक्ष को भी ऐसी ही पीड़ा होती है, जैसे किसी मनुष्य प्राणी को वक्ष में छुरा या बाण लग जाने से होती है। अतः वृक्षों में भी हमें अपने जैसा जीव मानना चाहिए।

कबीर को भी आज अधूरे मन से, आधे-अधूरे रूप में लिया जा रहा है। भारतीय परिवेश में मार्क्सवाद जैसे आधुनिक दर्शन की विफलता और अप्रभावीकरण का यही सब से बड़ा एवं ज्वलंत कारण है। यही दशा अन्य विचार-दर्शनों, विचारधाराओं की है। सनातनी पूरा सनातनी नहीं, आर्यसमाजी पूरा आर्यसमाजी नहीं, कबीरपंथी तक, व्यवहार में पूरा कबीरपंथी नहीं, अतः एक व्यापक ढोंग छाया है। चाहे मार्क्स के नाम पर हो चाहे सनातन धर्म के नाम पर, चाहे आर्य समाज के नाम पर या कबीर पंथ के नाम पर। आधे-अधूरे विचार-दर्शन को लेना सब से बड़ी बेईमानी है, धोखा है। जबकि कबीर अपने समय में प्राणांतक एवं आत्मिक पीड़ा तक मूल्य चुका कर अपने विचारों को जीते हैं। प्रमाणित करते हैं। काशी से, अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में, मगहर चले जाने की उन की पीड़ा से सब अवगत हैं। काशी नगरी तीर्थराज मानी जाती रही है। वहाँ ढोंग, छल के रहते भी एक आध्यात्मिक-संस्कारों का वातावरण था, जो मगहर में नहीं था। क्योंकि कबीर तीर्थों के दर्शन, स्नान, पूजन आदि के व्याप्त ढोंग के कारण, इन के विरुद्ध थे, इसलिए अपनी वाणी में आत्म-दर्शन, आत्म-प्रक्षालन, आत्म-पूजन की ओर लोगों को मोड़ना चाहते थे आत्म-सजग करना उन का सबसे बड़ा उद्देश्य था। उन्हें यही अभीष्ट था। इसलिए वे तीर्थों के मात्र बाहरी दिखावे ढोंगी आचरण के विरुद्ध बोलते रहे। लोग बाहरी, चर्म-चक्षुओं के से दीखने वाले पत्थर मिट्टी के देवी-देवताओं को पूजते, तीर्थाटन करते, उन्हीं स्थूल, बाहरी बुतों-पुण्यों तक रुके हुए हैं। पंडे-पंडित और धार्मिक क्रिया-कलापों में लगे तथाकथित धर्माचारी वास्तव में बाह्याचारी और कदाचारी बने हुए हैं स्वयं भी और उन्होंने अपने स्वार्थों और अंधविश्वासों, अंध-परम्पराओं में लोगों को भी आगे बढ़ने से रोक रखा है। बाह्य स्थूल मंदिरों-बुतों-तीर्थों से आगे बढ़ कर मन-आत्मा के आयामों में बढ़ने से रोक रखा है। एक तरह से वे समाज के प्रति जाने-अनजाने (आज के वृहत्तर नालायकी के समय में) अयोग्यतावश, अपराधी हैं। क्या ऐसा ही अपराध पढ़े-लिखे, विचारवान लोग नहीं कर रहे?

अतः जितनी जल्दी यह समाज उक्त बुराइयों से मुक्त हो जाये और अछूत, अस्पृश्य कहे जाने वालों से इस निर्लज्ज बर्ताव के लिए सामूहिक रूप में क्षमा याचना करे और भविष्य में सामाजिक, धार्मिक, आत्मीय समानता का भरोसा दिलाये तो कबीर की वाणी का वास्तविक सम्मान होगा। संतों के दाय का शिरोधार्य होगा। अन्यथा अपने दोहरे आचरण-कथनी-करनी में भिन्नता के चलते दुराचरण के चलते

वह नयी शताब्दी में विश्व में सब से पिछड़ा हुआ समाज रह जायेगा।

इस मुद्दे को विश्व राजनीति के परिप्रेक्ष्य में भी यदि देखें तो भी भारत के बाहर के बौद्ध धर्मावलम्बी देशों की सामूहिक शक्ति को एकत्र करना अपने ही वृहत् स्वरूप - विराट रूप को पुनः सुगठित-संगठित करना होगा। संकुचित, अनीश्वरवाद के विचारों के अधीन भारतीयों ने अपने ही महापुरुष महात्मा बुद्ध को और बौद्धों को इतिहास के जिस प्रवाह में पृथक मान लिया था, उस महाभूल को सुधारने का यही उचित अवसर है। कबीर की छः सौवीं जयन्ती मनाने के साथ ही समूची मानव जाति नयी शताब्दी-इक्कीसवीं शताब्दी में पदार्पण करने जा रही है। भले ही भारतीय कालगणना के अनुसार हमारे लिए यह कोई विभाजक या प्रभावकारी घटना न हो, किन्तु इक्कीसवीं शताब्दी ईसवी सन् के अनुसार हमारे कार्य व्यवहार और हमारे मौजूदा संसार को तो कालबोध का छोर पकड़वाने जा रही है। कबीर से शब्द उधार लेते हुए कहा जा सकता है : **'अब के चूके न जुड़े, दूर पड़ेंगे जाई'**।

आधे-अधूरे मन, सोच और दृष्टि से कबीर को लेने से ही हमारे ढोंगी वर्तमान की समस्याएँ बढ़ रही हैं। यही स्थिति ले कर हम नयी सदी में जा रहे हैं। अन्यथा कबीर और कबीरी पूरी परम्परा-संत-परम्परा - रैदास, नानक, दादू, मलूकदास आदि की, आज भारत का और विश्व का कल्याण कर सकती है। राष्ट्रसंघ भी आज तक मनुष्य और उस के परिवेश को खंडों में, अंशों में देखता है, इसलिए कभी पर्यावरण दिवस वर्ष, कभी वृद्ध वर्ष, कभी बाल वर्ष, कभी नारी वर्ष मनाता है। पूरे मनुष्य-समाज-परिवेश को एक अखंड इकाई के रूप में, वह भी चैतन्य इकाई के रूप में कभी नहीं लिया गया। कभी ऐसे सोचा ही नहीं गया। इसलिए नये-नये शास्त्रास्त्र, शोषण की नीतियाँ, पर्यावरण दोहन, विनाशीकरण की बाज़ारी पद्धतियाँ विकसित और लागू की जाती हैं। देश से ले कर विश्व-स्तर तक ढोंगियों स्वार्थियों, हत्यारों, बदमाशों, आधी-अधूरी सोच वाले चतुर सुजानों को लक्षित किया जा सकता है। जबकि कबीर अंध-विचारवानों, अमानवीय सोचवालों, रूढ़िवादियों, गैर-बराबरी वालों के लिए विष हैं, वे कबीर को देखते ही मर जायेंगे। अन्यथा कबीर अपने आप में समूचा अमृत-कुण्ड हैं। पूरा विश्व जी जाये कबीर के रास्ते पर चल कर, आज कबीर पर भी, बाज़ारवादी दृष्टि से सोचने वाले कब्जा करने की होड़ में लगे हैं। कबीर के विचारों को पूरा पाने, पचाने और मानव समाज को बनाने में नहीं, उन्हें शायद भरोसा भी नहीं कि कबीर समूची आग हैं जो रूखी-सूखी-निर्दयी-सम्वेदना शून्य घास-फूस को जला कर राख कर देती है। अन्याय के महलों को भी विनष्ट कर देती है। शोषण एवं

अत्याचार के प्रासादों को राख का ढेर बना देती है। आज जरूरत निष्ठावान, पूरा सोच और विश्वास के कबीरपंथियों की है। उनके संगठित होने की है। उन की नहीं जो कबीर के नाम पर स्वयं को पुजवा रहे हैं, या कमा-खा रहे हैं। ऐसे मठाधीशों को स्मरण रखना चाहिए कि कबीर दोधारा शस्त्र हैं। सामने वाले को तो काटता ही है, असावधान, नकली और कायर को भी काट कर फेंक देता है। कबीर का मत और मूल आधार ज्ञान और प्रेम है। इस मार्ग पर चल कर कबीर ने जो देखा और पाया उस का साक्ष्य एक साखी में इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

शून्य मरै अजपा मरै अनहद हू मरि जाय।
राम सनेही ना मरै कह कबीर समुझाय।।

यानी बौद्धों, सिद्धों, नाथपंथियों आदि का शून्यवाद, अजपा जाप और अनहद नाद तक मरणशील हैं, मृण्मय हैं, किन्तु राम सनेही अमर है। पूछा जा सकता है कि यह "राम सनेही" कौन है ? जो 'शून्य ब्रह्म' 'अजपा जाप' की दुर्लभ सिद्धि और 'नाद ब्रह्म' से भी ऊँचा है, श्रेष्ठ है, अमर है। यह ऐसा राम स्नेही नहीं जैसा पाखंडी पंडा-पुजारी या रामनाम जपने वाला मात्र छापा-तिलकधारी-आडम्बरी कोई व्यक्ति। क्योंकि कबीर ने ऊपर जिन धार्मिक अवधारणाओं की आध्यात्मिक ऊँचाइयों को 'राम सनेही' के सामने छोटा या नीच बना दिया है, वहाँ यह 'रामसनेही' जरूर ही कोई सहज किंतु दुर्लभ अवस्था होनी चाहिए। और सचमुच में वह है भी।

क्योंकि कबीर का राम एक तरफ तो निराकार, निर्गुण राम है, तो दूसरा उक्त साखी में ऐसे राम का उल्लेख है, जो मूर्त्त होने की संभावनाएँ लिये है। कबीर का राम घट-घट-वासी है। दलित, उपेक्षित, उत्पीड़ित, भूखे प्यासे और अपमानित के हृदय में वास करता है। अतः राम-स्नेह का भाजन है। जिसे उत्पीड़ित मानव ने अपने हित में चुन लिया है। वह बुद्ध हो सकता है; विवेकानन्द-अरविंद-गाँधी-अम्बेडकर हो सकता है। कबीर, भाव और भावना में तर्कशील अध्यात्म के संस्थापकों में वैदिक ज्ञान और वैदांतिक प्रेम के पथिक हुए हैं। अतः कोई भी वायवीय, अतर्क्य, पाखंड या ढोंग को अस्वीकार करते हैं तथा ब्रह्मांडीय अध्यात्म चेतना के अद्वैत वेदान्त को पुष्ट करने वाले संत हैं। उन की चिंता उत्तर आधुनिक समय में भी काल, महाकाल, मन्वंतरों (मनु से मनु तक का अंतर) तक को लांघती हुई ब्रह्माण्डीय, मानवीय चिंता है। ●

भारतीय चिन्ताधारा और कबीर की वैष्णवजन परिकल्पना

डॉ० लक्ष्मीनारायण शर्मा

महात्मा कबीर सम्पूर्ण भारतीय मध्यकाल ही नहीं, वरन् वैदिक, औपनिषदिक, आरण्यक, ब्राह्मण, प्रस्थानत्रयी और षड् दर्शन में सहज समाहित एवं रूपायित चिन्ताधारा के परम वैष्णव कवि हैं। यहाँ कवि पदनाम इसलिये कि कविता करना उनका लक्ष्य नहीं बल्कि स्वानुभूति का माध्यम मात्र है। माध्यम उस अनश्वर, अक्षय और चिन्मय तत्त्व की अभिव्यक्ति का जो समस्त दृश्यमान और अदृश्य सत्ता का कूटघन और कारण स्रोत है। कल्पनीय, अकल्पनीय अथवा प्रकल्पित लक्ष्य और अलक्ष्य की सत्ता पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, मन्वंतर, कल्प तथा प्रकृतिगत गुण, कर्म, स्वभाव, देश, काल के अन्तर्गत स्थित एवं प्रतिभासित है और इन सबका आधार आकाश है। आकाश में काल की स्थिति है अथवा आकाशीय तरंगों की प्रथम अभिव्यक्ति काल ही तो है और पृथिवी तथा आकाश के मध्य जो भी कुछ है, वह नश्वर है - **''जैताई दीसे धरण गगण बिच तैताई सब उठि जासी''**। अविनाशी और अनश्वर की साधना योगीजन करते हैं। भारतीय चिन्ताधारा के मर्मज्ञ जानते हैं त्रिगुणात्मिका माया के अंतर्गत आधिभौतिक एवं आधिदैविक सृष्टि है और आध्यात्मिकता का सम्बंध केवल और केवल महाशून्य, महाशेष अथवा वैष्णव आकाश से है। उस अनन्त क्षीरनिधिशायी परात्पर और निरपेक्ष को आद्याशक्ति स्वयं की माया से स्वयं में अनुभव कर, उस अनुभव-स्पर्श से संसृति की रचना करती है - **''लीला ते लोकरचना''** और मानती ऐसा है कि **''एकोऽहं बहुस्याम्''** अथवा अद्वैत से द्वैताधारित जगत् की रचना उस परम अविनाशी की इच्छा की परिणति है। तत्त्वतः संसृति, सृष्टि, जगत अथवा संसार का आदिमूल शक्ति है, ऊर्जा है, माया है, मृण्मयता है,

घटाकाशीय बिम्ब-प्रतिबिम्ब हैं, महाकाशीय ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर हैं, दिक्काल-महार्णव की सम्पूर्ण सत्ता है। इसी दिक्काल महासागर अथवा भवसागर में भाव और अभाव, भव और विभव, प्रकृति, कृति, अनुकृति, अनुभव, अनुभाव, वृत्ति, रूप, आकार, रंग, प्रकाश, तमिस्रा, काम, अहंकार, प्रीति, ईर्ष्या, माधुर्य आदि भासित अथवा स्थित हैं। इन सबमें भी प्रबल और तमोमय भाव है मधुरभाव अथवा माधुर्यभाव। वैष्णवजनों के लिये श्रीराधामाधव का अद्वयभाव मधुरभावाधारित है। नित्यता सम्बंधी वैष्णव परिकल्पना और माधुर्याधारित पुष्टिमार्ग की केन्द्रीय स्थली है तीन लोक से न्यारी मथुरा यानी मधुरा। मधुरा इसलिये कि मधुराधिपति की प्रत्येक बिम्बभावछवि नित्य माधुर्य संयुत है - **''मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्''**, और महात्मा कबीर इसी स्थल पर ऊर्ध्वबाहु हो कर घोषणा करते हैं:

''बजर परो इहि मथुरा नगरी कान्ह पियासो जाय रे।''

मथुरा सम्बंधी कबीर की यह घोषणा मधुराधिपति की नगरी को दिया गया विनाश का शाप है। कबीर जैसा संत किसी को शाप दे और वह भी पूरे नगर को और नगर भी साधारण नहीं बल्कि त्रिलोकी में अनन्य मथुरा। कबीर इतने प्राणदग्ध हैं कि कान्हा की जन्मस्थली पर वज्रनिपात की कामना करते हैं। इस शाप का कारण भी वे स्वयं देते हैं कि कृष्ण वहाँ से प्यासे गए। यानी प्यासे आए और प्यासे गए। और जिस नगरी को छोड़ कर कृष्ण ही चले गए, वह नगरी कबीर के किस काम की ? इस स्थल पर भारतीय वैष्णवता के चरम मानबिन्दु गोस्वामी तुलसीदासजी की एक अर्धाली का स्मरण बरबस ही हो आता है - **''जहाँ राम तहँ सबहि समाजू। बिनु रघुराज अवधि केहि काजू।''** गोस्वामी जी ने परहित को धर्म माना है तो अहिंसा को परम धर्म स्वीकार किया है - **''परहित सरिस धरम नहिं भाई।''** और **''परम धरम स्रुति बिदित अहिंसा।''** कबीर ने अपनी सम्पूर्ण जीवनयात्रा, रचनाकर्म में इसी अहिंसा नामक महामंत्र का संदेश दिया है और निर्भ्रान्त रूप में माना है कि वैष्णवजन हिंसाविमुख और परम विशुद्ध अहिंसक होता है। मांसाहार तथा जीवहिंसा को जितना अमानवीय और हिंस्र कबीर ने माना है, उतना साहस संभवतः उनके समय के किसी संत, महात्मा में नहीं था। तुलसी ने अहिंसा को परम धर्म बताने के साथ साथ परनिन्दा को पाप माना है। ठीक उसी क्रम में और उनसे पूर्व विश्वनाथ की काशी में ही कबीर ने निंदा करने वालों के प्रति सौम्य संतोचित सद्भावना व्यक्त की थी - **''निन्दक नियरे राखिये आंगन कुटी छवाय।''** ऐसी अभिव्यक्ति कबीर जैसा सच्चा वैष्णव ही कर सकता था। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है और रेखांकित करने के योग्य ऐतिहासिक सत्य है कि अहिंसा और वैष्णवभावना का यह आंदोलन सम्पूर्ण भक्ति

आंदोलन का प्राणतत्त्व है। उदाहरणार्थ नरसी मेहता का प्रसिद्ध पद **''वैष्णव जन तो तेने रे कहिये पीर पराइ जाणै रे''** भारतीय चिन्ताधारा का ऐसा वैष्णव प्रादर्श बना कि भारत की स्वाधीनता के रथी विश्ववंद्य बापू का प्रिय प्रार्थनागीत बन गया और बना उस अभूतपूर्व रक्तविहीन महाक्रांति का आधार जिसने हमें राष्ट्रीय स्वाधीनता का अमर वरदान दिलाया।

इसी विचारबिन्दु से हम उस भावरेखा को जोड़ना चाहते हैं जिस पर कबीर जैसे महात्मा ने मथुरा पर वज्रपात होने की बात कही। मथुरा अथवा मधुरा का सम्बंध मधुवन से भी है जो वृंदावनधाम की सीमाओं में पड़ता है। गोपियों ने गोकुल को मधुवन के रूप में जाना-समझा था। सूरदास जी ने **''मधुबन तुम कत रहत हरे। बिरह बियोग स्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरै''** कहते हुए गोपियों के मुख से उसे भस्म हो जाने की सलाह दिलाई थी। हमें सूरदास की गोपियों की उस सलाह जिसमें मधुवन को उन्होंने कृष्ण के वियोग में भस्म हो जाने को कहा और कबीर ने मथुरा पर वज्र गिरने का शाप दिया, इन दोनों बातों के मध्य श्रीहरि के विमुख होने पर जीवन की निरसारता, व्यर्थता का संदेश लक्षित होता है। यही बात तुलसी कहते हैं - **''राम विमुख सम्पति प्रभुताई। आई रहि पाई बिनु पाई।।''** इसी सूत्र को और बढ़ाया जाए तो तुलसीदास जी का मानव और ईश्वर-प्रीति सम्बंधी यह कथन देखा जा सकता है - **''जाके प्रिय न राम वैदेही। तजिय ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।।''**

पुनः इसी वैष्णवभावसूत्र के साथ कबीरदास जी के बारे में प्रश्न उठता है कि राजा राम को अपने भरतार और स्वयं को उनकी दुलहिन मानकर मन-प्राणचेतन और इंद्रियों तक को मंगलाचार गायन का अनुनय करने वाली कबीर की आत्मा किस कारण से कृष्णोन्मुख हो जाती है और उन्हें प्यासा मान कर उनकी मथुरा को शाप दे देती है। इसके लिये कबीर का ही साक्ष्य सबसे अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक होगा। हमें वह साक्ष्य इस प्रकार मिला है —

इहि बन बाजे मदन भेरि रे। इहि बन खेलै राह रुकमणी।।
इहि बन बाजे तूरा रे। इहि बन कान्ह अहीरा रे।।
आसपास तुलसी का बिरवा माहिं द्वारिका गाम रे।
उहाँ मेरो ठाकुर राम राय है भगत कबीरा नाम रे।।

हमें आश्चर्य है कि कबीर के इन कथनों की ओर सुधीजनों और कबीर के मर्मज्ञ अध्येताओं का ध्यान आजतक क्यों नहीं गया ? हमारी समझ में कबीर ने जो कुछ यहाँ कहा है, उससे उनके व्यक्तित्व और रचनासंसार का सम्पूर्ण परिदृश्य और परिप्रेक्ष्य ही बदल जाता है। इस पद का भाव है कि वृंदावन धाम

में जो वन हैं, उनमें पहले है गोकुल जहाँ कृष्ण, गोप-गोपीजन, नंद, यशोदा, कदम्ब और गोवंश के प्राणों के प्रिय पाहुन बने तथा दूसरा वन है मथुरा जहाँ वे प्यासे आए थे और प्यासे ही आगे चले गए। पहले वन से गोपीजनों की कातर ध्वनियाँ उन्हें पुकार रही थीं और दूसरे वन के मार्ग के अन्तराल से रुकमणी का प्रणय-संदेश आ रहा था। दोनों ओर मदन की भेरि बज रही थी - बाहरी और आंतरिक कामनाओं, बंधनों, सम्बंधभावनाओं का द्वंद्व था। परम निस्संग और योगीजनों के आराध्य कृष्ण कैसे सम्बंधों के पाश में बंधते ? अतः उन्होंने द्वारिका वन की ओर प्रस्थान किया। द्वारिका जी में वैयक्तिक सम्बंधों की पुकार नहीं अपितु तुलसी के पावन बिरवे अपनी सम्पूर्ण वानस्पतिकता के साथ कृष्ण की अनंत अवानस्पतिक निस्संग भावना का अभिसिंचन करते हैं। यहाँ एक तथ्य विशेषतः द्रष्टव्य है कि कबीर ने कहीं राधा का उल्लेख तक नहीं किया जो भागवत परम्परा का सम्पूर्णता में परिपालन कहा जा सकता है। एक बात और, गोकुल तथा मथुरा वृंदावन के अंतर्गत आते हैं। वृंदा, यानी तुलसी का ही वन; किन्तु वह तुलसी, जिसका एक नाम वृंदा है और जिसका विवाह विष्णुरूप शालिग्राम से होता है। द्वारिका वन में तुलसी के बिरवे हैं। परम पावन तुलसी के बिरवे। वृंदा राक्षसराज जलंधर की महान पतिव्रता पत्नी थी जिसने तुलसी के रूप में शालिग्राम रूपी विष्णु से विवाह किया। वैष्णव सम्प्रदायों में तुलसी-शालिग्राम विवाह की प्रथा आज भी प्रचलित है। एक पुराण में शालिग्राम को गंडक का पत्थर कह दिया था। कबीर ऐसे विरल, आस्तिक विशुद्ध वैष्णवजन हैं और वैष्णवजन की आस्तिकता-आस्था के प्रति श्रद्धानत हैं कि शालिग्राम को गंडक का पत्थर नहीं मानते, साक्षात् विष्णुरूप मानते हैं - **''गंडक सालिगराम न सीला।''**

वृंदावन के पश्चात् द्वारिका श्रीकृष्ण की लीलास्थली है जहाँ वे द्वारिकाधीश के रूप में विराजमान हैं। द्वारिकाधीश के द्वारिकाधाम-वन का स्तवन-गान कबीरदास भावविभोर होकर करते हैं --

आसपास तुलसी का बिरवा माहिं द्वारिका गाम रे।
उहाँ मेरो ठाकुर राम राय है भगत कबीरा नाम रे।।

आत्मानुभूति, आत्मसाक्षात्कार अथवा ब्रह्मानुभूति की इस चरम अवस्था में कबीर द्वारिकाधिपति श्रीकृष्ण में अपने ठाकुर राम का अभेद कर लेते हैं। एक भावसूत्र और कि यहाँ राम राय अथवा राजा राम के साथ ठाकुर सम्बोधन भी कबीर ने दिया है जिसमें गूढ़ निहितार्थ यह है कि शालिग्राम को वैष्णवजन ठाकुर जी कह कर करते हैं जो एक साथ कृष्ण और विष्णुवाची सम्बोधन है और ऐसे ही ठाकुर राम राय के भगत का नाम कबीर है। श्रीकृष्ण और राम राय में

अभेद मान कर कबीर का उन्हें अपना नित्य ठाकुर और स्वयं को उनका भक्त मानना भारतीय चिन्ताधारा में उदात्ततम परिकल्पना, वैष्णवभाव की प्रतिष्ठा है। ऐसा वैष्णवभाव जहाँ निर्गुण-सगुण, रूप-अरूप का भेद समाप्त हो जाता है। यही वेदान्त में प्रतिपादित अद्वैतवाद है और अपने परम विशुद्ध रूप में यह पुष्टिमार्गीय शुद्धाद्वैत के समीप पड़ता है। इसके साथ ही इसकी तुलना तुलसीदास की ब्रह्म विषयक निर्गुण-सगुण सम्बंधी अभेदमयी दृष्टि से की जा सकती है। तुलसी कहते हैं - **''अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा''** और कबीर कहते हैं -- **सर्गुण की सेवा करौ, निर्गुण का करौ ध्यान।**
निर्गुण-सर्गुण के परे, तहं हमारा थान।।

श्रीहरि के सगुण रूप की सेवा, उनके निराकार रूप का ध्यान कबीर की समन्वयभूमि का ऐसा सिद्धांतसूत्र और भागवत सत्य है जिसकी तुलना भक्तिकाल के किसी भी वैष्णव कवि से की जा सकती है। सूरदास, मीरा, तुलसी इनमें विशिष्ट प्रतिनिधि हैं। सबकी यात्रा ज्ञेय से अज्ञेय और रूप से अरूप तक की है अथवा इन दोनों की मध्यरेखाओं में पड़ने वाले अंतरालबिन्दुओं में सहज स्थित वेद-पुराण-उपनिषद्-सम्मत आवेग-संवेगों, आस्थाबिम्बों, प्रतीकों, ध्वनियों की अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रमाण में हम कबीर का ही पद उद्धृत करते हैं --

ब्रह्मा को दीन्हों ब्रह्मंडा। सात दीप पुहुमी नव खंडा।।
सत्य सत्य कहि विष्णु दृढाई। तीन लोक में राखिन आई।।
लिंग रूप तब शंकर कीन्हा। धरती कीलि रसातल दीन्हा।।
तब अष्टंगी रची कुमारी। तीनि लोक मोहिनि सम झारी।।
दुतिया नाम पार्वती भयउ। तप करते शंकर को दयउ।।
एकै पुरुष एकै है नारी। ताते रची खानि भौ चारी।।
सर्बन बर्बन देव औ दासा। रज सत तम गुन धरति अकासा।।
एक अंड ओंकार ते, सभ जग भया पसार।।
कहहिं कबीर सब नारी राम की, अबिचल पुरुष भरतार।।

मात्र इस एक पद में वर्णित सृष्टिसंकल्प एवं रचनाप्रक्रिया सम्बंधी वे सभी सूत्र स्वीकृत-संकलित हैं जो श्रीमद्भागवत और अन्य पौराणिक सिद्धांतों के सर्वथा अनुरूप हैं। प्रस्थानत्रयी में प्रतिपादित प्रायः सभी सिद्धांतों का उल्लेख वे आस्थापूर्वक करते हैं। पुराणसम्मत सर्ग-प्रतिसर्ग लक्षणों के अंतर्गत सर्ग सम्बंधी प्रक्रिया का पूर्ण परिपाक इस पद में देखते हुये कबीर की एक दो पंक्तियाँ बरबस ही स्मरण हो आती हैं - **''चार वृक्ष सब सखा बखाने, विद्या अगनित गने न जाने''** में चार वेदों, उनके उपबृंहणों तथा असंख्य विद्याओं का स्पष्ट उल्लेख है।

संसार को वे एक चित्र मानते हुए कहते हैं – **जिन यह चित्र बनाइया, सांचा सूतरधार। कहहिं कबीर ते जन भले, जो चित्रहिं लेहिं निहार।।**

गोस्वामी तुलसीदास के प्रसिद्ध पद **''केसव कहि न जाए का कहिए, देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मन ही मन रहिए''** में प्राप्त विवरणों से कबीर का अद्‌भुत साम्य है। इसी प्रकार का साम्य कबीर द्वारा व्यक्तिगत स्तर पर स्वीकृत जाति-वर्ण व्यवस्था, पुनर्जन्म तथा कर्मसिद्धांत सम्बंधी उद्धरण भी उनके स्वयं वैष्णवजन होने और वैष्णवजन सम्बंधी परिकल्पना को परम विश्वसनीय रीति से पुष्ट करते हैं। उनका एक आत्मकथन पर्याप्त होगा –

पुरब जन्म हम बाहमन होते, ओछे करम तप हीना।
रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीना।।

हाँ, एक सत्य निर्भ्रांत और अकाट्य है कि कबीर ने बाहरी कर्मकाण्ड, मिथ्याचार, आडम्बरयुक्त अतिचार, पाखण्ड और मत्सर का जम कर विरोध किया। हम पूछना चाहते हैं कि क्या एक भी सच्चा संत, महात्मा, कवि, आचार्य अथवा सुधीजन है जिसने इन कुरीतियों का समर्थन किया हो ? हाँ, हम उन स्वनामधन्य लोगों की बात नहीं करते जिनका सम्प्रदाय अथवा शिविर ही छिद्रान्वेषण का शिविर है।

अतः महात्मा कबीर भारतीय चिन्ताधारा की मूलाधार निगमागमसम्मत वैष्णव परम्परा के परम सौम्य, कोमलमन, संवेदनशील, भावुक, सजग, परिवेश के प्रति जागरूक और मानवमन की सहज वृत्तियों की निष्कलंक अभिव्यक्तियों के कवि हैं। और ऐसे कवि जिनका लक्ष्य कविकर्म नहीं है, अपितु व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों स्तरों पर कल्मषों का निरन्तर प्रक्षालन कर एक पावनता, निर्मलता का संचार करना है। उनके मुख से सहजभाव और सहज प्रचलित भाषा में कही गई कतिपय उक्तियों के आधार पर उन्हें विद्रोही, क्रांतिकारी, विध्वंसक अथवा निषेधवादी मान्यताओं से प्रतिबद्ध घोषित करना उनके साथ सबसे बड़ा अन्याय है। वैदिक, उत्तरवैदिक, पौराणिक, औपनिषदिक परम्पराओं में अनुस्यूत सिद्धों, नाथों, जैनियों, बौद्धों, संतों, भक्तों, आचार्यों की सुदीर्घ परम्परा की वे एक ऐसी कड़ी हैं जिसके बिना भारतीय चिन्ताधारा में उदात्ततम वैष्णवभाव और वैष्णवजन की परिकल्पना भी सम्भव नहीं, ऐसा हमारा निश्चित मत है। ●

(इस आलेख में उद्धृत कबीर के सभी उद्धरण श्री युगेश्वर द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'कबीर समग्र', प्रथम संस्करण १९९४ से ग्रहीत हैं जिसका प्रकाशन हिन्दी प्रचारक संस्थान, पिशाचमोचन, वाराणसी द्वारा हुआ है।)

कबीर के मूल्यांकन में शांतिनिकेतन का योगदान

डॉ० रामेश्वर मिश्र

मध्ययुग के संतों, विशेषतः कबीर और उनके साहित्य के प्रति रवीन्द्रनाथ को विशेष उत्सुकता थी। संयोग से उन्हें शांतिनिकेतन में ही आचार्य क्षितिमोहन सेन और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के रूप में दो ऐसे सहायक विद्वान मिले जो संत-साहित्य के मर्मज्ञ और कबीर-साहित्य के विशेषज्ञ थे। रवीन्द्रनाथ की प्रेरणा तथा सक्रिय सहयोग से इन दोनों विद्वानों ने संत-साहित्य और कबीर-साहित्य की विशेषताओं पर नये सिरे से प्रकाश डाला जिससे देश-विदेश में कबीर के विचारों का विशेष प्रचार हुआ।

शांतिनिकेतन में ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना (१९०१ ई०) के पूर्व ही रवीन्द्रनाथ संतों के साहित्य से कुछ परिचित हो चुके थे। पारिवारिक परिवेश तथा ब्राह्मसमाज का वातावरण ही इसके मूल स्रोत थे। ब्राह्मसमाज में कबीर, नानक आदि संत चर्चा के विषय थे। इसका कारण था ब्राह्मधर्म के विचारों का कबीर और नानक के विचारों से साम्य। ब्राह्मधर्म के नेताओं ने आध्यात्मिक एवं सामाजिक भावना दोनों ही दृष्टियों से निर्गुणिया संतों को अपने मत के निकट पाया एवं अपने विचारों के समर्थन एवं प्रचार के लिये उन्होंने उपनिषदों के साथ-साथ संतों को भी प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया। भारतीय चिन्तनधारा में निराकारोपासना एवं एकेश्वरवाद की परंपरा के लिए ब्राह्मसमाज ने संतों को प्रमाण माना। राममोहन राय ने अपने वेदांत ग्रंथ की भूमिका में एकेश्वरवाद के समर्थन के लिए नानक-सम्प्रदाय, दादू-सम्प्रदाय एवं शिवनारायणी-सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। इसी प्रकार रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने मूर्ति-पूजा एवं जाति-पांति का विरोध करने के लिए नानक एवं सिख धर्म की चर्चा की है। १९वीं शताब्दी

के अंत में संतों एवं कबीर के संबंध में बँगला में ८-१० ग्रंथ प्रकाशित हो चुके थे, जिनमें अधिकांश के प्रकाशक ब्राह्मसमाज या उससे संबंधित व्यक्ति थे। इससे पूर्व विल्सन के ग्रंथ 'रिलिजस सेक्ट्स ऑव द हिन्दूज'(१८६२ ई०) और ट्रम्प के 'द आदि ग्रंथ' (१८७७ ई०) का प्रकाशन हो चुका था। विल्सन के ग्रंथ के आधार पर श्री अक्षयकुमार दत्त ने, जो ब्राह्मसमाज से संबद्ध थे, 'भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय' (१८७० ई०) लिखा। बंगाल में इस ग्रंथ का बहुत प्रचार एवं सम्मान हुआ। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भी अंग्रेजी में दो महत्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन हुआ। एक रेवरेंड जी. एच. वेस्टकाट का 'कबीर एंड द कबीरपंथ' (१९०७ ई०) और दूसरा एम. ए. मेकालिफ का 'द सिख रिलिजन' (१९०९ ई०)। बंगला और अंग्रेजी के इन ग्रंथों में से कुछ से रवीन्द्रनाथ का परिचय हुआ था। यूरोपीय विद्वानों द्वारा मध्ययुग के भारतीय इतिहास तथा भक्ति आंदोलन के मूल्यांकन के स्वरूप से रवीन्द्रनाथ संतुष्ट नहीं थे। रवीन्द्र-दृष्टि में भारत का इतिहास समन्वय-साधना का इतिहास है। इस समन्वय-साधना में संतों की रीति ही श्रेष्ठ है, उनका मार्ग ही अनुकरणीय है। संतों की समन्वय-साधना में बाह्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनका मार्ग प्रेम-मार्ग है। अतः ऐक्य-साधना की दृष्टि से राजनीतिक समाधान की अपेक्षा संतों द्वारा प्रदर्शित प्रेममार्ग ही श्रेष्ठ है, भारतवर्ष की सत्य-साधना का निजी मार्ग भी यही है। भारत के ये मध्ययुगीन संत अपने में इतिहास हैं। भारत के इतिहास को जानने के लिए संतों को जानना आवश्यक है अन्यथा वह इतिहास-बोध अधूरा होगा। यही कारण है कि विदेशियों द्वारा लिखित भारतीय इतिहास पर रवीन्द्रनाथ ने आक्षेप किया है, क्योंकि भारतवर्ष केवल संघर्षों का ही देश नहीं है, समन्वय का भी देश है -- "..... वह इतिहास पढ़ने से प्रतीत होता है कि तब भारतवर्ष नहीं था, केवल मुगल-पठान गर्जनमुखर वात्यावर्त शुष्कपत्र की ध्वजा उठा कर उत्तर से दक्षिण एवं पश्चिम से पूर्व की ओर चक्कर लगा रहे थे।

किन्तु विदेश जब था, देश तब भी था, नहीं तो इन समस्त उपद्रवों के बीच कबीर, नानक, चैतन्य, तुकाराम आदि को किसने जन्म दिया ? उस समय दिल्ली और आगरा ही नहीं, काशी और नवद्वीप का भी अस्तित्व था। उस समय प्रकृत भारतवर्ष के मध्य जो जीवन-स्रोत प्रवाहित हो रहा था, चेष्टा की जो तरंगें उठ रही थीं, जो सामाजिक परिवर्तन हो रहे थे, उनका विवरण इतिहास में प्राप्त नहीं होता।" (भारतवर्ष, रवीन्द्र-रचनावली, खंड ४, पृ. ३७८)।

रवीन्द्र-दृष्टि में भारतीय साधनाधारा के क्षेत्र में मध्ययुगीन संतकवि औपनिषद् ऋषियों के उत्तराधिकारी हैं तथा आधुनिक युग में राममोहन राय इन संतों के

उत्तराधिकारी हैं। यही कारण है कि संत-चर्चा के समय रवीन्द्रनाथ उपनिषद् एवं राममोहन को याद करते हैं तो उपनिषद् एवं राममोहन की चर्चा के समय संतों को याद करते हैं — "इन भारतीय साधकों की साधनाधारा ही वर्तमान काल में राममोहन राय के जीवन में प्रकाशित हुई है। इस युग में वे ही उपनिषदों के ऐक्यतत्व के आलोक में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सबको सत्यदृष्टि से देख पाये थे, उन्होंने किसी का वर्जन नहीं किया। वर्तमान युग में राममोहन राय का जन्म हमारे देश में हुआ है, इससे यही प्रमाणित होता है कि कबीर, नानक, दादू ने भारत की जिस सत्यसाधना को वहन किया था आज भी उस साधना के प्रवाह ने हमारे प्राणों के क्षेत्र का परित्याग नहीं किया है।" ('दादू' - क्षितिमोहन सेन, रवीन्द्रनाथ लिखित भूमिका)

विल्सन, ट्रंप, मेकालिफ आदि यूरोपीय विद्वानों ने भारतीय साधना के विभिन्न पक्षों पर विचार किया था। कुछ विद्वानों ने, जो विशेषतः ईसाई मिशनों से जुड़े थे, ईसाई धर्म से भारतीय साधना की तुलना की थी तथा मध्ययुगीन साधना पर ईसाई विचारों के प्रभाव की भी चर्चा की थी। ग्रियर्सन ने 'जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी'(१९०७ ई०) में प्रकाशित 'माडर्न हिन्दुइज्म एंड इट्स डेब्ट टू द नेस्टोरियन्स' शीर्षक लेख में विशेष रूप से इन प्रभावों की चर्चा की। विशप वेस्टकाट प्रोटेस्टेंट मिशनरी थे। उन्होंने अपने ग्रंथ 'कबीर एंड द कबीरपंथ' (१९०७ ई०) में कबीरपंथ पर ईसाई धर्म के प्रभाव का संकेत करते हुए 'अर्ली क्रिश्चयन इन्फ्लुएंस इन नार्दन इंडिया' तथा 'पंडित वालजी भाई' शीर्षक के अंतर्गत अपने विचार व्यक्त किये हैं। पंडित वालजी भाई गुजरात के एक आयरिश चर्च में पेस्टर (पुरोहित) थे। उनका विश्वास था कबीरपंथ पर ईसाई धर्म का प्रभाव है। उन्होंने गुजराती में 'कबीर चरित्र' (१८८१ ई०) शीर्षक ग्रंथ लिखा था। वेस्टकाट से भी उनका पत्राचार हुआ था। ईसाई मिशनों से संबद्ध कुछ धर्मांतरित मिशनरियों ने भी इस प्रकार के प्रभाव की चर्चा की थी। ऐसे लोगों में वेस्टकाट के पहले वैपटिस्ट मिशन, मुंगेर के रेवरेंड प्रेमचंद (बीजक १८९० ई०, कलकत्ता) तथा बाद में रेवरेंड अहमद शाह (द बीजक ऑफ कबीर, १९१७, हमीरपुर) का नाम उल्लेखनीय है। इस प्रकार हम देखते हैं कि १९ वीं सदी के अंत में यूरोपीय विद्वानों तथा ईसाई मिशनरियों ने कबीरपंथ पर ईसाई धर्म के प्रभाव की चर्चा की थी। दूसरी ओर कबीरपंथी साधुओं द्वारा भी कबीर का मूल्यांकन सांप्रदायिक सीमा के भीतर ही हो रहा था। रवीन्द्रनाथ कबीर को भारतीय साधना परंपरा में रख कर देखना चाहते थे। वे मध्ययुगीन संतों तथा कबीर को एक ओर यूरोपीय विद्वानों की इतिहास-दृष्टि से मुक्त कर तथा दूसरी

ओर साम्प्रदायिक सीमा से ऊपर रख कर देखना चाहते थे। उन्होंने मध्ययुगीन संतों के प्रतिनिधि के रूप में कबीर को स्वीकार कर 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' (१९१४ई०) शीर्षक से उनके एक सौ पदों का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराया। इस संबंध में रवीन्द्र जीवनीकार श्री प्रभात कुमार मुखोपाध्याय का मत उल्लेखनीय है-- "यूरोप ने आधुनिक भारत की चित्तधारा का परिचय प्राप्त किया रवीन्द्रनाथ के काव्य से; प्राचीन भारत के धर्म की बात सुनी 'साधना' में संकलित उनके व्याख्यानों से; और इन दोनों को जिसने योगयुक्त किया है उन मध्ययुगीन संतों की वाणी 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' में अभिव्यक्त हुई। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने भारत के अतीत, मध्य और आधुनिक जगत् के मन की बात को प्रकट किया। उनके द्वारा भारत की अखण्ड साधना-धारा प्रचारित हुई।" (रवीन्द्र-जीवनी, खंड २, पृ. ४३०) रवीन्द्रनाथ की दृष्टि में कबीर ने भारत के मूल सत्य को देखा था, इसलिए वे उन्हें भारतपथिक कहते हैं और उनके अनुयायी को भारतपंथी -- "कबीर की रचनाओं और जीवन की आलोचना करने पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि उन्होंने भारतवर्ष की समस्त आवर्जना को भेद कर उसके अन्तर की श्रेष्ठ सामग्री को ही भारतवर्ष की सत्यसाधना के रूप में उपलब्ध किया था; इसलिए उनके पंथी को विशेषरूप से भारतपंथी कहा गया है। विपुल विक्षिप्तता और असंलग्नता के मध्य भारत किस निभृत सत्य में प्रतिष्ठित है, ध्यानयोग के द्वारा इसे वे सुस्पष्ट देख पाये थे।" (परिचय, रवीन्द्र रच० १८ पृ. ४४९)।

रवीन्द्रनाथ के 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' का आधार था आचार्य क्षितिमोहन सेन का 'कबीर' (१९१०-११ ई०)। आचार्य क्षितिमोहन सेन रवीन्द्रनाथ के आमंत्रण पर १९०८ ई० में शांतिनिकेतन के ब्रह्मचर्याश्रम में आये थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई थी और वे संस्कृत के विद्वान तथा संत-साहित्य के सच्चे मर्मज्ञ थे। संतों की वाणियों का गहन अध्ययन कर उसके मर्म को उन्होंने शिक्षित समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। रवीन्द्र-काव्य में उन्हें संत-भावना का ही प्रतिफलन दिखाई पड़ा। संतों की वाणियाँ तथा रवीन्द्र की कविता उन्हें एक ही जाति की लगीं । इस संबंध में वे लिखते हैं -- "जो कुछ संत-वाणी इतने दिन मेरे निकट अस्पष्ट थी, वह भी रवीन्द्रनाथ के काव्य के सहारे दिन-दिन सुस्पष्ट होने लगी, उसका मर्म प्रकाशित होने लगा। अर्थात् मध्ययुग के संतों के प्रकाश में मैंने रवीन्द्रनाथ को पहचाना और रवीन्द्रनाथ के प्रकाश में मध्ययुग के अटपटी वाणी वाले संतों को।" (सार्वभौम रवीन्द्रनाथ, विशाल भारत, १९४२ ई०)।

आचार्य क्षितिमोहन सेन का उद्देश्य कबीरदास की उन मूल वाणियों को

सामने लाना था जिनके द्वारा कबीरदास के मूल क्रांतिकारी विचार तथा उनकी साधना का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो सके। कबीर का यह स्वरूप ईसाई मिशनरियों के कबीर तथा परवर्ती कबीरपंथी परंपरा के कबीर से भिन्न था। इस संबंध में आचार्य सेन अपने 'कबीर' की भूमिका में लिखते हैं -- ''शांतिनिकेतन में जिन साधकों की रचनावली संग्रहित करने की इच्छा है, कबीर उनमें से एक हैं। हमारे देश में इनका नाम अविदित नहीं है, लेकिन इनकी मधुर रचनावली बहुत कम लोग ही जानते हैं। तथा इनके नाम से प्रचलित जो जंजाल और साम्प्रदायिक संकीर्ण दोहे आदि प्रचलित हैं, उन्होंने कबीर के सत्य को और भी ढक लिया है।'' कबीर के वास्तविक स्वरूप को सामने लाने के लिये आचार्य सेन ने तत्कालीन प्रचलित कबीर विषयक ग्रंथों के अतिरिक्त कई साधकों, संगीत विषयक ग्रंथों तथा कुछ हस्तलिखित पोथियों का आश्रय भी लिया था। आचार्य सेन ने जिन संगीत ग्रंथों और साधकों की हस्तलिखित पोथियों की सहायता ली थी उनमें उन्होंने काशी के वरुणा आदिकेशववासी दक्षिण बाबा, गैबी के झूलन बाबा, छछुआ ताल के निर्भय दास, चौकंडी के दीन देव और अंधे साधु सूरश्यामदास का उल्लेख किया है। उन्होंने जिन ग्रंथों से सहायता ली थी उनमें से भी कुछ का उल्लेख किया है -- १. बीजकमूल - खेमराज कृष्णदास, बम्बई। २. बीजक कबीर साहब का - पूर्णदास साहब, बुरहानपुर। ३. कबीर शब्दावली (दो भाग) - इलाहाबाद। ४. कबीर सागर (११ भाग) - भारतपथिक स्वामी युगलानन्द, बम्बई। ५. सत्य कबीर की साखी - शिवहर, रशीदपुर। ६. कबीर मंसूर - स्वामी परमानन्द जी और मकनजी कुबेर बम्बई। ७. परमार्थ राजनीति धर्म-साधु काशीदास, बम्बई। ८. पंचग्रंथी - महात्मा रामरहस साहब। ९. संज्ञा पाठ - महात्मा पूरन साहब। १०. कबीरोपासना पद्धति - मकनजी कुबेर। ११. कबीर कसौटी - लहना सिंह, पटियाला। १२. कबीर बानी - महाराज विश्वनाथ जी रींवा, बुन्देलखंड।

आचार्य सेन के 'कबीर' के चारों खंडों में संगृहीत कबीरदास के पद निम्नलिखित पाँच शीर्षकों में विभाजित किये गये हैं -- कबीर परख, कबीर उपदेश, कबीर साधना, कबीर तत्त्व और कबीर प्रेम। पहले खंड में १०१, दूसरे खंड में ८४, तीसरे खंड में ८१ और चौथे खंड में ७६ पद संगृहीत हैं। आचार्य सेन के इस संग्रह में संकलित पदों की प्रामाणिकता पर कई लोगों ने शंका प्रकट की, विशेषतः ईसाई मिशनरियों ने। रेवरेंड अहमद शाह ने 'द बीजक ऑव कबीर' (१९१७ ई०) में आचार्य सेन द्वारा प्रस्तुत पाठ की प्रामाणिकता पर संदेह व्यक्त किया है। रेवरेंड एफ. ई. ने भी 'कबीर एंड हिज फालोवर्स' (१९३१ ई०) में अहमद शाह के मत को उद्धृत करते हुए इसकी चर्चा की है। इनका मुख्य

आक्षेप यह था कि आचार्य सेन ने 'बीजक'की उपेक्षा की है और 'कबीर' में संगृहीत पदों की भाषा भी अपेक्षाकृत आधुनिक है। वस्तुतः ईसाई मिशनरियों ने 'बीजक' को ही कबीर की प्रामाणिक रचना के रूप में स्वीकार किया था। आचार्य सेन ने अपने 'दादू' (१९३५ ई०) ग्रंथ की भूमिका में इस आक्षेप का जवाब दिया है -- "मेरे द्वारा संगृहीत 'कबीर' की वाणियों को देख कर कई ईसाई मिशनरी महोदय ने अभियोग किया है कि क्यों मैंने केवल कबीर के बीजक की वाणियों को ही प्रकाशित नहीं किया। 'कबीर' के प्रथम खंड की भूमिका देखने पर ही वे जान पाते कि मेरा उद्देश्य था (मरमिया) साधकों में मौखिक रूप से प्रचलित पाठों को संग्रहित कर उन्हें सुरक्षित करना।"

आचार्य सेन द्वारा संगृहीत 'कबीर' का ऐतिहासिक महत्व है। इसी के आधार पर रवीन्द्रनाथ द्वारा अनूदित 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' प्रस्तुत हुआ जिससे देश-विदेश में कबीर का सर्वाधिक प्रचार हुआ। इस प्रचार के कारण हिन्दी साहित्य में भी कबीर के विवेचन में नयी दृष्टि को अपनाया गया। इसके पहले तक हिन्दी साहित्य में कबीर को विशेष स्थान प्राप्त नहीं था। यहाँ तक कि मिश्रबंधुओं ने अपने ग्रंथ 'हिन्दी नवरत्न' के पहले संस्करण (१९१० ई०) में वर्णित हिन्दी के नौ सर्वोत्कृष्ट कवियों में कबीर को स्थान नहीं दिया था, किन्तु इसके दूसरे संस्करण (१९२४ ई०) में उन्हें कबीर को स्थान देना पड़ा। इस संबंध में कबीर विषयक अध्याय के उपसंहार में वे लिखते हैं -- "इधर हिन्दी-नवरत्न की द्वितीयावृत्ति प्रकाशित होते समय विचार उठा कि इस ग्रंथ में कबीरदास को न रखना ठीक नहीं है; परंतु जिन कवियों को एक बार नवरत्न में लिख चुके हैं, उनमें से किसी को निकालना भी अच्छा न लगा। परंतु कठिनाई यह आई कि नव के स्थान पर दस कवि आने से ग्रंथ 'नवरत्न' कैसे रह जायगा? अतएव भूषण और मतिराम को 'त्रिपाठी-बन्धु' कह कर एक ही मान लिया, और कबीर को भी स्थान दे दिया। आप वास्तव में पैगंबर (ईश्वर के बसीठी), मिस्टिक, सिद्ध, योगी, ब्रह्मानंदी, समाधिस्थ आदि पहले हैं और कवि पीछे। इसीलिये हमने हिंदी के नवरत्नों में आपको सातवाँ नंबर दिया।" मिश्रबंधुओं ने इसका कारण तो नहीं बताया कि नवरत्न में क्यों कबीर को स्थान देने का 'विचार उठा' ? किन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि इसके पीछे शांतिनिकेतन की भूमिका है। 'हिन्दी नवरत्न' के पहले संस्करण (१९१० ई०) और दूसरे संस्करण (१९२४ ई०) के बीच ऐसी कौन सी घटना घटी जिससे कबीर इतने महत्त्वपूर्ण हो गये ! इस बीच आचार्य सेन का 'कबीर' (१९१०-११ ई०), रवीन्द्रनाथ कृत 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' (१९१४ ई०) के अतिरिक्त

अयोध्या सिंह उपाध्याय का 'कबीर वचनावली' (१९१६ ई०) और रेवरेंड अहमद शाह का 'द बीजक ऑव कबीर' (१०१७ ई०) प्रकाशित हुआ था। मिश्रबंधुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' में कबीर के लिये 'मिस्टिक' शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार की चर्चा सबसे पहले 'हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' की भूमिका में इवेलिन अंडरहिल ने की थी। इस प्रकार यह अनुमान अनुचित नहीं होगा कि मिश्रबंधुओं के कबीर विषयक विचारों में परिवर्तन के पीछे मुख्य भूमिका 'हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' की हो सकती है। 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' का अनुवाद रूसी, फ्रांसीसी, इतालवी, डच तथा स्पेनिश भाषाओं में भी हुआ जिससे समस्त यूरोप को कबीर की जानकारी मिली। इसके महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा है -- "इस पुस्तक ने भारत के बाहर के अनुभवीजनों के चित्त को रससिक्त किया है। बीस साल से ज्यादा हुआ, मैंने छात्रावस्था में लन्दन में एक रूसी सज्जन को जो कि एक नामी चित्रकार हैं, बड़े प्रेम से रवीन्द्रनाथ जी की कबीरवाली पुस्तक का रूसी अनुवाद पढ़ते देखा था। उन्होंने बड़े आग्रह के साथ कबीर तथा हिन्दी साहित्य और मध्ययुग के भारत के रहस्यवाद के विषय में मुझसे प्रश्न किये थे। ..... इस पुस्तक ने भारतवर्ष में भी बहुत से भारतीय जनों के मन में पुरानी हिन्दी के साहित्य के लिये अनुराग उत्पन्न कर दिया।" (विशालभारत, जुलाई १९४१) आचार्य सेन के 'कबीर' के कारण ही 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' का निर्माण हुआ और इसी के आधार पर प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि-समीक्षक एजरा पाउंड ने भी शांतिनिकेतन के श्री कालीमोहन घोष की सहायता से कबीर के कुछ पदों का अंग्रेजी अनुवाद किया था। आचार्य सेन के 'कबीर' का एक और महत्त्व है जिसका संकेत सी. एफ. एण्ड्रयूज ने किया है -- "बंगाल में ठीक ढंग से हिन्दी के अध्ययन को लोकप्रिय बनाने के लिए किसी भी कार्य से इतनी सफलता नहीं मिल सकती थी, जितनी प्रो० क्षितिमोहन सेन के कार्य द्वारा मिली है, क्योंकि उनके द्वारा किये गये मध्यकालीन हिन्दी लेखकों की रचनाओं के अनुवाद ने बंगला भाषा-भाषी जनता की नजरों में हिन्दी-भाषा को बहुत ऊँचा उठा दिया है।" (विशाल भारत, फरवरी १९४०)

आचार्य क्षितिमोहन सेन के 'कबीर' को एक ओर प्रसिद्धि मिली तो दूसरी ओर इसकी प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लगाया गया। आचार्य सेन के पहले कबीर-संप्रदाय तथा ईसाई मिशनों से संबद्ध भारतीय एवं यूरोपीय विद्वानों ने 'बीजक' को ही अधिक महत्त्व दिया था। 'आदिग्रंथ' का अंग्रेजी अनुवाद करने वाले विद्वानों ट्रंप तथा मेकालिफ के द्वारा उसमें उपलब्ध कबीर की रचनायें भी

चर्चित हो चुकी थीं। आचार्य सेन ने अपने संग्रह में 'बीजक' और 'आदिग्रंथ' को महत्त्व नहीं दिया। दूसरी बात यह है कि उस समय तक कबीरदास की रचनाओं के वैज्ञानिक पाठ की ओर किसी का ध्यान नहीं गया था। हिन्दी में सर्वप्रथम डॉ० श्यामसुन्दर दास द्वारा प्रस्तुत 'कबीर ग्रंथावली' में पाठ की प्रामाणिकता की चर्चा की गयी है, जिसका प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा १९२८ ई० में हुआ था। इसके पहले अयोध्या सिंह उपाध्याय ने 'कबीर वचनावली' (१९१६ ई०) प्रस्तुत किया था, लेकिन उन्होंने संगृहीत वचनों के सूत्रों की विशेष छानबीन नहीं की। आचार्य सेन ने 'बीजक' और 'आदिग्रंथ' की परंपरा से अलग हट कर वैचारिक दृष्टि से कबीर की वाणियों की परख करते हुए मूल वाणी को प्रस्तुत करने का प्रयास किया तो डॉ० श्यामसुन्दर दास ने भी 'बीजक' और 'आदिग्रंथ' से अलग हट कर कबीर वाणियों की राजस्थानी परंपरा (दादू पंथ और निरंजनी पंथ) पर ध्यान दिया। डा. दास ने आचार्य सेन के 'कबीर' और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'वन हंड्रेड पोयम्स' की चर्चा तो नहीं की है किन्तु उन्होंने 'कबीर ग्रंथावली' की प्रस्तावना में कबीर के रहस्यवाद की विशेष चर्चा की है जिसका वर्णन श्रीमती अंडरहिल 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' की भूमिका में कर चुकी थीं। इस चर्चा के प्रसंग में डा. दास रवीन्द्रनाथ को भी याद करते हैं — 'बंगला के वर्तमान कवींद्र को भी कबीर का ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। अपने रहस्यवाद का बीज उन्होंने कबीर ही में पाया। परंतु उनमें पाश्चात्य भड़कीली पालिश भी है। भारतीय रहस्यवाद को उन्होंने पाश्चात्य ढंग से सजाया है। इसी से यूरोप में उनकी इतनी प्रतिष्ठा हुई है।' डा. श्यामसुन्दर दास के संग्रह के एक वर्ष बाद ही डा. रामकुमार वर्मा का 'कबीर का रहस्यवाद' (१९२९ ई०) प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने इवेलिन अंडरहिल के ग्रंथ मिस्टिसिज्म से कई उद्धरण दिये हैं तथा कबीर और रवीन्द्रनाथ के रहस्यवाद की भी तुलना की है। इसी प्रकार डा. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने अपने शोधग्रंथ 'द निर्गुण स्कूल ऑव हिन्दी पोयट्री' (१९३६ ई०) में क्षितिमोहन सेन के 'कबीर' की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए 'हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' का भी उल्लेख किया है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने भी अपने 'कबीर साहित्य की परख' (१९५४ ई०) में आचार्य सेन के 'कबीर' तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' के महत्त्व का उल्लेख किया है। 'कबीर साहित्य का अध्ययन' शीर्षक अध्याय में उन्होंने कबीर साहित्य के अध्ययन की परंपरा की विस्तृत समीक्षा की है। कबीर साहित्य की टीका परंपरा का परिचय देते हुए निष्कर्ष स्वरूप उन्होंने यह बताया है कि उस काल तक 'कबीर-बीजक' की टीकाएँ भाष्यों जैसी हुआ करती थीं और उनमें रचनाओं

की व्याख्या किसी न किसी निश्चित उद्देश्य से की गई रहती थी। आचार्य चतुर्वेदी के मतानुसार आचार्य सेन का 'कबीर' कबीर की वाणियों के शुद्ध अनुवाद की दृष्टि से प्रारंभिक कार्य है – "कबीर साहब की रचनाओं के केवल शुद्ध अनुवाद मात्र देने की पद्धति 'त्रिज्या' टीका के लगभग ७० वर्ष पीछे आरम्भ हुई। पता चलता है कि शांतिनिकेतन के श्री क्षितिमोहन सेन ने भारत के अनेक स्थानों का भ्रमण करके और साधुओं के मुख से सुन कर कबीर साहब की कुछ रचनाएँ संगृहीत कीं और उन्हें नागरी मूल और बंगला अनुवाद के साथ 'कबीर' नाम से, चार भागों के अंतर्गत सं० १९६७ में प्रकाशित किया, 'कबीर' में संगृहीत रचनाओं का पाठ 'कबीर ग्रंथावली' 'बीजक' अथवा 'आदिग्रंथ' में आयी हुई रचनाओं के पाठ से मेल नहीं खाता। फिर भी उसका एक अपना पृथक् महत्त्व हो सकता है और उस संग्रह से चुने गये १०० पदों का रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा अंग्रेजी में अनुवादित हो कर उनके प्रसिद्ध 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' के रूप में प्रकाशित हो जाने के कारण, वह अंतरराष्ट्रीय ख्याति पा चुका है।" (कबीर साहित्य की परख, पृ. ५७) इसीप्रकार 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' के महत्त्व और प्रभाव की चर्चा करते हुए आचार्य चतुर्वेदी लिखते हैं – "कबीर साहब के मत एवं कथन-शैली का एक सांकेतिक परिचय नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' (लगभग सं. १६४२) के अंतर्गत दिया था और इसके अनंतर बहुत समय तक यह कार्य उपर्युक्त टीकाओं द्वारा होता आया था। किन्तु उनकी रचनाओं के अनुवाद को स्वतंत्र रूप देने पर, विषय-विवेचन के लिए पृथक् भूमिकाएँ अथवा प्रस्तावनाएँ भी लिखी जाने लगीं। प्रायः प्रत्येक अननुवादक ऐसा करने की ओर प्रवृत्त हुआ और कबीर साहब के सिद्धांत एवं साधना की चर्चा के साथ-साथ उनके जीवन और व्यक्तित्व पर भी प्रकाश डाला जाने लगा। इस ओर सबसे प्रथम उल्लेखनीय प्रयत्न डा. रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ओर से हुआ जिनके 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' नामक अनुवाद-ग्रंथ के आरंभ में ए. अंडरिहल की भूमिका सं० १९१२* में प्रकाशित हुई और उसमें, अन्य बातों के अतिरिक्त, कबीर साहब, एक सफल मर्मी कवि एवं साधक के रूप में भी चित्रित किए गए। इस पुस्तक द्वारा कबीर साहब का प्रामाणिक परिचय विदेशी विद्वानों को भी मिला और इसका बहुत बड़ा प्रभाव भारतीय लेखकों पर भी पड़ा।" (वही, पृ. ६०)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीरदास के मूल्यांकन एवं कबीर साहित्य के अध्ययन की परंपरा में आचार्य क्षितिमोहन सेन के 'कबीर' और उसी के आधार पर प्रस्तुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शांतिनिकेतन के कबीर-चिंतन ने कबीर को कबीर-पंथ के अनुयायियों

की पारंपरिक चिंतन-सीमा तथा ईसाई मिशनरियों के सोद्देश्य अध्ययन की संकीर्ण सीमा से बाहर निकाल कर कबीर साहित्य के अध्ययन को एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया। रवीन्द्रनाथ यूरोपीय विद्वानों की तरह कबीरदास को केवल मध्ययुग की सीमा के भीतर ही नहीं देखते। उपनिषद् काल से ले कर राममोहन राय तक की भारतीय साधनाधारा में वे एक अविच्छेद्य परंपरा का अवलोकन करते हैं। इस परंपरा में कबीर का महत्वपूर्ण स्थान है। रवीन्द्र-दृष्टि में भारतवर्ष में 'जो राममोहन के अग्रपथिक थे उनमें अन्यतम थे कबीर। भारत को उन्होंने महापथ के रूप में देखा था। ..... राममोहन राय भारत के इस पथ में आकर चौरास्ते पर खड़े थे, भारत के सर्वश्रेष्ठ दान को लेकर।'' (भारतपथिक राममोहन राय, पृ. ३०) रवीन्द्र-दृष्टि में कबीर एक ओर भारतीय साधना परंपरा के उज्ज्वल नक्षत्र हैं तो दूसरी ओर हिन्दू-मुसलमान की समन्वय-साधना के 'धर्मसंगम' और सफल मर्मी कवि। कबीर साहित्य की परवर्ती अध्ययन परंपरा में रवीन्द्रनाथ के दृष्टिकोण का प्रतिफलन दिखाई पड़ता है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और क्षितिमोहन सेन ने शांतिनिकेतन में कबीर-चिंतन की जो नींव डाली थी उसका सदुपयोग आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सफलतापूर्वक किया। उन्होंने अपने 'कबीर' (१९४२ ई.) के द्वारा हिन्दी में सर्वप्रथम कबीर साहित्य का व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया। उन्होंने कबीरदास और उनके चिंतन की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए अपनी विशिष्ट शैली में उनके व्यक्तित्व, उनकी भक्ति-साधना, प्रेम-साधना और उनके चिंतन का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया। इस अध्ययन की 'प्रस्तावना' में आचार्य द्विवेदी ने कबीर के संबंध में आचार्य सेन और अपने दृष्टिकोण के मौलिक अंतर की ओर संकेत करते हुए यह कहा है कि 'यदि उनसे प्रेरणा न मिलती तो मैं यह पुस्तक लिख ही न पाता।' उन्होंने यह भी लिखा है कि 'मुझे स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भी इस पुस्तक के लिखने में बहुत प्रेरणा मिली है और उनकी कविताओं और लेखों को पढ़ कर कबीर के भावों को समझने में बड़ी सहायता मिली है।' आचार्य द्विवेदी ने कबीर के भावों का मूल्यांकन करने में रवीन्द्रनाथ के भावों को भी ध्यान में रखा है तथा उन्होंने अपने 'कबीर' के पंद्रहवें अध्याय का शीर्षक 'रूप और अरूप, सीमा और असीम' रखा है। ये शब्द रवीन्द्रनाथ को अत्यंत प्रिय थे। अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिये उन्होंने इनका बार-बार उपयोग किया है — 'रूप सागरे डूब दियेछि, अरूप रतन आशा करि' तथा 'सीमार माझे असीम तुमि बाजाओ आपन सुर'। कबीर तथा अन्य संतकवि भी अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिये रूप-अरूप, मूरत-अमूरत, हद-बेहद आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं।

आचार्य द्विवेदी ने इस अध्याय में कबीर और रवीन्द्रनाथ के भावसाम्य की चर्चा करते हुए इस दिशा में दोनों की निजी विशेषताओं का भी वर्णन किया है। आचार्य द्विवेदी ने अपने 'कबीर' के अध्ययन का आधार आचार्य सेन के 'कबीर' में संकलित पदों को तो नहीं बनाया किन्तु उन्होंने परिशिष्ट-२ में कबीर-वाणी शीर्षक से जो दो सौ छप्पन पद्य प्रस्तुत किये हैं उनमें प्रथम एक सौ आचार्य सेन के 'कबीर' से संगृहीत हैं जिनका अनुवाद 'हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' के रूप में प्रस्तुत हो चुका था। आचार्य द्विवेदी ने अपने 'कबीर' की प्रस्तावना में आचार्य सेन के संग्रह के बारे में अपना मत प्रकट करते हुए लिखा है — "श्री क्षितिमोहन सेन द्वारा सम्पादित 'कबीर के पद' एक नये ढंग का प्रयास है। वे 'भक्तों के मुख से' सुन कर संग्रह किये गये हैं। अपनी प्रामाणिकता के लिए उन्होंने किसी पोथी की मुखापेक्षिता नहीं रखी। परम्परा से एक मुँह से दूसरे मुँह तक आते रहने के कारण इन पदों की भाषा जरूर बदल गई होगी, पर इसके अन्तर्निहित भावों की प्रामाणिकता विश्वसनीय हो सकती है। फिर भी कोई विशेष स्वार्थ के पोषक महात्माओं की ओर से इस पुस्तक के गंभीर विचारों को उड़ा देने की चेष्टा की गई है। कहा गया है कि इसमें पाये जाने वाले उच्च भाव किसी प्राचीन पोथी में नहीं मिलते। इस विशेष स्वार्थ के पोषक लोग भारतीय मनीषा की न तो कोई प्रतिष्ठा देखना चाहते हैं, न आदर पाना बर्दाश्त कर पाते हैं। मैंने जान-बूझ कर उक्त संग्रह का उपयोग नहीं किया। ऐसा मैंने इसीलिए किया है कि भारतीय मनीषा को जो लोग अस्वीकार करना चाहते हैं वे सीधे ही ऐसा करें। प्राचीन और नवीन पोथियों का झमेला खड़ा करके अपने उद्देश्य और पाठक की निर्णयात्मिका बुद्धि के बीच पर्दा खड़ा करने का प्रयास न करें। परन्तु मैं यहाँ अत्यन्त कृतज्ञ-भाव से निवेदन करना चाहता हूँ कि यद्यपि आचार्य सेन के पुस्तक के पाठ इस पुस्तक में नहीं लिये, पर उनके उपदेशों का यथेच्छ उपयोग किया गया है।" (कबीर' पृ. ३५) इसी प्रकार आचार्य द्विवेदी ने 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' के महत्त्व की भी चर्चा की है— "१ से १०० तक आचार्य क्षितिमोहन सेन के संग्रह से उद्धृत और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के वे पद्य हैं जिन्होंने महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे व्यक्ति को आकृष्ट किया, जो उन्हें इस योग्य जँचे कि भारतीय मनीषा के प्रति पाश्चात्य विद्वानों की उपेक्षा और अवज्ञा को दूर कर सकेंगे और इसलिए जिनका अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने स्वयं किया। यूरोपीय भाषाओं में इनके अनुवादों से कितने ही चोटी के समीक्षक भारतीय साधना और साहित्य के विषय में अपना मत बदलने को बाध्य हुए।" ('कबीर' परिशिष्ट - २)। ●

* आचार्य चतुर्वेदी द्वारा प्रदत्त 'कबीर' और 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' की प्रकाशन तिथि सही नहीं है।

सन्त कबीर और बंगाल के धार्मिक सम्प्रदाय

डॉ० जलज भादुड़ी

प्रसिद्ध बुद्धिजीवी क्षितिमोहन सेन रवीन्द्रनाथ के समसामयिक थे। वे १९५४ में विश्वभारती के उपाचार्य थे। उन्होंने सन्त कवियों और बंगाल के बाउल संप्रदाय के संबंध में काफी महत्वपूर्ण बातें कही थी "मध्य युगे भारतीय साधक संत-मत ओ बाउल मत अनेकटा एकी। उभय साधना सहज, उभयेरि पथ मध्य पंथा, उभयेई शास्त्र भाव मुक्त, उभयेरई लक्ष्य आपनार कायार मध्ये देहेर मध्येई ताहादेर विश्व। तादेर सब किछुई मानवेर मध्ये, काजेई उभय धर्म केई मानवधर्म बला चले।" इसी प्रकार एक अन्य प्रख्यात बांग्ला लेखक अन्नदाशंकर राय ने अपने भाषण में कहा– "बंगाल के विभिन्न धर्म संप्रदायों पर तथा हिन्दी भाषी पूर्विया सन्तों पर आर्येतर वेद-विरोधी धर्म-मतों का काफी प्रभाव पड़ा। जैन तथा बौद्ध सहजिया धर्म, शैव, योग, नाथ पंथ तथा शाक्त धर्म, ये सभी वेद विरोधी थे, जो उत्तर-पूर्वी सीमा पार से आए थे।"

कहा जाता है अधिकाधिक कबीर वाणी 'धनौती' नामक स्थान पर दीर्घकाल से सुरक्षित है, साथ ही, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश के आसपास दमाखेड़ा नामक स्थान पर भी कबीर की धर्मदासी शाखा का विस्तार देखा गया। कबीर चरित आदि मंगल-काव्य ही बंगाल के मंगल-काव्य के नेपथ्य में है। इसी मंगल-काव्य में तथा नाथ, योग में बाउलों का बीजारोपण हुआ होगा।" *अन्नदाशंकर राय*

अनार्यों के दीन हीन अशिक्षित समाज के कुछ साधकों ने आर्य भूमि के पांडित्यपूर्ण वर्गों को चुनौती दी और बंगाल में एक नये मानव धर्म को ले आए। इसमें कबीर की ही साधना का एक सार्वभौम रूप शुरू से आखिर तक झलकता है।

दीर्घकाल से बाउल नाम से परिचित संप्रदाय का शुरू शुरू में हिन्दू तथा मुस्लिम कट्टरपंथियों ने यथेष्ट विरोध किया, जैसा कि उत्तर-पूर्व के रामानन्द कबीर पंथियों को भी सहना पड़ा था। बंगाल में कबीर विचारधारा का पुनर्जागरण

हुआ जो आधुनिक धर्मावलंबियों के लिए यथेष्ट महत्त्व रखता है। कबीर का आखिरी प्रभाव परमहंस रामकृष्ण देव पर तथा भारत सेवाश्रम संघ के प्रणवानन्द स्वामी पर सबसे अधिक रहा है। ये दोनों संस्थाएं हिन्दू धर्मावलंबी शाखा के रूप में भारत तथा विश्व में सुव्यवस्थित आश्रम स्थापित कर चुकी हैं तथा उन्हें विश्व में सम्मान मिल रहा है। आज के इस मानवतावादी धर्म के रूप को मान्यता दिलाने में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और श्री क्षितिमोहन सेन का विशेष योगदान रहा है। किसी युग में कबीर ने दीनहीन व्यक्तियों में आत्मगौरव बढ़ाया तो आधुनिक युग में परमहंस रामकृष्ण तथा विवेकानंद ने सम्पन्न शिक्षित समाज में तथा शास्त्रज्ञ पंडितों में कबीर के मानव-धर्म को समान अधिकार दिलाया। सन् १९२५ के १८ दिसम्बर को कलकत्ता विश्वविद्यालय के सिनेट हाल में 'फिलासफी ऑफ आवर पिपुल' विषय पर रवीन्द्रनाथ ने भाषण दिया था। इसमें उन्होंने कबीर तथा बाउलों के सूफी-सहजिया विचार धारा को अपने वक्तव्य का प्रधान विषय बनाया। इससे काफी पहले स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो धर्म सभा में हिन्दू धर्म पर वक्तव्य रखते समय, हिन्दू धर्म के उदारवादी स्वरूप को, अपने भाषण में प्रधानता दी थी और विश्व भर में उदारवादी हिन्दुत्व संबंधी जागरूकता तभी फैली थी। उसी भावना को दुहराते हुए क्षितिमोहन सेन ने, अपने भाषण में कहीं कहा था– "भारतेई एकमात्र एक अपूर्व घटना घटियाछे। जहा पृथ्वीर आर कोनोखाने घटे नाई। जगते सर्वत्र एक धर्म आसिया अन्य सब धर्म के उच्छेद करियाछे। शुधू भारतेई साधनार पर साधना आसिया परस्परेर पासापासि रहियाछे। केहो काहाकेओ उच्छेद करे नाई। एकेर साधनार उपरे अन्येर साधना रक्षित होयियाछे। ताई भारतेर धर्म भारतीय बा हिन्देर हिन्दू नामे जाना जाय। कोनो व्यक्ति विशेष बा प्रवर्तकेर नामे एई हिन्दू धर्म नहे।"

"बाउल धर्म मत बंगाल में अपेक्षाकृत सर्वाधिक जनप्रिय लोक धर्म हैं" ऐसे विचार जनाब आबुल अहसान चौधुरी के हैं। बाउलों के साधना की विशेष अवस्था "जैन्तो मृत (जिन्दा-मुर्दा) कहलाती है। यही संदेश कबीर की वाणी में भी है। **'जीवत में मरना भला जो मरि जानै कोय, मरते-मरते जग मुआ अवसर मुआ न कोय'** (साखी, पृ० ३३०) बाउल का अर्थ बावरा (वायुग्रस्त या पागल) होता है। मुस्लिम शास्त्र के विरोधी सूफियों को भी दीवाना कहा जाता था। सूफियों का प्रभाव जितना कबीर पर था, उतना ही बाउलों पर।

कबीर पंथियों की भांति बाउलों ने भी समाज-बंधन तथा धार्मिक-अनुशासनों का तिरस्कार किया; तीर्थाटन, रोजा, नमाज, व्रत, पूजा, यज्ञ, उपासना, विग्रह पूजा तथा मंदिर-मस्जिद आदि के प्रति उदासीन रहे। इनको दीक्षा केवल गुरु से

मिलती थी, पर गुरु-शिष्य दोनों को ही अक्षर ज्ञान तक नहीं था। फिर भी छोटे-बड़े संप्रदाय बाउलों में, अपने आदर्शों के सामान्य प्रभेदों से उठ खड़े हुए थे। यही बात कबीर - रामानन्द पंथियों के बारे में भी कही जाती है। बाउलों को समझने के लिए उनके कुछेक संप्रदायों की व्याख्या, यहां आवश्यक समझती हूँ। एक प्रकार के बाउल संप्रदाय कर्ताभजा नाम से जाने गए। जो अपने गुरु को 'कृष्ण' शिष्यों को 'राधा' या 'सखी', बताते थे। कर्ताभजा से तात्पर्य है, ईश्वर से मानवीय प्रेम तथा कर्मकांड। इनके पांच सर्वश्रेष्ठ आश्रय माने गये हैं, यथा-- नाम, मंत्र, भाव, प्रेम और रस। बाउल कहते हैं,-- साधना की राह अति दुर्गम है, वहां हम उड़ कर जाते हैं। 'नित्य द्वैत, नित्य-ऐक्य, प्रेम तारि नाम' और कबीर कहते हैं -- **'जब मैं था तब पिउ नहीं, अब पिउ है मैं नाहिं'** अथवा **'प्रेम गली अति सांकरी ता में दो न समाई।'** (साखी १५) कबीर की ही तरह अटपटी भाषा में बाउल कहते हैं, ''उठ्या सारन बैठ्या सारन, सारन जागत सूता/तीन भुवने विछयाइना जाल कोई जाबी रे पूता।''

दूसरा संप्रदाय चैतन्यपंथियों का है, जिसे वीरभद्र और उर्वशी ने 'प्रेमानुगा'नाम से प्रचार किया। इस शब्द को रामकृष्ण के भक्ति दर्शन में बार बार दोहराया गया है। इस संप्रदाय के आदि गुरु आउलचांद थे। इनके २२ शिष्य थे, जो सभी निम्न वर्ग के थे। ये अपने को कर्ताभजा संप्रदाय बताते हैं। हिंसा, लोभ और काम-वासना को महापाप मानते हैं-- ''नर नारी दु जने होइबे चेतन, सावधाने करो सर्व-साधन भजन। सुधा फेले विष पाने मत्त अतिशय/विष त्याजि सुधा खाओ ओहे महाशय।''

तीसरे संप्रदाय बांसवाटी के राम बल्लभी संप्रदाय थे। चैतन्य संप्रदाय से इनका सामान्य भेद है। चौथा संप्रदाय सहज-कर्ताभजा का है। आऊल उदासीन साधक साहिब धनी संप्रदाय के नाम से ये विख्यात हुए। भक्तगण प्रति गुरुवार को अपने गुरु को सम्मुख रख, अधिक तादाद में एकत्रित हो सामूहिक साधना करते थे। भजन-गायन इनकी पूजा का प्रधान विधान था। बाद में रामकृष्ण परमहंस ने भी इसी भजन को काफी महत्त्व दिया-- ''भगवान का आस्वादन ही भजन गायन है। इसमें भक्ति, पूजा और सेवा सब कुछ है।'' पांचवां संप्रदाय बलरामी संप्रदाय है। ये लोग बंगाल के अति निम्न जाति (हांड़ी) के थे। बलराम के सभी चेले, गुरु को श्रीरामचन्द्र का वंशधर मानते थे। कबीर की ही तरह उनका कहना था-- '' विश्व ब्रह्माण्ड भगवान का ही शरीर है।'' वे गुरु पर विश्वास रखते थे -- शिक्षा और दीक्षा गुरु (कबीर के भी दो गुरु थे ऐसी मान्यता है) ये शादी करते थे पर सन्तानें नहीं होती थी। छठां सम्प्रदाय जगमोहिनी है।

ये लोग तुलसी और गोमय को अतिशय पवित्र मानते थे। ये रामानन्द की शाखा से निकले हुए पूर्व बंगाल के संप्रदाय थे। फरीदपुर, ढाका में आठ स्थानों पर इनके मठ थे। ये ब्रह्मचर्य का पालन करते थे और निर्वाण-संगीत का गायन करते थे। इनका प्रधान तीर्थ 'विधंगल' का अखाड़ा था। इनके एक संत शिष्य प्रसिद्ध हुए जिनका नाम भी रामकृष्ण था (जन्म १५७६, मृत्यु १६५२) साधक भक्त कृपाल उनके साथी थे। तीर्थों में भ्रमण और जन-जन की सेवा, धर्मादर्शों के व्याख्यान, उनकी प्रधान साधना थी। कहते हैं कबीरदास और लवनीदास ने इनका साथ दिया था। (इस युग के रामकृष्ण मिशन तथा भारत सेवाश्रम संघ के भी यही आदर्श हैं) नदी के किनारे खुले आकाश के नीचे हरा-भरा बड़ा मैदान, बाउलों को प्रिय है। बाउलों के इसी प्रकार के प्रतिष्ठान श्रीहट्ट में हैं। सातवां संप्रदाय मोती ग्राम में रमजान मंडल बाउल संस्था है। रमजान धोबी थे। इस दल में राखाल शाह बाउल को सिद्धि मिली और शाह पदवी भी मिली। उनके सिद्धांत थे-- "प्रेम युक्त, प्रेममुक्त" इनमें नर-नारी संपर्क के पूर्ण स्वरूपे मूर्त होते हैं अर्थात् लोकाचार या शास्त्राचार के ये भी विरोधी थे। स्वकीया या परकीया दोनों रूपों में स्त्रियों को ग्रहण करते थे। पत्नी को सम्मान देते हुए, आप कह कर संबोधित करते थे। आठवां संप्रदाय, नदेर चांद बाउल का है। सभी बाउल, आदि बाउल, चैतन्य महाप्रभु को मानते हैं। कई संप्रदायों ने सगुण भक्ति को भी अपनाया, जो राम और कृष्ण को परम ब्रह्मरूप मानने लगे। कबीर ने भी सगुण भक्ति को अछूता नहीं रखा।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने काफी परिश्रम से बाउलों के १२ से १३ गुरु परंपराओं की जानकारी हासिल की थे। मदन बाउल जो जाति के मुसलमान थे, उनके गुरु ईसान जाति के जुगी थे, उनके गुरु दीनानाथ जाति के वाद्यकार, दीनानाथ के गुरु हाराई, मेहतर, हाराई के गुरु कालाचांद, सूत्रधर थे। उनके गुरु मूल नाथ, जाति के मुसलमान थे ये सभी संप्रदाय अपने गुरु को साक्षात् भगवान मानते थे। " गुरु बोले काके प्रणाम करि मन / ओरे आर्थिक गुरु, पथिक गुरु, गुरु अगणन..... गुरु जे तोर हृदय व्याधा/ जे झराये दूनयन।" कवि गुरु रवीन्द्रनाथ ने अपने अनुसंधान द्वारा यही सिद्ध किया है कि कबीर तथा बाउल दोनों पंथियों ने नीच जाति में आत्मसम्मानबोध बढ़ाया तथा समाज में उनकी प्रतिष्ठा, शास्त्रज्ञों के समान ही दिलवानी चाही। दो सौ वर्ष पहले पद्मा नदी के तीर पर बाउलों ने अनेक अखाड़े बनाये थे। विक्रमपुर के धलछत्र, रूपढ़ा, धामारण, राजाबाड़ी उनमें से हैं। प० बंगाल में बांकुड़ा, सोनामुखी, मानभूमि, खातरा आदि स्थानों पर उनके अखाड़े हैं। बीरभूम के केन्दुली स्थान पर आज भी बाउलों का बड़ा मेला

लगता है। बाउल अपने मत प्रदर्शन में झिझकते हैं। अचानक किसी के सामने दिल खोलना नहीं चाहते। लिखने-लिखाने के भी खिलाफ हैं। वे अपनी सारी बातें स्वतःस्फूर्त गीतों में व्यक्त करते हैं उनके गीतों से मुग्ध रवीन्द्रनाथ ने कहा था– "अनेक चेष्टाओं से भी मैं शायद बाउलों जैसी रचना नहीं कर पाऊंगा।"

कट्टरपंथी पंडित और मौलवी दोनों ने बाउलों को 'धर्मनाशा', कहा। समय-समय पर उन पर अत्याचार किए और गांव में टिकने नहीं दिया। उन दिनों बाउल अपने इकतारा, खंजनी और संगिनी को लेकर बहुत दूर-दूर चले जाते थे। संभव है, कबीरपंथियों से तभी उनका साक्षात्कार हुआ होगा। अध्यापक उपेन्द्रनाथ भट्टाचार्य का मत है, "वैष्णव पदावली साहित्य के राधा-गौरी गोस्वामीगणों के गीतों से, साकार बाउल भक्ति संप्रदाय का जन्म हुआ। 'चरवाहा कृष्ण' और 'ग्वालिन गोपियों', की प्रेम लीला अथवा विभिन्न देव-देवियों की प्रेमलीला इनके प्रधान विषय थे। मानवीय प्रेम और सूक्ष्म लीला-वैचित्र्य में भक्तों को बड़ा ही आनन्द मिलता था। इन रचनाओं में नैनाभिराम चरित्र वाली– 'पूर्वराग, मुग्धा, धीरा, वामा, खंडिता, मानिनी, विरहिणी, वासकसज्जा, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका, अभिसारिका, कलहान्तरिता', आदि नायिकायें उपस्थित होती थीं। धीर, धीरोदात्त, धीर-ललित', जैसे स्वभाव वाले नायक भी उपस्थित होते थे।

सहजिया बाऊल संप्रदाय ९वीं-१०वीं सदी से क्रमशः १४०० तक अपनी पराकाष्ठा की ओर बढ़ता गया। इस दृष्टि से कबीर का प्रभाव उन पर होना अस्वाभाविक नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो बौद्ध सहजिया प्रेम ही धीरे-धीरे वैष्णवों के संप्रदाय में बदलते गए। कर्ताभजा इसमें प्रधान थे। "नर नारी दुई जने होइबे चेतन / शक्तिर मंत्रेते करो शक्तिर पूजन / नारी हिजड़े पुरुष खोजा एई तो लक्षण।"

बाउल अपने उत्पत्ति का काल वेद से भी प्राचीन बताते हैं। वे कहते हैं, "जब से मानव जन्म तबसे हम हैं।" कबीर के लिए भी उनके मतानुयायी ऐसा ही कहते हैं। **"जुग जुग तो कहवैया, काहु ना मानी बात"** (रमैनी-५) चैतन्य महाप्रभु की तरह कबीर को भी उनके शिष्य कहते हैं, आदि गुरु– **"जा दिन कीर्तन ना हता, नहीं हाट नहीं बाट / हुता कबीरा राम जन, जिन देखा औघट घाट"** (परचा कौ अंग) कबीर ने राम को दूसरे रूप में देखा– राम जो आत्मा में रमण करते हैं **"सिरजनहारा न व्याही सीता / जल पखान नहीं बांधा / वै रघुनाथ एक कै सुमिरै / जे सुमिरै सो अंधा"** (बीजक मूल, पृ० ६२) **"दसरथ सुत तिंहुलोक बखाना / राम नाम का मर्म है आना"** (बीजक कबीर साहब का, पृ० २८६)

बाउलों का बाह्य रूप भी कबीरपंथियों के समान था । हिन्दू-मुस्लिम दोनों बाउल एक जैसे होते थे सर्व केश रक्षा करते थे, देह को नंगा नहीं रखते थे। रंग-बिरंगे कपड़ों से जुड़ा लम्बा सा एक चोला पहनते थे, गले में स्फटिक की माला होती थी, हाथ में लाठी और सिर पर टोपी होती थी एक झोला भी साथ में होता था। दरियायी नारियल की खोपड़ी, जिसे वे 'किश्ती' कहते थे, जिसमें भिक्षा के अन्न लेते थे और उसी से अपना निर्वाह करते थे। "जा आछे भांडे ता आछे ब्रह्माण्डे" / "लोक मध्ये लोकाचार सद गुरु मध्ये एकाचार।" अपनी काया के साधक होते हैं, असली बाउल अब बिरले ही मिलते हैं। नकली बाउलों में से उन्हें ढूढ निकालना बहुत कठिन है। आर्येतर इन साधनाओं के तीन पथ बताए गए हैं। कर्म, ज्ञान और प्रेम। वे कहते हैं -- कर्म बर्हिमुखी है, जहाँ बाहर जाने की जरूरत होती है। ज्ञान इससे ऊंचा पथ है, पर सर्वश्रेष्ठ पथ वे प्रेम को मानते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु से लेकर १८ और १९वीं सदी के समय के साधक परमहंस रामकृष्ण देव ने भी, प्रेम को ही साधना का सर्वप्रधान पथ बताया, जिसे रामकृष्ण 'प्रेमानुगा साधना', कहते थे। साधना में ज्ञान और कर्म के मार्ग में शास्त्राभिमुख होना पड़ता है। पर प्रेम मार्ग में न तो लोकाचार का प्रयोजन है और न शास्त्र का; केवल प्रयोजन है तो गुरु का। गुरु के जीवन आदर्श, उनके निर्देश - ब्रह्म तक पहुंचने के लिए अनुभूति का विकास, ये ही शिष्यों को ईश्वर तक पहुंचाते हैं। गुरु द्वारा अपने को विश्वव्यापी असीम बनाने की शिक्षा इन्हें दी जाती है। हर सिद्धान्तों के मूल में बाउलों का कहना था "कर्मे, रूपे, योगे, प्रेमे, ध्याने कायार सहायताए, काया योगी सार साधना।" वेदे कि तार मर्म जाने / से रूपे सांयेर लीला खेला आछे एक देह भुवने। —'लालन फकीर'

१०वीं सदी से उत्पन्न बाउलों का काया योग, द्रविडों की प्रेम भक्ति, रामानुजाचार्य की सगुण भक्ति, गुजरात के स्वामी मध्वाचार्य की द्वैतवादी भक्ति, वैष्णव संप्रदायों की और पूर्व में जयदेव की कृष्ण भक्ति (जिसमें मिथिला के कोकिल विद्यापति ने भी सुर मिलाया) प्रसिद्ध मराठी संत नामदेव (जिन्होंने हिन्दू-मुस्लिम के लिए समान धर्म की बात कही थी) की भक्ति इन सभी के मतों का सामंजस्य लेकर कबीर ने अपना सुव्यवस्थित निर्गुण पंथ चलाया था। बाद में नानक, दादू, मलूकदास जैसे संत भी नीच जातियों की अस्मिता विकास के काम में सक्रिय हुए थे। बंगाल में अपढ़-अनाड़ी, गंवार से लेकर बुद्धिजीवी कवि, गायक-रामप्रसाद, रजनीकान्त, अतुल प्रसाद, द्विजेन्द्र लाल राय, केशवचन्द्र सेन, विजयकृष्ण गोस्वामी, रवीन्द्रनाथ तथा नजरुल इस्लाम कबीर के रंग में रम गए। यह धारा बाउलों के माध्यम से आई थी। बाउलों पर कबीर का प्रभाव

केवल साखी, बीजक, रमैनी, शबद तक ही सीमित नहीं रहा था। कबीर के कहरा, बसन्त, बेली, विरहुली चांचरी, हिंडोला, चौंतीसी, विप्रमतीसी, उलटबांसी तथा परचा आदि के पदों में से भी बाउल परिचित हुए थे।

अन्त में, भाषा के क्षेत्र में, बाउलों की भूमिका कबीर के सदृश है या नहीं, उस पर चर्चा आवश्यक है। कबीर की भाषा सधुक्कड़ी थी– राजस्थानी, पंजाबी और खड़ी बोली का जहाँ मिश्रण है; पर रमैनी की भाषा ब्रज है। कोई संदेह नहीं कि बाउलों की भाषा भी अटपटी है, जिसके भाव गहरे हैं, जिसके मुहावरे रूपक और पहेलियाँ अर्थ से बोझिल हैं, जिसकी टीका-टिप्पणी तथा भावार्थ समझने में विद्वानों को भी दिक्कतें होती हैं। बाउल की बांग्ला भाषा में उर्दू-फारसी के शब्दों का काफी प्रयोग है और उनकी भाषा में स्थानीय लोक-भाषा का पुट है। कबीर की भाषा से बाउलों की भाषा को जोड़ने के लिए ये ही बातें सहायता करती हैं।

रवीन्द्र पर कबीर का प्रभाव :

रवीन्द्रनाथ ने कबीर - ग्रंथ की अपेक्षा कबीर पंथियों और कबीर के शिष्यों से अधिकाधिक सामग्री जुगाड़ की थी। इस कार्य में उनके परम मित्र श्री क्षितिमोहन सेन शास्त्री ने बहुत सहायता की थी। कबीर के तत्व, उपदेश, प्रेम, साधना आदि के पदों के समान रवीन्द्र के ब्राह्म-संगीत तथा पूजा-प्रेम-प्रकृति के अनेक गीत, मिलते-जुलते से लगते हैं। उदाहरणस्वरूप– "बहे निरन्तर अनन्त, आनन्द धारा / एकक अखंड ब्रह्माण्ड राजे / परम एक सेई राज राजेन्द्र राजे।" कबीर के सम-भावों के पद रवीन्द्र की गीतांजलि में अधिक मिलते हैं। जिसके फलस्वरूप लोगों के मन में संदेह था, कि कवि गुरु ने कबीर को पढ़ कर लिखा होगा। पर यह धारणा गलत है, कारण गीतांजलि का रचना काल १९१३ है और नोबेल पुरस्कार भी उन्हें उन्हीं दिनों मिला था। कबीर के बारे में क्षितिमोहन सेन के द्वारा कबीर की जानकारी कवि को १९१७ में मिली थी। उन दिनों कबीर के पदों को पढ़ कर उन्हें आश्चर्य हुआ, अपनी रहस्यवादिता के साथ कबीर के विचारों का मेल देख कर। उसी समय कबीर के १०० पदों का अंग्रेजी में अनुवाद करने की इच्छा उनमें जागी। उनके ग्रंथ का नाम है– इंगलिश राइटिंग्स ऑफ टैगोर। इसकी भूमिका 'एवेलिन अंडरहिल' ने लिखी है। दो अनुवाद इस प्रकार हैं–

कबीर– 'मोंको कहां ढूँढ़े बन्दे मैं तो तेरे पास में'

अनुवाद– 'ओ सर्वेन्ट वेयर डस्ट दाउ सीक मी?
लो ! आई एम बिसाइड दी
आई एम नीदर इन टेम्पल नार इन मास्क;

आई एम नीदर इन काबा नार इन कैलाश।
नीदर एम आई इन राइटस् एण्ड सेरीमनीज़, नार इन योगा एण्ड रिननसियेशन।
इफ दाऊ आर्ट ए ट्रू सीकर, दाऊ शैल्ट एटवन्स सी मी :
दाउ सैल्ट मीट मी इन ए मोमेंट ऑफ टाइम
कबीर सेज़, ओ साधु ! गॉड इज द ब्रीद ऑफ ऑल ब्रीद।

कबीर-- ''संतन जात न पूछो निर्गुनियाँ'

अनुवाद-- 'इट इज नीडलेस टू आस्क ऑफ ए सेन्ट द कास्ट टू विच ही बिलांग्स; फॉर द प्रिस्ट द बारियर, द ट्रेड्समैन एण्ड ऑल द थर्टीसिक्स कास्ट्स, अलाइक आर सीकिंग फार गॉड।
इट इज बट फॉली टू आस्क वॉट द कास्ट ऑफ सेन्ट मे बी, द बारबर हैज़ शेंट गॉड, द वाशरमैन, एण्ड द कारपेन्टर, इभेन रैदास वाज ए सीकर आफ्टर गॉड। द ऋषि स्वपच वाज ए टेनर बाई कास्ट। हिन्दुज एण्ड मुस्लिम अलाइक हैव ऐचिव्ड दैट एण्ड.....इत्यादि।

नजरुल इस्लाम पर सूफी - प्रभाव :

सूफी दरवेशों का जितना प्रभाव नजरुल पर था उतना ही हिन्दू साधु महात्माओं का भी। 'बाउंडुले आत्म काहिनी, (यायावर की आत्म कथा) लिख कर उन्होंने अपने घुमक्कड़ स्वभाव तथा रहस्यवादिता की जानकारी पाठकों को दी है। कबीर का प्रभाव नजरुल के अनेक गीतों में झलकता है। ईश्वर के सर्वव्यापी विराट रूप की व्याख्या यहाँ देखें, ''खेलिछो ए विश्व लोये विराट शिशु आनमने'' हिन्दी अनुवाद में : खेलता तू विश्व संग विराट शिशु मन मगन/ प्रलय सृष्टि तेरा, खेल पुतलों का/ निर्जन में/प्रभु तू निरंजन/शून्य महाकाश में, मगन लीला विलास में/ गढ़े और तोड़े तू नित छल छन /तारक-रवि-शशि खिलौने तेरे हे उदासी/ रंजित-पग तेरे चूमते ग्रह राशि-राशि /नित ही तू उदार, सुख-दुख में निर्विकार/हंसे खेले नित, मन-उन्मन।

इसी प्रकार ''अन्तरे तुमि आछो चिर दिन,'' गीत कबीर के 'मोको कहां ढूंढ़े बन्दे,'' पद की याद दिलाता है।

अनुवाद-- अंतर में तू बसे दिनयामी, ओ मेरे अंतर्यामी / बाहर तुझे ढूंढ़ थकूँ मैं पाऊ न तुझे मैं स्वामी / ..... मंदिर रचूं, मूरति गढ़ू, देख कर हंसे स्वामी/ ..... सुरभि-सुमन सौरभ वन, प्राण में हो समाये/ समीरण सम आलोक बन, विश्व भुवन छाये। बहु रूप तुम या रूप हीन, तेरी लीला अंत विहीन /**चोरी-चोरी खेल-खेल के साथी**, मैं तेरा दिवसयामी।

बहुरूपसाकार ब्रह्म (रूपहीन) (निराकार ब्रह्म) उसी प्रकार अंत में चोरी-चोरी..... दिवसयामी। "कबीर के बीजक बित्त बताई, जो बित गुप्त होए (रमैनी ३७)" इस प्रकार नजरुल में कबीर के विचार तथा भाव स्पष्ट झलकते हैं।

"संतन जात न पूछो निर्गुनियाँ" के ढंग पर जात-पाँत मानने वालों को कड़े स्वर में नजरुल ने धमकाया है। गीत है– "जातेर नामे बज्जाति सब, जात जालियात खेल्छे जुआ/ छुलेई तोर जात जाबे ? जात छेलेर हातेर नय तो मोआ।" इसी प्रकार मानव धर्म की स्थापना के लिए वे लिखते है, "ए बार नवीन मंत्रे होबे जननी तोर उद्‌बोधन।" अनुवाद में, "हो अब, नये मंत्र से जननी तेरा जागरण। सदा बिराजो तुम, गेह-मेरे न दूं तुझे विसर्जन / ..... वहाँ न हो कोई छूत-अछूत / ऊँच-नीच भेद, सब मिल कर गायेंगे हम, मातृ-नाम वेद। और अंत में विश्व प्रेम की बात कहते हुए ब्रह्म के ब्रह्माण्ड में व्याप्ति का वर्णन भी वे, कबीर के जैसे ही करते हैं। पर उनकी भाषा आधुनिक ही है। "दीन दुखियारा हो न कोई/ समान होंगे सभी जन, विश्व होगा महाभारत-नित ही प्रेम का वृन्दावन।"

सूफियों की तरह अपने दीवानेपन के बारे में वे काफी जागरूक थे। "आमी भाई खेपा बाउल, आमार देउल/ आमार एई आपन देह"।

नजरुल के अलावा रामप्रसाद, रजनीकान्त, कमलाकान्त, अयोध्यानाथ पकड़ासी, त्रैलोक्यनाथ सान्याल, दासरथि राय, जैसे गीतकार और रामकृष्ण भक्त अन्य ब्रह्म-समाजी कवि-साहित्यकारों के पदों में भी कबीर झलकते हैं। "तुमि अरूप, स्वरूप, सगुण, निर्गुण दयाल भयाल हरि हे" (ब्रह्म के अनेक रूपों का दर्शन है) तो दूसरे गीत में निराकार निर्गुण के लिए रजनीकान्त सेन (१८६५-१९१०) कहते हैं, "केऊ नयन मेले देखे आलो केऊ देखे आंधार/ केऊ बोले से गुणातीत केऊ बोले गुणान्वित/ केऊ बोले एक हाटू (घुटना तक) जल / केऊ बोले सांतार (तैरने लायक)।" इस प्रकार अनेक मिस्टिक पद कबीर के जैसे हैं।

रामप्रसाद (१७२०-१७८१) लिखते हैं "मन रे कृषि काज जानो ना / एमन मानव जीवन रइलो पतित (पड़ा रहा) / आबाद करले फलतो सोना।"

इसी प्रकार रामकृष्ण परमहंस जिन गीतों को गाते थे अथवा स्वामी विवेकानन्द के जिन गीतों को वे सुनते थे, उनमें कबीर के भाव कूट-कूट कर भरे दिखते हैं। अयोध्यानाथ पाकड़ासी रचित "मन चलो निज निकेतने, संसार विदेशे विदेशीर बेशे भ्रमो केनो अकारणे" इसमें कबीर के **"ना घर तेरा ना घर मेरा चिड़िया रैन बसेरा"** के भावों की एकरूपता है।

नव युग के नवीन चन्द्र बाउल के गीत में कबीर की साखी की भांति

रामकृष्ण 'आखर', जोड़ते थे। २०० से अधिक ऐसे गीत परमहंस रामकृष्ण को कंठस्थ थे, उनमें एकाधिक कबीर के मूल पद होते थे। 'रामकृष्ण मठ' नागपुर से प्रकाशित 'भजनांजलि' में जो उपलब्ध हैं। नवीनचन्द्र बाउल की रचना "कानेर भूषण आमार से नाम श्रवण / नेत्रेर भूषण से रूप दर्शन / तथा "मनेर कथा कईबो की सोई (सखी) कईते मना/ दरदी नईले प्राण बांचे ना/ मनेर मानुष होय जे जना / ओ तार नयने ते जाए गो चेना / से दु एक जना, भावे, भासे, रसे डोबे / ओ से उजान पथे करे आनागोना।। इसी को रामकृष्ण का कर्ताभजा प्रेम कहा गया है। इसके अनुकूल पद कबीर का "दुलहीन गावहुं मंगलाचार / हम घर आये परम भरतार / तन रत करि मैं मन रत करिहैं / पंच तत्व तव राती / .....शरीर सरोवर तीरथ करिहों / ब्रह्म वेद उचार / बालम के संग मिलन लेह हैं / धन धन भाग हमार।"

कबीर तथा बाउलों के देह-तत्व परमहंस रामकृष्ण के 'कर्ताभजा' भक्ति-भावना में एक जैसे हैं।

उपसंहार में यह कहना आवश्यक है कि कबीर और बाउलों ने मिलकर दलित, निम्न जन-जाति में जागरण फैलाया था और परमहंस रामकृष्ण देव (आज के रामकृष्ण मिशन-मठ) तथा श्री प्रणवानन्द स्वामी, (आज के भारत सेवाश्रम संघ) इन दोनों ने कोशिश की-- अपने को कुलीन समझनेवाले विद्वान तथा पंडितों के अहंकार की भावना को मिटा कर सामान्य मानव धर्म के प्रति उनका विश्वास स्थापित करने की। बाबू कल्चर वाले अनेक बंगाली विद्वत्जन रामकृष्ण के भक्ति-मार्गी धारा में मिले, जिसमें मैक्समूलर की तरह अनेक विदेशी विद्वान भी थे। शरदचन्द, बंकिमचंद, ईश्वरचंद्र विद्यासागर तथा ब्रह्म समाज के केशवचंद्र सेन, त्रैलोक्यनाथ सान्याल, विजयकृष्ण गोस्वामी, देवेन्द्रनाथ, द्विजेन्द्रनाथ, सत्येन्द्रनाथ तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ स्वर्णकुमारी देवीजी भी अनायास रामकृष्ण परमहंस के भावादर्श को मानने लगी थी। उसी प्रकार गीतकार रघुनाथ राय, रजनीकान्त सेन, यदुनाथ भट्ट, विष्णुराम चट्टोपाध्याय, नाट्य आचार्य गिरीश घोष तथा नटी विनोदिनी जैसी देह-व्यापारी महिला ने भी अपना व्यवसाय त्याग दिया था और रामकृष्ण की भक्ति धारा में बह निकली थी। बंगाल की लोक गीत शैलियां जैसे, तरजा गान, कवि गान, लेटोर गान, कीर्तन, गान, ऐसे सभी गीतों में कबीर के रहस्यवाद का स्पर्श कहीं न कहीं है।

धर्म पर राजनीति के हावी होने की नौबत स्वाधीनता के पश्चात् भारत में आई और नवीन युग में भक्ति-काव्य का अभाव बढ़ता गया। जबकि कबीर के मानवधर्मी मतादर्श १९वीं सदी तक भली भांति बढ़ते दिखे। अन्त में कबीर के

संदर्भ में एक प्रश्न उठता है कि उन्होंने देश भक्ति की रचनाएं क्यों नहीं लिखी? इसके लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं, "सन् १३७५ से १७०० तक देश में मुसलमानो का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने से, गौरव, गर्व और उत्साहरहित भयभीत हिन्दू जनता के सामने देव मंदिर गिराये जाते थे, मूर्तियां तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था। ऐसी अवस्था में वे वीरता के गीत न गा ही सकते थे और न सुन ही सकते थे"। ●

संदर्भ ग्रंथ (हिन्दी)

१. कबीर वाङ्मय खंड-१ रमैनी - डॉ० जयदेव, वासुदेव सिंह।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आ० रामचन्द्र शुक्ल
३. कबीर- पारसनाथ तिवारी
४. रामकृष्ण मठ नागपुर, प्रकाशित "भजनांजलि" (रामकृष्ण से संबंधित भक्ति-गीत।)

संदर्भ ग्रंथ (बांग्ला)

१. लालन द्विशतवार्षिकी - अन्नदाशंकर राय।
२. विश्वकोश में सूफीवाद - नगेन्द्रनाथ बसु
३. बांग्लार बाउल - उपेन्द्रनाथ भट्टाचार्य
४. रामकृष्णेर प्रिय संगीत - लोकेश्वरानंद

कबीर : 'सबहि के हित की भाखी'

डॉ० कुमार विमल

नाभादास जी ने 'भक्तमाल' में कबीर के बारे में लिखा है --

हिन्दू तुरुक प्रमान रमैनी शबदी साखी।
पक्षपात नहि वचन सबहि के हित की भाखी।।[1]

किसी पन्थी या धर्मावलम्बी का पक्षपात नहीं करना और सबके हित की बात को बोलना -- कहना -- कबीर का अभीष्ट था, जब कि यह कोई साधारण काम नहीं है। यही तो लोकमंगलवाद है, सच्चा 'सेकुलरिज्म' है; 'वोट बैंक' की राजनीति करनेवाला छद्मवेशी धर्मनिरपेक्षतावाद नहीं है। कबीर सही मानी में 'निरपेक्ष' थे और 'निष्पक्ष' थे -- 'पष छाड़ै निरपष रहै ।[2]

कबीर भक्त, सन्त, साधक और कवि होने के साथ ही बहुत बड़े समाज-सुधारक थे। भक्तों की कोई भी नामावली हो, उसमें ज्ञानमार्गी 'निरगुनिया' कबीर का नाम आ ही जाता है। चाहे ध्रुवदास - रचित 'भक्तनामावली' हो, ओड़छेवाले व्यास जी की वाणी हो, भगवत रसिक लिखित 'भक्तनामावली' हो, मलूकदास जी रचित 'ज्ञानबोध' हो, नागरीदास कृत 'पदप्रसंगमाला' हो अथवा हनुमानवंशी (शायद, डोम [3]) नाभादास-कृत 'भक्तमाल' (Menology) हो -- सबमें भक्त कबीर का नामोल्लेख मिलता है। 'भक्तनामावली' में ध्रुवदास ने लिखा है --

जगत विदित पीपा, धना अरु रैदास कबीर।
महाधीर दृढ़ एक रस भरे भक्ति गंभीर।। (दोहा संख्या 11)

किन्तु, 'भक्त' कबीर से अधिक 'समाज-सुधारक' कबीर इस युग के लिये प्रासंगिक हो गये हैं। महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जवाहरलाल नेहरू, बी. आर आम्बेडकर, राम मनोहर लोहिया इत्यादि के धर्म-समाज-संबंधी विचार कबीर के एतद्संबंधी विचारों से मेल खाते हैं। डॉ० लोहिया के समाज-दर्शन या

सामाजिक सन्देश का जो रेखांकित अंश है, उसकी प्रचुर अभिव्यक्ति हमें कबीर की 'विप्रमतीसी' में मिलती है। एक 'विप्रमतीसी' की अन्तिम साखी में कबीर ने यहाँ तक लिख दिया है--

बहा है बहिजात है, कर गहि ऐंचहु और।
समुझाए समुझै नहीं, देहु धका दुइ और ।। [4]

कबीर की 'रमैनी' में उनके जगत-सम्बन्धी विचार, 'साखी' में उनके जीव-सम्बन्धी विचार और 'सबद' में उनके ब्रह्म-सम्बन्धी विचार मिलते हैं। किन्तु, गम्भीर गवेषणा के मार्ग में कठिनाई यह है कि अबतक कबीर की रचनाओं का पाठ-निर्धारण वैज्ञानिक पाठालोचन की दृष्टि से पूरा नहीं हो सका है। फलतः कबीर के नाम से प्रचलित अनेक पद-पाठ अब तक प्रामाणिकता की दृष्टि से संदिग्ध हैं। कबीर के नाम से लगभग 1600 पद, 4500 साखियाँ, 134 रमैनियाँ और लगभग 100 प्रकीर्ण रचनाएँ मिलती हैं। किन्तु, इनमें वस्तुतः कबीर की कितनी प्रामाणिक रचनाएँ हैं--इसका विनिश्चय नहीं हो सका है। मूल स्रोत-सामग्री की इस संदिग्धता की ओर कबीर-साहित्य के विदेशी अध्येता हमारा ध्यान प्रायः आकृष्ट करते रहे हैं।

आज के धार्मिक-सामाजिक परिवेश में कबीर की युग-चेतनानुरूप प्रासंगिकता ने, शायद, विदेशी अध्येताओं का ध्यान कबीर-साहित्य की ओर मुख्यतः आकृष्ट किया है। इधर के दशकों में Charlotte Vandeville [5] और Linda Hess [6] ने कबीर पर बढ़िया काम किया है। लिंडा हेस ने कबीर के वाणी-विधान को 'रफ़ रेटॅरिक' कहा है और एफ़. ई. की ने कबीर को रॅग्-इड प्रॉफेट' (rugged prophet)[7] माना है। बहुत पहले कबीर के कुछ पदों का इतालवी अनुवाद बिहार के बेतिया-स्थित एक पादरी Padre Marcodella Tomba ने किया था। लगभग एक सौ साल के बाद इस इतालवी अनुवाद की खोज-ढूँढ़ कर इतालवी भारतीय विद्याविद् [8] Angelo de Gubernatis ने सन् 1878 ईस्वी में प्रकाशित कराया। इस अल्पज्ञात इतालवी अनुवाद और अनुवादक का उल्लेख डा० विलियम जे. द्वायर ने भी अपने कबीर-विषयक शोध-ग्रन्थ में किया है।

यह भी कहा जाता है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर कृत कबीर के पदों के अंग्रेजी अनुवाद ने विदेशी अध्येताओं का ध्यान कबीर-साहित्य की ओर आकृष्ट किया। ज्ञातव्य है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कबीर के लगभग एक सौ पदों का अंग्रेजी अनुवाद किया था, जो 'सॉंग्स ऑव कबीर' के नाम से सन् 1915 ईस्वी में मेकमिलन, लन्दन से प्रकाशित हुआ था।[9] इस अनुवाद-कार्य में इवेलिन अंडरहिल[10] ने रवीन्द्रनाथ को सहयोग दिया था। रवीन्द्रनाथ ने कबीर के इन एक सौ पदों

का चयन क्षितिमोहन सेन द्वारा, विभिन्न स्रोतों से एकत्रित और बांग्ला में लिप्यन्तरित, कबीर के 341 पदों में से किया था। कई अध्येताओं का मत है कि रवीन्द्र के समक्ष उपस्थापित आधारभूत सामग्री प्रामाणिक नहीं थी। अर्थात् क्षितिमोहन सेन द्वारा संकलित और बांग्ला में लिप्यन्तरित पद कबीर के प्रामाणिक पद नहीं थे और उनकी व्याख्या में अर्थ की भ्रान्ति भी थी।

कबीर के चुने हुए पदों का सटिप्पण अंग्रेजी अनुवाद राधास्वामी सत्संग न्यास, पंजाब द्वारा प्रवर्त्तित 'मिस्टिक्स ऑव द ईस्ट सिरीज' के अन्तर्गत भी प्रकाशित किया गया है।[11]

मेरे निजी संग्रह में भी कबीर के 'बीजक' और साखियों के कई अल्पज्ञात और विज्ञात संस्करण उपलब्ध हैं [12] जैसे :—

1. बीजक, कबीरदास, सटीक, प्रथम संस्करण, मुन्शी नवलकिशोर यंत्रालय, लखनऊ, सन् 1883 ईस्वी (श्री रीवाँ राज्याधिपति की सहायता से प्रकाशित तथा अयोध्या-निवासी युगलानन्य शरण जी के पुस्तकालय से साधु श्री जानकीवरशरण जी द्वारा प्रदत्त पाण्डुलिपि पर आधारित।)
2. बीजक, श्री सद्गुरु कबीर साहब-कृत, टीकाकार स्वामी श्री हनुमानदास जी साहब षट्शास्त्री, सम्पादक तथा संशोधक : श्री श्रीनन्दन दास जी, प्रकाशक : फतुहा स्थानाध्यक्षाचार्य श्रीमहन्त गरीबानन्द जी साहब, प्रथम संस्करण, विक्रमाब्द 2021.
3. बीजक ग्रन्थ, श्री सद्गुरु कबीर साहब कृत, टीकाकार और सम्पादक, स्वामी श्री हनुमानदास जी साहब षट्शास्त्री, प्रकाशक : फतुहा स्थानाध्यक्ष आचार्य श्री महन्त हरिनन्दन दास जी साहब, द्वितीय संस्करण, सन् 1958 ईस्वी।
4. मूल बीजक, श्री सद्गुरु कबीर साहब कृत, सम्पादक : श्री स्वामी हनुमानदास जी साहेब, षट्शास्त्री, प्रकाशक : आचार्य श्री महन्त हरिनन्दन दास जी साहेब, स्थान फतुहा (बिहार), पटना, सन् 1960 ईस्वी।
5. कबीर ग्रन्थावली, सम्पादक : बाबू श्यामसुन्दर दास, इलाहाबाद।
6. कबीर बचनावली, संग्रहकर्त्ता, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' नागरी प्रचारिणी सभा काशी, तेरहवाँ संस्करण।
7. कबीर ग्रन्थावली, सम्पादक, डा० पारसनाथ तिवारी, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, सन् 1961 ईस्वी।
8. कबीर-वाणी-संग्रह, डा० पारसनाथ तिवारी, इलाहाबाद।

9. कबीर वाङ्मय (तीन खण्ड), डा० जयदेव सिंह : डा० वासुदेव सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1974.
10. कबीर-वाणी-पीयूष, डा० जयदेव सिंह एवं वासुदेव सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1972.

मुख्यतः पदों, रमैनियों और साखियों से विनिर्मित कबीर-वाङ्मय उक्त प्रकाशित संग्रहों तथा ग्रन्थावलियों के अलावा हस्तलिखित पोथियों के रूप में भी उपलब्ध है। जैसे — श्री दादू महाविद्यालय (जयपुर), श्री कबीर मन्दिर (मोती डूँगरी), काशी नागरी प्रचारिणी सभा (वाराणसी), हिन्दी साहित्य-सम्मेलन (प्रयाग), इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी (लन्दन) इत्यादि में उपलब्ध कबीर-वाङ्मय की हस्तलिखित प्रतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। 'श्री गुरु ग्रन्थ साहब[13] में सिक्ख गुरुओं के अतिरिक्त जिन अन्य सन्तों की वाणियाँ संकलित हैं, उनमें कबीर को सर्वप्रमुख स्थान देते हुए उनके सैकड़ों पद और 'सलोक' (साखियाँ) संगृहीत किये गये हैं। विशेषकर, कबीर के पदों को गुरुवाणी-संगीत में प्रवर्त्तित विभिन्न रागों--रागु सिरी, गउड़ी, आसा, गूजरी, सौरठि, धनासरी, तिलंग, सूहीं, बिलावल, रामकली, केदारा, गौंड, मारू, भैरउ, सारंग इत्यादि के उल्लेख के साथ संकलित किया गया है।

जहाँ तक हस्तलिखित पोथियों की बात है, यह कह देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि हमारे देश में हस्तलिखित पोथियाँ और मातृकाएँ उस तरह सुसज्जित रूप में रक्षित नहीं की जाती हैं, जिस तरह सुसज्जित रूप में हस्तलिखित पोथियाँ पश्चिमी दुनिया के देशों में नाना प्रकार के प्रलेपों, चर्म-पत्रों, पक्की कजली स्याही (Soot) सुनहले रंगों, धातु प्रच्छद-पट इत्यादि के सहारे--रक्षित की जाती हैं।[14]

कबीर पन्थ के दो प्रमुख केन्द्रों--कबीर चौरा, बनारस और छत्तीसगढ़-ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप कबीर की साखी, सबद, रमैनी तथा गोष्ठी-साहित्य की हस्तलिखित प्रतियाँ रक्षित की हैं और उनको प्रकाशित कराया है। जैसा कि एफ. ई. की[15] ने लिखा है, बनारस-केन्द्र की महन्त-परम्परा सुरत गोपाल से प्रारम्भ हुई और छत्तीसगढ़ की महन्त-परम्परा धर्मदास से प्रारम्भ हुई। कबीर पन्थ की छत्तीसगढ़ शाखा द्वारा तैयार कराई गईं दो पोथियाँ--'सुख-निधान' और 'अमर-मूल' कबीर वाङ्मय के सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं।

कबीर की कृतियों में 'बीजक' सर्वाधिक प्रचलित और महत्त्वपूर्ण है। मुंगेर के बैपटिस्ट (Baptist) मिशन के रेवरेंड प्रेमचन्द द्वारा सन् 1890 ईस्वी में प्रकाशित बीजक के संस्करण, बुर्हानपुर के पूरनदास द्वारा सन् 1892 ईस्वी में लखनऊ से प्रकाशित संस्करण, कानपुर के रेवरेंड अहमद शाह द्वारा सन्

1911 ईस्वीमें प्रकाशित संस्करण (रीवां के राजा[16] द्वारा संकलित पाठ पर आधारित) और एफ. ई. की[17] द्वारा किये गये विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि 'बीजक' के परवर्ती संकलनों में अनेक अन्तर्वेशन (interpolation) किये गये हैं तथा कबीर के नाम पर कई क्षेपक (प्रक्षिप्त अंश) जोड़ दिये गये हैं।

सामान्यतः यह माना जाता है कि 'बीजक' की दो वाचिक परम्पराएँ थीं--एक पूर्वी (पूरबी) वाचिक परम्परा और दूसरी उत्तरी-पश्चिमी वाचिक परम्परा। एफ. ई. की का कहना है कि अमृतसर के सुप्रसिद्ध स्वर्ण मन्दिर के कबीर-द्वार पर 'बीजक' का जो पाठ किया जाता है, वह 'बीजक' की उक्त दोनों परम्पराओं तथा 'बीजक' के 'भगताही' पाठ से किंचित भिन्न है। यह लक्ष्य करने योग्य है कि 'आदि ग्रन्थ' के सूत्र को ग्रहण करते हुए अबतक कबीर पर सिक्ख धर्म के सन्दर्भ में--विशेषकर 'आदिग्रन्थ' में संकलित कबीर के पदों को दृष्टिगत रखकर विद्वानों और अनुसन्धाताओं द्वारा पर्याप्त विचार-विमर्श नहीं किया गया है। विभिन्न पाठों के आधार पर 'बीजक' का जो संकलित संरचनात्मक स्वरूप सामने आता है, वह लगभग इस प्रकार है--आदि मंगल, रमैनी, कहरा, बसन्त चौंतीसी, हिंडोल, साखी, चाँचर (चर्चरी) शबद, विप्रमतीसी[18] और सायर बीजक को पद[19]।

यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि यद्यपि अबतक कबीर की प्रामाणिक रचनाओं की पहचान पूरी नहीं हो सकी है और वैज्ञानिक पाठालोचन की दृष्टि से अबतक कबीर-वाङ्मय का मानक पाठ-निर्द्धारण सर्वमान्य नहीं हो सका है, तथापि वर्त्तमान रूप में उपलब्ध कबीर-वाङ्मय के आधार पर कबीर की अध्यात्म-दृष्टि, धर्म-धारणा, ध्यान-योग, उनके सामाजिक सन्देश और अन्य पक्षों पर निष्कर्षात्मक मन्तव्य निरूपित करने में किसी कठिनाई या दिग्भ्रम की गुंजाइश नहीं मालूम पड़ती है।

दरिया साहब ने तो बहुत पहले ही अपने शिष्यों से कहा था--'ताहि खोजो जो खोजहिं कबीरा।'[20] कबीर की कई खोजों में से एक खोज 'अविनासी दुलहे' की खोज थी,जिसके प्रेम, विरह, लगन और लाग में कबीर तड़पते रहते थे--'मैं विरहिनि ठाढ़ी मग जोऊँ राम तुम्हारी आस'। कबीर के हृदय में प्रेम और विरह की जो आग लगी थी, उसे केवल वही जान सकता है, जिसके हृदय में सचमुच आग लग गई है अथवा जिसने अपने हृदय में आग लगाई है--

हिरदै भीतरि दौं बलै धुवां न परगट होइ।
जाकै लागी सो लखै कै जिहिं लाई सोइ।।

उस 'अविनासी दुलहे' के प्रति कबीर के प्रेम में कितनी तड़प है, कितना उन्माद

है, कितना उत्सर्ग है, कितनी प्रगाढ़ प्रपत्ति है और कितनी कोमल लालसा है ! इसकी बानगी देखिये कबीर की इन दो पंक्तियों में--

इस तन का दीवा करौं बाती मेलौं जीव।
लोही सींचौं तेल ज्यौं तव मुख देखौं पीव।।

राम से मिले बिना कबीर के तन की तपन मिट नहीं सकती --

राम बिनु तन की तपनि न जाइ।
जल महिं अगिनि उठी अधिकाइ।।

यह है कबीर की प्रीतिमयी सहजा मन्मोन्मनी अवस्था।इसमें कबीर की कूट-वाणी, टकसार-वाणी, मूकज्ञान-वाणी और बीजक-वाणी--सबका ओंकार-सार भरा हुआ है। इसीसे उद्‌भूत होती है यह दिव्य अनाहत अनुभूति, जिसे 'शब्द की चोट' से आहत कबीर इस रूप में व्यक्त करते हैं--

सतिगुरु हो महाराज मोपै साँई रंग डारा।
शब्द की चोट लगी मेरे मन में बेध गया तन सारा।।

यह चोट लगने के बाद ही कोई ध्यान-योगी अर्द्धवृत्ताकार कमल-नाल जैसे 'बंकनाल' के माध्यम से त्रिकुटी और सहस्रदल के मध्यस्थ संकीर्ण मार्ग द्वारा मूलाधार, आज्ञाचक्र रुद्रग्रन्थि इत्यादि को पारकर ब्रह्मरंध्र में पहुँच पाता है। कबीर के अनुसार यही बंकनाल हमें उस 'नीझर' (निर्झर) तक पहुँचाता है, जिससे निरन्तर रस झरता रहता है।[21]

कबीर के आध्यात्मिक सन्देशों, दार्शनिक निरूपणों और सदाचार-प्रेरक कथनों का सार-संकलन सुप्रसिद्ध कबीर-पन्थी श्री रामसूरत साहेब के ग्रन्थ 'विवेक-प्रकाश'[22] में प्रस्तुत किया गया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से कबीर घटवादी थे। एक ओर कबीर ने कहा--'सब घट मेरे साइयाँ' अथवा 'ज्यौं नैननि में पूतरी, त्यौं खालिक घट मांहि' और दूसरी ओर घटाधारित मत-भिन्नता को लक्षित करते हुए कबीर ने कहा--

जेता घट तेता मता बहु बानी बहु भेख।
सब घट व्यापक हो रहा सोई आप अलेख।।

इसमें दो मत की गुंजाइश नहीं कि कबीर-काव्यमें घट-प्रतीक की तरह शब्द और सुरति (सुर्त) का पार्यन्तिक महत्व है--

'तीखी सुर्त कबीर की फोर चली ब्रह्मान्ड'।

अथवा

'सबद बिना तो सुरति आंधरी, कहो कहाँ को जाय'।

कबीर के अनेक आध्यात्मिक और योग साधनात्मक पदों में हमें अद्वितीय

पारदर्शिता मिलती है। सरोवर के तट पर रहकर भी तृषित हंसिनी (आत्मा) को लक्ष्य करते हुए कबीर कहते हैं--

सरवर तट हंसणी तिसाई। जुगति बिना हरि जल पिया न जाई।।

इसी तरह जल में रहकर भी कुम्हला जानेवाली नलिनी से कबीर की यह पृच्छा अध्यात्म का कितना विस्तृत द्वार खोल देती है--

काहे री नलिनी तूं कुमिलानी । तेरे हि नालि सरोवर पानी।।

इसीलिए कबीर ने भक्तों के लिये ग्रहणशीलता, ग्राहकता और सहृदयता को आवश्यक बताया है। जीवात्मा के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने में परमात्मा की कृपा ग्रहण करने की पात्रता पैदा करे अन्यथा परमात्मा की कृपा अकारथ हो जायगी। कबीर ने अन्योक्ति-विशेषोक्ति के द्वारा अपनी एक साखी में इसे संकेतित किया है--

झिरमिर झिरमिर बरषिया पाहन ऊपरि मेह।
माटी गलि सेंजल भई, पाहन वोही तेह।।

अधिकांश सन्त कवि सामाजिक संस्तरण की दृष्टि से निम्नकुलजन्मा थे। बारकरी सम्प्रदाय के मराठी सन्त नामदेव जन्म-जाति से शिम्पी (दर्जी) थे, दादू धुनिया[23] थे, बंका अछूत थे[24], धन्ना जाट थे, गोरा कुम्हार थे, सेना नाई थे, रैदास चमार थे, रज्जब पठान थे, कान्हो पात्रा एक रखैल की बेटी थी और दरिया उस परिवार से आये थे, जो धर्म-परिवर्तन कर हिन्दू से मुसलमान बना था। इसलिए सन्त कवि जात-पाँत, ऊँच-नीच, गैरबराबरी और द्विज-तन्त्रित समाज-व्यवस्था[25] के विरोधी थे[26]। सन्त नामदेव के शिष्य भी अधिकतर समाज की निचली श्रेणी से आये थे। उनकी प्रख्यात शिष्या जनाबाई, मैराला की तरह शूद्रा थीं, उनके प्रमुख शिष्य चोखामेला महार जाति के थे और उनके प्रधान शिष्यों में गण्य जल्लों बढ़ई जाति के थे। इन्द्रायणी नदी के तट पर स्थित देहू ग्राम (जिला पूना) में जन्मे तुकाराम भी समाज की निम्न श्रेणी से आये थे, जिसका उल्लेख स्वयं उन्होंने अपने कई अभंगों में किया है।

इन सन्त कवियों के आध्यात्मिक सन्देश, दार्शनिक निरूपण, सदाचार-शिक्षा इत्यादि का महत्त्व तो निर्विवाद है। किन्तु चिति-प्रधान काव्य के प्रणेता इन सन्त कवियों के सामाजिक सन्देशों का महत्त्व भी अन्यून है, क्योंकि इनके सामाजिक सन्देश पाँच-छह शताब्दियों के बीत जाने के बाद भी सामाजिक न्याय, समतावादी समाज-दृष्टि और वर्ग-संघर्ष में विश्वास रखनेवाले वर्त्तमान युग में प्रासंगिक बने हुए हैं तथा आनेवाली शताब्दियों में भी, शायद, प्रासंगिक बने रहेंगे। सच पूछा जाय तो मध्यकालीन हिन्दी सन्त कवियों के बीच कबीर

आज सबसे अधिक प्रासंगिक हैं। सन्त कवियों के सामाजिक सन्देशों ने देश, प्रदेश और दिशा की दूरियों का अतिक्रमण कर सार्वदेशिक महत्त्व हासिल किया है। इसीलिये तो कड़प जिले के मूगचिंतपल्लि में जन्मे तेलुगु कवि वेमन और काशी में जन्मे हिन्दी कवि कबीर तथा देहू ग्राम में जन्मे शिवाजी के समकालीन--मराठी कवि तुकाराम के सामाजिक सन्देश समान रूप में क्रान्तिकारी हैं एवं जाति-व्यवस्था और सामाजिक गैरबराबरी के भंजक हैं [27]। यह दूसरी बात है कि वेमन राजवंश के थे और उनके भाई राजा थे; जबकि कबीर गरीब थे और अपने परिवार के भरण-पोषण के लिये बुनकर का काम करते थे।

आज भी कबीर इतने प्रासंगिक और प्रेरणाप्रद हैं कि समानतामूलक सामाजिक क्रान्ति के उद्‌गाता कबीर पर कई काव्य-पुस्तकों का प्रणयन हाल के दशकों में किया गया है। जैसे -- श्री यमुना प्रसाद चौधरी 'नीरज' द्वारा विरचित 'कबीर' नामक काव्य-ग्रन्थ[28] और कविवर पोद्दार रामावतार अरुण द्वारा रचित व्यक्तित्व-प्रधान काव्य-प्रबन्ध 'क्रान्तिहंस'[29]। कवि का स्वयं काव्य-नायक बन जाना अपने आप में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। अरुणजी ने समता का कपड़ा बुननेवाले कबीर की अमरता को -- उसकी युग-युगान्तर-सिद्ध प्रासंगिकता को लक्षित करते हुए उचित ही लिखा है ---

वह हंस अभी भी उड़ता है
उसमें वैसी ही गुरुता है।

यह हरिजन बड़ा सुरीला है--
सूरज-सा ही चमकीला है।

सचमुच, 'कासी का जुलाहा' कबीर, वर्णों की बेड़ियाँ तोड़नेवाला कबीर कितना अमर है, शाश्वत है--यह लक्ष्य करने योग्य है। इसलिये 'पदितनामा' में फ़रीद ने 'काबि कबीरी' (काव्य-कबीरी) का उपहास जिस रूप में किया है, वह अब स्वयं उपहास-योग्य साबित हो गया है।

इस प्रकार यह मानना होगा कि कबीर की जीवनी केवल 'कबीर चरित्रबोध[30]' तक सीमित नहीं है और न कबीर की प्रासंगिकता उस सिकन्दर लोदी की समकालीनता तक सीमित है, जिसका उल्लेख रेवरेंड एच. जी. वेस्कॉट, श्री भण्डारकर, फर्कुहर[31] इत्यादि ने किया है। 'काल गहे कर केस' जैसी पंक्ति लिखनेवाले (किन्तु, वस्तुतः) काल-जयी कबीर की रेखांकित करने योग्य विशेषता उनके सामाजिक सन्देशों में छिपी हुई है। ज्योत्स्ना भरी पूर्णिमा की आधी रात में लहरतारा में खिला वह प्रसून श्रेष्ठ, असाधारण और 'महान' साबित हुआ। अरबी शब्द 'कबीर' और 'अकबर' के अर्थ में ज्यादा फर्क नहीं है। दोनों का अर्थ

है—श्रेष्ठ ! महान !!

नीरू-नीमा की स्नेह-छाया में पालित कबीर सम्पूर्ण मानवता के शुभांशों के तन्तुवाय थे । वे विद्वान नहीं, साधक थे—पोथी-पण्डित या अध्येता नहीं, ज्ञानी थे और बुनकर का काम करते हुए भी पारमार्थिक जीवन में रमे हुए थे। वे आप्तियों-आप्त वचनों को हू-ब-हू स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। वे अपने ज्ञानानुभवों और प्रत्यक्ष सन्निकर्षों की उदूल नहीं करते थे तथा तन को पानी से भरा हुआ कच्चा घड़ा[32] एवं प्राण-हंस को 'अकेला[33]' मानते थे। 'बीजक की एक अर्द्धचौपाई में उन्होंने लिखा है—

जो मोहि जानै तिहि मैं जानौ। लोक वेद[34] के कहा न मानौ।।

परम्परा-भंजक और क्रान्तिकारी कबीर के 'दृढ़पद छन्द' तो और भी कमाल[35] हैं। कबीर ने परस्पर-विरोधी अप्रस्तुतों के सहारे एक व्यंग्य-गर्भित कूटोक्ति (उलटबाँसी) में कहा है—

आँगन बेलि अकाश फल, अन ब्यानी के दूध।
शशा सींग के धनुष करि, खेले बाँझक पूत।।[36]

'इहैं करीमा रामा' कहनेवाले कबीर या इसे ही अन्यत्र दूसरे शब्दों में -

''हमरे राम रहीम करीमा
केसो अलाह राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै
और न दूजा कोई ।।''

कहने वाले वयनजीवी कबीर रामानन्द के शिष्य थे अथवा नहीं, वे रामानन्द से प्रेरित-प्रभावित थे या नहीं—यह भले ही विवादास्पद हो सकता है। किन्तु, रामानन्द के (हिन्दी) पदों और निर्वैरी[37] कबीर की साखियों में अनेक समानताएँ मिलती हैं। दोनों ही 'साधु-संगति' पर बहुत बल देते थे। लोगों का कहना है कि 'संधिक साधु कबहुँ नहिं भेट्यौ सरनि परै जिनकी पग री' जैसी बात कहनेवाले कबीर को रामानन्द जैसे 'संधिक साधु' (सच्ची साधना करनेवाले साधु) और सद्गुरु से भेंट हुई थी। कबीर ने साधुओं की संगति को स्वर्ग कहा है— 'साध संगति बैकुंठहि आहि'। यह दूसरी बात है कि ज्ञानी और गुरु (सद्गुरु) होकर भी कबीर को अधिक बोलना पसन्द नहीं था, क्योंकि उनके अनुसार अधिक बोलने से 'तत्त्व' नष्ट हो जाता है और अधिक बोलने से विकार तथा विवाद में वृद्धि होती है—

बोलत बोलत तत्त नसाई ।
बोलत बोलत बढ़ै विकारा ।।

कबीर ने अपने काव्य में सुधारक और सचेतक की भूमिका भी अदा की है। वे मायाग्रस्त संसारी लोगों को यम के डंडे (मृत्यु) की याद दिलाकर सदाचरण की ओर प्रेरित करना चाहते थे--**'जम का डंड मूंड़ महिं लागै''।**

इस तरह भक्त, सन्त, पारमार्थिक तत्त्व-चिन्तक, सुधारक और विद्रोही कवि के रूप में 'सहज समाधि' ('सहज समाधि लगावहिंगे') और हंस-रूपी आत्मा को हंस-रूपी परमात्मा से मिलाने (हंसहिं हंस मिलावहिंगे') के आकांक्षी कबीर के समस्त प्रदेय की अनेक युगान्तरकारी भूमिकाएँ हैं। वयनजीवी कबीर 'श्रम की प्रतिष्ठा' (डिगनिटि ऑव लेबर) के पक्षधर थे। निम्नकुलजन्मा 'निर्गुनिया' सन्तों की विचार-धारा में, विशेषकर द्विजवाद-विरोधी सन्तों की विचार-धारामें, स्वावलम्बन और शारीरिक श्रम के द्वारा जीविकोपार्जन के प्रति निष्ठा मिलती है तथा भिक्षाटन या भिक्षा-वृत्ति का विरोध मिलता है। इस सन्दर्भ में कबीर 'श्रम की प्रतिष्ठा' के प्रतीक थे। वे बुनकर का काम कर जीविकोपार्जन करते थे और अपने परिवार का पालन करते थे। तमिल सन्त कवि तिरुवल्लुवर ने, जो 'याचना' और भिक्षाटन को हेय समझते थे, 'कुरल' में लिखा है कि 'अपनी कमाई की सूखी रोटी ही क्यों न हो, अपने श्रम द्वारा अर्जित भोजन से अधिक मधुर और कुछ नहीं होता'।

चूँकि कबीर वर्णाश्रम व्यवस्था, धार्मिक रूढ़िवाद और षट्दर्शन के विरोधी थे, इसलिए धार्मिक सहिष्णुता और सामाजिक न्याय की भावना के उदय के पूर्व कबीर की चर्चा सन्तुलन तथा समादर के साथ नहीं हो पाती थी। किन्तु, इस शताब्दि में, विशेषकर इस शताब्दि के उत्तरार्द्ध में युग-चेतना में परिवर्त्तन के कारण कबीर के प्रति--घुमक्कड़ योगियों की 'सधुक्कड़ी' भाषा में पद, रमैनी और साखी लिखनेवाले कबीर के प्रति, सम्भ्रान्त और कुलीन आलोचकों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ है। वास्तविकता यह है कि स्पष्टवादी और क्रान्तिकारी कबीर को--कबीर की श्रेष्ठता और महानता को उनके अनेक समकालीनों ने भी नहीं समझा था। इसकी पीड़ा कबीर को थी। इस पीड़ा की अभिव्यक्ति उन्होंने चन्दन और पलास की लकड़ी के अप्रस्तुतों के माध्यम से इस प्रकार की है --

चन्दन रूख विदेस गयौ जन-जन कहै पलास ।
ज्यौं ज्यों चूल्हैं झोंकिया त्यों त्यों दूनी वास ।।

कबीरका कहना था कि सच्ची भक्ति के मर्म और महत्त्व को लोग समझ नहीं पाते। इसलिये वे चन्दन और पलास की लकड़ी के फर्क को भी जान नहीं पाते हैं। कबीर के अनुसार सच्ची भक्ति के लिये भारी दाम चुकाना पड़ता है, क्योंकि

वह दुःसाध्य होती है –

भगति दुहेली राम की नहिं कायर का काम ।
सीस उतारे हाथ सौं सो लेसी हरि नाम ।।

इसमें सन्देह नहीं कि समकालीनों और निकट परवर्तियों द्वारा कबीर की कटु आलोचना की गई थी तथा कबीर के विरुद्ध अनेक तीखे प्रहार किये गये थे, जिन्हें कबीर ने सर्वंसहा धरती की तरह निश्चल भाव से सहा था। कबीर ने अपने समकालीनों के इस दंश और आघात को इन पंक्तियों में व्यक्त किया है-

खोद खाद धरती सहै काट कूट वनराइ ।
कुटिल वचन साधू सहै दूजै सहा न जाइ ।।

इस तरह कबीर के काव्य में हमें साधना[38], भक्ति, ज्ञान, ध्यान, योग, बाह्याडम्बर के खण्डन, पन्थ-निरपेक्षता और असमानता-विरोधी सामाजिक सन्देश का आश्चर्यजनक समेकन--अद्‌भुत वयन मिलता है। आनेवाले युगों में कबीर शायद, इसलिए भी याद किये जायेंगे कि उनकी दृष्टि कथनी और करनी की एकरूपता के साथ ही धर्म के मूलभूत सार्वभौम तत्त्वों पर केन्द्रित थी।

कबीर काशी के थे और उनके जीवन-काल का कुछ अंश-अन्तिम हिस्सा आमी नदी के तट पर स्थित मगहर नामक कस्बे में बीता था। यह उनके अन्तःसाक्ष्यों से भी प्रमाणित है–

(क) 'तू बाह्मन मैं काशी का जुलाहा'।[39]

(ख) 'काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताये'।

(ग) 'सकल जनम शिवपुरी गँवाया। मरति बार मगहर उठि धाया'।

काशी से इसी गहरे लगाव[40] के कारण कबीर के कई अप्रस्तुतों पर काशी के परिवेश का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। जैसे, कबीर द्वारा 'गंगोदक' का अप्रस्तुत के रूप में प्रयोग। नाले और पनाले का गंदा जल भी गंगा के जल में मिलकर 'गंगोदक'बन जाता है–पवित्र हो जाता है :

गंगा मैं जे नीर मिलैला। बिगरि बिगरि गंगोदिक ह्वैला ।।

धार्मिक रूढ़ियों और बाह्याचारों के खण्डन के प्रसंग में कबीर ने केशों की धार्मिक राजनीति पर जमकर प्रहार किया है। जैसे –

केसाँ कहा बिगाड़िया, जो मूंड़ै सौ बार ।
मन कौं काहे न मूंड़िए, जामैं विषै-विकार ।।

यह विदित है कि हमारे अनेक धार्मिक पाखण्ड केशों पर आधारित हैं। कोई धर्मावलम्बी केशों का लुंचन कराता है, कोई एकदम मूंड़ मुड़ा लेता है और ठीक इसके विपरीत कोई बकरे की तरह दाढ़ी या दाढ़ी और मूँछ-दोनों बढ़ा लेता है।

कबीर ने इन सभी केशाश्रित पाखण्डों का समान रूप से खण्डन किया है। वे गुणी सन्त और गुणाढ्य भक्त के रूप में इतना ही चाहते थे कि हृदय में 'राम' (दाशरथ राम नहीं) का निवास हो। भक्त के हृदय में राम का निवास रहने पर उसके लिये काशी और ऊसर मगहर में कोई फर्क नहीं पड़ता--

'क्या कासी क्या मगहर ऊखर हिदै राम जो होई'।

कबीर हृदय में 'राम-निवास' के साथ ही हृदय की स्थिरता को-चित्त की शान्ति को महत्त्व देते थे। इसलिए कबीर का कहना था कि जिसके हृदय में स्थिरता नहीं है, उसके हृदय में भक्ति या ब्रह्म-विचार का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता--

जाकी दिल साबित नहीं, वाकौं कहाँ खुदाइ'।

इस सन्दर्भ में कबीर की बहुचर्चित धर्म-निरपेक्षता और साम्प्रदायिक एकता पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। पहली बात यह है कि कबीर की साम्प्रदायिक एकता या पन्थ-निरपेक्षता मूलतः 'हिन्दू-तुरुक' विवाद-वैमनस्य के परिहार पर केन्द्रित थी, जबकि अब साम्प्रदायिक वैमनस्य के अनेक नये पहलू सामने आ रहे हैं। जैसे-हिन्दू-सिख-विवाद, हिन्दू-ईसाई विवाद, हिन्दू-नवबौद्ध विवाद, हिन्दू-जैन विवाद, बौद्ध-जैन विवाद इत्यादि। साम्प्रदायिक विवाद और तनाव के ये पक्ष कबीर के सामने और कबीर के समय में उस तरह उभर कर सामने नहीं आये थे, जिस तरह उभर कर वे आज हमारे सामने अँगूठे पर खड़े हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि कबीर के धर्म-सम्प्रदाय सम्बन्धी दृष्टिकोण में अनेक धर्मों की सहजीविता (symbiosis) का उपायन नहीं मिलता। दूसरे शब्दों में, विभिन्न धर्मों के प्रति कबीर के दृष्टिकोण में बहुलतावादी उपागम (pluralistic approach) नहीं मिलता। कबीर ने तो मुख्यतः धार्मिक बाह्याचारों के खण्डन को प्रथमता (primacy) दी है।

दूसरी बात यह है कि कबीर के युग में हिन्दू धर्म के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदायों के झगड़े तूमार बाँधकर खड़े थे --निरगुनिया-सगुनिया, अद्वैतवादी-द्वैतवादी, वैष्णव-शाक्त, कर्मकाण्डी-ज्ञानकाण्डी और अलग-अलग छापा-तिलक वाले भक्त-समुदाय आपसी कलह में सक्रिय थे। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत आनेवाले इन सम्प्रदायों के आपसी विवादों, उनके बाह्याचारों, रूढ़ियों और पोंगापन्थी शास्तियों का विरोध तथा खण्डन कबीर ने दृढ़तापूर्वक किया था। यह दूसरी बात है कि आधुनिकता के उदय, हिन्दुओं में प्रतिरोध-क्षमता की कमी और हिन्दुओं की नई पीढ़ी में धार्मिक उदासीनता के कारण अब हिन्दू धर्म के अन्तर्गत आन्तरिक सम्प्रदायगत विवादों और झगड़ों का स्वर मन्द से मन्दतर हो गया है।

प्रारम्भ में 'सेकुलर' शब्द का प्रयोग भी विभिन्न धर्मों के पारस्परिक विवादों

और लड़ाइयों के सन्दर्भ में अथवा विभिन्न धर्मों के प्रति समभाव के अर्थ में नहीं किया गया था; बल्कि 'सेकुलर' शब्द का प्रयोग एक ही धर्म के अन्तर्गत--ईसाई धर्म के अन्तर्गत उसके विभिन्न पन्थों-सम्प्रदायों (यथा 'प्रोटेस्टेंट', कैथोलिक, लुथेरियन, काल्विनियन इत्यादि) के झगड़ों और राज्यसत्ता में उनके पारस्परिक वर्चस्व के अर्जन की लड़ाई को--जो यूरोप में 'वार ऑव रेलिजन्स'के नाम से मशहूर है, रोकने के लिये उपाय-रूप में किया गया था। इतिहास के अभिलेखों से पता चलता है कि सन् 1648 ईस्वी में 'War of Religion' के अन्तिम समय में 'Treaty of Westphalia' के सन्धि-पत्र में 'Secularization' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में सबसे पहले किया गया था।

कबीर के सम्बन्ध में यह सामान्य धारणा प्रचलित है कि वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल पोषक थे। किन्तु, यह धारणा पूर्णतः निर्भ्रान्त नहीं है। कारण, कबीर धर्म के धरातल पर एक ऐसा आमूल परिवर्तन चाहते थे, जिसमें हिन्दू 'हिन्दू' नहीं रहें और मुसलमान 'मुसलमान' नहीं रहें--

काबा फिरि कासी भया रामहिं भया रहीम ।
मोट चून मैदा भया बैठि कबीरा जीम ।।

वर्तमान शताब्दी में धर्म-निरपेक्षीकरण की चार प्रमुख पद्धतियाँ उभर कर सामने आई हैं--एंग्लो-सैक्सन पद्धति, अमेरिकन पद्धति, फ्रांसीसी अथवा लैटिन पद्धति और रूसी पद्धति। स्वतंत्र भारत में महात्मा गाँधी के प्रभाव से और जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में एक ऐसी धर्म-निरपेक्षीकरण-पद्धति विकसित हुई, जिसमें धर्म-निरपेक्षता का आशय, राजनीतिक स्तर पर, सर्वधर्म समादर या सर्वधर्मसमभाव न रहकर बहुसंख्यकता का विरोध और अल्पसंख्यकता का समर्थन-प्रोत्साहन बन गया,जिससे स्वस्थ हिन्दू उदारवाद की जगह आत्मघाती हिन्दू उदारवाद पैदा हो गया।

कबीर की दृष्टि तो काबा-कासी, राम-रहीम-करीम, मन्दिर-मस्जिद और मुल्ला-पण्डित तक गई थी तथा उन्होंने हिन्दू-तुरुक के बाह्याचारों और साम्प्रदायिक मतभेदों का विरोध निर्भीक भाव से दृढ़ता-पूर्वक किया था। उन्होंने हिन्दुओं के गढ़ काशी में रहकर भी हिन्दुओं को खरी-खोटी सुनाई थी और मुसलमानों के बाह्याडम्बरों, रूढ़ियों और रीति-रिवाजों के खिलाफ भी अपनी आवाज उठाई थी। किन्तु, उस समय कबीर ने मुसलमानों की तेजकदम बढ़ती हुई आबादी और उनके वर्तमान सामुदायिक फैलाव (मुस्लिम डायस्पोरा[41]), अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर मुस्लिम आतंकवाद की भयंकरता, मुस्लिम महासंघ और इस्लामी बम का अनुमान नहीं लगाया होगा। देखते-देखते आज अजरबेजान, तुर्कमेनिया,

उज्बेकिस्तान, कजाकिस्तान इत्यादि जैसे मुस्लिम देश पारमाणविक क्षमता वाले देश बन गये हैं। कबीर की फराख़दिली में, सन्देह की गुंजाइश नहीं है। यह भी सच है कि भारत में महात्मा गाँधी जैसे एकीकरणकर्त्ता (Integrator) कबीर की वाणी, पदों और विचारों से प्रभावित हुए थे। किन्तु, व्यावहारिकता के धरातल पर कबीर द्वारा प्रवर्त्तित 'हिन्दू-तुरुक' एकता को अंजाम देने में कठिनाइयाँ हैं। कबीर का खयाल जरूर ही अच्छा है। किन्तु, कबीर के दृष्टिपथ में अनेक धर्मों के सह-अस्तित्व या धर्मावलम्बन के सन्दर्भ में बहुलतावादी (प्लुरलिस्टिक) दृष्टि का समावेश नहीं मिलता है।

कबीर-पंथ में भी धीरे-धीरे कई बाह्याचार घुस आये हैं। माना कि कबीर स्तुति और स्तोत्र की मानसिकता से दूर थे। किन्तु, क्या धार्मिक बाह्याचारों के खण्डन और धर्मों के आपसी विवाद के विरोध में धर्म निन्दात्मक पद लिखने से मूल समस्या का समाधान या धर्म-निरपेक्षता का स्थापन अथवा हिन्दू-मुस्लिम-एकता का स्थापन हो जाता है ? धर्मावलम्बन के सन्दर्भ में बहुलतावादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए पारस्परिक सहिष्णुता के माध्यम से सर्वधर्म समभाव को ग्रहण करने के अलावा भारत में कोई दूसरा विकल्प नहीं दीख पड़ता।

दूसरी बात यह है कि कबीर की जो आध्यात्मिक-पारमार्थिक चिन्ता-धारा है और उनकी जो योग-साधनात्मक धारणाएँ हैं, वे वर्तमान युग-परिवेश के लिये बहुत प्रासंगिकता नहीं रखती हैं। यह कहना अनर्गल नहीं है कि चिति-तत्त्व या चिति-चेतना को लेकर जो विचार-धारा हिन्दी साहित्य में प्रवाहित हुई और जिसने भक्ति-साहित्य की आमुष्मिक चिन्ता-धारा, इलाहियात या आध्यात्मिक विद्या में अपना स्रोत ढूँढ़ा, वह विचार-धारा आधुनिक युग और आधुनिक साहित्य में अपना वर्चस् अर्जित नहीं कर सकी है। यह वर्चस् स्थापित हो भी, तो कैसे ? इस सन्दर्भ में यह उदाहृत करना पर्याप्त होगा कि जो श्रीपेराम्बुदुर ग्यारहवीं शती के श्री वैष्णव आचार्य रामानुज का—'ब्रह्मसूत्र' के श्रीभाष्य-कार रामानुजाचार्य का जन्म-स्थान रहा, वही श्री पेराम्बुदुर भारत के एक युवा प्रधान मंत्री की निर्मम हत्या के लिये बीसवीं शती के अन्तिमचरण में जगत्-प्रसिद्ध हो गया। इस प्रकार श्री वैष्णव भक्ति की पवित्र भूमि श्री पेराम्बुदुर का यह अधःपतन आमुष्मिक और पारलौकिक चिन्ता-धारा की वर्त्तमान निष्फलता का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

उक्त पृष्ठभूमि में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि कबीर-काव्य का सामाजिक पक्ष, जो गैरबराबरी और धार्मिक बाह्याचारों के विरुद्ध है, इस युग की तरह आगामी युगों में भी प्रासंगिक बना रहेगा और कबीर का सामाजिक सन्देश जाति-वर्ण-विहीन तथा परधर्म-सहिष्णु सामाजिक संरचना के लिये उद्वेलित युग-चेतना को सतत् बलिष्ठ बनाता रहेगा। ●

और लड़ाइयों के सन्दर्भ में अथवा विभिन्न धर्मों के प्रति समभाव के अर्थ में नहीं किया गया था; बल्कि 'सेकुलर' शब्द का प्रयोग एक ही धर्म के अन्तर्गत--ईसाई धर्म के अन्तर्गत उसके विभिन्न पन्थों-सम्प्रदायों (यथा 'प्रोटेस्टेंट', कैथोलिक, लुथेरियन, काल्विनियन इत्यादि) के झगड़ों और राज्यसत्ता में उनके पारस्परिक वर्चस्व के अर्जन की लड़ाई को--जो यूरोप में 'वार ऑव रेलिजन्स'के नाम से मशहूर है, रोकने के लिये उपाय-रूप में किया गया था। इतिहास के अभिलेखों से पता चलता है कि सन् 1648 ईस्वी में 'War of Religion' के अन्तिम समय में 'Treaty of Westphalia' के सन्धि-पत्र में 'Secularization' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में सबसे पहले किया गया था।

कबीर के सम्बन्ध में यह सामान्य धारणा प्रचलित है कि वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल पोषक थे। किन्तु, यह धारणा पूर्णतः निर्भ्रान्त नहीं है। कारण, कबीर धर्म के धरातल पर एक ऐसा आमूल परिवर्तन चाहते थे, जिसमें हिन्दू 'हिन्दू' नहीं रहें और मुसलमान 'मुसलमान' नहीं रहें--

काबा फिरि कासी भया रामहिं भया रहीम ।
मोट चून मैदा भया बैठि कबीरा जीम ।।

वर्तमान शताब्दी में धर्म-निरपेक्षीकरण की चार प्रमुख पद्धतियाँ उभर कर सामने आई हैं--एंग्लो-सैक्सन पद्धति, अमेरिकन पद्धति, फ्रांसीसी अथवा लैटिन पद्धति और रूसी पद्धति। स्वतंत्र भारत में महात्मा गाँधी के प्रभाव से और जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में एक ऐसी धर्म-निरपेक्षीकरण-पद्धति विकसित हुई, जिसमें धर्म-निरपेक्षता का आशय, राजनीतिक स्तर पर, सर्वधर्म समादर या सर्वधर्मसमभाव न रहकर बहुसंख्यकता का विरोध और अल्पसंख्यकता का समर्थन-प्रोत्साहन बन गया,जिससे स्वस्थ हिन्दू उदारवाद की जगह आत्मघाती हिन्दू उदारवाद पैदा हो गया।

कबीर की दृष्टि तो काबा-कासी, राम-रहीम-करीम, मन्दिर-मस्जिद और मुल्ला-पण्डित तक गई थी तथा उन्होंने हिन्दू-तुरुक के बाह्याचारों और साम्प्रदायिक मतभेदों का विरोध निर्भीक भाव से दृढ़ता-पूर्वक किया था। उन्होंने हिन्दुओं के गढ़ काशी में रहकर भी हिन्दुओं को खरी-खोटी सुनाई थी और मुसलमानों के बाह्याडम्बरों, रूढ़ियों और रीति-रिवाजों के खिलाफ भी अपनी आवाज उठाई थी। किन्तु, उस समय कबीर ने मुसलमानों की तेजकदम बढ़ती हुई आबादी और उनके वर्तमान सामुदायिक फैलाव (मुस्लिम डायस्पोरा[41]), अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर मुस्लिम आतंकवाद की भयंकरता, मुस्लिम महासंघ और इस्लामी बम का अनुमान नहीं लगाया होगा। देखते-देखते आज अजरबेजान, तुर्कमेनिया,

उज्बेकिस्तान, कजाकिस्तान इत्यादि जैसे मुस्लिम देश पारमाणविक क्षमता वाले देश बन गये हैं। कबीर की फराख़दिली में, सन्देह की गुंजाइश नहीं है। यह भी सच है कि भारत में महात्मा गाँधी जैसे एकीकरणकर्त्ता (Integrator) कबीर की वाणी, पदों और विचारों से प्रभावित हुए थे। किन्तु, व्यावहारिकता के धरातल पर कबीर द्वारा प्रवर्त्तित 'हिन्दू-तुरुक' एकता को अंजाम देने में कठिनाइयाँ हैं। कबीर का खयाल जरूर ही अच्छा है। किन्तु, कबीर के दृष्टिपथ में अनेक धर्मों के सह-अस्तित्व या धर्मावलम्बन के सन्दर्भ में बहुलतावादी (प्लुरलिस्टिक) दृष्टि का समावेश नहीं मिलता है।

कबीर-पंथ में भी धीरे-धीरे कई बाह्याचार घुस आये हैं। माना कि कबीर स्तुति और स्तोत्र की मानसिकता से दूर थे। किन्तु, क्या धार्मिक बाह्याचारों के खण्डन और धर्मों के आपसी विवाद के विरोध में धर्म निन्दात्मक पद लिखने से मूल समस्या का समाधान या धर्म-निरपेक्षता का स्थापन अथवा हिन्दू-मुस्लिम-एकता का स्थापन हो जाता है ? धर्मावलम्बन के सन्दर्भ में बहुलतावादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए पारस्परिक सहिष्णुता के माध्यम से सर्वधर्म समभाव को ग्रहण करने के अलावा भारत में कोई दूसरा विकल्प नहीं दीख पड़ता।

दूसरी बात यह है कि कबीर की जो आध्यात्मिक-पारमार्थिक चिन्ता-धारा है और उनकी जो योग-साधनात्मक धारणाएँ हैं, वे वर्तमान युग-परिवेश के लिये बहुत प्रासंगिकता नहीं रखती हैं। यह कहना अनर्गल नहीं है कि चिति-तत्त्व या चिति-चेतना को लेकर जो विचार-धारा हिन्दी साहित्य में प्रवाहित हुई और जिसने भक्ति-साहित्य की आमुष्मिक चिन्ता-धारा, इलाहियात या आध्यात्मिक विद्या में अपना स्रोत ढूँढ़ा, वह विचार-धारा आधुनिक युग और आधुनिक साहित्य में अपना वर्चस् अर्जित नहीं कर सकी है। यह वर्चस् स्थापित हो भी, तो कैसे ? इस सन्दर्भ में यह उदाहृत करना पर्याप्त होगा कि जो श्रीपेराम्बुदुर ग्यारहवीं शती के श्री वैष्णव आचार्य रामानुज का--'ब्रह्मसूत्र' के श्रीभाष्य-कार रामानुजाचार्य का जन्म-स्थान रहा, वही श्री पेराम्बुदुर भारत के एक युवा प्रधान मंत्री की निर्मम हत्या के लिये बीसवीं शती के अन्तिमचरण में जगत्-प्रसिद्ध हो गया। इस प्रकार श्री वैष्णव भक्ति की पवित्र भूमि श्री पेराम्बुदुर का यह अधःपतन आमुष्मिक और पारलौकिक चिन्ता-धारा की वर्त्तमान निष्फलता का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

उक्त पृष्ठभूमि में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि कबीर-काव्य का सामाजिक पक्ष, जो गैरबराबरी और धार्मिक बाह्याचारों के विरुद्ध है, इस युग की तरह आगामी युगों में भी प्रासंगिक बना रहेगा और कबीर का सामाजिक सन्देश जाति-वर्ण-विहीन तथा परधर्म-सहिष्णु सामाजिक संरचना के लिये उद्वेलित युग-चेतना को सतत् बलिष्ठ बनाता रहेगा। ●

संदर्भ संकेत :

1. वर्णाश्रमवाद - विरोधी कबीर के बारे में नाभादास ने 'भक्तमाल' में यह भी लिखा है — 'कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षट दर्शनी'। (भक्तमाल, पृष्ठ 313)
2. कबीर सीतलता तब जाणिम समिता रहै समाइ। पष छाड़ै निरपष रहै सबदि न दूष्या जाइ।।
3. द्रष्टव्य : (क) श्री ध्रुवदास कृत भक्तनामावली, संपादक, श्री राधाकृष्ण दास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग द्वारा प्रकाशित, सन् 1928 ईस्वी, पृष्ठ 89.

   (ख) श्री नाभास्वामी जी कृत भक्तमाल, श्री प्रियादास जी की टीका सहित, श्री ठाकुर प्रसाद एण्ड सन्स बुकसेलर, वाराणसी, 1965, पृष्ठ 11.
4. कबीर बीजक।
5. क. Kabir, Charlotte Vandeville, Oxford University Press, 1974.
   ख. Kabir-Vani, Edited by Charlotte Vandeville, Pondicherry, 1982.
6. क. The Bijak of Kabir, Translated by Linda Hess, MLBD, Delhi, 1986
   ख. Three Kabir Collections : A comparative study by Linda Hess.
7. Kabir and his followers, F. E. Keay, 1931, Page 65.
8. Bhakti in Kabir, William J. Dwyer, Associated Book Agency, Patna, 1981, Pages 6-7.
9. पुनः कई दशकों के बाद इसका प्रकाशन सन् 1974 ईस्वी में Samuel Weiser, New York से हुआ था।
10. Evelyn Underhill
11. Kabir : The Weaver of God's Name, V. K. Sethi, Amritsar, 1984.
12. कबीर की प्रामाणिक रचनाओं के संग्रह और पाठालोचन की दृष्टि से मूल पाठ के वैज्ञानिक निर्धारण में इसलिए भी कठिनाइयाँ पैदा होती हैं कि साखी, सबद, रमैनी, गोष्ठी-साहित्य और समग्रतः बीजक की अनेक प्रकार की पोथियाँ मिलती हैं। जैसे :— दादुपंथी प्रतियाँ, निरंजनीपंथी पोथियाँ, मोती डूँगरी की प्रतियाँ, सरस्वती महल, जोधपुर की प्रतियाँ, विभिन्न खोज-रिपोर्टों की प्रतियाँ, इंडिया आफिस लाइब्रेरी तथा ब्रिटिश म्यूजियम की प्रतियाँ, विभिन्न व्यक्तियों के निजी संग्रहों में उपलब्ध प्रतियाँ इत्यादि।
13. A. Adi-Granth, Edited by Dr. E. Trumpp, 1877.
    B. Sikh Religion, Volume VI, Macauliffe, 1909.
    C. "The Adi-Granth' (an article) by F. Pincott, Journal of the Royal Asiatic Society, 1886, Page 437.
14. विस्तार के लिये द्रष्टव्य : Illuminated Manuscripts by John Bradley, Methuen & Co. Ltd., London, 1905.
15. A History of Hindi Literature by F. E. Keay, The Heritage of India Series, Association Press, 5, Russell Street, Calcutta, 1920, Page 62
16. ज्ञातव्य है कि बनारस शाखा के अनुयायी कबीरपन्थी पूरनदास द्वारा संकलित 'बीजक' के पाठ को प्रामाणिक मानते हैं और छत्तीसगढ़ शाखा के अनुयायी कबीरपन्थी रीवा के राजा श्री विश्वनाथ सिंहजी द्वारा संकलित 'बीजक' के पाठ को प्रामाणिक मानते हैं, जिसका लीथो संस्करण बनारस लाइट प्रेस द्वारा सन् 1868 ईस्वी में प्रकाशित हुआ था।
17. Kabir And His Followers, F. E. Keay, Ist Edition, 1931.
18. विप्रमतीसी एक अप्रसिद्ध काव्य-रूप है। कबीर की विप्रमतीसी का वर्ण्य विषय ब्राह्मणों की रूढ़िवादिता की आलोचना और उनके मिथ्या ज्ञानाभिमान का उपहास है। विप्रमतीसी में चौपाई की तीस अर्द्धालियाँ रहती हैं और अन्त में एक साखी रहती है। जैसे—'ब्राह्मन होके ब्रह्म ना जानै। घर महि जगत परिग्रह आनै'।

19. प्रामाणिकता की दृष्टि से 'बीजक' के पाठ निर्द्धारण--विश्लेषण पर वेस्टकॉट ने भी अच्छा कार्य किया है। द्रष्टव्य : Kabir and the Kabir - Panth, by G. H. Westcott, Kanpur, 1907.
20. दरिया सागर, पृष्ठ 79.
21. दरिया साहब ने भी बंकनाल का वर्णन इस प्रकार किया है--
कोइल कुहुके अपने भाऊ। बंकनाल बस नाभी ठाऊ।। (ज्ञान-दीपक ५-३९)
22. विवेक प्रकाश, श्री रामसूरत साहेब प्रणीत, टीकाकार, अभिलाष दास, पारख प्रकाशक कबीर संस्थान, प्रीतम नगर, सलेम सराय, इलाहाबाद, सत् कबीराब्द 586 (सन् 1960 ईस्वी)।
23. Cotton-Carder.
24. तुकाराम के एक अभंग के अनुसार दादू पिंजारी थे।
25. BSD : Bhrahminical Social Order.
26. (क) The Hindi Biography of Dadu Dayal by Winand M. Callewaert, Motilal Banarasidass, Delhi, 1988, Page 15.
(ख)'कास्ट्स ऑव मिस्टिक्स' शीर्षक लेख, डा० प्रबोधचन्द्र बागची, 'विश्वभारती क्वार्टरली' जिल्द 12, भाग 2, अगस्त-अक्तूबर, 1946, पृष्ठ 138-143.
27. **द्रष्टव्य** : 'सन्त कबीर और जैन कवि आनन्दघन' शीर्षक लेख, अगरचन्द नाहटा, सन्तवाणी, जयपुर, वर्ष 3, अंक 2, सन् 1050 ईस्वी, पृष्ठ 24-27.
28. प्रकाशक : ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-4, सन् 1962 ईस्वी।
29. प्रकाशक : किरण प्रकाशन, समस्तीपुर, सन् 1977 ईस्वी।
30. वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई द्वारा प्रकाशित, संवत् 1933.
31.
32. कौंचै कुम्म उदिक ज्यौं भरिया।
33. आगै हंसु अकेला।
34. कबीरपन्थियों द्वारा कबीरदास के 'स्वयंवेद' के चार भेद बताये गये हैं--कूटवाणी, टकसारवाणी, मूलज्ञान वाणी और बीजक-वाणी।
35. कहा जाता है कि कबीर के पुत्र का नाम कमाल था। प्रायः कबीर जैसे महापुरुषों और महान आत्माओं के कुल में कमाल-जैसा पुत्र ही उत्पन्न हुआ करता है-- बूड़ा बंश कबीर का। उपजा पूत कमाल।।
36. मूल बीजक, श्री सद्गुरु कबीर साहेब कृत, सम्पादक : श्री स्वामी हनुमान दास जी साहेब षट्शास्त्री, स्थान फतुहा, पटना, 1960, पृष्ठ 160.
37. सन्त कवि प्रत्यक्ष -- अप्रत्यक्षरूप में निर्वैर धर्म' को मानते थे-- 'वैरं मज्झं न केणई' सन्तों के इस निर्वैर धर्म पर परशुराम चतुर्वेदी ने विस्तारपूर्वक लिखा है।
38. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'वीर्यवती साधना' । द्रष्टव्य : कबीर, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, १९५५, पृष्ठ १९१।
39. काशी के जुलाहों के बारे में विलियम क्रूक की धारणा द्रष्टव्य है-- "The Julaha generally bears the character of being cowardly, pretentious, factitious and big-oted. They took a leading part in the recent Benares riots and some of the worst outrages in the Mutiny were their work." -- William Crooke.
ज्ञातव्य है कि रिज़ले ने 'जुलाहा' के लिये 'जोलाहा' शब्दका प्रयोग किया है। इनके अनुसार मुसलमान बुनकर (weaver) 'जोलाहा' कहे जाते हैं। जोलाहों को रिज़ले ने मूर्ख और झगड़ालू कहा है तथा इस सन्दर्भ में इन्होंने आठ जोलाहे और नौ हुक्के की कहानी को उदाहृत किया

है। (विस्तार के लिये द्रष्टव्य : The people of India, Herbert Risley, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1991, Pages 319-320.

40. काशी से कबीर का गहरा लगाव था; किन्तु, कलकत्ता से कबीर का कोई सम्बन्ध नहीं था। तथापि कलकत्ता ने काशी (और मगहर) से भी आगे बढ़कर संत कबीर की षष्ठशती के अवसर पर, श्री बड़ा बाजार कुमार सभा पुस्तकालय (कलकत्ता) के तत्त्वावधान में, जिस सारस्वत प्रकाशन की योजना बनाई है, वह प्रशंसनीय है। कभी कलकत्ता-निवासी बाबू मन्मथनाथ दत्त ने 'प्रॉफेट्स ऑव इंडिया' नामक ग्रन्थ (उर्दू में 'रहनुमायाने हिन्द' के नाम से अनूदित) में कबीर पर भी लिखा था, जो कई कारणों से उस समय चर्चा और विवाद का विषय बन गया था।

41. Muslim Diaspora.

कबीर और साम्प्रदायिक सद्भावना

प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद

जब-जब भारत ने अपने स्व-रूप का विस्मरण कर दिया है वह संकट में पड़ा है। संकट की हर ऐसी घड़ी में स्व-रूप को पहचानने की भावना ने जोर पकड़ा है और इससे भारत में नव-जागरण आया है। भारतीय नव-जागरण के ऐसे चार चरण हैं — १. उपनिषद्-युग, २. महावीर-बुद्ध-युग, ३. भक्ति-आन्दोलन-युग और ४. स्वाधीनता-आन्दोलन-युग।

भारत का मूल स्व-रूप क्या है ? ऋग्वेद (१.१६४.४६) में कहा गया है -- "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।" अर्थात् वह एक है पर ज्ञानी उसे अनेक प्रकार से कहते हैं। यह दार्शनिक स्तर मात्र की ही बात नहीं है, सामाजिक धरातल पर भी इस अद्वैत-अभेद की ओर वैदिक युग से ही ध्यान रहा है। यजुर्वेद (१८.४८) में कहा गया है —

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु, रुचं राजसु नरुकृधि,
रुचं विश्येषु, शूद्रेषु, मयि धेहि रुचा रुचं।

अर्थात् हे प्रभो ! ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों और मुझे भी समृद्धि दो। इसी परम्परा के कारण महाभारत ने आचारशास्त्र का इस रूप में विधान किया —

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत" अर्थात् जो अपने प्रतिकूल लगता है वैसा आचरण दूसरों के साथ न करो।

जब अद्वैत की ज्योति मंद पड़ जाती है तब आचरण में अपने-पराये का भेद प्रबल हो जाता है। वैसी स्थिति में समाज भूमा के स्थान पर अल्प की साधना में लग जाता है और उसे तब स्वभावतः सुख के स्थान पर दुःख भोगना पड़ता है। ऐसे समाज की समरसता समाप्त हो जाती है और उसमें बिखराव आने लगता है। नव-जागरण ऐसे टूटते-बिखरते समाज के नव-निर्माण का, स्व-रूप की प्राप्ति का, सामूहिक प्रयास होता है। भारतीय नव-जागरण के इन चारों चरणों

में ऐसा ही सामूहिक प्रयास कर भारत का नव-निर्माण किया गया।

भक्ति-आन्दोलन-युग भारतीय नव-जागरण का तृतीय चरण है। भारतीय इतिहास की दृष्टि से यह मध्यकाल है। भारतीय ज्ञान की प्रभा मंद पड़ने पर उसकी प्रभा को तीव्र करने का जो प्रयास शुरू हुआ उसमें जिन चार व्यक्तियों का युग-प्रवर्तक योग-दान रहा, और जिनके कारण नव-जागरण के इस तृतीय चरण को अखिल भारतीय रूप प्राप्त हुआ वे हैं -- (१) शंकराचार्य (७८८-८१२, मठ परम्परा के अनुसार ई. पू. दूसरी सदी), गोरखनाथ (११ वीं सदी), कबीर (१३९८-१४९४) और तुलसीदास (१५३२-१६२३)। आचार्यों में शंकराचार्य, योगियों में गोरखनाथ, संतों में कबीर और कवियों में तुलसी -- इन चारों को आज भी अखिल भारतीय मान्यता प्राप्त है। इन चारों की समानता यह है कि इनका प्रस्थान-विन्दु अद्वैत है परंतु अभिव्यक्ति और कार्य का ढंग युगानुरूप। इनमें से किसी ने समाज से अपने को अलग कर केवल अपनी मुक्ति के लिए साधना नहीं की बल्कि अपने-अपने ढंग से समाज के विचार और आचार को बदलने का प्रयास किया।

कबीर मध्यकालीन भारत के सर्वाधिक जागरूक व्यक्ति थे। उस समय भारतीय समाज के सामने जो गंभीर चुनौती थी, न तो उन्होंने उससे मुँह मोड़ा, न भारतीय समाज को और अधिक संकीर्ण बनाने का प्रयास किया, न भारतीय समाज के नवागंतुकों को समाज से काट कर अलग रखने का कोई काम किया। जिस प्रकार से शंकराचार्य ने "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दोग्य. ३. ४. I) के आधार पर वैदिकों, सनातनियों, जैनों, बौद्धों, शाक्तों, शैवों आदि सबकी एकता को दार्शनिक स्तर पर सिद्ध करने का ऐतिहासिक कार्य किया उसी प्रकार से कबीर ने सामाजिक स्तर पर इस असंभवप्राय कार्य को साधने का जीवन-पर्यंत प्रयास किया। आचार्यों ने जिस सामाजिक समस्या के समाधान की अनदेखी कर दी थी कबीर जैसे निरक्षर भट्टाचार्य (मसि-कागद छुवौ नहीं, कलम लियो नहीं हाथ ; अथवा, तू कहता है कागद लेखी, मैं कहता हूँ आँखिन देखी") ने समस्या का सही निदान कर उसका सही उपचार ढूँढ़ा।

शंकराचार्य ने भी बाह्याचार और रूढ़ि का घोर विरोध किया पर उनका वह समाज इस्लाम के भारत आगमन के पूर्व का समाज है। संभवतः शंकराचार्य के सामने इस्लाम की चुनौती थी नहीं। परंतु गोरखनाथ ने इसे परखा था और इसका इस रूप में समाधान ढूँढा था --

सबदैं मारी सबदैं जिलाई ऐसा महंमद पीरं ।
ताके भरमि न भूलौ काजी सो बल नहीं सरीरं ।

अर्थात् पैगम्बर शब्द से विषय-वासना को नष्ट कर मनुष्य को शब्द से ही अमृत का तत्त्वज्ञान पिलाकर जीवित कर देते थे। उनकी शक्ति आध्यात्मिक थी, शारीरिक नहीं । (संकेत था, काजी, तुम शारीरिक शक्ति का सहारा क्यों लेते हो ?)

सामाजिक धरातल पर गोरखनाथ ने यह समाधान बताया है --

हिन्दू ध्यावै देहुरा, मूसलमान मसीत ।
जोगी ध्यावै परमपद, जहाँ देहुरा न मसीत ।।

हिन्दू के देवालय और मुसलमान की मसजिद दोनों के परे है योगी के ध्यान का वह परमपद। गोरखनाथ ने दोनों को अपने साधना-मार्ग की ओर खींचने का प्रयास किया और इसमें उन्हें कुछ सफलता भी मिली थी। हिन्दुओं के अतिरिक्त कुछ मुसलमान आज भी गोरखपंथी हैं।

कबीर ने साम्प्रदायिक सद्भावना के कार्य का आरंभ इसी पृष्ठभूमि में किया। हिन्दू और मुसलमान दोनों ईश्वर के नाम लड़ तो रहे थे परंतु ईश्वर के नाम पर उनका संबंध केवल बाह्याचार से था। ये चले थे ईश्वर को पाने पर ये सही राह ही भूल गये। इसीलिए दोनों को फटकारते हुए उन्होंने साफ-साफ कहा --

''अरे, इन दोहुन राह न पाई ।

X X X X X X X

हिन्दुन की हिंदुवाई देखी तुरकन की तुरकाई ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, कौन राह ह्वै जाई ?''

स्पष्ट है, इन दोनों ने जो राह पकड़ी है उनमें से कोई भी इन्हें ईश्वर तक नहीं पहुँचा सकता।

कबीर की दृष्टि में ईश्वर एक है। फिर दो जगदीश कहाँ से आ गया ? किसने दो का भ्रम पैदा किया ? नाम अनेक पर तत्त्व एक -- इसे क्यों बिसरा दिया गया ?

''दुई जगदीश कहाँ ते आया, कहु कवने भरमाया।
अल्लह-राम-करीमा-कैसो, हरि हजरत नाम धराया।।
गहना एक कनक तें गढ़ना, इन महँ भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुह करि थापिन, इक नमाज इक पूजा।।

शब्द अनेक, भाषा अनेक पर भाव है एक। फिर भ्रम और विरोध क्यों ? एक ही सोने के अनेक प्रकार के आभूषण गढ़े जाते हैं पर सोना तो सोना ही रहता है, वह कहां बदलता है। नमाज अदा करो, या, पूजा करो - आराधना - अर्चना तो केवल एक की होती है। ''सर्व देव नमस्कार केशवं प्रति गच्छति'' की

भावना का विस्मरण क्यों कर दिया गया ? क्या करें कबीर ? "इक-दुह होय उन्हें समुझावौं"। स्थिति बहुत बिगड़ चुकी है -- "यह जग अंधा केहि समझावौं"। कारण क्या है -- "सब ही भुलाना पेट के धंधा।" पंडित और मुल्ला की रोटी साम्प्रदायिक आग पर ही सिंकती है। अतः इस धंधे को वे हर कीमत पर चलाते रहने के लिए मजबूर हैं। ऐसी मजबूरियों को ध्यान में रखकर ही इक़बाल ने चेतावनी दी थी -- "ऐ तायरे लाहूती, उस रिज़्क़ से मौत अच्छी जिससे आती हो परवाज़ में कोताही।" साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देनेवाले आसमान में उड़ कहाँ सके ? ईश्वर सदा उनकी पहुँच के बाहर ही रहा। कठोपनिषद् (१.१.२७) के ऋषि ने कहा था -- "न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो"। अर्थात् मनुष्य कभी भी धन से तृप्त नहीं होता। फिर भी धन के लिए भाई भाई का बैरी हो जाता है, ईश्वर की संतान आपस में लड़ती रहती है।

पर इन्हें लड़ाते हैं कौन ? जिन्हें न ब्रह्म का ज्ञान है, न जिनका ईमान दुरुस्त है। सच्चा हिन्दू सच्चा मुसलमान, सच्चा ब्राह्मण सच्चा काजी कौन है ? कबीर ने कहा है --

सो हिन्दू सो मुसलमान, जिसका दुरस है ईमान।
सो ब्रह्मा जो कथै ब्रह्म गियांन, काजी सो जानै रहिमान।
कहे कबीर कछू आन न कीजै राम नाम जपि लाहा लीजै।।

हर समुदाय में ईश्वर-स्मरण को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। इससे सरल मार्ग और क्या हो सकता है ? योगसूत्र (१.२८) में कहा गया है -- "तज्जपः तदर्थ भावनम्" -- नाम का जप और उसके अर्थ का ध्यान । कबीर ने "योगसूत्र" पढ़ा -- सुना हो या नहीं परंतु उनकी दृष्टि पतंजलि की इस दृष्टि को पा चुकी थी। तभी तो उन्होंने कहा है --

"माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवाँ तो दहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं।।

पर ऐसे माला फेरनेवालों से कबीर के पहले भी समाज परेशान था, उनके समय में भी था और आज भी है क्योंकि न तो पतंजलि को समझने की कोशिश की गई, न कबीर को। इसीलिए समस्या भी नहीं सुलझ पाती है।

कारण क्या है ? हिन्दू हो या मुसलमान या और कोई। मूल अंतर मनोवृत्ति में है। कबीर ने इसीलिए कहा था --

सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै।।

व्यक्ति किसी भी सम्प्रदाय का हो, जब तक वह जागता नहीं, ईश्वर को पाने के

सामाजिक-आध्यात्मिक दृष्टि में एकात्मता स्थापित करते हुए कहा है –

जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोव तू फूल।
तोहि फूल को फूल है, वाको है तिरसूल।।

"जो जैसा बोयेगा, वह वैसा काटेगा" - यह है सनातन कर्म-फल सिद्धांत। इसी दैवी नियम के कारण दुष्कर्म करनेवाले तर नहीं सकते। इसमें जन्म पर आधारित भेद-भाव के लिए कोई स्थान है ही नहीं। जन्म के भेद को लेकर ही तो हिन्दू-मुसलमान का भेद खड़ा किया जाता है और कर्म के सनातन नियम का विस्मरण कर समाज की सुख-शांति को हर लिया जाता है।

कबीर की वाणी "सोऽहम्" की अवस्था से निःसृत हुई है। उनकी एक साखी है –

गगन मंडल के बीच में, जहाँ सोहंगम डोरि।
सबद अनाहद होत है, सुरत लगी तहँ मोरि।।

"सोऽहम्" वेदांत के चार महावाक्यों में से एक है। भारतीय साहित्य में संभवतः सबसे अधिक इसी विषय पर लिखा गया है, आज भी लिखा जा रहा है। "ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहीं बारा।" कहकर भी, ज्ञान-पंथ को कृपाण की धार पर चलने के समान कठिन बताकर भी, "सोहमस्मि" का विस्मरण तुलसीदास नहीं कर पाये और उन्होंने लिखा –

सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा।
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव भूल भेद भ्रम नासा।।

तुलसीदास के कथन के अंतिम अंश पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। कबीर ने भक्त होते भी "सोऽहम्" के ज्ञान-मार्ग का बार-बार उल्लेख क्यों किया है ? सूर, तुलसी आदि की तरह केवल भक्ति से संतुष्ट क्यों नहीं रहे ? जायसी आदि प्रेम-मार्गी कवियों की तरह कबीर ने प्रेम-गाथाएँ क्यों नहीं लिखीं? कबीर ने भक्ति को उतना ही महत्त्व दिया है जितना सूर-तुलसी आदि ने, और प्रेम को भी उतना ही महत्त्व दिया है जितना जायसी आदि ने। अंतर यह है कि उन्होंने उस ज्ञान के महत्त्व को भी स्वीकार किया है जिसके बिना "भव मूल के भेद-भ्रम का नाश" (तुलसी) नहीं होता है। कबीर की सामाजिक चेतना इस भेद-भ्रम का नाश ज्ञान के बिना असंभव मानती थी। इसलिए इस सामाजिक चेतना को लेकर चलनेवाले सभी मध्ययुगीन संत इस भेद-भाव के विरुद्ध आवाज उठाते रहे और साम्प्रदायिक सद्भावना पर आधारित समाज की रचना के लिए अज्ञान का नाश आवश्यक मानते रहे।

जिस परम्परा में "सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म" (तैत्तिरीय. २. ।) कहकर ब्रह्म

को सत्य-ज्ञान-स्वरूप कहा गया है उसमें वह परम्परा ज्ञान की उपेक्षा से दुर्बल पड़ जाती है। श्रुति ने स्वयं कहा है कि बलहीन आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता — "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" (मुण्डक. ३.२.४) बलहीन आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता, समाज को गिरने से नहीं रोक सकता। जिस अज्ञान के कारण व्यक्ति और समाज दोनों दुर्बल पड़ते जा रहे थे उस अज्ञान का निराकरण कबीर की दृष्टि में अनिवार्य था। इसीलिए कबीर ने कहा --

जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिए ग्यान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।।

जाति पूछ-पूछ कर समाज टुकड़े-टुकड़े होता गया, व्यक्ति अपने-अपने घरौंदे बनाता रह गया, म्यान पड़ी रह गयी और तलवार से गर्दन कट गयी। फिर भी जब आँख न खुली तो कबीर को ज्ञान के महत्त्व को पुनः उजागर करने के लिए निरंतर प्रयासरत रहना पड़ा। कबीर ने अनुभव किया था कि ज्ञान के बिना साधना का मेरुदंड दृढ़ नहीं हो सकता, व्यक्ति की आस्था सुदृढ़ नहीं हो सकती और समाज अपनी कमजोरियों पर विजय नहीं पा सकता। स्वामी विवेकानन्द का अनुभव भी ऐसा ही था। इसीलिए १० जून, १८९८ को एक पत्र में अपने एक मित्र को उन्होंने लिखा था कि "मैं अपने मन में भावी भारत के ऐसे पूर्ण भारत के उदय का चित्र देखता हूँ जिसका मस्तिष्क वेदांत का और शरीर इस्लाम का होगा।" ऐसे सबल पूर्ण भारत की कल्पना करनेवाले कबीर संभवतः पहले व्यक्ति थे जिनसे बाद में स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी एवं सम्पूर्ण भारत को प्रेरणा मिली। इस संबंध में स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है — "रामानंद, कबीर, दादू, चैतन्य या नानक आदि के द्वारा संस्थापित संप्रदायों के सभी संत मानव-मात्र की समानता के प्रचार के लिए सहमत थे, यद्यपि इनके दार्शनिक दृष्टिकोणों में भिन्नता अवश्य थी।" (विवेकानन्द साहित्य, खंड १०, पृ०-१२३)।

महात्मा गाँधी ने धर्म की एकता के मध्यकालीन प्रयासों और आधुनिक युग के धार्मिक-सद्भावना संबंधी प्रयासों में जो सूक्ष्म अंतर बताया है, यहाँ उसका उल्लेख आवश्यक है क्योंकि इस प्रसंग में उन्होंने गुरु नानक और कबीर दोनों का नाम लिया है। उन्होंने कहा था (गुजराती नवजीवन, १९२१) कि गुरु नानक और कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलाने की जो कोशिश की थी, आज उसके इतिहास में जाने की जरूरत नहीं है। आज कोशिश दोनों धर्मों को नहीं बल्कि दो हृदयों को मिलाने की है, भले ही धर्म भिन्न हों।" सन् १८९३ में शिकागो के विश्व-धर्म-सम्मेलन में स्वामी विवेकानंद ने भी यही बात कही थी कि कोई भी धर्म दूसरे धर्म को मिटा नहीं सकता, सबका सह-अस्तित्व अनिवार्यता

है, अतः साम्प्रदायिक सद्भावना और सहिष्णुता ही हमारे लिए समुचित मार्ग होगा। मद्रास के अभिनंदन का उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा था -- "यह बात सच नहीं है कि मैं किसी धर्म का विरोधी हूँ।" (विवेकानंद साहित्य, भाग-९, पृ. ३७३)

नरसिंह मेहता का "वैष्णव जन तो तेने कहीए, जे पीड पराई जाने रे"। महात्मा गाँधी का प्रिय भजन था। ऐसे वैष्णव के संबंध में कवि ने अंतिम पंक्ति में कहा है -- "भणे नरसैंयो तेनुं दरसन करतां, कुल एकोतेर तायां रे।" वैष्णव की यह महिमा संभवतः कबीर की वाणी में सबसे पहले व्यक्त हुई है --

साषत बांभण मति मिलै, वैसनों मिले चंडाल।
अंकमाल दे भेंटिये, मांनों मिले गोपाल।

यहाँ कबीर ने वैष्णव को एकदम विष्णु ही कह दिया है। वैष्णव को ऐसी प्रतिष्ठा कैसे प्राप्त हुई ? यह श्रुति की उस परम्परा के कारण संभव हुआ जहाँ यह माना जाता रहा है कि ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है (मुण्डक. ३.२.९)। कबीर की वाणी है --

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराई ।
बूँद समायी समुँद्र में, सो कत हेरी जाइ।।

बूँद और समुद्र की तरह आत्मा-परमात्मा में भी कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। इसी भाव को एक वाणी में उन्होंने इस रूप में व्यक्त किया है --

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ में रही न हूँ।
वारी तेरे नाम पर, जित देखूँ तित तूँ।

यहाँ तूँ "तत्त्वमसि" है और हूँ है अहंकार। सचमुच उस नाम की बलिहारी है कि उसके निरंतर स्मरण ने उसी में लय कर दिया।

ऐसी स्थिति को प्राप्त करने की एक ही राह है, कथनी और करनी के अंतर को दूर करना ! कबीर ने कहा है --

कथनी मीठी खाँड सी, करनी विष की लोइ।
कथनी तजि करनी करै, विष से अमृत होइ।।

कथनी और करनी के अंतर के कारण ही अमृत विष हो रहा है। सारे भौतिक विकास के बावजूद मनुष्य अपनी इस दुर्बलता पर विजय नहीं पा सका है। अतः कबीर आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं।

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि कबीर रामानंद (१३६०-१४७०) के सबसे महान् शिष्य थे। कबीर मध्यकालीन भारतीय धार्मिक इतिहास के केन्द्रीय पुरुष थे। मध्ययुग में उत्तर भारत में आध्यात्मिक या बौद्धिक स्वतंत्रता के लिए

एक भी ऐसा आंदोलन नहीं हुआ जिस पर कबीर के प्रभाव की छाप न हो। उन्होंने यह भी कहा कि कबीर के हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के साथ मधुर संबंध थे। उन्होंने सभी धर्मों, सभी जातियों एवं स्त्रियों और पुरुषों को बिना भेद-भाव के उपदेश दिया । आचार्य सेन ने कबीर की इस उक्ति को भी उद्धृत किया है – "संसकीरत है कूप जल, भासा बहता नीर।" उनकी सीधी-साधी भाषा में असाधारण शक्ति थी। (द कल्चरल हेरिटेज ऑफ इंडिया, खंड-४, पृ. ३८१-८२।

कबीर रामानुजाचार्य (१०३७-११३७) की पाँचवीं पीढ़ी के शिष्य रामानंद के शिष्य थे जिनका सिद्धांत था – "जात-पांत पूँछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।" रामानंद के प्रसिद्ध बारह शिष्यों में प्रमुख थे – कबीर (जोलाहा), रविदास (चमार), धन्ना (जाट), सेना (हजाम) और पीपा (राजपूत)। उनके अन्य अनेक शिष्य भी इसी प्रकार पिछड़ी जातियों से आते थे। इससे यह स्पष्ट है कि समाज की पिछड़ी जातियों को जगाकर कबीर आदि इन संतों ने समाज में नयी चेतना लाई थी। यह नयी चेतना हिन्दू-मुसलमान के बीच सद्भावना पैदा करने में सहायक सिद्ध हुई। भारत के विचारकों और समाजशास्त्रियों एवं सुधारकों का भक्ति आंदोलन के इन दोनों पक्षों की ओर समान रूप से ध्यान नहीं जाता है जिसके कारण दृष्टि एकांगी हो जाती है और निष्कर्ष भ्रामक।

समाज के उच्च वर्ग के आचार्यों ने न तो समाज की भक्ति से उत्पन्न इस नयी सामाजिक चेतना को स्वीकार किया, न हिन्दू-मुसलमान की साम्प्रदायिक सद्भावना को । अतः कबीर, रविदास जैसे भक्त तो समाज में प्रतिष्ठा पा गये परंतु समाज के जिस वर्ग से वे आते थे उसकी उपेक्षा समाप्त नहीं हुई। इस संकीर्णता के कारण ही नानक पंथ की गुरु-परम्परा ने भिन्न रूप में अपना विकास-मार्ग चुना।

कबीर तृतीय चरण के भारतीय नव-जागरण के ऐसे असामान्य पुरुष हैं जिनके मस्तिष्क में वेदांत, हृदय में भक्ति, एक हाथ में वेद एवं दूसरे में क़ुरान तथा एक पैर श्रुति और दूसरा स्मृति के साथ है। इसीलिए कई दृष्टियों से वे आज भी प्रासंगिक ही नहीं बल्कि आधुनिक भी प्रतीत होते हैं। उनकी वाणी में वैदिक ऋषि के "अहमिन्द्रो" (ऋ-१०.४८.५५) का आत्मविश्वास बोलता है--

झीनी झीनी बीनी चदरिया।

× × ×

सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी
ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी
ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया।।

सभी मनुष्य ऐसे योग-यत्न से शरीर रूपी अपनी चादर क्यों नहीं ओढ़ते कि उनकी चादर मैली न हो ? सुर-नर-मुनि की चादर भी क्यों मैली हो जाती है? इस चादर को ज्यों-की-त्यों धर देने की कबीर की जीवन-कला का रहस्य क्या है ? कबीर इस रहस्य को खोलने में हिचके नहीं। उन्होंने कहा है -- "हरिजन ऐसा चाहिए, हरि ही जैसा होय" जप-तप-ध्यान-स्मरण करते-करते हरि के जन को - वैष्णव को - हरिमय हो जाना है। उसका जीवन जब ऐसा होगा तभी उसकी चादर मैली नहीं होगी। विकारग्रस्त मनुष्य अपने जीवन को ऐसा बना नहीं पाता और वह व्यर्थ ही वेद और क़ुरान को दोष देता है -- "वेद-कतेब कहत क्यों झूठा" झूठा सो न विचारे।" सच्चे ज्ञान, आत्मविज्ञान, के बिना विचार संभव नहीं है। इसीलिए कबीर ज्ञान पर इतना जोर देते हैं।

ज्ञान की श्रेष्ठता सदा स्वीकार की गयी है। तैत्तिरीय उपनिषद् ने ज्ञान को ब्रह्म कहा है। (२.१) गीता कहती है कि ज्ञान के सदृश पवित्र कुछ भी नहीं है। (४.३८)। शंकराचार्य ने पवित्र का अर्थ किया है -- पावनं शुद्धिकरम्। कबीर ने ज्ञान के इस पारम्परिक महत्त्व को पुनः प्रतिष्ठित किया जिससे भक्ति के नाम पर केवल भावोद्वेग की धारा को एक ओर कूल-किनारा मिला और दूसरी ओर ज्ञान से वंचित रखे गये समाज के उपेक्षित वर्ग के लोगों के जीवन में ज्ञान के प्रकाश से नयी चेतना आई।

सद्भावना क्या है ? सद् की भावना। प्रेम की भावना । साम्प्रदायिक सद्भावना अर्थात् सम्प्रदायों के बीच में प्रेम की भावना । यह प्रेम-भावना कैसे संभव है ? सत् का अर्थ है ब्रह्म । ब्रह्म का लोक ही सत्य लोक है। तैत्तिरीय उपनिषद् कहती है -- "सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म।" (२.१) अर्थात् ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है। कबीर की दृष्टि में सच सर्वोपरि है --

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे साँच है, ता हिरदे गुरु आप।।

जब तक झूठ का व्यापार चलता रहेगा, तब तक साम्प्रदायिक सद्भावना कैसे आयेगी ? सद्भावना तो आयेगी ब्रह्म-भाव से। चराचर को ब्रह्म-भाव से देखने की जीवन-कला को विकसित किये बिना प्रेम-भावना टिक ही नहीं सकती। इसके लिए मन को संकल्पवान् बनाना होगा, निष्ठा और दृढ़ता में सतत वृद्धि करनी होगी। मानव मन की दुर्बलता को समझने, मन में निहित संकल्प-शक्ति को भी समझने, के कारण ही कबीर ने कहा है --

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ।
कह कबीर पिउ पाइये, मनहीं की परतीत ।।

आधुनिक मनुष्य मन से अधिक तन की शक्ति, भौतिक शक्ति, पर श्रद्धा रखता है। कबीर का भरोसा तो बस मन पर है। तैत्तिरीय उपनिषद् ने "मनो ब्रह्मेति व्यंजनात्"(मन को ही ब्रह्म जानो) कहा था; छांदोग्योपनिषद् (३. १८.१) ने "मनो ब्रह्मेति उपासीत्" (मन ब्रह्म है, इस रूप में उपासना करो) कहा था। मन की उस शक्ति की साधना के बिना नव-जागरण का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता, दुर्बल मन साम्प्रदायिक सद्भावना की स्थापना नहीं कर सकता। कबीर मन की उस अपरिमित संकल्प-शक्ति के प्रतीक हैं जो मसि-कागद छूए बिना हरिमय हो गया, सद्भावना की साकार प्रतिमा बन गया।

कबीर में यह शक्ति कहाँ से आई ? जीवन की शुद्धि से। जीवन की शुद्धि आती है जीविका की शुद्धि से। संत-परम्परा में यह विचार श्रमण-परम्परा से आया था। ब्राह्मण-परम्परा "आहार शुद्धौ, सत्त्वशुद्धि, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति" (छान्दो. ७.२६.२) को तो स्वीकार करती थी परन्तु श्रमण-परम्परा ने "आहारशुद्धौ" के पहले "आजीविकाशुद्धौ" को जोड़ दिया। गौतम बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग में "सम्यक् आजीव" का भी समावेश किया गया है। कबीर ने एक ओर अधिक संग्रह के विरुद्ध आवाज उठाई और दूसरी ओर भिखमंगी की निंदा भी की। उन्होंने कहा –

उदर समाता अन्न लै, तनहिं समाता चीर ।
अधिकहि संग्रह ना करै, ताका नाम फकीर ।।

कबीर ने ठीक ही लक्ष्य किया था, समाज में तनाव का कारण विषमता है। विषमता का कारण है कुछ के द्वारा अधिक का संग्रह जिसके फलस्वरूप कुछ के लिए अन्न-वस्त्र अपर्याप्त पड़ जाता है। यह स्थिति कभी जाति-युद्ध, कभी सम्प्रदाय-युद्ध और कभी वर्ग-युद्ध का रूप ले लेती है।

लेकिन कबीर भिखमंगी के भी विरुद्ध थे –

मांगन मरन समान है, मति कोई मांगो भीख।
मांगन ते मरना भला, यह सतगुरु की सीख।

इसीलिए कबीर ने न तो जोलाहे का धंधा छोड़ा, न रैदास ने चमार का, वैसे ही जैसे वैदिक ऋषि रैक्व (छांदोग्य.) ने गाड़ी का धंधा अपना रखा था। नानक ने तो यहाँ तक कहा था –

आलि खाइ किछु हथहु देह। नानक राहु पछाणहि सेइ।।

सही रास्ता उन्होंने ही पहचाना है जो अपने पसीने की कमाई से स्वयं खाते हैं और दूसरों को भी कुछ देते हैं। कबीर ने अपनी इस साधना के संबंध में विश्वासपूर्वक कहा था –

एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।

एक के बजाय सब साधने के मोह को पालने के कारण ही तो आज सद्भावना का अभाव होता जा रहा है !

कबीर-वाणी के अध्ययन-मनन के दृष्टिकोण में परिवर्तन की आवश्यकता है। कबीर-वाणी वस्तुतः गीता के "योगः कर्मसु कौशलम्" का मध्यकालीन भाष्य है। श्रीकृष्ण को अर्जुन और श्रीरामकृष्ण परमहंस को स्वामी विवेकानंद जैसे शिष्य मिले, कबीर और गाँधीजी को इस सौभाग्य से वंचित रहना पड़ा। धनुर्धर पार्थ के बिना योगेश्वर श्रीकृष्ण को भी तो विजय नहीं मिली थी ? अतः तब तक प्रतीक्षा करनी होगी जब तक वसंत नहीं आता –

अइहैं बहुरि वसंत रितु, इन डारन वो फूल।

साम्प्रदायिक सद्भावना का फूल खिले, इसके लिए वसंत जैसी अनुकूलता लाने के लिए सतत प्रयास-रत रहना होगा। कबीर-वाणी इसकी प्रेरणा का अक्षय-स्रोत है। यही कबीर-वाणी की प्रासंगिकता और चिरन्तनता का अभिनव संगम है। ●

संदर्भ :

इस लेख के कबीर के उद्धरण "संत-सुधा-सार", सम्पादक, वियोगी हरि, प्रकाशक, सरता साहित्य मंडल, नयी दिल्ली और आश्रम भजनावलि, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद से लिये गये हैं।

ढाई आखर प्रेम का

डॉ० वसुमति डागा

जब-जब कबीर पढ़ती हूँ, भीतर एक लावा फूटने लगता है। किस कदर मन को छू जाते हैं कबीर के शब्द और भीतर जाकर गहरी चोट करते हैं। बार-बार यही लगता है कि कबीर पर बात करने की सार्थकता कबीर होने में है, वरना केवल वाग्विलास है। लिखा तो बहुत जाता है पर जो शब्द अनुभूति और साधना की गहराई से निकलते हैं वे सार्वकालिक, सार्वदेशिक तथा सार्वभौमिक होते हैं और इसीलिए कबीर छः सौ वर्ष बाद भी तीव्रता से याद किये जा रहे हैं।

कबीर पर अकादमिक तरीके से बात करने को जी नहीं चाहता। 'मसि कागद छूयो नहिं, कलम गही नहिं हाथ' कहने वाला कवि 'ढाई आखर प्रेम' को ही जीवन में जीता है। यह प्रेम की ताक़त ही है कि युग की दो संस्कृतियों का संघर्ष उन्हें समझौतापरस्त नहीं बनने देता। समझौता तो वे करते हैं जो बुज़दिल और कायर होते हैं। जिनमें ओज की पराकाष्ठा नहीं होती। कबीर ओजवान हैं, निर्भीक हैं, प्रेमी हैं, घर फूँक तमाशा देखने की ताक़त रखते हैं। इसीलिए फक्कड़ हैं, मस्तमौला हैं; शास्त्रों की परवाह नहीं करते, पण्डित-मुल्लाओं को नहीं बख्शते और कहते हैं– **'अरे इन दोउन राह न पाई। हिंदुन की हिंदुवाई देखी तुरकन की तुरकाई।'** और इससे भी आगे बढ़कर– **'हमरा झगरा रहा न कोऊ, पण्डित मुल्ला छाँडें दोऊ'**- कहकर आगे बढ़ जाते हैं।

अहंकार और दंभ से युक्त व्यक्तित्व की आवाज़ कितनी भी ऊँची क्यों न हो असर पैदा नहीं कर सकती। अहंकार जब गल जाता है तब प्रेम की शुरुआत होती है और तब मन को मथ देने वाली वाणी कविता की शक्ल में जन्म लेती है। कबीर के साथ चलने के लिए प्रेमी बनना होगा, अपना घर जलाना होगा। यह आसान बात नहीं है। कबीर प्रेमी हैं इसीलिए बीच चौराहे पर ऐलान करते हैं– 'जो घर जारे आपना चले हमारे साथ।' कबीर के प्रेम की दुनिया में तराजू-

बटखरा नहीं, हिसाब-किताब नहीं, दुनियादारी नहीं, क्या खोया क्या पाया की उधेड़बुन नहीं; सौदे का सवाल नहीं, ताने की उम्मीद नहीं। अपने को दे देना ही उसको पा जाना है, जिसे पाने के बाद कुछ शेष नहीं रहता--

'हमन हैं इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या
रहें आज़ाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या।

कबीरा इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से
जो चलना राह नाज़ुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या।'

कबीर का प्रेम साधारण नहीं। उनका प्रेम न खेत में उपजता है न बाज़ार में बिकता है। राजा हो या प्रजा सीस उतारकर भूमि पर रखना ही होगा। यह प्रेम कायरों के वश का नहीं सच्चे शूरमां ही इस पथ के पथिक हो सकते हैं। इसीलिए उनके प्रेम का आदर्श बनते हैं-- सती और शूर। दोनों के रास्ते ही कँटीले हैं। एक बार च्युत हो गए तो कहीं मुँह दिखाने लायक नहीं रहेंगे--

साधु सती औ सूरमां, इन पटतर कोउ नाहिं।
अगथ-पंथ कौं पग धरैं, डिगैं तो कहाँ जमाहिं।

कबीर प्रेमी हैं इसीलिए व्याकुल हैं, बेचैन हैं, दिन-रात जग रहे हैं-- **'सुखिया सब संसार है खाये अरु सोवे, दुखिया दास कबीर है जागे अरु रोवे'**। यह प्रेम परिपूर्ण हृदय ही है जो अपने समय के दंश से क्षुब्ध हो उठता है, उसके हृदय-सागर में हाहाकार मच उठता है और तब मंथन से निकलते हैं-- साखी, सबद, रमैनी। जो जागृति का नाद करते हैं और प्रेम की धुन बिखेरते हैं--

प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास।
मुख कसतूरी महमहीं, बाँणी फूटी बास।।
लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम भंडार।
काल कंठ तैं गहेमा, रूंधे दसूं दवार।।

प्रेम शक्ति है, प्रेम योग है, प्रेम पूर्णता है, और इसीलिए कबीर का प्रेमी मन मनुष्य को मनुष्य से जुदा करने वाले किसी भी कर्मकाण्ड का विरोध पूरी ताक़त से करता है। यह विरोध इस कदर आक्रामक हो जाता है कि सुनने वाला कसमसाकर रह जाए और विरोध भी न कर पाए। इसीलिए वे बाहर से चोट करते हैं क्योंकि वे घड़े को सही शक्ल देना चाहते हैं। उनका यह अंदाज़ कितना पैना है--

ना जाने तेरा साहब कैसा है
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहिरा है?

चिउँटी के पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है।
पंडित होय के आसन मारै, लंबी माला जपता है।।
अन्तर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहब लखता है।
ऊँचा-नीचा महल बनाया, गहरी नेंव जमाता है।.
चलने का मनसूबा नाहीं, रहने को मन करता है।
कौड़ी-कौड़ी माया जोड़ी, गाड़ि जमीं में धरता है।।
जेहि लहना है सो लै जइहै, पापी बहि-बहि मरता है।
सतवन्ती को गजी मिलै नहिं, वेश्या पहिरै खासा है।।
जेहि घर साधू भीख न पावै, भंडुआ खात बतासा है।।
हीरा पाय परख नहीं जाने, कौड़ी परखन करता है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जैसे को तैसा है।।

धर्म और जाति के नाम पर मनुष्य-मनुष्य में नफ़रत पैदा करने वालों को फटकारते हुए जब वे कहते हैं--

एक बूंद एकै मल मूतर एक चाम एक गूदा।
एक जोति ते सब उत्पन्ना को ब्राह्मण को सूदा।।

या

जो तू बांभन बंभनी जाया, आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया।
जो तू तुरक तुरकनी.जाया, तो भीतर खतना क्यों न कराया।।

तो मन चाहता है कि कबीर एक बार फिर आ जाते सारी दुनिया में छाए अलगाववादी ताक़तों को पाठ पढ़ाने के लिए। यह सही है कि अपनी वाणी के माध्यम से वे हमारे साथ हैं। पर हमारे मन जड़ हो गए हैं, कान बहरे हो गए हैं और कुछ सुन-समझ पाने की शक्ति को हम खो रहे हैं। जैसे फिर कबीर कह रहे हों कि--

पढ़ि-पढ़ि के पत्थर भया, लिखि लिखि भया जु ईट।
कहै कबीर जो प्रेम की, लगी न एकौं छींट।।

हम आज भी अच्छा लिखने, अच्छा बोलने के लिए तमगे पाने की जोड़-तोड़ में लगे हैं। अधिक से अधिक सुविधा का भोग और अधिक से अधिक धन पाने की चिन्ता में रात-दिन उलझे हुए हैं। हम कितने कबीर प्रेमी है? **'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय'** जैसी कबीर वाणी आज और भी टीस से भरकर हमसे सवाल कर रही है कि इक्कीसवीं सदी का जोर शोर से उत्सव मनाने वाले हमलोग एक-दूसरे के कितने नज़दीक हैं, अजनबीपन, एकाकीपन और तनाव जैसे शब्द डायरी में अंकित हो रहे हैं। मनोचिकित्सकों के दरवाजे

पर भीड़ बढ़ रही है। पोथियाँ पढ़कर क्या हमने यही हासिल किया है? कबीर वाणी के साथ आत्मसाक्षात्कार की ये घड़ियाँ कितनी पीड़ामय हैं यह तो कबीर-प्रेमी बन कर ही समझा जा सकता है। छः सौ साल बाद कबीर-वाणी की इन संदर्भों में प्रासंगिकता गर्व की नहीं दर्द की बात है।

कबीर की प्रेम भावना विराट है जो धरती से होती हुई निराकार ब्रह्म तक पहुँचती है। कहीं वे 'मुतिया मेरा नाउँ' कहकर अनन्य समर्पित दिखाई देते हैं तो कहीं कान्ता भाव की भक्ति में प्रेयसी रूप में दिखाई देते हैं। "अव्यक्त परमात्मा को अव्यक्त रखकर उसके प्रति प्रेयसी भाव से प्रणय-निवेदन कबीर से पूर्व किसी भारतीय भक्त ने नहीं किया।" (आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री 'कुछ चन्दन की कुछ कपूर की' पृ० - ९) कबीर के पदों में अनेक स्थलों पर पिव, दुलहा, पीतम, दुल्हनिया, ससुराल, नैहर, घुघटा जैसे शब्द रूपक और उपमा के साथ आये है, जैसे–

"दुलहिन अँगिया काहे न धोवाई
बालपने की मैली अँगिया जोवन सुपने को नांई।"
"न्हाय धोय दुलहिन हो बैठी, जोहै पिय की बाट रे
तनिक घुँघटवा दिखाव सखी री, आज सोहाग की रात रे।"
"अब मोहि ले चलु ननद के वीर अपने देसा।"

इसी तरह अनेकानेक पद हैं जिनमें कान्ता भाव से प्रणय निवेदन है। कबीर में प्रभु भक्ति का यौवन अपने चरम पर है। श्री राम पाहुने बन कर आये हैं। कबीर की आत्मा उन्हें पति रूप में ही वरण करना चाहती है, जिसमें पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश बाराती हैं।

दुलहिन गावहु मंगलाचार
हम घरि आये हो राजा राम भरतार।
तन रति करि मैं मन रति कर, पंचतत्त बराती।
रामदेव मोरे पाहुनै आये, मैं जोबन मदमाती।
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव संग भाँवरि लैहूँ, धनि धनि भाग हमार।
सूर तेतीसूं कोटिक आये मुनिवर सहस अट्ठासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले, पुरिष एक अविनासी।।

प्रेम में मिलन की अभिव्यक्ति भी इतनी सीधी, सरल और तरल है कि उस तरलता में मन एकमेक हो जाता है। कबीर जैसा प्रेममय निष्कलुष मन ही बगैर आडम्बर के सादगी के साथ अपनी बात कह सकता है जो सुनने वाले के चित्त पर अचूक प्रभाव डालती है। प्रिय-मिलन के क्षण चाहे सपने में ही हों, मोहक हैं।

सपने में मिलन की अभिव्यक्ति का यह अहसास किसे नहीं छूता–

सुपने में सांई मिले, सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता, मत सपना ह्वै जाय।।

आँखों में प्रिय को बसा लेने का यह अन्दाज़ किसे विस्मृत हो सकता है-

नैनन की करि कोठरी, पुतरी पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारि के, पिय को लिया रिझाय।।

कबीर के प्रेम में विरह आवश्यक है। वे कहते हैं– **''विरहा बुरहा जिनि कहौ, विरहा है सुलतान।''** वस्तुतः विरह प्रेम की जागृत अवस्था है। विरह में प्रेम का रंग और गहरा होता है। कबीर के लिए तो वह हृदय श्मशान है जहाँ विरह का प्रवेश नहीं। कबीर संसार के दुःख से जागते और रोते हैं, तो प्रियतम के वियोग में भी उनकी आत्मा आँसू बहाती है। प्रेम में भी वे रुदन को आवश्यक मानते हैं। इसीलिए कहते हैं– **''कबीर हँसना दूर करि, करि रोवण सौं चित्त''** या **''हँसि हँसि कन्त न पाइया जिन पाया तिन रोय।''** यही कारण है कि उस असीम से मिलन की तड़प लोक रंग के साथ अभिव्यक्त हुई है–

तलफै बिन बालम मोर जिया
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया
तलफ तलफ के भोर किया।।
तन मन मोर रहँट-अस डोलै
सून सेज पर जनम छिया।
नैन चकित भए पंथ न सूझै
साँई बेदरदी सुध न लिया
कहत कबीर सुनो भई साधो
हरो पीर दुःख जोर किया।।

कबीर ज्ञानी थे, संत थे, भक्त थे, विद्रोही थे, क्रान्तिकारी थे, समाज सुधारक थे-- वे जो भी थे पर थे वे बड़े प्रेमी। समाज-सुधार और आडम्बर का विरोध तो कबीर से पहले सिद्धों, योगियों, और वेदान्तियों ने भी किया। कबीर की विशेषता यह है कि उन्होंने इसे प्रेम और भक्ति से जोड़ दिया। कठोर साधनाओं और आडम्बरों का त्याग कर उन्होंने सहज मार्ग की बात की। उनका सहज मार्ग राग मार्ग ही है। जीवन के कर्मक्षेत्र में रहते हुए उन्होंने विषय वासनाओं से दूर रहने की बात कही। कर्ममय जीवन के त्याग की बात उन्होंने कभी नहीं की। वे स्वयं गृहस्थ थे, जुलाहे का कार्य करते थे। कर्ममय जीवन में रहते हुए प्रपंचों से दूर रहने में ही उनका विश्वास था। उन्होंने इसका उपदेश ही नहीं दिया, स्वयं वैसा ही जीवन जिया। अपनी आत्मा के दर्पण में वे बेदाग

थे, इसीलिए आत्मविश्वास और निर्भीकता से कह दिया–

''सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी, ओढ़ि के मैली कीन्हीं चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।''

हमारा और कबीर का मन तब तक एक नहीं हो सकता, जब तक हम अनुभव शून्य शब्दों से क्रीड़ा करते रहेंगे, वाग्विलास में डूबे रहेंगे, वाग्जाल में उलझते रहेंगे और बुद्धि जीवी होने का दंभ भरते रहेंगे। छःसौ वर्ष पहले कही गई कबीर की यह वाणी आज भी हमसे कह रही है–

मेरा-तेरा मनुआं कैसे इक होई रे।
मैं कहता आँखिन की देखी, तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता सुरझावन हारी, तू राख्यौ उरझाई रे।
मैं कहता तू जागत रहियो, तू रहता है सोई रे।
मैं कहता निर्मोही रहियो, तू जाता है मोही रे।
जुगन-जुगन समुझावत हारा, कही न मानत कोई रे।
तू तो रंडी फिरै बिहंडी, सब धन डारे खोई रे।
सतगुरु धारा निर्मल बाहै, वामैं काया धोई रे।
कहत कबीर सुनो भाइ साधो, तब ही वैसा होई रे।।

कबीर प्रेम की उपज थे। वे आजीवन प्रेम की तकली चलाते रहे, प्रेम की चादर बुनते रहे, प्रेम का रंग भरते रहे। उनकी संपूर्ण साधना प्रेम की साधना थी। प्रेम के दिव्य संसार में रमण करने वाले कबीर ने प्रेम-रस पा लिया था–

''कबीर हरि रस यों पिया बाकी रहि न थाकि।
पाका कलस कुम्हार का, बहुरि न चढ़ई चाकि''

पीड़ा इस बात की है कि कबीर जैसी आर्ष चेतना के धनी और प्रेम के प्रतिमान को जन्म देने वाली माँ अज्ञातनामा रह गई, इतिहास उसे न जान सका।

प्रेम की दुनिया में कंजूसी नहीं चलती। जो दूरी रखकर प्रेम करते हैं वे प्रेम का ढोंग करते हैं। कबीर ने खुद को समाज और अपने प्रिय प्रभु पर पूरी तरह उलीच दिया था। उनका कर्म, उनकी साधना, उनका चिन्तन, उनकी वाणी सब कुछ प्रेम को ही समर्पित थे। इसीलिए प्रेम की किसी भी कसौटी पर कबीर खरे उतरते हैं। उन्होंने स्पष्ट उद्घोष किया था–

शून्य मरै, अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय
राम सनेही ना मरै, कह कबीर समझाय।

कबीर इसलिए नहीं मरेंगे क्योंकि प्रेम नहीं मरेगा। इसीलिए कबीर जीवित हैं और हमेशा जीवित रहेंगे। ●

संत कबीर : जाति और धर्म की एकता

सद्गुरु अभिलाष साहेब

कबीर नाम के एक महामानव संवत १४५६ विक्रम की जेठ पूर्णिमा को देह धारण कर हमारे बीच में आये थे। उन्होंने अखिल मानवसमाज में एक जाति और एक धर्म देखा था। उनकी दृष्टि पारदर्शी थी; इसलिए यह मानव द्वारा बनाये गये सांप्रदायिक परदों को बेधकर वस्तु के अंतरतम तक देख लेती थी। मनुष्यों ने नकली जाति और नकली धर्म की अनेक दीवारें बना रखी हैं, जिसने मानवता को खंड-खंड करके रख दिया है। कबीर देव जातीय एकता तथा धार्मिक एकता के उद्घोषक थे।

जाति

जाति संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है पैदा होना। घोड़ा और गाय के संबंध से बच्चे पैदा नहीं होते, इसलिए ये दोनों अलग-अलग जाति हैं। बकरी और सुअर के संबंध से भी बच्चे नहीं होते, अतः इनकी भी जाति अलग-अलग हैं। इसी प्रकार अन्य के विषय में भी समझा जा सकता है। किन्तु संसार के किसी कोने के मानव-पुरुष तथा किसी कोने के मानव-स्त्री के संबंध से बच्चे पैदा हो जाते हैं, अतएव पूरे मानव की एक जाति है। यह अलग बात है कि भौगोलिक तथा जलवायु की भिन्न-भिन्न स्थितियों के कारण गोरे, काले, लम्बे, नाटे आदि रूप-रंग एवं शारीरिक गठन में भिन्नता होती है। भारत में ही देखा जा सकता है कि मद्रास के तथाकथित ब्राह्मण और शूद्र--सभी काले होते हैं तथा कश्मीर के सभी गोरे। इसीलिए सद्गुरु कबीर ने कहा है कि काली-पीली रंग की गाय का दूध एक समान सफेद होता है--

कारी-पियरी दूहहु गाई। ताकर दूध देहु बिलगाई।। बीजक, रमैनी ६२।।

उन्होंने और भी कहा --

एकै त्वचा हाड़ मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा।
एक बूंद से सृष्टि रची है, को ब्राह्मण को सूदा।।

रजोगुण ब्रह्मा तमोगुण शंकर, सतोगुणी हरि होई।
कहहिं कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरुक न कोई ।।

बीजक, शब्द ७५।।

हंस देह तजि न्यारा होई। ताकर जाति कहँ धौं कोई।।
स्याह सफेद कि राता पियरा। अबरण बरण कि ताता सियरा।।
हिन्दू तुरुक कि बूढ़ो बारा। नारि पुरुष का करहु विचारा।।

"बीजक, विप्रमतीसी २७, २८, २९"

अतएव पूरे मानव की जाति एक है और सभी मानव अपनी योग्यता के अनुसार शिक्षा, राजनीति, विज्ञान, धर्म, संन्यास आदि सभी क्षेत्रों में पहुँचने के लिए समान अधिकारी हैं। कल्पित वर्ण एवं जाति के आधार पर छुआछूत घोर अनैतिकता है। वे कहते हैं–

और के छिये लेत हो छींचा, तुम सो कहहु कौन है नीचा।।
ई गुण गर्व करो अधिकाई, अधिके गर्व न होय भलाई ।।

बीजक, रमैनी ३५।।

ज्ञान, आचरण एवं संस्कारों के औपाधिक भेद से मनुष्यों की श्रेणियाँ मानी जा सकती हैं, किन्तु इस प्रकार के उच्च तथा निम्न ज्ञान, आचरण एवं संस्कार भेद तथाकथित हर वर्ण एवं कल्पित जाति के मनुष्यों में हैं। अतएव पूरे मानव की एक जाति है यह विवेक की बात स्वीकारना चाहिए। ज्ञान, आचरण एवं संस्कार भेद से मनुष्यों के व्यवहार में भेद स्वाभाविक है।

धर्म

हमने सहस्राब्दियों से सम्प्रदाय, परम्परा एवं मत को धर्म कहा है और उसी भूल का परिणाम है कि हमारी सरकार ने भी अपने राज्य को धर्मनिरपेक्ष घोषित कर दिया है। धर्मनिरपेक्ष का अर्थ होता है "धर्म की आवश्यकता से रहित।" किन्तु धर्म से रहित जीवन समाज एवं राज्य रह ही नहीं सकते। वस्तुतः सरकार के कहने का अर्थ है परंपरा एवं सम्प्रदाय से रहित राज्य।

धर्म देश काल-निरपेक्ष शाश्वत सनातन, सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक होता है, किन्तु परंपरा संप्रदाय, समाज एवं मत देश-काल सापेक्ष एवं संकुचित होते हैं।

लोग धर्म के साथ हिन्दू, इसलाम, जैन, बौद्ध, ईसाई, पारसी आदि जोड़ते हैं जो गहरी भूल है। धर्म हिन्दू नहीं है, इसलाम नहीं है, जैन-बौद्ध नहीं है, इसाई, पारसी आदि नहीं है। धर्म केवल धर्म है।

हिन्दू धर्म नहीं है, किन्तु हिन्दू समाज है। इसलाम, इसाई, जैन, बौद्ध आदि धर्म नहीं हैं, किन्तु इसलाम आदि समाज, परंपरा एवं संप्रदाय हैं।

इसलाम चौदह सौ वर्ष से, ईसाइयत दो हजार वर्ष से, बौद्ध ढाई हजार वर्ष से, जैन-पारसी ढाई हजार वर्ष से पुराने हैं, किन्तु हैं सब किसी काल और किसी देश निर्मित एवं संचालित। इसी प्रकार हिन्दू शब्द भी ईसा पूर्व करीब चार सौ वर्ष से जनमानस में जाना शुरू हुआ। ईरानियों ने सिंध नदी को हिंद नदी कहा, क्योंकि वे प्रायः 'स' का 'ह' उच्चारण करते हैं और सिंध नदी के इधर के देश को हिन्द देश कहा और इस देश में बसने वालों को हिन्दू कहा। इसके बाद हिन्द शब्द का प्रचलन हमारे देश में बढ़ने लगा। हिन्दू शब्द वेदों, श्रुतियों, शास्त्रों, महाकाव्यों आदि में नहीं है। पीछे से यत्र-तत्र पुराणों में उसे स्वीकारा गया। हिन्दू शब्द के पूर्व भारतीय चतुर्वर्ण के नामों से जाने जाते थे और उसके पूर्व आर्य, द्रविण इत्यादि नामों से। सारे ही नाम एवं भाव देश-काल सापेक्ष होते हैं।

धर्म विश्व के शाश्वत नियम हैं। विश्व में दो क्षेत्र हैं एक भौतिक दूसरा मानसिक। भौतिक क्षेत्र के नियम हैं आग में जलन, पानी में शीतलता आदि। भौतिक मूल द्रव्य अपने अनादि नियमों-गुण-धर्मों से निरंतर परिचालित हैं। भौतिक नियमों एवं धर्मों को जान लेने पर विश्व संचालन में देवी कल्पना रूपी अंधकार का अंत हो जाता है और मनुष्य को बौद्धिक संतोष की प्राप्ति होती है।

दूसरा मानसिक क्षेत्र है। उसके अपने नियम एवं धर्म हैं। काम, क्रोध, ईर्ष्या, दंभ, अहंकार, चिंता, शोक आदि करने से मन मलिन होता है और जीव को दुखों की प्राप्ति होती है। अतएव ये मानसिक धर्म के विरोधी हैं। निष्कामता, शील-समता, निष्कपटता, सरलता, निर्मलता, चिंताहीनता, संतोष, शांति आदि से मन को शांति मिलती है और मन शांत होने से परिवार समाज, देश आदि में सुन्दर व्यवस्था आती है। अतएव यह मानसिक नैतिकता ही उसके नियम एवं धर्म हैं और इसके पूर्ण संपादन से मनुष्य के हृदय को संतोष मिलता है। यह मानसिक सद्‌गुण एवं नैतिकता ही विश्व का वह धर्म है जिससे व्यक्ति तथा संसार को शांति मिल सकती है और यह सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। इसके लिए हिन्दू, इसलाम, इसाई, जैन-बौद्धादि शब्दों की आवश्यकता नहीं है।

जो नियम समाज, परंपरा संप्रदाय आदि को जनम देते हैं वे काल्पनिक तथा बड़े सतही होते हैं, जैसे पूजा, नमाज, प्रार्थना, अमुक प्रकार के वेष, संस्कार, पारिभाषिक शब्द आदि। कोई आदमी ऐसा हो सकता है कि वह अमुक प्रकार के वेष, शिष्टाचार संस्कार, पूजा-नमाज आदि को करते-धरते हुए भी सच्चे धर्म में स्थित न हो और ऐसा भी कोई व्यक्ति हो सकता है कि वह अमुक प्रकार के संप्रदाय के अमुक कल्पित नियमों का न

पालन करते हुए भी सच्चे धर्म का आचरण करता हो। धर्म की कसौटी अमुक समाज, संप्रदाय, पंथ परंपरा के नियमों का पालन मात्र नहीं है, किन्तु आत्मज्ञान, आत्मविश्वास एवं आत्मसंयम है।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि जब हिन्दू, मुस्लिम, इसाई, जैन, बौद्धादि नाम नहीं थे; बांग-नमाज कलमा तथा अमुक प्रकार की पूजा आदि नहीं थीः जब राम नाम जप और खुदा के नाम का भी जप नहीं था, तब क्या धर्म नहीं था ?

वेद कितेब सुमृत नहिं संजम, नहिं जीवन परिछांई ।
बांग निमाज कलमा नहिं होते, रामहु नहिं खुदाई।।

बीजक, शब्द २२

भिन्न देश तथा काल में समाज, परंपरा, पंथ संप्रदाय आदि बनते हैं, बदलते हैं तथा समाप्त भी होते हैं, किन्तु धर्म न बनता है, न बदलता है और न समाप्त होता है। भौतिक धर्म भौतिक द्रव्यों में अनादिकाल से है और अनंतकाल तक रहेगा। मानसिक धर्म भी मनुष्य के मन में अनादिकाल से है तथा अनंतकाल तक रहेगा। मनुष्य जितना ही इस शाश्वत धर्म को पहचानेगा तथा आचरण करेगा उतना ही बौद्धिक संतोष एवं हार्दिक संतोष से सम्पन्न होकर सुखी होगा।

प्रश्न होता है कि क्या समाज, परंपरा, पंथ सम्प्रदाय आदि एकदम निरर्थक हैं? क्या इनकी थोड़ी भी आवश्यकता नहीं है ? उत्तर है ये निरर्थक नहीं हैं। इनकी आवश्यकता है और ये बनते-मिटते प्रवाह रूप सदा रहेंगे भी। किसी भी समाज एवं सम्प्रदाय में मनुष्यों का एक समूह इकट्ठा होकर एक ढंग से पूजा, उपासना एवं कुछ ऐसे नियमों का पालन करता है जिससे मनुष्य के हृदयस्थ शाश्वत धर्म के उद्घाटन में सहायता मिल सकती है। किसी गुरु, किसी परंपरा में शिक्षित-दीक्षित होकर उनके कुछ नियमों का पालन किये बिना जीवन में न एकनिष्ठा आ सकती है और न व्यवस्था। अतएव संप्रदायों की आवश्यकता है।

दुनिया बहुत बड़ी है। इसमें अनेक देश, प्रदेश एवं क्षेत्र हैं। भिन्न क्षेत्रों में भिन्न महापुरुष जन्म लेते हैं और वे अपने ढंग से जनता को उपदेश देते हैं। उनके पास जब सैकड़ों एवं हजारों अनुयायी इकट्ठे होते हैं, तब उन्हें उनको कुछ शिष्टाचार के नियम, कुछ पारिभाषिक शब्द, कुछ वेष, कुछ उपासना के विधान आदि देने पड़ते हैं। बस एक समाज, संप्रदाय या मजहब बन जाता है। इस प्रकार संप्रदायों का बनना बदलना एवं मिटना बंद नहीं हो सकता। अतएव हर मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह दूसरे संप्रदायों के नियमों को आदर की दृष्टि से देखे, यदि उनका सम्पर्क पड़ जाय तो उन्हें उनके नियमों से उपासना करने में सुविधा दे और स्वयं अपने संप्रदाय के ढंग से उपासना करे।

लोग संप्रदायों के नियमों एवं मान्यताओं को ही धर्म मान लेते हैं, इसलिए हर मतवादी अपने संप्रदाय को सत्य, मोक्ष एवं परमात्मा का ठेकेदार मान लेता है। इसलिए वह अपने संप्रदाय से भिन्न लोगों को नास्तिक, काफिर एवं अपवित्र कहने लगता है और यहीं सांप्रदायिक भावना पनपती है। अज्ञान और अनुदारता होने से प्रायः हर संप्रदायी दूसरे संप्रदायों की निंदा करना अपना पेशा मान लेता है। अपने संप्रदाय को आवश्यकता से अधिक तूल देना तथा दूसरे संप्रदाय की निंदा करना, यही सांप्रदायिकता है।

प्रायः हर संप्रदाय अंधविश्वास में डूबा रहता है। अंतर इतना रहता है कि किसी संप्रदाय में अंधविश्वास की मात्रा पचहत्तर प्रतिशत है, तो किसी में नब्बे प्रतिशत। और कहीं पचास, बीस या दस प्रतिशत। अंधविश्वास से रहित संप्रदाय विरले हैं। इन अंधविश्वासों पर विचार करना और इनका खंडन एवं आलोचना करना आवश्यक है। अंध-विश्वासों की आलोचना किये बिना शाश्वत धर्म का उद्‌घाटन नहीं हो सकता। यह अलग बात है कि देश काल, समाज, पात्र देखकर आलोचना करना चाहिए। सारा सत्य एक साथ नहीं कहा जा सकता। कोमल एवं विवेकपूर्ण वाणी का प्रयोग अति आवश्यक है। आलोचना केवल दूसरे संप्रदायों के अंधविश्वासों की ही नहीं, किन्तु अपने संप्रदाय के अंधविश्वासों की भी होनी चाहिए। आलोचना में निष्पक्षता प्राण तत्त्व है। आलोचकों में कबीर साहेब सर्वोपरि हैं, परंतु वे किसी संप्रदाय के अंधविश्वास से चिपके नहीं हैं। इसलिए उनके द्वारा की गयी आलोचना सबको प्रिय लगती है।

अविवेक एवं अंधविश्वास ने सांप्रदायिकता को जन्म दिया है तथा सांप्रदायिकता ने अविवेक एवं अंधविश्वास को पुष्ट किया है और इसी विकृत सांप्रदायिकता को लोगों ने धर्म मान लिया है। अतएव सांप्रदायिकता का उच्छेद हुए बिना शाश्वत धर्म का उद्‌घाटन नहीं हो सकता। इसलिए आज हर संप्रदाय के युवकों का कर्त्तव्य है कि वे पहले अपने संप्रदाय के अंधविश्वास एवं जड़ता को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न करें। संप्रदाय धर्म के सहायक हैं, किन्तु सांप्रदायिकता धर्म को विकृत करने वाली है।

जमीन नित्य है और जमीन पर बनने वाली मेड़ें, रास्तें, सड़कें अनित्य हैं। इसी प्रकार धर्म नित्य और सार्वभौम है तथा धर्म के नाम पर बनने वाले समाज, पंथ, संप्रदाय, मजहब आदि अनित्य हैं। समाज, पंथ, संप्रदाय, मजहब आदि अनेक तथा देश-काल सापेक्ष हैं किन्तु धर्म अनंत ब्रह्मांड के लिए एक है, अर्थात सार्वकालिक और सार्वदेशिक है।

सद्‌गुरु कबीर इसी सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक धर्म के पक्षधर हैं। इसलिए

वे संकुचित संप्रदायों की जड़ता पर चोट करते हैं। वे कहते है ---

भाई रे दुइ जगदीश कहाँ ते आया, कहु कौने बौराया।
अल्लाह राम करीमा केशव, हरि-हजरत नाम धराया।।
गहना एक कनक ते गहना, यामें भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ कर थापे, एक निमाज एक पूजा।
वोही मुहादेव वोही मोहम्मद, ब्रह्मा आदिम कहिये।
को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमी पर रहिये।।
वेद-कितेब पढ़े वै कुतबा, वै मोलना वै पाँड़े।
बेगर-बेगर नाम धराये, एक मिट्टी के भाँड़े।।
कहहिं कबीर वे दूनों भूले, रामहि किनहु न पाया।
ये खसी वै गाय कटावैं, बादिहि जन्म गमाया।।

बीजक, शब्द ३०।।

पंडित देखहु हृदय विचारी, को पुरुषा को नारी।
सहज समाना घट-घट बोले, वाके चरित अनूपा।।
वाको नाम काह कहि लीजै, न वाके वर्ण न रूपा।।
तैं मैं क्या करसी नर बौरे, क्या मेरा क्या तेरा।।
राम खुदाय शक्ति शिव एकै, कहु धौं काहि निहोरा।।
वेद-पुराण कितेब कुराना, नाना भांति बखाना।
हिन्दू तुरुक जैनि औ योगी, ये कल काहु न जाना।
छौ दर्शन में जो परवाना, तासु नाम मनमाना।
कहहिं कबीर हमहीं पै बौरे, ई सब खलक सयाना।।

बीजक, शब्द ४८।।

सद्गुरु कबीर इसी शाश्वत धर्म के व्याख्याता थे। वे चाहते थे कि लोग अपने संप्रदायों, महापुरुषों एवं किताबों को ईश्वरीय मानकर जो संकुचित कटु एवं अज्ञानवर्द्धक बन रहे हैं, अपने-अपने हठ छोड़कर सार्वभौमिक सत्य को समझने की चेष्टा करें। यह अनंत देश काल व्यापी विश्व एक संप्रदाय के झण्डे के नीचे की चीज नहीं है, किन्तु विश्वव्यापी शाश्वत धर्म के झण्डे के नीचे की चीज है।

आज धर्म के नाम पर सांप्रदायिक कलह की कमी नहीं है। आज से पांच सौ वर्ष पूर्व संत कबीर जितने प्रासंगिक थे, उतने ही प्रासंगिक आज भी हैं और वे अपने शाश्वत विचारों के कारण आगे भी सदैव प्रासंगिक रहेंगे। ●

कबीर : एक निजी पाठ

नंदकिशोर नवल

मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि अगस्त, १९९४ तक मैं कबीर से पूरी तरह से परिचित नहीं था। बस उनकी छिटपुट कविताएँ पढ़ी थीं। अंत में तो कबीर की वाणी के रूप में मेरे पास एक ही सामग्री थी—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'कबीर' के परिशिष्ट में दी गई उनकी दो सौ छप्पन कविताएँ। मैं उन्हीं को पढ़ता था, उन्हीं का हवाला देता था और वर्ग में या बाहर उन्हीं पर अपने व्याख्यान को केन्द्रित करता था। लेकिन धीरे-धीरे जब कबीर की चर्चा नए सिरे से जोर पकड़ने लगी, तो मैंने उन्हें संपूर्णता में पढ़ने का निश्चय किया। उसके लिए सर्वप्रथम कबीर-वाणी के प्रामाणिक पाठ की समस्या सामने आई। द्विवेदीजी ने अपनी पुस्तक में कबीर की जो कविताएँ दी हैं, उनकी प्रामाणिकता में तो उन्हीं को संदेह था, क्योंकि उन्होंने उसकी भूमिका में लिखा है कि उनमें से सौ कविताएँ आचार्य क्षितिमोहन सेन द्वारा संपादित 'कबीर के पद' नामक उस पुस्तक से ली गई हैं, जो अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी पोथी की मुखापेक्षिता नहीं रखती। कारण यह कि उसकी सारी कविताएँ भक्तों के मुख से सुनकर संग्रह की गई हैं। शेष एक सौ छप्पन कविताओं के स्रोत का द्विवेदीजी ने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। आगे उन्होंने यह जरूर लिखा है कि पुस्तक में उन्होंने आचार्य सेन द्वारा संकलित कविताओं का उपयोग नहीं किया और कबीर-संबंधी अपने विवेचन का आधार श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित 'कबीर-ग्रंथावली' अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' द्वारा संपादित 'कबीरवचनावली' और युगलानन्दजी द्वारा संपादित 'सत्य कबीर की साखी' को बनाया है। ऐसी स्थिति में 'कबीर' के परिशिष्ट में दी गई कविताओं से मेरा हटना स्वाभाविक था। चूँकि मैं कबीर को शोधकर्ता नहीं, बल्कि आस्वादनकर्ता की दृष्टि से पढ़ना चाहता था, इसलिए मैंने ज्यादा छानबीन नहीं की और डॉ० माताप्रसाद गुप्त

द्वारा संपादित 'कबीर-ग्रंथावली' को अध्ययन के लिए चुना। यह चुनाव मैंने बहुत जल्दी कर लिया, क्योंकि डॉ० गुप्त की पाठ-निर्धारण और अर्थापन की पद्धति के वैज्ञानिक होने के कारण उनमें मेरी निष्ठा और मेरा विश्वास बहुत दृढ़ था। अध्ययन के उपरांत मेरी यह धारणा पक्की हो गई कि इस ग्रंथावली में कबीर-वाणी का जो पाठ है, वह सर्वाधिक प्रामाणिक है।

यह बात दिलचस्प है कि 'कबीर-ग्रंथावली' का एक परिश्रमी छात्र की तरह पारायण करने के बाद मैं किसी नए नतीजे पर नहीं पहुँचा। कबीर को उनकी कविताओं के माध्यम से मैंने जान तो लिया, लेकिन यह जानना किसी नए सत्य को जानना नहीं था। मुझे यह देखकर थोड़ी हैरानी हुई कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल और द्विवेदीजी दोनों के कबीर संबंधी निष्कर्ष एक ही हैं। वह यह कि कबीर मूलतः एक साधक थे और उनकी साधना बहुत कुछ एक परंपरा का अंग थी, जो सिद्धों, नाथों और नामदेव की परंपरा थी। आचार्य शुक्ल साहित्य को शिक्षित वर्ग की चीज समझते थे, इसलिए कबीर को उन्होंने साहित्यिक दृष्टि से पूरा महत्त्व नहीं दिया, यह सही है। उनके विपरीत द्विवेदी जी ने कबीर के माध्यम से एक नए ढंग की कविता की प्रतिष्ठा की, जिसके पीछे साहित्य-ज्ञान नहीं, अनुभव पर आधारित एक नया काव्यशास्त्र था, यह भी सही है, लेकिन इसके बावजूद दोनों विद्वानों के कबीर संबंधी विचार मिलते हैं। मैं कबीर के अध्ययन के उपरांत जिन नतीजों पर पहुँचा, वे नए नहीं हैं फिर भी उन्हें मैं आपके सामने रखने की हिमाकत कर रहा हूँ।

कबीर में योग, भक्ति और प्रेम तीनों ही चीजें हैं। योग का शेष दोनों चीजों से मेल नहीं है, लेकिन उन्होंने इसकी परवाह नहीं की है और योग-साधना के साथ भक्ति तथा भक्ति के साथ रहस्यवादी प्रेमोपासना की है। आचार्य शुक्ल ने योग के साथ भक्ति को मिलाने के लिए उनकी बहुत तारीफ की है। यह जरूर है कि न तो वे गोरखनाथ जैसे पक्के योगी थे, न वैष्णवों की तरह पक्के भक्त, जो अवतारवाद में विश्वास करता हुआ ईश्वर की लीलाओं का गान करता है। इसी तरह वे सूफीमत से प्रभावित होते हुए भी सूफी संत न थे। कहा जा सकता है कि यह एक विलक्षण संयोग है, जो कबीर में घटित हुआ और जिसका समाज के धार्मिक वातावरण पर अच्छा ही प्रभाव पड़ा। लेकिन सवाल कविता का है। कबीर दार्शनिक या तार्किक नहीं थे, इसलिए यदि उन्होंने अपनी साधना में योग, भक्ति और प्रेम-जैसी परस्परविरोधी चीजों को मिला दिया, तो यह बड़ी बात है। यह कविरूप में भी उनकी उपलब्धि है, क्योंकि विचार के स्तर पर जहाँ इन चीजों में आपस में विरोध है, वहाँ अनुभूति के स्तर पर पूरी संगति है। जहाँ योग

भक्ति से शून्य है और केवल शुष्क क्रियाओं का वर्णन रह गया है, वहाँ वह काव्य के स्तर से च्युत है। दिक्कत यह है कि कबीर में वैसे स्थल बहुत ज्यादा हैं, नीरस उलटवाँसी सहित। यह उनके महत्त्व को कम करता है। कभी-कभी यौगिक-क्रियाओं का वर्णन करने के लिए उन्होंने बड़े-बड़े रूपक लिए हैं। यह अवश्य उनकी असाधारण कवि-प्रतिभा का प्रमाण है। भक्ति के प्रसंग में एक-दो बातें ज्ञातव्य हैं। एक तो यह कि वे ब्राह्मणों ही नहीं, शाक्तों से भी नाराज हैं और स्वभावतः पसंद वैष्णवों को करते हैं, यद्यपि जरूरी होने पर बख्शते उन्हें भी नहीं हैं। उदाहरण के लिए वैष्णवों की प्रशंसा में कही गई उनकी यह साखी देखी जा सकती है : **''मेरे संगी दोइ जण, एक वैश्नौं एक रांम। वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नांम।।''** इसी तरह उन पर चोट करनेवाली यह साखी : **''वैश्नौ भया तो का भया, बूझ्या नहीं बमेक। छापा तिलक लगाइ करि, दग्ध्या लोक अनेक।।''** (बमेक-विवेक—ज्ञान, दग्ध्या—ठगा, लोक—लोग) दूसरी बात यह कि कबीर में राम धनुर्धर रूप में भी हैं ('सारंगपानि') और उनमें 'गोबिंद' भी आते हैं।

मैं कबीर के निरगुनों से परिचित था और जानता था कि वे इस सांसारिक जीवन को नश्वर बतलाकर ईश्वर की ओर उन्मुख होने का उपदेश देते हैं, लेकिन उन्हें पढ़ते हुए यह बात मेरे अनुभव में पहली बार आई कि उनका सर्वाधिक जोर सांसारिक जीवन को त्यागने पर है। इसके सामाजिक-धार्मिक कारण हो सकते हैं, पर उससे जो स्थिति है, मेरे जानते उसमें कोई परिवर्तन न होगा। उन्होंने जिन कविताओं में सांसारिक जीवन की नश्वरता का आख्यान किया है, उनमें से एक है : **''मन रे तन कागद का पुतरा। लागै बूंद बिनसि जाइ छिन मैं, ग्रब करै क्या इतरा।।''** इसी तरह से एक दूसरे पद में वे प्रवृत्ति-मार्ग के बेड़े पर चढ़नेवालों की निंदा करते हुए कहते हैं : **''अवधू ऐसा ग्यांन विचारं। भेरै चढ़े सु अधधर डूबै, निराधार भए पारं।।''** (अधधर-अद्धड़-आधे (समुद्र) में ही) लेकिन बात इतनी ही नहीं है। मुझे उनमें कई ऐसी कविताएँ भी मिली हैं, जिनमें इस संसार के प्रति उनमें निषेध-भाव के बदले स्वीकार-भाव है। एक साखी में वे कहते हैं कि मैंने चौपड़ चौराहे पर बिछाई है, जिसके ऊपर-नीचे बाजार है। तात्पर्य यह कि मेरा खेल एकांत का नहीं, बल्कि सामान्य जीवन से संपृक्त है। वह साखी है : **''चौपड़ि मांडी चौहटे, अरध उरध बाजार। कहै कबीरा राम जन खेलौ संत बिचार।''** (मांडी-बिछाई, अरध-अध, नीचे, उरध-ऊर्ध्व, रामजन-राम का सेवक (कबीर), संत-ऐ संतो!) वे दरअसल इस संसार में रहकर भी उससे निर्लिप्त रहने पर जोर देते थे, जैसा कि एक दूसरी साखी से

पता चलता है। उसमें वे राम से कहते हैं कि जिस विधि से तुम सभी की रचना कर उनसे अलग रहते हो, वह विधि हमें भी बताओ : **''कबीर पूछै रांम सौं, सकलभवनपति राइ। सबहीं करि अलगा रहौ, सो विधि हमहिं बताई।।''** तुलसीदास ने घर और वन के बीच अपना आवास बनाने पर बल दिया है। कबीर भी इस मध्यमार्ग की सिफारिश करते हैं, यथा **''मध्य अंगि ने को रहै, तौ तिरत न लागै बार,''** अर्थात् जो प्रवृत्ति और निवृत्ति के मध्य में रहता है, उसे संसार-सागर को तिरते देर नहीं लगती है। अंततः वे इस संसार में सरल और सच्चा जीवन बिताने के पक्षपाती थे : **''सांई सेंती सचि चली, औरौ सौं सुध भाइ। माथै लंबै केस करि, भावै घुड़रि मुंड़ाइ''**, अर्थात् स्वामी से तू सच्चाई से आचरण कर और औरों से शुद्ध भाव से, फिर चाहे तू लंबे केश रख, चाहे उन्हें मुड़ाकर घूम।

ज्यों-ज्यों मैं कबीर को पढ़ते हुए आगे बढ़ता गया, मुझ पर यह स्पष्ट होता गया कि उन्होंने इस नानारूपात्मक और नामात्मक जगत् के क्रिया-कलापों में न के बराबर रस लिया। इसी कारण आचार्य शुक्ल यह कहते हैं कि कबीर तथा अन्य निर्गुणपंथी संतों ने नाथपंथियों की अंतस्साधना में ज्ञान और भक्ति का योग तो कराया, लेकिन कर्म की दशा वही रही। तात्पर्य यह कि उनके ईश्वर ज्ञानस्वरूप और प्रेमस्वरूप ही रहे, धर्मस्वरूप यानी लोकरक्षक और लोकरंजक न हो पाए। यहीं पर तुलसी सबसे बड़े हैं। आधुनिक कवि नागार्जुन को इस युग का कबीर कहा गया है। सच्चाई यह है कि कबीर ने जहाँ विश्वप्रपंच में कोई खास रुचि नहीं ली, वहाँ नागार्जुन का मुख्य विषय मृत्युपर्यंत वही रहा। उसमें भी विश्व की सबसे प्रमुख समस्या राजनीति, जबकि कबीर की रुचि सिर्फ धार्मिक मामलों तक सीमित थी। कुछ विद्वान् मार्क्सवाद के इस सूत्र का सहारा लेकर कि आधुनिक काल के पूर्व सारे राजनीतिक आंदोलन धार्मिक रूप में चलते रहे हैं, कबीर की धार्मिकता को सामाजिक क्रांति के रूप में व्याख्यायित करने का प्रयास कर रहे हैं। धर्म भी समाज की ही पैदावार होता है और उसका भी समाज से संबंध होता है, यह सही है। इसके साथ यह भी सही है कि वैयक्तिक साधना का भी एक सामाजिक संदर्भ होता है, तथापि कबीर की धार्मिकता को सामाजिक क्रांति मानना सरलीकरण ही नहीं, बात को इस छोर से पकड़ने की जगह उस छोर से पकड़ना है। कबीर की धार्मिकता समाज से संबंध रखती है, पर उन्होंने उसे महत्त्व मुख्यतः आध्यात्मिक कारणों से दिया था, भौतिक कारणों से नहीं।

स्पष्टतः कबीर सामाजिक विद्रोही न थे। निस्संदेह उनमें वर्ण-व्यवस्था का बहुत तीखा विरोध है, लेकिन वह उनका लक्ष्य न होकर उपलक्ष्य है। उसके पीछे

उनकी भक्ति या दर्शन है, जो समतामूलक है। उदाहरणार्थ यह साखी :''**कबीर यह तौ एक है, पड़दा दीया भेष। भर्म कर्म सब दूरि करि, सबही माँहिं अलेख**'' (यह मनुष्य-मात्र, भर्म कर्म—भ्रम के कर्म, अलेख—अलक्ष्य)। ताज्जुब नहीं कि जैसे उन्होंने ब्राह्मणों पर प्रहार किया है, वैसे ही काजी-मुल्ला पर भी, लेकिन यह प्रहार इसलिए नहीं है कि गलत समाज-व्यवस्था के चलते समाज में निर्धनता, विषमता, शोषण और अत्याचार है। इन चीजों से उन्हें कोई मतलब न था। उन्हें सामाजिक यथार्थ का द्रष्टा मानना भूल है। उनका दुख ईश्वरीय दुख था, जिसमें वे जगते थे और रोते थे। इसी तरह उनका प्रेम भी ईश्वरीय प्रेम ही है, मानव-प्रेम नहीं। ज्ञातव्य है कि कबीर ने विस्तार से स्त्री-विरोधी विचार ही प्रकट नहीं किए हैं, भले भक्त होने के कारण, सती-प्रथा को भी गौरवान्वित किया है, भले प्रतीकरूप में उसका इस्तेमाल करते हुए। एकाध स्थल पर तो उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में शूद्रों और म्लेच्छों की भी निंदा की है : **सुद्र मलेछ बसैं मन मांहीं। आतम रांम सु चीन्ह्यां नांहीं।।**''

लेकिन कबीर सूर-तुलसी के साथ परिगणनीय अपने दृष्टिकोण के कारण नहीं, अपनी संवेदना के कारण हैं, जिसमें उक्त महाकवियों के समान ही गहनता और औदात्य है। यह सही है कि उन्होंने उनकी तरह रस की धारा नहीं बहाई, न जीवन की विभिन्न दशाओं से संपृक्त होकर उनका भावपूर्ण चित्रण किया, तथापि वे जब कवि-रूप में स्थित होते हैं, तो उनके मुँह से जो कविता फूटती है, वह बेजोड़ होती है। अकारण नहीं कि रवीन्द्रनाथ से लेकर दूसरे देशों के काव्य मर्मज्ञों तक ने, जो उनकी कविता के निकट आए हैं, उन्हें विश्वसाहित्य में एक विलक्षण कवि माना है। विषय योग हो, या भक्ति या प्रेम; या तीनों का मिश्रित रूप, कबीर जब हृदय की गहराई से अपने आपको अभिव्यक्त करते हैं, तो उनके शब्दों में गजब की प्रभावोत्पादकता होती है। कभी उनसे सूर्य की किरणें विकिरित होती हैं, तो कभी चन्द्रमा की। इससे उनके काव्य में एक नया सौंदर्य संभव हुआ है, जिसका स्तर तो सूर-तुलसीवाला ही है, लेकिन जिसका आस्वाद उनसे भिन्न है, क्योंकि कबीर भले साक्षर रहे हों, वे उनकी तरह पंडित और भाषाविद् न थे। सूर-तुलसी जहाँ लिखित परंपरा के कवि हैं, वहाँ वे भाषित परंपरा के। इसने उनकी वाणी को वह वैशिष्ट्य प्रदान किया है, जो लिखित परंपरा के कवियों की कविता में नहीं।

सर्वप्रथम हम उनकी योग से संबंधित कुछ उक्तियाँ देखें। एक साखी में वे सतगुरु की महिमा बतलाते हुए कहते हैं : ''**सत्गुरु मार्‌या बाण भरि, धरि करि सूधी मूंठि। अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि।।**'' (भरि—भरपूर,

सूधी--सीधी, उधाड़ै--उधरे हुए, दवा--दावानल) गुरु के वचन को तुलसी ने ''रवि कर निकर'' कहा है। कबीर उसकी उपमा बाण से देते हैं, जो उनके खुले हुए अंग को विद्धकर वहाँ दावाग्नि को प्रज्वलित कर देता है। एक दूसरी साखी में उन्होंने आदर्श सत्गुरु उसे कहा है, जो सिकलीगर (आईने पर मुलम्मा करनेवालो) की तरह अपने शब्दों का मुलम्मा करके शिष्य की देह को दर्पण बना दे : **''सतगुर ऐसा चाहिए, जैसा सिकलीगर होइ। सबल मसकला फेरि करि, देह द्रपन करै सोइ।।''** (मसकला -- मुलम्मा) एक साखी में योगी का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है : **''झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि। जोगी था सो रमि गया, आसण रहि बिभूति।।''** [झल-ज्वाला, खपरा-खरपर (भिक्षापात्र), बिभूति-राख] अर्थ स्पष्ट है कि योग की ज्वाला उठी, तो योगी की झोली जल गई, वह स्वयं ज्वाला में लीन हो गया और उसके आसन पर सिर्फ उसकी राख रह गई। इसी तरह एक और साखी में उनका कहना है : **''पंखि उड़ाणीं गगन कौं, प्यंड रहा परदेस। पांणीं पीया चंच बिन, भूलि गया यहु देस,''** यानी जब पक्षी गगन (शून्यलोक) को उड़ा, उसका पिंड (शरीर) अपर देश (स्थूलजगत्) में ही बना रहा। उस अशरीरी पक्षी ने शून्यलोक में चंचु के बिना ही एक दिव्यजल का पान किया और उसे यह स्थूल देश विस्मृत हो रहा। मानना पड़ेगा कि ऐसी सुसंगत उक्तियाँ कवि कर्म प्रवीण कवि के अलावा कोई और नहीं कर सकता, वह प्रवीणता शिक्षा से आई हो, या स्वयंसिद्ध हो। एक साखी में कबीर ने गोविंद अर्थात् ब्रह्म के प्रकाश का प्रचंड वर्णन किया है, जो बड़े से बड़े कवि की वाणी को लज्जित कर दे सकता है। वह साखी है **''चौसठि दीवा जाइ करि, चौदह चंदा मांहि। तिहि धरि किस कौ चांणिणीं, जिहि घरि गोब्यंद नांहि ।।''** (तू भले चौंसठ दीपों को जोड़ा करे और चौदह चंद्रों को अपने भीतर समाविष्ट करे, किन्तु उसके घर (घट) में किसकी चंद्रिका होगी, जिसके घर (घट) में गोविंद नहीं हैं ?) चौंसठ दीपों का मतलब है चौंसठ कलाएँ और चौदह चंदा का मतलब है चौदह विद्याएँ । अपने एक पद में तो कबीर ने बड़े ठाट से यौगिक क्रिया का रूपकात्मक वर्णन किया है, जो अपने निर्वाह के कारण ही नहीं, सौंदर्य के कारण भी उद्धरणीय है। लिहाजा वह पूरा पद मैं नीचे दे रहा हूँ :

दूभर पनियां भर्या न जाई।
अधिक त्रिषा हरि बिन न बूझाई।
ऊपरि नीर लेज तलिहारी। कैसैं नीर भरै पनिहारी।।
ऊधस्यौ कूप घाट भयौ भारी। भली निरास पंच पनिहारी।।
गुरु उपदेस भरीले नीरा। हरषि हरषि जल पीवै कबीरा।।

(दूभर -- जिसका भरना कठिन है, हरि--हरिरूपी जल, लेज--रज्जु, ऊधस्यौ--उध्वस्त हो गया, भारी--दुर्गम, पंच-पाँच, भरीले--भर लिया; कूप सहस्रार है, जल उसमें प्राप्त होनेवाला अमृत, रज्जु पवन, जो कुंडलिनी के रूप में मूलतः सहस्रार चक्र में रहता है और पाँचों पनिहारिनें पंचकर्मेंद्रियाँ हैं।)

कबीर में जैसे एक योगी का तेज था, वैसे ही एक भक्त का समर्पण-भाव भी। उनकी यह साखी प्रसिद्ध है : **''कबीर कूता रांम का, मुतिया मेरा नांउं। गले रांम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जांउं।।''** भक्त ईश्वर के गुणानुवाद में संलग्न होता है और महसूस करता है कि उसके गुणों का पार नहीं है। यही बात इस साखी में कही गई है : **''सात समंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ। धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुंण लिख्या न जाइ।।''** जो कवि यह कह सकता है कि सातों समुद्र के जल को स्याही बनाऊँ, संपूर्ण वनराजि को लेखनी और पूरी धरती को कागज, तब भी ईश्वर के गुण लिखे नहीं जा सकते, उसकी कल्पना-शक्ति की भव्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। यही महाकवियों का स्तर है, जिसपर कबीर अक्सरहा विचरण करते हैं। निम्नलिखित पद में उन्होंने ईश्वर के विराट् रूप का वर्णन किया है :

लोग कहैं गोबरधन धारी।
ताकौ मोहि अचंभौ भारी।
अष्टकुली परत जाके पग की रैंनां। सातौं सायर अंजन नैंनां।।
ऐ उपमा हरि किसी एक ओपै। अनेक भेर नख ऊपरि रोपै।।
धरनि अकास अधर जिनि राखी। ताकी मुगधा कहैं न साखी।।
सिव बिरंचि नारद जस गावै। कहै कबीर वाकौ पार न पावै।।

(तुम्हें लोग गोवर्धनधारी कहते हैं, इसका मुझे बड़ा अचंभा है। अष्टकुलों के पर्वत (परत) जिसके पैरों की धूल (रैंनां-रेणु) हैं, सातों सागर (सायर) जिसके नेत्रों के अंजन हैं, यह उपमा उसके लिए, ऐ हरि, कितना ओप देती है, जिसके नखों पर अनेक मेरु (भेर) आरोपित हैं ? धरती और आकाश को जिसने अधर में यानी निरवलंब रखा है, मूर्ख (मुग्ध) लोग उसका साक्ष्य नहीं कहते हैं। शिव, ब्रह्मा, नारद भी जो उसके गुणों का गान करते हैं, वे भी उसका पार नहीं पाते हैं, ऐसा कबीर कहता है।)

जहाँ तक प्रेम की बात है, कबीर उसमें अपने योगी और भक्तरूप से भी आगे हैं। एक रहस्यवादी प्रेमी की तन्मयता उन्हें एक असाधारण भावुक कवि के रूप में प्रतिष्ठित करती है। प्रेम में मिलन से भी ज्यादा महत्त्व विरह का है और यदि वह आध्यात्मिक प्रेम हुआ, तो उसमें तो प्रायः विरह का ही विधान है।

देखिए, एक साखी में वे राम के प्रेम के विरह का वर्णन किन शब्दों में करते हैं। कहते हैं, जब विरह का भुजंग शरीर में निवास करने लगता है, तो उस पर कोई मंत्र काम नहीं करता। राम के वियोग में पड़ा हुआ व्यक्ति जीवित नहीं रहता और यदि रहता है, तो बावला हो जाता है। ('**विरह भवंगम तनि बसै, मंत्र न लागै कोइ। राम वियोगी ना जिवै, जिवै तो बौरा होइ।।**') यह विरह उनके शरीररूपी रबाब को, जिसकी तातें उनकी सारी नसें हैं, लगातार बजाता रहता है । कौन सुनता है उसके संगीत को ? या तो उनका स्वामी या उनका अपना चित्त : '**सब रग तंत रबाब तन विरह बजावै नित्त। और न कोई सुणि सकै, कै सांई कै चित्त।।**' पाठकों को याद होगा अज्ञेय के प्रसिद्ध उपन्यास नदी के द्वीप में रेखा रवीन्द्रनाथ का यह गीत गाती है : महाराज, ए कि साजे एले मम हृदय-पुर माझे। ..... सकल मम देह-मन वीणा सम बाजे।" इस प्रेम से अधिक मारक कबीर का प्रेम है। कबीर के प्रेम में सरलता भी है, जैसे उनकी इस उक्ति में कि अबकी बार फिर यदि स्वामी मिलें, तो मैं अपने समस्त दुख का रो-रोकर उनसे आख्यान करूँ और उनके चरणों पर सिर रखकर मुझे जो कहना हो, वह सब कहूँ : "**अब कै जो सांई मिलै, तौ सब दुख आणौं रोइ। चरनूं ऊपरि सीस धरि, कहूँ ज कहणा होइ।।**" अंत में वह साखी भी उद्धरणीय है, जो हमें कबीर के असाधारण रूप में कोमल और संवेदनशील मन की सूचना देती है—

झिरमिरि झिरमिरि बरषिया, पांहन ऊपरि मेह।
माटी गलि सैंजल भई, पांहन वोही तेह।।

(पाषाण के ऊपर मेघ झिर-झिर बरसा, किन्तु वह पाषाण ही बना हुआ है और उसी प्रकार, जबकि उससे मिट्टी गलकर सजल (सैंजल) हो गई।)

कबीर के काव्य की श्रेष्ठता इसी बात में है कि योग और ज्ञान की शुष्क बातों को छोड़ दें, तो वह पाठकों के मन को प्रकाश और आनन्द से भर देता है, यानी उसे अतिशय उद्दीप्त और संवेदनशील बना देता है। उस समय उसमें योग, भक्ति और प्रेम को लेकर कोई फर्क नहीं होता। प्रायः तो ये उनमें परस्पर मिले हुए भी होते हैं। ●

कबीरदास के मूल स्वरूप पर पड़े आवरण

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

कबीरदास को आलोचनाओं के माध्यम से जानना और उनकी अपनी रचनाओं के माध्यम से जानना एक ही नहीं है। अक्सर आलोचकों ने अपनी मान्यताओं को कबीर पर आरोपित कर उन्हें जिन रूपों में उपस्थित किया है, उनसे कबीर के विनम्र पाठक उलझन में पड़ जाते हैं। कई बार आलोचकों ने सामयिक प्रयोजनों को दृष्टिगत रखकर कबीर को तदनुरूप चित्रित किया है। काल प्रवाह में उन प्रयोजनों के निष्प्रभ हो जाने पर वे आलोचनाएँ भी निष्प्रभ हो गयी हैं या हो रही हैं। अतः यह आवश्यक प्रतीत होता है कि कबीर की रचनाओं के आलोक में उनके सम्बन्ध में की गयी स्थापनाओं का पुनः परीक्षण कर कबीर के मूल स्वरूप को निर्दिष्ट करने का प्रयास किया जाये। यह सही है कि कबीर की प्रामाणिक रचनाओं के बारे में अब भी मतभेद हैं, फिर भी डॉ० माता प्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रंथावली' को, आदि ग्रंथ में संकलित कबीर बानी पर आधारित डॉ० राम कुमार वर्मा द्वारा सम्पादित 'संत कबीर' को और डॉ० शुकदेव सिंह द्वारा सम्पादित 'कबीर बीजक' को मुख्य आधार बनाकर यह काम किया जा सकता है।

आधुनिक आलोचकों के मतों की चर्चा करने के पहले कुछ प्रमुख पारम्परिक मान्यताओं का संक्षेप में उल्लेख करना उचित जान पड़ता है। कबीर के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण उल्लेख १५९२ ई० में लिखित नाभादास के भक्तमाल में मिलता है। उसमें बताया गया है कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे[1] और उन्होंने वर्णाश्रम की मर्यादा को तथा भक्ति विमुख धर्म को नकार कर भजन के बिना योग, यज्ञ, व्रत, दान आदि को तुच्छ ठहराया और निष्पक्ष होकर हिन्दुओं, तुर्कों.... सबों के हित के लिए रमैनी, शबदी, साखी कही।[2] इसी तरह अनन्त दास जी की लिखी, 'कबीर साहबकी परचई' दरिया साहब लिखित 'ज्ञान दीपक' आदि ग्रन्थों में भी

कबीर दास जी को रामानन्द जी का शिष्य एवं भक्त बताया गया है।

अकबर के शासन काल में फारसी में लिखित मोहसिन फानी कृत ऐतिहासिक ग्रन्थ 'दबिस्ताने मज़ाहिब' में कबीर को रामानन्द का शिष्य एवं 'मुव्वहिद' बताया गया है, जिसका अर्थ रेवरेंड जी. एम. वेस्टकॉट ने 'एक ईश्वर का विश्वासी' (एकेश्वरवादी) बताया है।[3] सैयद अतहर अब्बास रिज़वी ने भी लिखा है कि अखबार उल अख्यार के अनुसार शेख सादुल्ला ने कबीर को 'मुव्वहिद' कहा था किन्तु उसका अर्थ उन्होंने मोनिस्ट या अद्वैतवादी बताया है।[4] इन्हीं प्रमाणों को दृष्टिगत रखकर इरफान हबीब भी कबीर को सूफी न मानकर 'मुव्वहिद' मानते हैं।[5] मौलवी गुलाम सरवर द्वारा लिखित 'खजीनत्तुल असफिया' में कबीर दास को शेख तकी का शिष्य और सूफी घोषित किया गया है।

आधुनिक विद्वानों में कबीर की संक्षिप्त चर्चा गार्सा द तासी, विलसन, शिवसिंह सेंगर, ग्रियर्सन आदि कई विद्वानों ने की है किन्तु उन पर पहला आलोचनात्मक ग्रन्थ रेवरेंड जी. एच. वेस्टकॉट का है 'कबीर ऐंड द कबीर पंथ' जो १९०७ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसमें उन्होंने प्रो० विलसन के मत को अस्वीकारते हुए कर्नल मैल कॉम के मतानुसार कबीर को मुसलमान एवं सूफी घोषित किया है।[6]

१९१५ ई० में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कबीर के सौ पदों का अंग्रेजी अनुवाद 'वन हंड्रेड पोयेम्स ऑफ कबीर' के नाम से प्रकाशित कराया। कुमारी एविलिन अंडरहिल ने उसके प्राक्कथन में कई स्थानों पर कबीर को रहस्यवादी घोषित किया। उनका पहला ही वाक्य है, 'कवि कबीर जिनके गीतों का यह संचयन अंग्रेजी पाठकों को पहली बार भेंट किया जा रहा है, भारतीय रहस्यवाद के इतिहास के अत्यन्त मनोरम व्यक्तित्वों में एक हैं।'[7] अपने इस प्राक्कथन में अंडरहिल ने कबीर को संसार के सर्वोच्च रहस्यवादियों में एक ठहराया है[8] और यह भी प्रतिपादित किया है कि अपनी रहस्यवादी प्रतिभा के कारण इन पदों के रूपान्तरकार श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर कबीर की दृष्टि एवं विचारधारा के विशिष्ट सहानुभूति सम्पन्न व्याख्याता बन गये हैं।[9]

कबीर के आधुनिक अध्येताओं पर इस पुस्तक का गहरा प्रभाव पड़ा। रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से हिन्दी में भी रहस्यवादी काव्यधारा का प्रवर्त्तन हुआ। स्वाभाविक रूप से हिन्दी के आधुनिक रहस्यवादी कवियों ने कबीर को रहस्यवादी कविता के मध्यकालीन उन्नायक के रूप में चित्रित किया। इस दिशा में उन्हें एक अप्रत्याशित क्षेत्र से ..... रहस्यवादी काव्यधारा के कठोर आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से विलक्षण समर्थन प्राप्त हुआ। शुक्ल जी के अनुसार, ... जो

ब्रह्म हिन्दुओं की विचार पद्धति में ज्ञान मार्ग का एक निरूपण था, उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं, प्रेम का विषय भी बनाया और उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया।"[10] अपने इस मत को शुक्ल जी ने विभिन्न स्थानों पर कई बार व्यक्त किया है। उदाहरणार्थ, "कबीरकी वाणी में स्थान स्थान पर भावात्मक रहस्यवाद की जो झलक मिलती है वह सूफियों के सत्संग का प्रसार है।[11]" अतः कबीर ने जिस प्रकार एक निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदान्त का पल्ला पकड़ा उसी प्रकार उस निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए सूफियों का प्रेमतत्त्व लिया और अपना निर्गुण पंथ बड़ी धूमधाम से निकाला। बात यह थी कि भारतीय भक्ति मार्ग साकार और सगुण रूप को लेकर चला था, निर्गुण और निराकार ब्रह्म भक्ति या प्रेम का विषय नहीं माना जाता।"[12] निर्गुण शाखा के कबीर, दादू आदि संतों की परम्परा में ज्ञान का जो थोड़ा बहुत अवयव है, वह भारतीय वेदान्त का है पर प्रेमतत्त्व बिल्कुल सूफियों का है।"[13] यह उल्लेखनीय है कि शुक्लजी कबीर के प्रेम तत्त्व को सूफियों से गृहीत इसलिए मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार भारतीय भक्ति साधना निराकार अव्यक्त के प्रति नहीं हो सकती। इसी विषय पर हम यथा स्थान विचार करेंगे।

शुक्लजी के मत को अभ्रान्त मान कर अधिकांश परवर्त्ती हिन्दी विद्वान उसे दुहराते रहे। डॉ० राम कुमार वर्मा ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कबीर का रहस्यवाद' में लिखा, "कबीर का रहस्यवाद हिन्दुओं के अद्वैतवाद और मुसलमानों के सूफी मत पर आश्रित है। ..... उन्होंने अद्वैतवाद से माया और चिन्तन तथा सूफी मत से प्रेम लेकर अपने रहस्यवाद की सृष्टि की है।"[14] इसी तरह डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने लिखा है, "कबीर में भावात्मक, साधनात्मक एवं अभिव्यक्ति मूलक तीनों प्रकार के रहस्यवाद के अनेकानेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।[15]"

कबीरदास को सूफी या सूफी प्रभावग्रस्त बताने वाले विद्वानों में डॉ० ताराचन्द और अली सरदार जाफरी भी हैं। डॉ० ताराचन्द ने अपनी पुस्तक 'इन्फ्लुएंस ऑफ इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर' में कबीर को रामानन्द का शिष्य मानते हुए भी कबीर के जीवन और उपदेशों को शिया और सूफी सम्प्रदायों के इमामों और शेखों के अनुरूप बताया । कुछ उद्धरण देकर उन्होंने कबीर की रचनाओं पर गहरे सूफी प्रभाव की भी चर्चा की। उन उद्धरणों में 'अविगत' और 'हंस' जैसे शब्दों का प्रयोग है, सूफी शब्दावली का अभाव है, पर फिर भी वे

सूफी प्रभावापन्न हैं, इस बारे में डॉ० ताराचन्द को कोई सन्देह नहीं है। उनका सुचिन्तित मत है, "ये उद्धरण प्रमाणित करते हैं कि वे (कबीर) सूफी साहित्य के अतिशय ऋणी थे। यदि उनकी रचनाओं की शब्दावली में अधिक समानता परिलक्षित नहीं होती तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी (सूफियों की) विचारधारा से उनका (कबीर का) कम परिचय था, इसका कारण यह है कि वे (कबीर) विद्वान नहीं थे अतः यद्यपि उन्होंने उनके (सूफियों के) विचारों को तो आत्मसात् कर लिया किन्तु वे फारसी पंक्तियों को अपने मस्तिष्क में नहीं रख पाये।"[16]

इसी तरह अली सरदार जाफरी ने 'कबीर बानी' की भूमिका में यह तो माना कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे और वे शंकर, रामानुज से भी प्रभावित थे किन्तु डॉ० ताराचन्द की बात को दुहराते हुए कबीर को उन्होंने मुख्यतः सूफी ही माना है। उनकी अद्‌भुत स्थापना है, "कबीरदास एक मुसलमान सूफी थे जो हिन्दू भक्ति की भाषा में बात कर रहे थे।"[17] कबीर की कई उक्तियों का विवेचन-विश्लेषण करते हुए उन्हें सूफी भावापन्न सिद्ध करते समय सरदार जाफरी को भी लगा कि कबीर की रचनाओं में सूफी शब्दावली का अभाव-सा है। अतः उन्होंने डॉ० ताराचन्द के उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर इसका कारण कबीर का विद्वान न होना ही मान कर सन्तोष कर लिया।[18] यह बात बिलकुल अलग है कि विद्वान न होते हुए भी कबीर ने उपनिषदों, योगदर्शन और भक्ति साधना के बहुत से प्रचलित शब्दों का ही नहीं पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग किया है। सरदार जाफरी को इससे किसी कठिनाई का अनुभव नहीं हो सकता क्योंकि उनके अनुसार मुसलमान सूफी होते हुए भी कबीरदास हिन्दू भक्ति की भाषा में बात कर रहे थे।

आधुनिक साहित्य के प्रगतिवादी दौर में प्रगतिवादी आलोचकों ने अपने अर्थों में कबीर को जनवादी, क्रान्तिकारी आदि घोषित किया। वे उनके भक्त स्वरूप को नकार तो नहीं सकते थे पर उन्होंने यह सिद्ध करने की भरसक चेष्टा की कि उनकी भक्ति वस्तुतः आर्थिक, सामाजिक न्याय की माँग ही थी। चूंकि उस समय तक इन मांगों को लौकिक विचारधारा की शब्दावली में व्यक्त करने वाला कोई दर्शन विकसित नहीं हुआ था अतः कबीर धार्मिक शब्दावली का सहारा लेने के लिए विवश थे। फिर भी मूलतः वे सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने वाले मानवीय आदर्शों के जन कवि थे। प्रस्तुत है कुछ प्रमुख प्रगतिवादी आलोचकों के कबीर सम्बन्धी मन्तव्य।

श्री शिवदान सिंह चौहान अपने निबन्ध 'कबीर का युग' में लिखते हैं, "उस

समय धर्म ही युग चेतना का रूप और माध्यम था। ईश्वरोपासना के अधिकार की मांग वास्तव में आर्थिक-सामाजिक न्याय की माँग थी। जाति, वर्ग,श्रेणी की भिन्नता के बावजूद भक्त पद प्राप्त करने की माँग उस समय के अमानवीय, अन्यायपूर्ण समाज-सम्बन्धों के मानवीयकरण की मांग थी और उन बनावटी तथा ऊपर से थोपी गयी-मर्यादाओं को तोड़ने की मांग थी जो विशाल जन्समूह को अपने अधिकारों से वंचित रखती है।"[19]

इसी तरह श्री प्रकाश चन्द्र गुप्त का मत है, "हमारे मत में कबीर के समान विद्रोही व्यक्तित्व भारतीय साहित्य के इतिहास में दूसरा नहीं हुआ। ..... कबीर का जीवन और काव्य भारत की सामन्ती व्यवस्था की रूढ़ियों, पाखंडों, आडम्बर और मिथ्याचार के प्रति तीव्र विद्रोह की भावना से भरा है।"[20]

कबीरदास के भगवदाश्रय का प्रमुख कारण बताते हुए अली सरदार जाफरी ने लिखा है, "तुर्क शासकों ने, जो मुसलमान से बढ़कर विजेता और शासक थे और अपने वर्ग-हितों को धर्म की तुलना में प्रधानता देते थे, इस्लाम पर ईमान ले आने वाले शासितों को बराबरी का दर्जा नहीं दिया। वे अब भी कोरी से जुलाहे हो जाने के बाद (भी) कमीने ही समझे जाते थे। इसलिए उनके आखिरी आश्रय भक्ति और तसव्वुफ की प्रेम नगरियाँ बन गयीं और इन दोनों ईश्वर परायण और मानव प्रेमी आन्दोलनों का बहुत ही सुन्दर समन्वय कबीर दास और उनकी कविता के रूप में प्रकट हुआ।"[21]

श्री नामवर सिंह ने १६.१.१९७७ को प्रयाग में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की अध्यक्षता में आयोजित 'कबीर स्मृति समारोह' में पत्थर की तरह कठोर व्यक्तित्व सम्पन्न,सामाजिक विषमता के विरुद्ध विद्रोही, क्रान्तिकारी कवि कबीर को फक्कड़ एवं दलित द्राक्षा की तरह अपने को निचोड़ कर प्रभु को समर्पित हो जाने वाले भावुक भक्त की तरह चित्रित करने के लिए आचार्य द्विवेदी से असहमति प्रकट की थी।[22]

पर प्रगतिवादी आलोचकों को इस बात का बहुत अफसोस है कि कबीर पूरी तरह भौतिकतावादी नहीं थे। इस सन्दर्भ में श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त की पीड़ा इस प्रकार व्यक्त हुई है, "किन्तु सन्त साहित्य का एक आध्यात्मिक पक्ष भी है। सन्त साहित्य में परलोक मुखी तत्त्व बहुत प्रबल हैं। इस साहित्य में हमें निरन्तर यह भावना मिलती है कि संसार असार है, माया के महलों में मनुष्य की आत्मा बन्दी है, इस माया ठगनी के जाल से आत्मा को मुक्त करना है। इस प्रकार का दुःखवाद और पराजयवाद भी हमें इस काव्य में मिलता है।"[23]

श्री प्रदीप सक्सेना ने 'हिन्दी साहित्य की जातीय परम्परा' और 'दूसरी

परम्परा'के प्रतिपादन के सन्दर्भ में श्री राम विलास शर्मा और श्री नामवर सिंह द्वारा निरूपित हिन्दी के भक्त कवियों के क्रान्तिकारी, जनवादी रूपों के चित्रण पर टिप्पणी करते हुए दो टूक शब्दों में लिखा, "एक कबीर से सम्बद्ध है, दूसरा तुलसी से प्रतिबद्ध है। इस तरह ये कल्पित विभाजक रेखाएँ एक ही युग के दो टुकड़े कर देती हैं। इनमें से कोई भौतिकवादी तो न था। न कबीर, न तुलसी। अन्तिम निष्कर्ष तो ब्रह्म ही है। सामाजिक चित्रण व सामाजिक आलोचना युगीन दबाव व माध्यम हैं।"[24]

प्रश्न उठता है कि कबीर के जिस पहलू को जिस प्रकार उभार कर ये प्रगतिवादी आलोचक प्रस्तुत करते हैं, क्या वही उनका वास्तविक स्वरूप है ?

आज की भारतीय राजनीति में दलित चेतना का स्वर क्रमशः मुखर होता जा रहा है। कबीर के मूल्यांकन पर उसका कोई प्रभाव न पड़े, यह कैसे संभव था ? दलित वर्ग से उभरे विद्वान प्रशासक डॉ० धर्मवीर ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी समेत कबीर के अधिकांश प्रतिष्ठित आलोचकों की स्थापनाओं को नकारते हुए लिखा, "ब्राह्मणवादी समीक्षकों ने कबीर के दर्शन और सामाजिक सन्देश के प्रति तनिक भी सम्मान नहीं बरता। उन्होंने कबीर की नहीं बल्कि कबीर के भीतर रामानन्द ब्राह्मण को बैठाकर उसकी प्रशंसा की है। मूल कबीर से ये सभी बचते हैं। इन की यह भी कोशिश रही है कि कहीं यह सिद्ध न हो जाए कि कबीर दलितों के किसी पुराने धर्म के प्रचारक या अपने किसी नये धर्म के प्रवर्त्तक थे। उन सब का उद्देश्य इस संभावना पर रोक लगाना है कि हिन्दू धर्म को छोड़ कर भारत के दलितों का कोई नया या अलग धर्म भी हो सकता है।"[25]

डॉ० धर्मवीर की प्रतिभा अभी तक सपाट खंडन में ही व्यक्त हुई है पर उन्होंने अपनी इस मान्यता की घोषणा कर दी है कि "कबीर अपने जैसे श्रमिकों और कारीगरों का धर्म खड़ा करना चाहते थे। वे अपने धर्म के नेतृत्व में गैर श्रमिकों की संभावना तक को मिटाना चाहते थे।"[26] लेखक की मान्यता है कि चूंकि बौद्ध धर्म भी ब्राह्मणों के कब्जे में पूरी तरह चला गया था अतः "इस बार कबीर सौ प्रति शूद्रों और अन्त्यजों का धर्म स्थापित करना चाहते थे।"[27]

डॉ० धर्मवीर ने जिस 'मूल कबीर' के जिस तथाकथित धर्म का उल्लेख किया है क्या वह कबीर के वचनों के अनुकूल है ?

अपनी तरफ से यथासंभव वस्तुनिष्ठता के साथ मैंने उन स्थापनाओं को ऊपर उद्धृत किया है जिन्हें मैं कबीर के मूल स्वरूप पर आवरण तुल्य मानता हूँ, लगता है 'आवरण पर आवरण पर आवरण है।' अतः यह मेरा कर्त्तव्य हो जाता

है कि मैं ठोस प्रमाणों के आधार पर इन स्थापनाओं के औचित्य-अनौचित्य पर विचार करूँ।

यह स्मरण रखना चाहिए कि कुमारी एविलिन अंडरहिल ने पाश्चात्य पाठकों को दृष्टिगत रखकर कबीर के पदों की आलोचना लिखी थी। आलोचना का धर्म है कि वह आलोच्य को पाठकों के लिए बोधगम्य बनाये। सामान्य पाश्चात्य पाठक ईसाई रहस्यवाद से और कुछ मात्रा में सूफी साधना से परिचित थे। अंडरहिल का मानना था कि रामानुज द्वारा प्रचारित भगवान विष्णु की प्रगाढ़ सगुण भक्ति में भी वह रहस्यवादी प्रेम धर्म था जो आध्यात्मिक संस्कृति के एक विशिष्ट स्तर पर सर्वत्र परिलक्षित होता है और जिसे नष्ट करने में धर्ममत या दर्शन असमर्थ सिद्ध होते हैं।[28] अंडरहिल के अनुसार रामानन्द के माध्यम से और सूफियों के माध्यम से भी यह प्रेम धर्म कबीर को प्राप्त हुआ था। अतः उन्होंने कबीर को सहज ही रहस्यवादी कहा। विदेशी मुख्यतः ईसाई पाठकों के लिए इससे कबीर को समझना, कबीर को अपनाना सरल हो गया। यह भी स्पष्ट है कि अंडरहिल एवं अन्य पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में प्रभु के साकार और निराकार दोनों रूपों की भक्ति रहस्यवाद ही है।

क्या यह स्थापना हिन्दी के आलोचकों को मान्य है ? आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'भक्ति का विकास' नामक अपने लेख में इस सन्दर्भ में लिखा है, ''योरप के लोग हमारे भक्ति मार्ग का भी वर्णन रहस्यवाद के नाम से करते हैं और उपनिषद के ज्ञानकांड को भी उसमें दर्शनशास्त्र या वेदान्त का मूल देखते हुए भी रहस्यवाद कहते हैं। अतः 'रहस्यवाद' शब्द की जो भावना योरप में है, उसी के ठीक-ठीक अनुरूप अपने यहाँ के भक्ति मार्ग की और उपनिषद् की ब्रह्म विद्या की व्याख्या करने की प्रवृत्ति यहाँ भी कुछ दिनों से दिखाई पड़ती आ रही है।''[29] महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर (तथा अन्य ब्राह्मसमाजी चिन्तकों) के ऐसे प्रयासों से शुक्लजी असहमत हैं। कुछ विस्तार के साथ इस विषय का विवेचन करने के अनन्तर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, ''..... भारतीय भक्तिमार्ग को रहस्यवाद कहना ठीक नहीं। भाव की उपलब्धि और उत्कर्ष के लिए यत्र तत्र उसमें रहस्य भावना का उपयोग होता आया है पर रहस्य उसकी कोई स्थायी वृत्ति या लक्षण नहीं है।''[30] अतः आचार्य शुक्ल और उन्हीं का अनुगमन करने वाले हिन्दी आलोचक सूरदास, तुलसीदास आदि को रहस्यवादी कहना अनुचित, असंगत मानते हैं।

फिर कबीरदास कैसे रहस्यवादी हो गये ? क्योंकि आचार्य शुक्ल के अनुसार उन्होंने ''निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए सूफियों का प्रेमतत्त्व

लिया''। क्या निराकार ईश्वर की भक्ति भारतीय प्रेम साधना के अनुसार नहीं की जा सकती ? शुक्लजी के अनुसार नहीं, क्योंकि उनकी मान्यता है, ''अव्यक्त ब्रह्म की जिज्ञासा और व्यक्त सगुण ईश्वर या भगवान के सान्निध्य का अभिलाष यही भारतीय पद्धति है। अव्यक्त, अभौतिक और अज्ञात का अभिलाष बिलकुल विदेशी कल्पना है और मजहबी रुकावटों के कारण पैगम्बरी मत मानने वाले देशों में की गयी है। ....यहाँ इतना ही कहने का प्रयोजन है कि अव्यक्त अगोचर ज्ञानकांड का विषय है। हमारे यहाँ न वह उपासना क्षेत्र में घसीटा गया है, न काव्य क्षेत्र में। ऐसी बेढब जरूरत ही नहीं पड़ी।''[31]

मैं बहुत विनम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि आचार्य शुक्ल की यह मान्यता ठीक नहीं है। उपनिषदों में, गीता में तथा अन्य मान्य ग्रन्थों में सगुण साकार भगवान की भक्ति के साथ-साथ अव्यक्त निराकार परमात्मा की भक्ति का भी निरूपण किया गया है। यहाँ इस विषय पर विस्तार से लिखने का अवसर नहीं है किन्तु कुछ प्रामाणिक संकेत इस विषय को स्पष्ट करने के लिए यथेष्ट हैं। ईशावास्योपनिषद् के अन्तिम चारों मंत्र अव्यक्त निराकार परमात्मा के प्रति प्रार्थनाएँ हैं जिनमें औपनिषदिक भक्ति का उत्कृष्ट रूप झलकता है। इस विषय को विस्तार से समझना चाहने वाले महानुभाव मेरी पुस्तक 'ज्ञान और कर्म' में इनकी व्याख्या पढ़ सकते हैं।

इसी तरह श्वेताश्वतर उपनिषद् में ''तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये[32] (अर्थात् उस परमात्म ज्ञान विषयक बुद्धि को प्रकट करने वाले परमेश्वर की मैं मुमुक्षु शरण ग्रहण करता हूँ) के अन्तर्गत शरणागति का स्पष्ट उल्लेख है। यह भी निराकार परमेश्वर के प्रति की गयी प्रार्थना है। इसी उपनिषद् में भक्ति का भी स्पष्ट निर्देश है–

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरो।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।[33]

अर्थात् जिसकी परमेश्वर में परा भक्ति है और जैसी भक्ति परमेश्वर के प्रति है वैसी ही गुरु के प्रति भी है, उस महात्मा पुरुष के हृदय में ही ये बताये हुए अर्थ प्रकाशित होते हैं। यहाँ भी भक्ति निराकार परमेश्वर के प्रति ही निवेदित है।

श्रीमद्भगवद्गीता का बारहवाँ अध्याय भक्ति योग के नाम से ही विख्यात है। उसका आरंभ ही अर्जुन के इस प्रश्न से होता है कि आपके द्वारा निरूपित विधि के अनुरूप निरन्तरयुक्त रहते हुए जो भक्त आपकी (सगुण साकार परमेश्वर की) उपासना करते हैं और जो (भक्त) अव्यक्त अक्षर (परमात्मा) की उपासना करते हैं उनमें कौन श्रेष्ठ योगवेत्ता हैं ? श्री कृष्ण ने उत्तर देते हुए यह तो कहा

कि जो मुझ पुरुषोत्तम में अपने मन को आविष्ट कर निरन्तर मुझ से युक्त रहते हुए परम श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करते हैं वे मेरे मत में युक्ततम हैं किन्तु यह नहीं कहा कि अव्यक्त की उपासना हो ही नहीं सकती। उनके स्पष्ट वचन हैं :-

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।[34]

(अर्थात् किन्तु जो सर्वव्यापी, अचिन्त्य, निर्विकार, अचल, ध्रुव, अनिर्देश्य, अव्यक्त अक्षर की उपासना करते हैं वे भी अपनी समस्त इन्द्रियों को संयत कर सर्वत्र समबुद्धि होकर समस्त प्राणियों के कल्याण में रत रहते हुए मुझे ही प्राप्त होते हैं।)

हाँ, उन्होंने अगले श्लोक में यह जरूर कहा कि अव्यक्त के उपासकों को अधिक क्लेश होता है क्योंकि अव्यक्त, निराकार के प्रति निष्ठा देहधारियों को कठिनाई से प्राप्त होती है। इससे यह स्पष्ट है कि जो देहाध्यास के ऊपर उठ चुका है उसके लिए अव्यक्त की उपासना क्लेशकर नहीं होती। यदि कोई कहे कि यहाँ उपासना की बात है भक्ति की नहीं तो यह मीन मेख निकालने जैसी बात होगी। भक्ति योग के अन्तर्गत सगुण सकार की उपासना यदि भक्ति है तो अव्यक्त निराकार की उपासना भी भक्ति ही है। पर ऐसे लोगों के सन्तोष के लिए मैं गीता का एक और श्लोक उद्धृत करना उचित समझता हूँ–

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।।[35]

अर्थात् हे पार्थ वह परम पुरुष जिसके भीतर समस्त भूत रहते हैं, जिससे यह सम्पूर्ण जगत विस्तृत हुआ है (या ओतप्रोत है) किन्तु अनन्य भक्ति से ही प्राप्त किया जाता है। इस श्लोक से यह अभ्रान्त रूप से स्पष्ट है कि भारतीय भक्ति परम्परा में अव्यक्त, निराकार परमात्मा की भक्ति का भी विधान था। उपनिषदों, गीता आदि की यह परम्परा आगे भी चलती रही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने निर्गुण निराकार ब्रह्म तत्त्व की उपासना के लिए पंचदशी के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।[36] अतः आचार्य शुक्ल का यह कथन अस्वीकार्य है कि निराकार परमेश्वर की भक्ति कबीर को सूफियों से ही मिली थी।

कबीरदास को रहस्यवादी मानने वाले विद्वान उन्हें सूफी बताते हैं या सूफी साधना से अत्यधिक प्रभावित मानते हैं। विचार की कसौटी पर चढ़ाये जाने पर ये दोनों मत भी खरे नहीं उतरते। कबीर को सूफी बताने वालों का तर्क है कि वे मुसलमान परिवार में पैदा हुए थे, शेख तकी के शिष्य थे, एकेश्वरवादी थे।

सूफी साधना से उन्हें अत्यधिक प्रभावित मानने वाले विद्वान उनकी प्रेम साधना को सूफी प्रेम साधना के अनुरूप बताते हैं।

यह ठीक है कि कबीर दास मुस्लिम परिवार में पैदा हुए थे और यह भी सही है कि अपने समय के वैष्णवों और योगियों के साथ जैसे उन्होंने सत्संग किया था वैसे ही सूफी फकीरों, पीरों से भी उन्होंने सत्संग किया था किन्तु यह ठीक नहीं है कि वे शेख तकी के शिष्य थे। कबीर गुरु और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं मानते थे। उनकी निष्ठा थी 'कबीर गुरु गोबिंद तो एक है'[37] इसीलिए उन्होंने गुरु की महिमा को अनन्त बताया था, उनके उपकारों को भी वे अनन्त मानते थे क्योंकि उन्होंने ज्ञान के अनन्त लोचनों को उद्घाटित कर अनन्त असीम प्रभु के दर्शन कबीर दास को कराये थे--

कबीर सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावण हार।।[38]

उन सद्गुरु ने कबीर दास को रामनाम का महामंत्र प्रदान किया था, जिसकी तुलना किसी से हो ही नहीं सकती। उसके बदले क्या देकर गुरु को सन्तुष्ट किया जाये, यह कबीर दास समझ ही नहीं पाये अतः गुरु दक्षिणा देने की आकांक्षा कबीर के मन में ही रह गयी--

कबीर रांम नांम के पटंतरै, दैबे कौं कछु नाहिं।
क्या ले गुरु संतोषिये, हौंस रही मन मांहिं।।[39]

अब इस सन्दर्भ में शेख तकी के सम्बन्ध में कबीर की उक्तियों पर विचार करने पर यह तो स्वीकार्य है कि उन्होंने शेख तकी से सत्संग किया था। क्योंकि उन्होंने स्पष्ट लिखा है--

'मानिकपुर कबीर बसेरी। मुदति सुनी सेख तकी केरी'[40] पर यह स्वीकार्य नहीं है कि शेख तकी कबीर के गुरु थे। कबीर दास ने शेख तकी को निम्नलिखित दोहे में ऐसे सम्बोधित किया है जैसे शेख तकी को वे उपदेश दे रहे हों--

नाना नाच नचाय के, नाचे नट के भेष।
घट घट अबिनासी बसे, सुनहु तकी तुम सेख।।[41]

फिर यह अकल्पनीय है कि शेख तकी या किसी सूफी कबीर ने उन्हें राम नाम का गुरु मंत्र दिया होगा।

कबीर के वचनों के आधार पर यह भी नहीं माना जा सकता कि कबीर इस्लामी अर्थ में एकेश्वरवादी थे। एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद में बहुत अन्तर है। एकेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर एक है, उसने सृष्टि बनायी, वह सब का स्वामी है, उसके समान कोई दूसरा नहीं है पर सृष्टि उससे अलग है, फरिश्ते, इन्सान,

जिन्न आदि १८ हजार योनियाँ उससे अलग हैं। सब से बड़ा अपराध अल्लाह से अपने को अभिन्न बताना। इसी अपराध के कारण अनलहक (अहं ब्रह्मास्मि) कहने के कारण ही मंसूर हल्लाज को प्राणदंड दिया गया था। उसके बाद 'बाशरा' सूफी अपने को अल्लाह से मिलन के प्रेमावेग में भी कुछ भिन्न ही बताते रहे। अद्वैतवाद दो मानता ही नहीं, उसकी मान्यता है कि स्रष्टा ही सृष्टि बन गया है। अज्ञान के कारण ही नानात्व की कल्पना होती है। सच्चा ज्ञान तो अद्वैत के, अभेद के अनुभव पर ही आधारित है। कबीर की स्पष्ट घोषणा है--

हम सब माहिं सकल हम मांही। हम थैं और दूसरा नाहीं।।[42]

कबीर यहीं नहीं रुकते। अद्वैत के और गहरे स्तर पर उतर कर कहते हैं-

मैं वैं, वैं मैं, ये द्वै नांहीं। आपे अकल सकल घट मांहीं।।

x x x x x x x

आतमलीन अखंडित रांमां। कहै कबीर हरि मांहि समांनां।।[43]

जब मैं और वे, वे और मैं ये दो रह ही नहीं गये, जब समस्त घरों में (आकारों में) पूर्ण आत्मा ही विराजमान है, तब कबीर हरि में समा गया, आत्मलीन, अखंडित राम हो गया। इसी स्तर पर कबीर कह उठे, कोई मुझे कबीर, कोई मुझे राम राम कहता है, 'कोई कहौ कबीर, कोई कहौ राम राई हो !'[44] क्या कोई सूफी ऐसा कह सकता है ? साफ है कि इन पंक्तियों में सूफी दर्शन की नहीं, औपनिषदिक अद्वैतवाद की अनुगूँज है।

क्या सूफी प्रेम साधना से कबीर की प्रेम साधना अतिशय प्रभावित है ? इसका कोई ठोस प्रमाण अंडरहिल, डॉ० ताराचन्द, अली सरदार जाफरी आदि ने नहीं दिया है। पहली बात तो यह कि इन तीनों ने कबीर की जिन रचनाओं को उद्धृत किया है वे कबीर की प्रामाणिक रचना हैं कि नहीं इस पर विद्वानों को बहुत सन्देह है। आचार्य क्षितिमोहन सेन द्वारा संकलित एवं बंगला में प्रकाशित कबीर के पद ऐसी पुस्तकों या मौखिक परम्परा से गृहीत हैं जिन्हें परवर्ती विद्वान प्रामाणिक नहीं मानते। इन्हीं में से सौ पद चुनकर रवीन्द्रनाथ ने उनका अंग्रेजी अनुवाद किया था। यही बात डॉ० ताराचन्द एवं अली सरदार जाफरी के लिए भी कही जा सकती है कि उन्होंने कबीर की जिन रचनाओं को स्वीकार किया है, वे पाठालोचन की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। दूसरी बात यह कि अपनी स्थापनाओं के लिए वस्तुगत आधार प्रस्तुत करने के स्थान पर इन विद्वानों ने अपनी मान्यताओं को वरीयता दी है, भले वे उपलब्ध साक्ष्यों के प्रतिकूल ही क्यों न हों। डॉ० ताराचन्द और अली सरदार जाफरी दोनों को यह लगा कि कबीर की भाषा में सूफी शब्दावली का अभाव सा है। इसका सीधा अर्थ यह है कि वे

सूफी विचारधारा से विशेष प्रभावित नहीं हैं किन्तु दोनों विद्वानों ने यह लंगड़ा तर्क देकर अपने मन को समझा लिया कि कबीर विद्वान नहीं थे अतः अरबी, फ़ारसी की शब्दावली का वे प्रयोग नहीं कर सके। फिर जिस प्रकार प्रभाव और समता का प्रतिपादन किया गया है, वह भी अत्यन्त असन्तोषजनक है। प्रस्तुत है अली सरदार जाफरी की विवेचना से एक उद्धरण–

"इस्लाम में इनसान की ज़िम्मेदारियों को दो हिस्सों में बाँटा गया है। एक खुदा का हक़, दूसरा बंदों का हक़। इबादत (उपासना) खुदा का हक़ है और सामाजिक ज़िम्मेदारियाँ बंदों का हक़। खुदा के गुनहगार को जिसने हके इबादत अदा नहीं किया, खुदा माफ कर सकता है। लेकिन बंदों के गुनहगार को जिसने अपने सगे– संबंधियों, पड़ोसियों, देशवासियों या इस संसार में रहने वाले दूसरे इनसानों का हक अदा नहीं किया उसको खुदा माफ नहीं करता। सिर्फ बंदे ही उसे माफ कर सकते हैं, उसके बाद रहमत के दरवाजे खुलेंगे। इसलिए कबीर ने दोनों हकों का जिक्र किया है ---

सरगुन की सेवा करो, निरगुन का करो ज्ञान ।
निरगुन सरगुन के परे, तहीं हमारा ध्यान ।।[45]

मैं सचमुच नहीं समझ पा रहा कि ऊपर के मन्तव्य से इस दोहे का क्या सम्बंध है। सगुण और निर्गुण परमात्मा के दो रूप हैं, कबीर कह रहे हैं उनके सगुण रूप की सेवा करो, निर्गुण का ज्ञान प्राप्त करो। जो तत्त्व निर्गुण और सगुण दोनों के परे है कबीर का ध्यान उसी पर केन्द्रित है। इस दोहे में बंदों का हक़ अदा करने की बात कहाँ है, मुझे नहीं मालूम।

इसी तरह सरदार जाफरी का यह कहना कि कबीर दास एक मुसलमान सूफ़ी थे जो हिन्दू भक्ति की भाषा में बात कर रहे थे[46] बड़ा अटपटा लगता है। कबीर सूफ़ी थे तो वे सूफी शब्दावली का प्रयोग क्यों नहीं करते थे ? ऐसा तो नहीं है कि उनकी रचनाओं में अरबी फ़ारसी के शब्द न हों। स्वयं सरदार जाफरी ने लिखा है, "कबीर की कविता में अरबी और फारसी के सैंकड़ों शब्द हैं जिनमें से कुछ तो उस समय की हिन्दी में प्रचलित हो चुके थे और कुछ सीधे सूफ़ी शायरी से आये हैं।[47] मेरा निवेदन है कि सीधे सूफ़ी शायरी से आये शब्दों के आधार पर कबीर की बानी का विश्लेषण करने का कष्ट डॉ० ताराचंद और सरदार जाफरी क्यों नहीं करत? क्यों वे यह तर्क देते हैं कि, "अगर उनकी काव्य रचना में सूफ़ियों की शब्दावली से ज्यादा समानता नहीं पायी जाती तो उसकी वजह यह नहीं कि कबीर उन विचारों से कम परिचित थे, बल्कि इसकी वजह यह है कि वह विद्वान नहीं थे। इसलिए जब उन्होंने इन विचारों को

अपनाया तो फारसी शेरों को पूरी तरह अपने मस्तिष्क में सुरक्षित न रख सके।"[48] क्या यह निष्कर्ष निकालना अधिक संगत नहीं होगा कि कबीर जिस भक्ति की भाषा में बात कर रहे थे, वही उनकी असली पहचान का संकेत करती है। कबीर किसी को खुश करने के लिए नहीं, अपनी सहज आस्था को व्यक्त करने के लिए बोलते थे। नाभा दास ने उनके लिए सटीक बात कही है, 'मुख देखी नाहिंन भनी !"[49]

सीधी बात यह है कि कबीर यदि सूफी साधना से अतिशय प्रभावित होते तो सूफी विचारकों और कवियों की परम्परा से अपने को उसी तरह जोड़ते जिस तरह से उन्होंने अपने को एक तरफ सनक, सनन्दन, जैदेव, नामदेव, नारद, शुकदेव, गोपी आदि से और दूसरी तरफ गोरख, भरथरी, गोपीचन्द से जोड़ा है। उनके पूरे साहित्य में कहीं रूमी, जामी, हाफिज, राबिया आदि का उल्लेख नहीं है। अपने समकालीन सूफी सन्तों का उन्होंने जिस प्रकार उल्लेख किया है, उससे तो बिलकुल नहीं लगता कि वे सूफी थे–

मानिक पुर कबीर बसेरी। मुदति सुनी सेख तकी केरी।।
ऊजो सुनी जमनपुर थाना। झुठी सुनी पीरन को नामा।।
एक इस पीर लिखे तेहि ठामा। खतमा पढ़े पैगंबर नामा।।
सुनत बोल मोहि रहा न जाई। देखि मुकर्बा रहा भुलाई।।
हबीब औ नबी के कामा। जहं लग अमल सो सबै हरामा।।
सेख अकरदी सेख सकरदी, मानहु वचन हमार।
आदि अंत औ जुग जुग, देखहु दृष्टि पसार।[50]

अर्थात् मानिकपुर में रहते समय कबीर ने शेख तकी की प्रशंसा सुनी। वहीं जौनपुर नामक स्थान के बारे में भी सुना और झुठी (झूसी ?) के पीरों के नाम सुने। उस स्थान पर इक्कीस पीरों के नाम लिखे हैं जिनके सामने पैगंबर के नाम का खुत्बा (स्तुति वाक्य) पढ़ा जाता है। यह सुनकर मुझ से रहा नहीं गया। मैंने कहा तुमलोग मकबरे देखकर भरम गये हो। मुसलमानों के प्रेमास्पद नबी के काम भी (जो दोषपूर्ण हों) त्यागने योग्य है। शेख अकरदी, सेख सकरदी आँख खोलकर देखो और मेरा कहा मानो युग युग से यह परम्परा चली आ रही है कि जिसका आदि है, जन्म है उसका अन्त भी है। (अतः हिंसा, कब्र-परस्ती आदि दुर्गुणों को छोड़ दो) नबी तक के सम्बन्ध में कबीर का यह तेवर न उन्हें आस्थावान मुसलमान साबित करता है न सूफी क्योंकि सरदार जाफरी ने ही लिखा है, "मुसलमान सूफी रसूले इस्लाम का नाम लेने में बहुत सतर्क हैं। उनका उसूल है कि 'बा-खुदा दीवाना बाश ओ बा-मुहम्मद होशियार' (खुदा के

साथ तो दीवानापन कर सकते हो लेकिन रसूल का नाम लेते वक्त सावधान रहना चाहिए)।[51] साफ है कि कबीर इस सूफी परिपाटी को स्वीकार नहीं करते थे। मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि डॉ० ताराचन्द ने अपनी पुस्तक के पृ. 148 पर इस रमैनी का अंग्रेजी अनुवाद 'खतमा पढ़े पैगंबर नामा' तक ही किया है और इससे प्रमाणित करना चाहा है कि कबीर ने सूफी कबीरों के साथ काफी समय बिताया था। पर अगला अंश चूंकि उनकी स्थापनाओं का विरोधी है, इसलिए उन्होंने उसका उल्लेख नहीं किया। क्या इसे बौद्धिक ईमानदारी माना जा सकता है ?

कबीरदास सूफियों की तरह परमात्मा को न माशूक़ (प्रियतमा) मानते हैं, न अपने को उसका आशिक। बिलकुल ठेठ भारतीय मर्यादा के अनुसार वे प्रभु को अपना पति मानते हैं और अपने को सती (पत्नी)। वे सूफ़ियों की तरह इश्क़ मजाजी (लौकिक प्रेम) का समर्थन नहीं करते। फलतः बहुत से सूफियों में व्याप्त व्यभिचार से कबीर पंथ मुक्त रहा। इस बात की प्रशंसा आचार्य शुक्ल ने भी की है।[52] भारतीय भक्ति साधना और सूफी प्रेम साधना में समानता और भिन्नता दोनों हैं। उनकी समानता की ओर संकेत करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है, "सूफी मत की भक्ति का स्वरूप प्रायः वही है जो हमारे यहाँ की भक्ति का। नफ्स के साथ जिहाद (धर्म युद्ध) विरति पक्ष है और जिक्र और मुराकबत (स्मरण और ध्यान) नवधा भक्ति पक्ष। रति और विरति इन दोनों पक्षों को लिये बिना अनन्य भक्ति की साधना हो नहीं सकती।"[53] अतः स्वाभाविक है कबीर और सूफियों के भगवत् प्रेम चित्रण में कहीं कहीं समानता दृष्टिगोचर हो पर इसे एक का दूसरे पर प्रभाव नहीं कहा जा सकता। दोनों की विशिष्टताएँ उनकी भिन्नता को उजागर करती हैं। संयोग पक्ष में कबीर का संयम मिलन के चित्रों को मनुहारपरक, गंभीर आवेगपरक और प्रेम निवेदन से आगे नहीं बढ़ने देता, सूफ़ियों के संयोग चित्रण में उन्मत्त वासनात्मकता और खुले संभोग तक का वर्णन है। इसी तरह विरह चित्रण में कबीर ने प्रखर आर्ति एवं वियोग वह्नि से तन, मन, प्राण के दग्ध होने का तो चित्रण किया है किन्तु सूफी कवियों द्वारा चित्रित विरहशलाका में अपना मांस लगा कर भूनना, रक्त के आँसू बहाना, अपना ही भुना मांस चबाना जैसे वीभत्स चित्रण कबीर में बिलकुल नहीं मिलते।

डॉ० ताराचंद के अनुमान सरदार जाफरी के लिए प्रमाण हैं। प्रस्तुत है एक ऐसा दिलचस्प उद्धरण, "कबीर के उपदेशों की शैली की रचना सूफी औलिया और शायरों ने की। हिन्दी ज़बान में तो उन्हें कोई मार्गदर्शन न मिला इसलिए वह जिन नमूनों की पैरवी कर सकते थे वह मुसलमानों ही से मिल

सकते थे, जैसे फरीदुद्दीन अत्तार का 'पंदनामा'। बाबा फ़रीद और कबीर की नज़्मों के विषयों की तुलना करने से यह बात साफ दिखायी देती है। कबीर ने दूसरे सूफियों के अलावा जलालुद्दीन रूमी और शेख सादी का कलाम भी जरूर सुना होगा क्योंकि उनके कलाम में इन सूफी शायरों की प्रतिध्वनि सुनायी देती है।"[54] डॉ० ताराचंद को इलहाम हो गया कि कबीर को हिन्दी ज़बान में कोई मार्गदर्शक नहीं मिला था अतः उसे सच मानना ही होगा। भले कबीर अपने पूर्ववर्ती भक्त कवियों जयदेव, नामदेव का ऋण स्वीकार करते हों, वैष्णव परम्परा का बार-बार सम्मान उल्लेख करते हों, नाथपंथ का प्रभाव वहन करते हों। न डॉ० ताराचंद ने, न सरदार जाफरी ने पंदनामा और कबीर की रचनाओं की तुलना कर दोनों का साम्य दिखाया है। कबीर पर लिखे गये हिन्दी अंग्रेजी के किसी अन्य ग्रन्थ में कबीर की रचनाओं पर पंदनामा के प्रभाव की चर्चा नहीं की गयी है, पर डॉ० ताराचंद के अनुसार हिन्दी में कबीर को कोई मार्गदर्शक मिला ही नहीं अतः उन्होंने उपदेश शैली जरूर फरीदुद्दीन अत्तार के पंदनामा से सीखी होगी। अब इस पर क्या कहा जाये।

कबीर की कथन-भंगिमा उनकी अपनी प्रतिभा की देन है, उपदेश की विषय-वस्तु मुख्यतः उन्होंने अपने अनुभव से एवं वेदान्त, योग और वैष्णव साहित्य से प्राप्त की है, उन पर इस्लाम और सूफी साधना का प्रभाव हाशिये तक ही सीमित है। रचना शैली अपभ्रंश काव्यधारा से उन्हें मिली है। दोहा और पद तो अपभ्रंश की देन हैं ही, रमैनी भी बहुत कुछ पद्धड़ियाबन्ध का विकसित रूप है। यह भी उल्लेखनीय है कि कबीर ने सूफी कवियों की न मसनवी शैली अपनायी, न उन्होंने ग़ज़लें लिखीं। कबीर के नाम पर चलने वाले रेख़्ते परवर्ती कबीर पंथियों द्वारा लिखित हैं एवं प्रमाणकोटि में नहीं आते।

अतः कबीर को सूफी मत से अतिशय प्रभावित मानकर रहस्यवादी कहना संगत नहीं है। आलोचना आलोच्य को सुबोध्य बनाने के लिए की जाती है, दुर्बोध्य बनाने के लिए नहीं। किसी ग्रामीण कबीर पंथी भाई से जाकर यदि पूछा जाये कि कबीर के भावात्मक रहस्यवाद, साधनात्मक रहस्यवाद और अभिव्यक्ति मूलक रहस्यवाद के बारे में आप जो जानते हैं, वह बतायें तो वह बेचारा पूछनेवाले का मुँह ताकता रह जायेगा। पर यदि उससे कबीर की भक्ति साधना, योग साधना या उलटवाँसी के बारे में पूछा जाये तो वह उनकी चर्चा सहज भाव से करेगा। कबीर ने अपनी रचनाओं में बीसियों जगह अपने को भक्त कहा है, पर एक बार भी न अपने को सूफी कहा, न रहस्यवादी। साहित्य के जिस रहस्यवादी दौर के कारण कबीर पर यह आवरण पड़ा था, वह गुजर चुका है। अतः अब

इसका मोह त्यागना चाहिए।

कबीर को सामान्यतः जनवादी, विद्रोही या क्रान्तिकारी कहने में कोई अनौचित्य नहीं है। निश्चय ही उन्होंने सामान्य जन के लिए, सामान्य जन की भाषा में अपनी असामान्य बातें कहीं जिनका व्यापक प्रभाव हुआ। समस्त जनों का मंगल उन्हें अभीष्ट था अतः इस अर्थ में निश्चय ही वे जनवादी थे। इसी तरह उन्होंने अपने समय के अन्यायपूर्ण ऊँचनीच के, छुआछूत, जातपाँत के बन्धनों के विरूद्ध करारी चोट की थी अतः वे विद्रोही थे। न उन्होंने मजहबी भेद भाव स्वीकारा न आर्थिक; न शासकीय आतंक के सामने सिर झुकाया, न पुरोहिती वाग्जाल में वे फंसे अतः वे क्रान्तिकारी थे। पर प्रगतिवादी आलोचक यह नहीं समझ पाते कि वे यह सब 'राम' के बलबूते पर कर सके थे, राम से जुड़कर कर सके थे। जो कबीर की सब से बड़ी शक्ति है वह इन आलोचकों की दृष्टि में उनका ऋणात्मक पक्ष है, जो तथाकथित दुःखवाद और पराजयवाद से जुड़ा हुआ है। कबीर की ईश्वरोपासना इन आलोचकों के लिए आर्थिक-सामाजिक न्याय की माँग भर है, मानव जीवन की चरितार्थता नहीं। सरदार जाफरी के विवेचन से तो ऐसा लगता है कि यदि तुर्क शासकों ने इस्लाम पर ईमान ले आने के बाद शासितों को बराबरी का दर्जा दे दिया होता तो कबीर 'भक्ति और तसव्वुफ़' का आश्रय ही नहीं ग्रहण करते। ठीक ही है, सच्चे मार्क्सवादी के लिए कबीर और तुलसी में चुनने का क्या है, दोनों ब्रह्मवादी हैं, उनमें कोई भी भौतिकवादी नहीं है। इस सच्चाई को जान लेने के बाद लगता है कि कबीर को जनवादी, विद्रोही, क्रान्तिकारी आदि कहना इन आलोचकों की रणनीति मात्र है। कबीर के मूलभूत विश्वास के प्रति इनकी कोई आस्था नहीं है, उसके उपफलों की स्तुति के द्वारा ये अपना पक्ष पुष्ट करना चाहते हैं। स्वाभाविक रूप से इस वर्ग के आलोचकों ने कबीर का कोई विशद् अध्ययन या मूल्यांकन प्रस्तुत नहीं किया। अब तो प्रगतिवादी दौर भी उतार पर है।

इसी तरह ऐसे कथन कि "कबीर सौ प्रतिशत शूद्रों और अन्त्यजों का धर्म स्थापित करना चाहते थे" तथा "कबीर अपने जैसे श्रमिकों और कारीगरों का धर्म खड़ा करना चाहते थे। वे अपने धर्म के नेतृत्व में गैर श्रमिकों की संभावना तक को मिटाना चाहते थे" — भड़काऊ राजनीतिक नारे लगते हैं, तथ्य निरूपण नहीं। कबीर धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक किसी प्रकार के भेदभाव को स्वीकार नहीं करते थे। इस सम्बन्ध में उनकी प्रचुर उक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं - स्थान संकोच के कारण यहाँ तीन उद्धरण ही दे रहा हूँ जिनसे यह स्पष्ट होता है कि एक ही प्रभु से उत्पन्न होने के कारण कबीर बाहरी भेदभावों को अमान्य

कर सब को समान मानते थे। कबीर इस आधारभूत सत्य का उद्घोष करते हुए कहते हैं,"

हिन्दू तुरक का साहिब एक। कह करे मुल्ला, कह करै सेख ।।[55]
एक बूंद एकै मल मूतर, एक चाम, एक गूदा।
एक जोति थै सब उतपना, कौन बाम्हन कौन सूदा ।।[56]

एवं

निरधन सरधनु दोनउ भाई। प्रभु की कला न मेटी जाई।
कह कबीर निरधन है सोई। जाके हिरदै नामु न होई।।[57]

इन तीनों उद्धरणों से यह प्रमाणित होता है कि समाज में प्रचलित धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक भेदभाव को नकार कर सब की समानता की घोषणा कबीर ने इसी आधार पर की थी कि एक ही स्रष्टा ने सबको रचा है, अतः सब परस्पर भाई भाई हैं, सब समान हैं। मुझे नहीं मालूम कि डॉ० धर्मवीर कबीर के किन वचनों के आधार पर यह दावा करते हैं कि कबीर सौ प्रतिशत शूद्रों और अन्त्यजों का धर्म स्थापित करना चाहते थे। कबीर के प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थों में मुझे तो ऐसा कोई वचन नहीं मिला।

इन आवरणों को हटा कर ही कबीर के मूल स्वरूप का साक्षात्कार किया जा सकता है। हमारा सम्मिलित प्रयास उसी दिशा में होना चाहिए। ●

<u>संदर्भ संकेत :</u>

1. भक्त माल छप्पय सं० 31 2. भक्त माल छप्पय सं० 516 3. कबीर ऐंड कबीर पंथ पृ० 37
4. मुस्लिम रिवाइवलिस्ट मूवमेंट्स इन नार्दन इंडिया, पृ० 60
5. द हिस्टॉरिकल सेटिंग ऑफ मेडिइवल मोनोथीइज्म, पृ० 5-6
6. कबीर ऐंड द कबीर पंथ, पृ० 29-32
7. कबीर ऐंड द कबीर पंथ, पृ० V
8. कबीर ऐंड द कबीर पंथ, पृ० xxiii
9. कबीर ऐंड द कबीर पंथ, पृ० x/iii
10. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 77
11. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 79
12. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 64
13. जायसी ग्रन्थावली, पृ० 162
14. कबीर का रहस्यवाद, पृ० 25
15. कबीर की विचारधारा, पृ० 225-6
16. इन्फ्लुएंस ऑफ इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर, पृ० 152-53
17. कबीर बानी पृ० 16

18. कबीर बानी पृ० 28
19. कबीर एक विश्लेषण, पृ० 7
20. कबीर एक विश्लेषण, पृ० 29
21. कबीर बानी पृ० 9-10
22. देखिये मेरी पुस्तक 'सुधियाँ उस चन्दन के वन की', पृ० 91-92
23. कबीर एक विश्लेषण, पृ० 25
24. नामवर सिंह : व्यक्ति और आलोचक, पृ० 243
25. कबीर के आलोचक - भूमिका से
26. कबीर के आलोचक - पृ० 32
27. कबीर के आलोचक - पृ० 32
28. वन हंड्रेड पोयेम्स ऑफ कबीर - पृ० vi
29. सूरदास - पृ० 59-60
30. सूरदास - पृ० 77
31. चिन्तामणि (दूसरा भाग) काव्य में रहस्यवाद - पृ० 81
32. श्वेताश्वतर उपनिषद् - 6/18
33. श्वेताश्वतर उपनिषद् - 6/23
34. श्रीमद्भगवद्गीता - 12/3-4
35. श्रीमद्भगवद्गीता - 8/22
36. कबीर - 122-23
37. डॉ० माता प्रसाद गुप्त द्वारा संपादित कबीर ग्रन्थावली - साखी 1/26
38. डॉ० माता प्रसाद गुप्त द्वारा संपादित कबीर ग्रन्थावली - साखी 1/3
39. डॉ० माता प्रसाद गुप्त द्वारा संपादित कबीर ग्रन्थावली - साखी 1/4
40. डॉ० शुकदेव सिंह द्वारा सम्पादित कबीर बीजक रमैनी - 48/1
41. वही रमैनी 63 का दोहा
42. कबीर ग्रन्थावली राग भैरूँ - 8/1-2
43. कबीर ग्रन्थावली राग आसावरी - 8/1-2
44. कबीर ग्रन्थावली राग गौड़ी - 2/2, 3, 8, 9
45. कबीर की बानी - पृ. 15
46. कबीर की बानी - पृ. 16
47. कबीर की बानी - पृ. 20
48. कबीर की बानी - पृ. 28
49. भक्त माल छप्पय सं-516
50. कबीर बीजक रमैनी - 48
51. कबीर बानी पृ. - 28
52. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. - 65
53. जायसी ग्रंथावली पृ. - 139
54. कबीर बानी पृ. - 19-20
55. संत कबीर रागु भैरू पृ. - 4/3
56. कबीर ग्रंथावली राग गौड़ी पृ. - 57/3-4
57. संत कबीर रागु भैरऊ पृ. - 8/3/4

कबिरा तेरी झोपड़ी गल कटियन के पास...

डॉ० सुकृता अजमानी

भोर की हल्की उजास, शान्त स्निग्ध वातावरण में बाऊजी की आवाज में आज भी 'कबीर वाणी' के स्वर कानों से टकरा कर कुछ सोचने को बाध्य करते हैं। कबीर की षष्ठशती में उस सोच से दामन बचा कर निकलना असम्भव है। और जब-जब इस सोच से टकराहट होती है, 'कबीर-वाणी' के अर्थ और अधिक स्पष्ट होते चले जाते हैं। कबीर और अधिक निकट प्रतीत होने लगते हैं, अपने प्रतीत होने लगते हैं। लगता है हमारे बीच, आस-पास हर उस व्यक्ति में कबीरदास जीवित हैं जिसके कद को छोटा करने के लिए यह व्यवस्था, यह समाज उसका गला काटता है, किन्तु उसका कद और बड़ा और बड़ा होता चला जाता है। क्योंकि कबीरदास अपनी धुन के पक्के हैं, उन पर किसी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। विशेषकर गला काटने वालों से वे घबराते नहीं, उन्हें विश्वास है "करेंगे सो भरेंगे, तू कत होत उदास"। वे अपना कार्य करते रहते हैं उनका कद ऊँचा और ऊँचा होता जाता है और 'गला काटने वाले' स्वयं कटते चले जाते हैं। क्या समाज में सदा से ही ऐसा होता आया है, जिनमें क्षमता है, जो समाज के लिए कुछ करते हैं, समाज व्यवस्था उनका गला काटती है? अन्यथा आज छः सौ वर्ष पश्चात् इन पंक्तियों के अर्थ हमें इस प्रकार क्यों कर बांधते! समाज में सदा से दो वर्ग रहे हैं एक वास्तविक कार्यकर्ताओं का और एक गला काटने वालों का। किन्तु कबीर ने अपने अनुभव से जाना समाज ऐसे लोगों के कद को छोटा करने के लिए चाहे गला काटने का उपक्रम क्यों न करे उन्हें उदास होने की आवश्यकता नहीं, उन्हें पलट कर वार करने की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि उन पर वार करने वाले स्वयं निजी स्वार्थों के कारण लड़ झगड़ कर समाप्त हो रहे हैं, बुराई स्वयं नष्ट हो रही है। वह आज छः सौ वर्ष पश्चात् भी जीवित हैं उनका कद इतना ऊँचा है कि लोग अपनी रचनाएँ 'कहै कबीरा' के साथ जोड़ना

चाहते हैं।

संत कबीर की रचनाएँ अधिकतर 'कहै कबीरा' के साथ जुड़ी हैं। बहुत कम रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें वे 'कबिरा तेरी झोपड़ी' या 'कबिरा खड़ा बाजार में' का प्रयोग करते हैं। उपदेशक कबीर ऐसे दोहों में दूसरों से नहीं अपने आपसे बातचीत करते हैं। जब-जब उन्हें अपना परिवेश मर्माहत करता है वह अपने 'स्व' से अपनी 'सोच' से मुखातिब होते हैं। अपने को टूटने से बचाते हैं। अपना रक्षा-कवच तैयार करते हैं। उनकी ये चेष्टाएँ आज के उस आहत ईमानदार व्यक्ति की चेष्टाएँ हैं जो व्यवस्था में घुटन का अनुभव करता है। व्यवस्था और ईमानदारी की यह टकराहट नई नहीं है, युग-युगान्तर से ऐसा होता आया है और वह इस नग्न सत्य का सामना करने के लिए इस प्रकार की पंक्तियाँ कह उठता है। उनके बीच अकेले खड़े कबीर अपना गला काटने का सारा उपक्रम देखते हैं। अकेले खड़े वे उदास नहीं हैं, वे दूर तक देख सकते हैं। वे जानते हैं उन्होंने जो कुछ किया उसका परिणाम गला कटना नहीं। वह जीवित हैं, जीवित रहेंगे। कबीरदास जीवित हैं और आज छः सौ वर्ष पश्चात् भी हमारे बीच खड़े हैं, हमारे आस-पास, हमें आश्वासन दे रहे हैं, तुम अपना कार्य करते रहो, अपने सद्कार्य और ईमानदारी से तुम जीवित रहोगे। गला काटने वालों का षडयन्त्र ही समाप्त नहीं होगा, षडयन्त्र करने वाले भी समाप्त हो जाएंगे। जीवित रहेगी तो तुम्हारी सद्वृत्ति, जिससे तुमने समष्टि हित के लिए कार्य किया है। व्यक्ति-हित के लिए की गई लूट और हिंसा के शिकार तुम हो ही नहीं सकते।

व्यक्ति कबीर इन वारों से आहत होता है पर हतप्रभ नहीं। वह इन वारों से नवजीवन प्राप्त करता है और कह उठता है– **''निंदा करे सो हमारा मीतु, निंदक मांहि हमारा चितु।''** निंदक को अपना मित्र मानकर उसमें अपना चित्त अर्थात् हृदय लगाइए। उसी से हम अपने को स्वच्छ और पावन बना सकते हैं। निंदा हमें मांजती है स्वच्छ बनाती है, व्यक्ति का जीवन कीचड़ के कमल की भाँति है, परिवेश के कीचड़ से ऊर्जा प्राप्त कर वह कीचड़ से ऊपर उठकर स्वच्छ पावन पवित्र खड़ा रहता है। सभी उसकी ऊँचाई, उसके रंग उसके सौन्दर्य से प्रभावित होते हैं, उसके जैसा बनना चाहते हैं, वैसा होना चाहते हैं, किन्तु जब ऐसे बन नहीं पाते तो निंदा करने लगते हैं– **निंदुकु सो जो निंदा होरै, हमारा जीवन निंदुकु लौरै।**

प्रतिस्पर्द्धा के इस युग में चापलूसों और निन्दकों की भीड़ के मनोविज्ञान का इससे अच्छा परिचय और क्या हो सकता है कि निन्दक वह है जो हमारे जैसा जीवन जीना चाहता है किन्तु वैसा कर नहीं पाता तो अपनी अहन्ता की तुष्टि के

लिए निन्दा करने लगता है। कबीर की इन पंक्तियों के द्वारा आज के साहित्य, राजनीति, धर्म - जगत की अनेकानेक तसवीरें स्पष्ट से स्पष्टतर होने लगती हैं और कबीर मध्ययुग के नहीं अधुनातन प्रतीत होने लगते हैं। कबीर की निंदा सम्बंधी चर्चा यहीं समाप्त नहीं होती। वह और आगे बढ़ कर कहते हैं **''निंदा हमारा करै उधारु''** – क्योंकि वह हमें अपनी भूलों से परिचित कराती है, हम उनका परिमार्जन कर अपने व्यक्तित्व को स्पृहणीय बना देते हैं। कबीर कोई आधी-अधूरी सुनी-सुनाई बात नहीं कहते। वह उनका अनुभवजनित सत्य है और सत्य किसी भी स्थिति में बदलता नहीं है। निंदक निंदा करता-करता डूब गया क्योंकि वह दूसरों की बुराइयों का बोझ उठाते हुए भारी होता गया और कबीर उनसे मुक्त हो कर हल्के हो कर भवसागर पार कर गए। इसीलिए वह निंदक को 'आंगन कुटी छवाय' अर्थात् अपने ही भीतर, अपने ही पास रखना चाहते हैं क्योंकि वे निंदा के सार से अब पूर्णतया परिचित हैं।

''जन कबीर कहु निंदा सारु, निंदकु डूबा हम उतरे पारु।''

कबीर का ज्ञान जीवन के अनुभवों से प्राप्त है वह किसी की मोहर की अपेक्षा नहीं रखता। वह **'आँखों देखी'** कह रहे हैं, उन्हें मसि कागद की आवश्यकता नहीं। क्योंकि वह दो टूक सत्य कह रहे हैं, वह अपने पाण्डित्य जाल में किसी को उलझाने की चेष्टा नहीं कर रहे। अनुभवजनित सहज ज्ञान उलझाता नहीं सुलझाता है और युग युगान्तर तक सत्य रहता है।

''मैं कहता आँखिन की देखी, तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता सुरझावनहारी, तू राख्यो अरुझाई रे।''

अपने स्वार्थ के लिए मानव चिरकाल से दूसरों को उलझाता आया है, अर्थात् विभाजन करता आया है। उसी 'हउमैं' (मैं, मेरी की भावना) हमेशा समस्याओं को जन्म देती रही। वह निजी स्वार्थ के लिए मतभेदों को जन्म देता है। किन्तु सन्त कबीर साक्षात प्रेम और क्रांति दोनों के विग्रह थे। उन्होंने सांसारिक जीवन के व्यापक क्षेत्र को सम्मुख रखकर मानवीय मूल्यों का निरूपण किया। इसलिए वे सबसे अलग होते हुए भी सबके बीच थे, उनके हृदय में सबके लिए प्रेम ही प्रेम है उन्हें कोई दूसरा दिखाई ही नहीं देता–

''हम सब माँहि, सकल हम माँहि, हमपे और दूसर नाहिं।''

आज की आपाधापी, मार काट के इस युग में कबीर दास की ये पंक्तियाँ ही जीवन का मूल मन्त्र हो सकती हैं। मानव जिस दिन मैं और तुम के अन्तर को भूल जाएगा, उसे कोई पराया नहीं लगेगा, तो सारे झगड़े सारे द्वन्द्व समाप्त हो जायेंगे। 'मैं' 'मेरी' मानव स्वभाव का अंग है। युग-युगान्तर से हम इसे देखते आए

हैं। समाज का एक वर्ग ऐसा है जो निजी स्वार्थों की रक्षा के लिए केवल बोलता है और बोलता है। किसी के कद को छोटा करने के लिए वह कुछ भी चौंकाने वाला बोल सकता है। ऐसे बोलने वालों को कबीर चेतावनी देते हैं--

''शब्द सम्हारे बोलिए, शब्द के हाथ न पांव।
एक शब्द औषधि करे, एक शब्द करे घाव।''

इन 'बिन सम्हारे' शब्दों ने ही समाज में विशिष्ट साहित्यकारों, समाजविदों, राजनेताओं को ऐसे-ऐसे घाव दिए कि आज सामाजिक कार्यकर्ता आगे बढ़ कर कार्य करने से घबड़ाते हैं। किन्तु कबीर दास उन्हें ही प्रबोध देने के लिए कहते हैं **'करेंगे सो भरेंगे तू कत होत उदास।'** कबीर उन सबसे अलग जिन्दा हैं और बोलने वालों के मुखौटे लगे चेहरे से नकाब उतारते हुए कहते हैं--

''कथनी मीठी खाण्ड सी करनी विष की लोय।
कथनी तज करनी करे तो विष भी अमृत होय।''

यही नहीं वह एक कदम और आगे बढ़ कर कहते हैं--

''कथनी कथी तो क्या भया जो करनी न ठहराई।''

कबीर अपने समय के सिद्धांतों का निष्ठापूर्वक श्रवण कर, तथ्यों के मनन और विचार द्वारा उन्हें स्वानुभूति से परखते हैं, तब ऐसे सत्यान्वेषण तक पहुँचते हैं कि वह भरे बाजार में निधड़क कह सकते हैं-- **''कबिरा खड़ा बाजार में, लिए लुकाठी हाथ। जो घर जारै आपना, चले हमारे साथ।''**

कबीर का यह सन्देश आज के उस मानव के लिए है जो निजी स्वार्थों में अन्धा हो कर क्षणिक सुखों के लिए बिक रहा है। कबीर उसे समझा रहे हैं अपने स्वार्थों से मुक्त हो कर उन्हें जलाकर ही समाज में कुछ किया जा सकता है।

भ्रष्टाचार, स्वार्थ, हिंसा के इस संसार में आवश्यकता है कबीर साहित्य के मंथन के पश्चात् उसके सार को ग्रहण कर समाज को एक नई दिशा देने की। चारों तरफ प्रेम-प्रेम का शोर है। उसके नाम पर हत्याएँ, आत्महत्याएँ हो रही हैं। परिवार बनने से पहले ही टूट रहे हैं। कुनबे से हम संयुक्त परिवार तक आए। संयुक्त परिवार से एकल परिवार और अब एकल परिवार से इकाई तक। किन्तु इकाई भी सन्तुष्ट नहीं, क्यों ? हमने प्रेम के सार त्याग को नहीं समझा, हम दुःखी हैं, क्योंकि केवल पाना जानते हैं, किन्तु कबीर हमें प्रेम का सार समझाते हैं-- **''प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय। राजा परजा जेहि रुचै, सिर दे सो लै जाय।''**

कबीर द्वारा समझाए गए प्रेम के मर्म को ही अपने जीवन में उतार कर हम कबीर के प्रति सच्ची आस्था व्यक्त कर नई शताब्दी में नई दिशा और नया समाज गढ़ सकेंगे। ●

कबीर और सम्यक-जीवन

डॉ० मंजुरानी सिंह

संत परंपरा में कबीर का व्यक्तित्व अनूठा और अबूझ है। सीधे-साधे, पर सूक्ष्म और रहस्यमय। अनपढ़ पर ज्ञानी, अक्खड़ पर दानी, क्रान्तिकारी पर निरहंकारी। ऐसा इसलिए कि वे प्रज्ञावान हैं, सत्य का उन्हें साक्षात्कार हो गया है और उसी के प्रति वे समर्पित हैं, उन्हें जीवन की सच्ची दिशा का बोध हो गया है— **कहैं कबीर हम व्याहि चले हैं, पुरुष एक अविनाशी।** कबीर को झूठ और पाखंड से तीखा विरोध है, घृणा और नफरत है क्योंकि ये विनष्टकारी और विनाशकारी हैं। कबीर का संबंध परम पुरुष अविनाशी से है, जो सामान्य जन के लिए काल्पनिक हो सकता है पर उनके लिए सत्य है, अनुभूतिगम्य है। इस परम पुरुष के साथ उनके गहन लौकिक संबंध हैं और अलौकिक अनुभूतियाँ हैं।

कबीर तेज अनंत का मानौं ऊगी सूरज सेणि।
पति सँग जागी सुन्दरी कौतुग दीठा तेणि।।

कबीर ने अनंत शक्ति की अखंड ऊर्जा को अनुभव किया है, उस ऊर्जा में सैकड़ों सूर्य का प्रकाश, उसका तेज देखा है उन्होंने और इस इकलौते भाव को पत्नी भाव में जीया है। वे जानते हैं कि इस तेज ऊर्जा को पाने के लिए जागना पड़ता है। जो सुंदरी अपने पति के संग जगती है वही उसके अनंत कौतुक का भागीदार हो सकती है।

पिंजर प्रेम प्रकासिया जाग्या जोग अनन्त।
संसा खूटा सुख भया मिल्या पियारा कंत।।

आत्मा में प्रेम का प्रकाश जगते ही सारे संशय मिट जाते हैं। उस अद्‌भुत प्यारे न्यारे कंत का रूप इतना मोहक है कि उसे सदा के लिए इन आँखों में भर लेने को जी चाहता है— परम अखंड शक्ति के प्रति इस तरह का पूर्ण समर्पण भाव ही मानो कबीर का परम सुख और परम उपलब्धि है। गीता में कृष्ण ने भक्त

की इस परम उपलब्धि के प्रति अर्जुन को सचेष्ट किया है--

मच्चिता मद्गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम्
कलयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञान दीपेन भास्वता।

अर्थात् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि 'जो निरन्तर मुझमें मन रमाये रखते हैं, मेरे ही प्राणों को अर्पित रहते हैं, सदा मेरी भक्ति की चर्चा करते हैं, मेरे प्रभाव और गुणों को जानते हुए उनसे संतुष्ट रहते हुए मुझमें निमग्न रहते हैं, उन्हें मैं तत्त्व ज्ञान रूप योग देता हूँ, जिसके बल पर वे मुझे उपलब्ध करते हैं। हे अर्जुन! उनपर अनुग्रह करने के लिए मैं स्वयं उनके अंतःकरण में अज्ञान से उत्पन्न अंधकार को प्रकाशवान तत्त्वज्ञान रूपी दीपक से दूर भगाता हूँ।' कबीर भले ही निर्गुण संत हैं, पर उन्हें परम तत्त्व की पहचान हो गई है। उनके हाथ तत्त्वज्ञान रूपी दीपक लग चुका है। इस दीपक का प्रकाश ही सम्यक जीवन की कला का निर्देश करता है। कबीर को इस स्वर्गिक उपलब्धि का गहरा आग्रह है, क्योंकि वहीं स्वर्ग है, शेष सब नर्क है--

दोजख तौ हम अंगिया यहु डर नाहीं मुझ।
भिस्त न मेरे चाहिए बाज पियारे तुझ।।

उस प्यारे अनंत का साथ हो तो नर्क भी अंगीकार है अन्यथा स्वर्ग भी व्यर्थ है, बिना कंत के वह भी नहीं चाहिए। यह कंत अखंड शक्ति का स्रोत, अखंडित सुख का विधायक। किन्तु इस अखंड का अनुभव करने के लिए अकंप मन भी तो चाहिए। और सच तो यह है कि मन होता ही है चंचल। उसका स्वभाव बंदर की तरह माना गया है-- अस्थिर स्वभाव वाला । कबीर पहले उस मन को स्थिर करना चाहते हैं। वे कहते हैं--- **डगमग छाड़ि दे मन बौरा।**

अब तो जरें बनें बनि आवै लीन्हों हाथ सिंधोरा।।

रे पागल मन, डगमगाना छोड़ दे, अब मैं मौत को तैयार हूँ, अब तेरी बातों में आनेवाला नहीं हूँ।

होइ निसंक मगन ह्वै नाचौ लोभ मोह भ्रम काड़ौ
सूरो कहा मरन थें डरपे, सती न संचै भाड़ौ।

अब मैं निडर हो चुका हूँ, परमात्मा की पुकार पर चल पड़ा हूँ। उस पुकार पर मन नाच उठा है, अब लोभ, मोह जैसा भ्रम मेरे लिए व्यर्थ है। अब तो सती

की तरह अपने आप को उस परम के लिए न्योछावर कर देना है। मन तरह-तरह से जीव को डराता है, इस संसार के छूट जाने का भय दिखलाता है। कबीर कहते हैं– **'सूरा कहा मरन थें डरपै'**। बीर पुरुष कहीं मरने से डरते हैं भला। और सती भला कुछ संचित करती है? अब उसे तन, मन-धन के संवारने की भला क्या चिंता।

'यह संसार सकल है मैला राम कहैं ते सूचा' यह सारा संसार अपवित्र है, जहाँ मन काम, क्रोध, लोभ, मोह में फँसाए रहता है पर यह संसार उनके लिए पवित्र है जिन्होंने उस परमात्मा को पहचान लिया है, उस परम सत्य को पहचान लिया है। इस मन को तैयार करना पड़ता है। बुद्ध भी जिस मन को तैयार करने की बात करते हैं, वह अकंप है। इसी को परमात्मा यानी परमशक्ति का दर्शन होता है, यह परमशक्ति अनादि है, अनंत है, अनाहत है। नानक कहते हैं इसे **'आदि अनीलु अनादि अनाहतु जुग जुग एको वेसु, आदेसु तिसै आदेसु'**। संतों ने जीवन की सार्थकता इस परमशक्ति के साथ एकाकार हो जाने में जानी है।

आधुनिक मनुष्य धर्म की भाषा में परमशक्ति को स्वीकारने में हिचक अनुभव करता है, वह विज्ञान की भाषा में ही कुछ स्वीकार सकता है। पर बात यदि सत्य की हो तो प्रकारान्तर से दोनों एक दूसरे से सहमत दिखते हैं। धर्म स्रष्टा की खोज करता है और विज्ञान सृष्टि की।

वैज्ञानिक जगत को एक शक्ति से निर्मित मानता है, वह शक्ति है विद्युत (एलेक्ट्रिसिटी) अर्थात् एनर्जी। धर्म उसे परमात्मा कहता है। शब्दों का फर्क बड़ा फर्क है। एक का संबंध मस्तिष्क से होता है, दूसरा सीधे हृदय से जुड़ जाता है। ऊर्जा को कर्म चैतन्य बना लेता है, इसके साथ वह तल्लीन हो जाता है, उससे नाता, रिश्ता बना लेता है। धर्म ऊर्जा का व्यक्तित्व निर्माण कर देता है, इसलिए प्रेम, आत्मीयता और मुग्धता के साथ धार्मक व्यक्ति उससे जुड़ जाता है। इस जुड़ने में सृजन घटता है। मस्तिष्क की यात्रा में बहुत दूर चलकर सृजन की संभावना कमने लगती है, इसलिए विज्ञान की परिणति विध्वंस में होती है, धर्म की परिणति रूपांतरण में – **इब रहूँ माटी के घर में, इब मैं जाइ रहूँ मिलि हरि में।**

धार्मिक को उस परमशक्ति से विलगाव का जब गहन बोध होता है तो उसे अपनी विच्छिन्नावस्था असह्य होने लगती है, वह विराट के साथ एकाकार होना चाहता है। मिट्टी की जोड़-तोड़, भौतिक संसार की आपा-धापी का परिणाम उसे समझ आ गया होता है। इसीलिए कबीर कहते हैं कि मुझे अब देह की सीमा में, मिट्टी की सीमा में नहीं रहना, अब हरि के साथ हो जाना है, क्योंकि अब चारो तरफ वही दीख रहा है–

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।

विज्ञान को भी वह परमशक्ति दिखती चारो तरफ है पर आस्था का फर्क है। वह इसके अणु-अणु की शक्ति के विश्लेषण में लगा हुआ है; धर्म संश्लेषण में। वह प्रेमभाव, अहो भाव से उसके साथ जोड़ता है, गठबंधन करता है, भाँवरे रचाता है। कबीर कहते हैं--

साहेब है रंगरेज चुनरी मेरी रंग डारी,
स्याही रंग छुड़ायके रे दियो मजीठा रंग
धोय से छूटे नहीं रे दिन-दिन होत सुरंग
भाव के कुंड नेह के जल में प्रेम रंग देइ बोर।

हर पल परमऊर्जा की कृपा का बोध है, जीवन उसके प्रेम रंग में सराबोर है, रंग है ऐसा कि पक्का है। वैज्ञानिक का इसके साथ भाव का संबंध नहीं, यांत्रिकता का है। विज्ञान विद्युत शक्ति को विघटित कर तीन कणों एलेक्ट्रान, न्यूट्रान, प्रोट्रान में विश्लेषित करता है। इन्हीं के आधार पर सृजन और विनाश घटाता है। वैसे धर्म के पास भी तीन शक्तियों के संयुक्त रूप की भावधारणा है; हिंदुओं के पास 'त्रिमूर्ति' (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) और क्रिश्चियन के पास 'ट्रिनिटि' के रूप में। इस तरह दोनों इस बात पर एकमत हैं कि एक का तीन और तीन का एक में रूपान्तरण जगत का सूत्र है। हम चाहे कितने ही दूर हो जायँ, परमशक्ति के इस घेरे से, उसकी इस व्यवस्था से हम अलग नहीं हो सकते। इसलिए उसे खोजने की बात बेमानी है बस उसे समझने की बात ही महत्त्व की है। उसे समझना इतना आसान नहीं। उसकी तैयारी चाहिए। कबीर इसके लिए सबसे पहली शर्त्त रखते हैं, अहंकार रहित हृदय की--

सुरति करो मेरे साइयां हम हैं भवजलमाहिं।
आपे ही बहि जाएंगे जो नहिं पकरौ बाहिं।। 'सुरति' अर्थात् होश, स्मरण।

कबीर सुरति मांगते हैं, जन्मों-जन्मों की बेहोशी है, होश मांगते हैं। यह न हो तो अहंकार और समर्पण के विरोधाभास को आदमी समझ नहीं सकता। सुरति आ जाए तो वह समझ सकता है कि इस संसार रूपी सागर की धार में अपने आप तो बह ही जाएगा, पार पाना मुश्किल है, इसलिए परमात्मा का सहारा चाहिए। अपनी शक्ति का गुमान रहा तो परमशक्ति के साथ संघर्ष का संबंध बनेगा और तब विध्वंस निश्चित है। यों विध्वंस या मृत्यु से परे भला कौन है। जिसका भी जन्म हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है। जन्म के क्षण से ही मृत्यु की यात्रा शुरू हो जाती है। कबीर को भी इसकी 'परतीति' है, पर उनकी मृत्यु

का ढंग अनोखा है। उनके पास मृत्यु भी कला है, जिस पर जीवन की कला निर्भर करती है। सामान्य तौर पर जीवन के बाद मृत्यु घटती है पर वहाँ मृत्यु की कला पर जीवन घटित होता है--

मरते मरते जग मुआ, औरस मुआ न कोय।
दास कबीरा यों मुआ बहुरि न मरना होय।।

जगत में मृत्यु हर क्षण घट रही है पर कलापूर्ण मृत्यु नहीं घट रही है। यह मृत्यु क्या है? यह है होशपूर्वक मृत्यु यानी अहंकार की मृत्यु। एकबार यह मृत्यु आ जाए तो कबीर भरोसा दिलाते हैं कि और कोई मृत्यु नहीं घट सकती। कबीर कहते हैं कि-- **जिस मरने से जग डरै, मेरो मन आनंद।**
कब मरिहौं कब भेटिहौं, पूरन परमानंद।।

जगत भयभीत है मृत्यु से, क्योंकि वहाँ अतृप्ति में हो रही है मौत। मरने की तैयारी किसी की नहीं है। तरह-तरह की तृष्णा में दौड़ लगी हुई है-- धन-दौलत की, गाड़ी-मकान की, पद-सम्मान की, जीत और स्वामित्व की आदि-आदि। तरह-तरह के अनुभवों की चक्की में पिसे, हारे-जीते, जीते-हारे, हँसे-रोए, रोए-हँसे पर तृप्ति नहीं हुई, प्यास नहीं मिटी। मौत टलती रहे, जितनी टले -- यह अज्ञान छाया रहा और मौत आ गयी। यह बेहोशी की मौत है, कबीर इससे उबरने का आग्रह करते हैं-- **मरिये तो मरि जाइये, छूटि परै जंजार।**

सच को जान लिया तो कोई मृत्यु ही नहीं घटनेवाली। सारी प्यास परमात्मा में जा टिके, सारी तृष्णा परम पुरुष से जा लगे तो सारे संशय, सारे भटकाव की मौत हो जाय। कबीर ऐसी मौत में ही पूरन परमानंद को पा लेते हैं। क्योंकि--

जब लगि मरने से डरै तब लगि प्रेमी नाहिं।
बड़ो दूर है प्रेमघर समझ लेहु मन माहिं।।

मौत का डर हो तो प्रेम का प्रश्न ही नहीं उठता, वह घर बहुत दूर है, वहाँ तक पहुँचने के लिए अपने 'आपा' की, अपने 'स्व' की, अपने अहंकार की, अपनी तृष्णा की मृत्यु चाहिए। आपा मिटे तो ही प्रेमी से भेंट हो। सारी यात्रा प्रेमी से मिलन की है। मृत्यु उनके लिए परम की, पूर्ण की, प्रेम की चरम अवस्था है। वह अंत नहीं वह प्रारंभ है। वहीं जन्म है, वहीं जीवन है। वहीं सारे व्यर्थ की समाप्ति और सार्थक का उदय है। वहीं अंधेरे का विलयन और प्रकाश का उन्नयन है अर्थात् सम्यक जागरण सम्यक समर्पण है। सम्यक समर्पण सम्यक मृत्यु है। सम्यक मृत्यु सम्यक जीवन है और सम्यक जीवन आत्मक्रांति है। कबीर इसकी मिसाल हैं। ●

अनुकरणीय सत्यनिष्ठा

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

भारतीय समाज में व्यक्ति की श्रेष्ठता का निर्द्धारण किसी धर्म, मजहब, संप्रदाय या पंथ के साथ उसके जुड़ाव या संपृक्ति से नहीं अपितु उसके सदाचरण तथा सद्भाव द्वारा होता रहा है। चरित्रगत उच्चता तथा आचरणगत पवित्रता को समाज में सदैव सम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है। व्यक्ति की व्यापक सामाजिक प्रतिष्ठा सत्य, दया, प्रेम, त्याग, करुणा आदि गुणों के कारण ही होती रही है। घृणित कर्मों में लीन तथाकथित उच्चकुलीन व्यक्ति को भी समाज में निन्दनीय दृष्टि से देखा जाता रहा है। कबीर का दोहा है :

ऊँचे कुल का जनमिया करनी ऊँच न होय।
स्वर्ण कलश मदिरा भरा साधू निंदै सोय।।

कबीर के क्रांतिकारी व्यक्तित्व ने एक ओर समाज के दुर्गुणों पर कठोर प्रहार किया तो दूसरी ओर सद्वृत्तियों का प्रचार कर समाज सुधारक की सृजनात्मक भूमिका का निर्वाह किया। मस्तमौला, अक्खड़ तथा फक्कड़ होने के साथ-साथ उनमें आचारनिष्ठ साधु तथा कर्तव्यपरायण व्यक्ति के गुणों का समावेश था। असत्य का उग्र विरोध तथा सत्य के प्रति दृढ़ निष्ठा उनके व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग थी।

कबीरदास के चर्चित पद 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' की अंतिम पंक्ति है 'दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया'। चादर बेदाग़ रहे इसलिए 'जतन' की आवश्यकता है। किसी कवि की पंक्तियाँ हैं :

नहीं थी कबीर की चादर में कहीं कोई गाँठ,
खुले थे चारों छोर,
फिर भी संध्या-भोर--

टटोलती रही भक्तों की भीड़, कि होगा कहीं अनमोल रतन
नहीं तो बाबा काहे को करते इतना जतन।

वास्तव में 'अनमोल रतन' वे मानवीय मूल्य हैं जो व्यक्ति और समाज के बहुविध उन्नयन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं तथा जिनका अभाव मानव-समाज को विश्रृंखलित एवं विघटित कर देता है। कबीर ने एक दोहे में इस अनमोल रत्न की चर्चा की है--

कबीर दरिया प्रजल्या, दाझैं जल थल झोल।
बस नाहीं गोपाल सूँ, बिनसै रतन अमोल।।

सीधा अर्थ है कि जब समुद्र बड़वाग्नि से प्रज्ज्वलित होता है तब जल, थल, वृक्ष आदि दग्ध हो जाते हैं, अमूल्य रत्न विनष्ट हो जाते हैं। यहाँ दरिया यानी समुद्र का प्रयोग मनुष्य के मन के लिए और अग्नि का प्रयोग बैर भावना के लिए किया गया है। जल-स्थल आदि संपर्क में आनेवाले मनोभाव हैं तथा अमूल्य रत्न मनुष्य के गुण हैं। तात्पर्य है कि दूषित वृत्तियाँ मानव के गुणों को नष्ट कर देती हैं।

मूल्यहीनता के जिस परिवेश में कबीर ने जन्म लिया था; उस काल की सर्वाधिक आवश्यकता थी मूल्यों की पुनर्स्थापना तथा यत्नपूर्वक उनकी साज-सँभाल। संत कबीर ने इन्हीं मूल्यों का सहारा लेकर अपने समय के धार्मिक पाखण्ड और सामाजिक अंधविश्वास को ध्वस्त करने के लिए विक्षोभभरी वाणी से दुर्वृत्तियों पर प्रहार किया। उन्होंने चरित्र की शुद्धता, आचरण की पवित्रता, कर्त्तव्यपरायणता तथा सत्यनिष्ठा पर बल देकर एक ओर समाज के विघटित मूल्य-बोध को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया तो दूसरी ओर धार्मिक मूल्यों को व्यापक मानवीय आधार प्रदान कर मानव-धर्म की प्रतिष्ठा की।

डॉ० रघुवंश लिखते हैं 'उनके मन में मनुष्य की परिकल्पना व्यापक मूल्यों के आधार पर है और इस अखंड विश्वास के सहारे साहस के साथ उन्होंने समस्त धार्मिक विधि-विधान को अस्वीकार कर मनुष्य को सहज मूल्यों पर प्रतिष्ठित किया। यह वह मानव मिलन की भूमिका है जिसकी प्रतिष्ठा के लिए कवि को जाति, कुल, धर्म-मत, संस्कार, संप्रदाय, विश्वास तथा शास्त्र आदि के भ्रमजाल को छिन्न करना पड़ा।' (कबीर एक नई दृष्टि : पृष्ठ - १०९)

समाज में व्याप्त अंधविश्वास, कुरीतियों और पाखंड के विखंडन हेतु तथा अन्याय, अनाचार, हिंसा आदि के खिलाफ कबीर ने सत्य, अहिंसा, प्रेम तथा भाईचारे का संदेश दिया। उन्होंने धर्म की वह सच्ची राह दिखाई जहाँ पहुँचकर काबा का काशी में और राम का रहीम में रूपान्तरण हो जाता है :

काबा फिरि काशी भया रामहि भया रहीम।

मोट चून मैदा भया, बैठ कबीरा जीम।।

कबीर ने जीवन में सत्य की महत्ता को दृढ़ता से स्वीकार किया है। उनकी स्पष्ट अवधारणा है कि सत्य को पहचाने बिना जीवन का मार्ग प्राप्त नहीं किया जा सकता। परन्तु कबीर का यह सत्य केवल ऊपरी चमक - दमक, वेष - भूषा से नहीं पाया जा सकता, इसके लिए गंभीर निष्ठा की जरूरत है। उनकी रचनाओं में सत्य का प्रयोग जीवन मूल्य के रूप में तो है ही, कहीं-कहीं परमसत्ता और सुख के लिए भी है। उन्होंने 'हमन गुरु नाम साँचा है' कहकर गुरु को भी परमात्मा की तरह सत्यस्वरूप स्वीकार किया है। सत्यस्वरूप प्रभु की प्राप्ति के लिए कबीर के सत्गुरु ने जो 'जुगति लखाई' है उसका सार इन पंक्तियों में है :

दया राखि धरम को पालै जग सो रहे उदासी।
अपना सा जिव सबको जानै, ताहि मिलै अविनासी।।
सहै कुशब्द बाद को त्यागै, छाँड़ै गर्व-गुमाना।
सत्त नाम ताही को मिलिहै, कहै कबीर सुजाना।।

कबीर संसार के मिथ्या प्रपंचों से दूर रहकर ईश्वर की ओर उन्मुख होने का परामर्श देते हैं : 'झूठी काया झूठी माया आखिर मौत निदान /कब सुमिरोगे राम'।

'झूठा आल-जँजाल तजि पकड़ा साँच कबीर' पंक्ति का रचनाकार इस बात से चिंतित है कि मनुष्य सब कुछ जानते हुए भी, सोने की भाँति बेशकीमती सच को छोड़कर काँच (मायादि) के खोखले आकर्षण में आसक्त है :

कबीर लज्जा लोक की, सुमिरै नाहीं साँच।
जानि बूझि कंचन तजै, काठा पकड़ै काँच।।

x x x x

झूठे को झूठा मिलै, दूणां बधै सनेह।
झूठे कूँ साचा मिलै, तब ही टूटै नेह।।

माया, मोह तथा मिथ्यात्व के फंदे में जकड़े मानव को सच्चे गुरु की प्राप्ति से ही मुक्ति मिल सकती है । सौभाग्य से कबीर दास को ऐसा सद्गुरु प्राप्त हो गया था। तभी तो उन्होंने सत्य-स्वरूप प्रभु की भक्ति में अपने को अर्पित कर दिया था। सत्य के प्रति इस अनुराग के कारण ही वे सांसारिक अभिशाप और काल के भय से मुक्त हो गए थे।

उन्होंने इस बात की पुष्टि इन दोहों में की है-

साँचे स्राप न लगाई, साँचे काल न खाय।
साँचे को साँचा मिले, साँचे मांहि समाय।।

झूठि बात नहिं बोलिये, जब लगि पार बसाय।
अहो कबीरा साँच गहु, आवागमन नसाय।।

सत्याश्रयी व्यक्ति को किसी प्रचार या प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं होती। उसके अंतःकरण में विराजमान सत्य की प्रतीति सर्वज्ञ या सुजान को स्वतः ही हो जाती है :

तेरे अंदर सांच जो बाहर कछु न जनाव।
जाननहारा जानिहै, अंतरगति का भाव।।

सत्यनिष्ठ एवं सदाचारी व्यक्ति अध्यात्म की ऊँचाइयों को उपलब्ध कर सकता है। संत कबीर ईश्वर के प्रति सच्चा आचरण तथा दूसरों के प्रति शुद्ध भाव को अधिक महत्त्व देते हैं, उनका स्पष्ट निर्देश है--

साँई सेती साँच चलि, औरनि सूँ सुध भाई।
भावै लाँबै केस रखि, भावै घुरड़ि मुड़ाइ।।

कबीर के लिए सबसे बड़ी तपस्या है सत्य। वे मानते हैं कि सत्यवादी के हृदय में ईश्वर का निवास होता है :

सांच बरोबर तप नाहीं झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदै साँच है ताके हिरदै आप।।

सच एवं झूठ के अंतर को इतनी सहजता से व्यक्त करने वाले कबीर तो सत्यवादी पर सबकुछ निछावर कर देने को उद्यत थे--

प्रेम-प्रीति का चोलना पहिरि कबीरा नाच।
तन-मन वापर वारिहौं जो कोई बोलै साँच।।

प्रेम के ढाई आखर का पाठ सिखाने वाले सत्याश्रयी कबीर की रामजी से प्रार्थना है कि वे झूठे व्यक्ति का साथ उन्हें स्वप्न में भी न दें--

जानि बूझि साँची तजै, करै झूठ सों नेहु।
ताकी संगति रामजी, सपनेहूँ जनि देहु।।

सत्य के प्रति यही निष्ठा ईमान को दृढ़ करती है : **सो हिन्दू सो मुसलमान/ जाको दुरुस रहे ईमान**। इसके लिए कठिन तपस्या या साधना की आवश्यकता नहीं है, केवल साध लेना है अपने मन और इन्द्रियों को। लेकिन मन है बड़ा विचित्र। वह सब कुछ जानते हुए भी अवगुणों में प्रवृत्त होता है--

मन जानै सब बात, जान बूझि औगुन करै।
काहे की कुसलात कर दीपक कूँवौ परै।

सत्य और ईमान के प्रति दृढ़ रहने वाले व्यक्ति की कथनी - करनी में भेद नहीं होता। ऐसे व्यक्ति को ईश्वर की कृपा सहज ही प्राप्त हो जाती है--

जैसी मुख ते नीकसै, तैसी चालै चाल।
पार ब्रह्म नेड़ा रहै, पल में करै निहाल।।

सांसारिक विषय वासनाओं के मिथ्या जंजाल में फँसे मनुष्य को सचेत कर कबीर ईश्वर यानी सत्य की सत्ता से साक्षात्कार कराना चाहते हैं। वे समझाते हैं : **'झूठे सों प्रीति लगाइ कर, साचे कूं भूले'।**

तैत्तिरीयोपनिषद् में ऋषि ने अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए कहा था– "सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायात् मा प्रमदः" अर्थात् सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो तथा स्वाध्याय में कभी आलस्य न करो। कबीर ने वैदिक ऋषि की इसी वाणी को अपने समय की परिस्थिति का आकलन कर दृढ़ता से दुहराया था।

उनकी वाणी में दृढ़ता तथा तेजस्विता का समावेश इसलिए हो सका था क्योंकि उनमें अखंड आत्मविश्वास था। इसी के बल पर वे शास्त्रज्ञ पंडितों तथा ब्राह्मण वर्ग को चुनौती भी दे सके थे– **'तू बाह्मन मैं कासी का जोलहा बूझहु मोर गियाना'।**

कबीरदास के सत्यानुराग को रेखांकित करते हुए जिन कवियों ने उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है– उनमें भगत पीपा, दुलाराम, दीन दरवेश तथा दादूदयाल प्रमुख हैं। भगत पीपा ने 'नाम कबीर साच परकास्या' कहा है तो दुलाराम का विचार है– 'परहितकारी संत थे साहेब सत्य कबीर'। दीन दरवेश ने 'कहत दीन दरवेश सत्त का शब्द सुनाया' लिखा तो दादूदयाल ने उनकी सत्यनिष्ठा की प्रशस्ति में एक दोहे की रचना की–

साँचा शब्द कबीर का, मीठा लागे मोय।
दादू सुनता परम सुख, केता आनँद होय।।

संत कबीर की सत्य के प्रति गहरी सम्पृक्ति का प्रभाव महात्मा गाँधी पर भी पड़ा था। 'गाँधी और कबीर' शीर्षक अपने आलेख में डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने लिखा है– "कबीर की ही भाँति उनके (गाँधीजी के) लिए सत्य ही एकमात्र परमात्मा है। सत्य की स्वानुभूति के प्रकाश में ही वे जगत् की सब बातों को देखना चाहते हैं। उनके लिए कार्याकार्य का वही एक मानदण्ड है। अपने प्रत्येक कार्य के लिए वे उसी की अनुज्ञा चाहते हैं। उसी के भीतरी शब्द की ओर वे हमेशा अपने कान लगाए रहे हैं और उसी के आदेश के अनुसार आचरण करने का प्रयत्न करते हैं। फिर चाहे ऐसा करने में सारी दुनिया के विरुद्ध जाना पड़े। इसी अभिप्राय से कबीर अपने को 'सत्यनाम का उपासक' और गाँधी अपने जीवन को 'सत्य के प्रयोग' कहते हैं।"

कबीर सत्यनिष्ठा को आधार बनाकर समाज की विसंगतियों के खिलाफ

आवाज उठाई। परंपरा से प्राप्त जीवन एवं दर्शन को उन्होंने जस का तस स्वीकार नहीं किया, उसमें उन्हें जो सत्य प्रतीत हुआ उसकी साखी दी और जो असत्य लगा उसका विरोध किया। उन्होंने शास्त्र ज्ञान (कागद की लेखी) के स्थान पर अनुभव ज्ञान (आँखिन देखी) की महत्ता स्वीकार की। वे उलझे हुए पांडित्य के स्थान पर सुलझी हुई अनुभव सिद्ध वाणी के पक्षधर थे–

मैं कहता आँखिन की देखी, तू कहता कागद की लेखी
मैं कहता सुरझावनहारी, तू राख्यौ उरझाई रे
तेरा मेरा मनुवाँ कैसे इक होय रे।

x x x x x x

कागद लिखि - लिखि जगत भुलाना मन ही मन न समाना।
जप तप संजम पूजा अरचा ज्योतिष जग बौराना।

कबीर के समय का समाज परस्पर विद्वेष एवं वैमनस्य के अराजक माहौल में विभाजित था। पाखंडों, वाह्याचारों एवं मिथ्याडंबरों के कारण सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक विभेद चरम पर था। ऐसे कठिन काल में कबीर सत्य की शक्ति के सहारे निर्भय होकर खरी-खरी बात कहने के लिए आगे आए। अपनी आक्रोशभरी वाणी में उन्होंने हिंदू - मुस्लिम दोनों संप्रदाय के लोगों को फटकारा। उन्होंने व्यंग्य के तीखे प्रहारों से सबकी खबर ली; जातिगत भेद पैदा करने वाली व्यवस्था से बिना किसी लाग-लपेट के सवाल किया–

'अरे इन दोउन राह न पाई
हिंदुन की हिंदुआई देखी तुरकन की तुरकाई।

x x x x x x

'भूला भरम परै जिनि कोई, हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई'

x x x x x x

जो तू बाँभन बँभनी जाया, आन बाट ह्वै काहे न आया
जो तू तुरक तुरकानी जाया, भीतर खतना क्यों न कराया

x x x x x x

एक बूँद एकै मलमूतर एक चाम एक गूदा
एक ज्योति ते सब उतपन्ना को बाभन को सूदा।

यह फटकार तथा अन्याय-अत्याचार के खिलाफ कठोर वाणी तत्कालीन परिस्थितिवश उत्पन्न हुई थी। 'साँच ही कहत औ साँच ही गहत हौं' का उद्घोष करने वाले कबीर इस बात के आग्रही थे कि सचाई चाहे अनुभव से अर्जित की गई हो या परंपरा से प्राप्त हुई हो, उसकी जाँच आवश्यक है। मानव मात्र की

कल्याण कामना ही उनकी कसौटी थी जिस पर वे सत्य की परख करते थे।

विजयदेव नारायण साही जी की कबीर केन्द्रित कविता 'प्रार्थना गुरु कबीरदास के लिए' विशेष रूप से उल्लेख्य है :-

परम गुरु/ दो तो ऐसी विनम्रता दो
कि अंतहीन सहानुभूति की वाणी बोल सकूँ
और यह अंतहीन सहानुभूति /पाखंड न लगे।
दो तो ऐसी निरीहता दो/कि इस दहाड़ते आतंक के बीच
फटकार कर सच बोल सकूँ
और इसकी चिन्ता न हो/ कि इस युद्ध में
मेरे सच का इस्तेमाल कौन अपने पक्ष में करेगा।।

कबीर का स्वर इतना आत्मीय और प्रेरक रहा है है कि वह अनेक परवर्ती कवियों की रचनाशीलता का अंग बन गया है। निराला, नागार्जुन, धूमिल आदि अनेक कवियों की विविध रचनाओं में कबीर की मुद्रा का अनुभव किया जा सकता है।

कबीर ने सत्य के भाव वाले जिस सद्भाव का संदेश दिया है आज हम उसके मूल अर्थ से विमुख होकर मिथ्या की भित्ति पर सद्भाव फैलाने का उपक्रम कर रहे हैं। इसीलिए सब कुछ अप्रभावी और निरर्थक सा लगता है। इससे हमारा दोष तो है ही, संसार की प्रकृति भी ऐसी है जो सत्य के प्रति वितृष्ण और मिथ्यात्व के प्रति आग्रही है। प्रस्तुत हैं कबीर विरचित कुछ पंक्तियाँ :

साँच कहूँ तो मारिहै, झूठे जग पतियाइ।
यह जग काली कूकरी, जो छेड़े तो खाइ।।

x x x x x

साँचे कोइ न पसीजई, झूठे जग पतियाय।
गली-गली गोरस फिरै, मदिरा बैठि बिकाय।।

x x x x x

संतो देखहु जग बौराना।
साँच कहूँ तो मारन धावै झूठे जग पतियाना।।

x x x x x

साँच कहौं तो सब जग खीझै झूठ कहा ना जाई।
कहहिं कबीर तेई भौ दुखिया जिन यह राह चलाई।।

एक अन्य पद में विस्तार से इसका विवेचन है :

ऐसा तोरा झूठा मीठा लागा
तार्थैं साचे सू मन भागा
झूठे के घर झूठा आया, झूठा खान पकाया।
झूठी सहनक, झूठा बाह्या, झूटै झूठा खाया।।
झूठा ऊठण, झूठा बैठण, झूठी सबै सगाई
झूठे के रंगि झूठा राता, साचे को न पत्याई।।
कहे कबीर अलह का पंगुरा सांचे सू मन लावौ।
झूठे केरी संगति त्यागौ, मन बांछित फल पावौ।।

जो स्थिति कबीर के जमाने में थी आज भी वैसी ही है। आज समाज की स्थिति यह है कि–

सच सूली पर चढ़ा हुआ है झूठ गले का हार हो गया
बात फ़र्ज़ की क्या कहते हो अब सबकुछ अधिकार हो गया।

कवि डॉ० चंद्रदेव सिंह ने इस पीड़ा को वाणी देते हुए विस्तार से इसकी चर्चा की है :

सच मत कहो कान दुखता है
क्या पूरी बस्ती में सच का कहीं एक भी घर दिखता है?
सच मत कहो कान दुखता है।
सच है मात्र शब्द प्रवचन का कुंठा का; कटुता का; व्रण का।
शासन और समाज वहिष्कृत सच केवल साधन ज्ञापन का।
दिन को भी जब दिन कहने में जीभ काँपती स्वर रुकता है
सच मत कहो कान दुखता है।
सच का उच्चारण पारायण, मिथ्या ही अनवरत आचरण।
सच तो विवश, विकृत, निर्वासित मिथ्या का अभिनव अभिनंदन।
सुविधा, सुख, समृद्धि सभी का सर छल के आगे झुकता है
सच मत कहो कान दुखता है।

आज सत्यवादी पीड़ित-प्रताड़ित है। मिथ्याचारी सम्मानित हो रहा है। कबीर ने अपने गुरु रामानंद से भक्ति, योग, निर्भीकता आदि के साथ सदाचरण भी प्राप्त किया था। उन्होंने गुरु के विचारों का सार ग्रहण किया–

सत गुरु तत कह्यो विचार / मूल गहौ अनभै विस्तार

'सार - सार को गहि रह्यौ थोथा देउ उड़ाइ' के रचनाकार ने सत्य को जीवन के साररूप में स्वीकार किया था क्योंकि वे जानते थे कि हृदय की सच्चाई से हर प्रकार का लेन-देन सहज है, उलझन तो झूठे हिसाब किताब में

है। ईश्वर के दरबार में सत्यनिष्ठ व्यक्ति के लिए कोई असुविधा नहीं है। कोई उसका पल्ला पकड़ने वाला नहीं हैं–

लेना देना सोहरा जे दिल साँचा होय।
उस चंगे दीवान में, पला न पकड़े कोय।।

कबीर ने छुआछूत, कर्मकाण्ड, मिथ्याचार, आडंबर और ढकोसलों का तीखे तेवर और व्यंग्य के प्रहारों के साथ तीक्ष्ण विरोध करते हुए जो मानवीय मूल्य स्थापित किए, उनकी गहरी अर्थवत्ता तथा उपादेयता को समझ कर हम आज की विसंगतियों से समाज को मुक्त कर सकते हैं। 'मसि कागद' को न छूकर भी उस संत कवि ने हमें जो दिशा और दृष्टि प्रदान की है उसका उपयोग करते हुए हम भक्ति, श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, सत्य, समानता, एकता, सौहार्द्र आदि की स्थापना कर मानवता की तस्वीर को सुघर बना सकते हैं।

अंततः कह सकते हैं कि कबीर झूठ के मुल्क में सत्य के राजदूत थे। वे घटाटोप अंधकार के बीच प्रकाश पुंज थे। कलकत्ते के प्रसिद्ध शायर एज़ाज़ अफ़ज़ल ने इसी भाव की पंक्तियों के साथ कबीर के प्रति श्रद्धा ज्ञापित की है :

झूठ की अक़लीम[1] में सच का सफ़ीर[2]
तीरगी[3] के अह्द[4] में रौशन ज़मीर[5]
प्यार की बानी कभी मरती नहीं
आज भी ज़ेह्नो[6] में ज़िंदा है कबीर। ●

1 अक़लीम = मुल्क 2 सफ़ीर = राजदूत 3 तीरगी = अंधकार 4 अह्द = ज़माना
5 ज़मीर = अंतरात्मा 6 ज़ेह्नो = मस्तिष्क।

कबीर : तोड़ने और रचने की समझ

डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय

जब सृष्टि पल-पल बदलती है, एक क्षण का पर्यवसान दूसरे में हो जाता है, तब ६०० साल पहले का संत-कवि जिसके काव्य में तत्कालीन स्थितियाँ, दबाव और चिंताएँ थीं, आज क्यों प्रासंगिक हुआ जा रहा है? संवेदना, सर्जनात्मकता सत्य की खोज, अनुभूति की उदात्तता और विराट चेतना के कारण या वर्तमान परिस्थितियों और गठनाओं के कारण? यदि कारण दूसरा है, जैसा कि बहसों में दिखाई देता है, तो क्या हम उसी मध्यकाल में लौट गए हैं, जहाँ कबीर थे और दोनों हाथ उठा कर चेता रहे थे-- 'जागत रहियो भाई!' कवि की 'चेतावणी' और इतिहास के अनुभवों का क्या हुआ? 'मानव-सभ्यता की अग्रगामी यात्रा' क्या मुर्दा शब्दावली है? क्या डबरे के पानी की तरह हम अब तक आवर्त में ही घूमते रहे?

--वही कठमुल्लई, पाखंडवाद-बाह्याचार, मनुष्य के श्रम की अवमानना, रूढ़ियां, संकीर्णताएं, फिरकापरस्ती, मंदिर - मसजिद - काबा - कैलास के झगड़े, झूठ का बोलबाला, वही हत्या और ज़िबह, बल्कि उससे ज्यादा। ऐसे में अपनी प्रासंगिकता कबीर को स्वयं ही हताश करेगी-- 'जुगन जुगन समुझावत हारा कही न मानत कोई रे!'

कवि की प्रासंगिकता की जड़ें तो अपने समय के बीचोंबीच उसकी सजीव और सार्थक उपस्थिति में होती है। अगले युगों में तो वह कस्तूरी-मृग जैसी प्राणवान गंध-यात्रा करती है। क्योंकि इतिहास के प्रवाह में कविता की तात्कालिकता क्षरित होती जाती है और वह चिरन्तन संवेदन, चेतना, मर्मस्पर्शी जीवनदृष्टि काव्य-गुणों आदि की अंतः सरणी में प्रवाहित होती रहती है, जिसे काल के विनाशकारी हाथ छू नहीं पाते। परंतु क्या यह विडम्बना नहीं कि आज हम स्थूल घटनाओं और स्थितियों की आवृत्तियों का प्रतिरोध करने के लिए कबीर को

पुकार रहे हैं। यहाँ प्रासंगिकता से अधिक चिंतनीय 'प्रसंग' हो जाता है। ऐसे वक़्त गुहार लगाने से कबीर गौरवान्वित नहीं होते, बल्कि हमें अपनी ऐतिहासिक निष्फलता की ही याद दिलाते हैं और शायद यह याद ही आत्म-दण्ड के रूप में हमारे बीच कबीर को अधिक प्रासंगिक बनाती है।

प्रासंगिकता का दूसरा पहलू भी शायद कबीर से ज्यादा हमारे समय से जुड़ा है जो आज भी कबीर के साथ लगभग वैसा ही व्यवहार कर रहा है, जैसा उनके युग में हुआ था। तब सच बोलने पर जो लोग उन्हें मारने दौड़ते थे, मर जाने पर शव के लिए भी झगड़े और झगड़ते हुए भी न जाना कि कबीर क्यों तो जिये और क्यों मरे? वे न उनके साईं को समझे, न मर्म को, न सत्य को और न उनकी व्याकुलता को। उन्हें कबीर की क्षार हुई अस्थियाँ ही बाँटे में मिली थीं। और आज फिर वही! उन्हें मतवाद में, पंथवाद में बाँधने की कोशिशें कोई उनकी सामाजिक-मानवीय चिंता को भूल कर कोरे धार्मिक संत की तरह उनकी पूजा-आरती उतार रहे हैं, तो कोई उनके आध्यात्मिक-दार्शनिक स्वरूप को नज़रअंदाज़ कर उन्हें भौतिकवादी क्रांतिकारी और समाज-सुधारक घोषित कर अपना झंडा और नज़रिया उन्हें थमा रहे हैं। यानी कबीर के बहाने अपने ही मतवादों की स्थापना में लगे हैं। अगर कबीर होते तो कहते : 'अरे इन दोउन राह न पाई'

कबीर के दो चेहरे नहीं थे, 'साँच ही कहत और साँच ही गहत हौं'— उनका सीधा-सच्चा, स्पष्ट मार्ग था। किस वक्त सच बोलना, कितना सच बोलना, किस वक्त चुप हो जाना, किसके आगे धर्म कहना, किसके आगे जगत या माया, कहाँ साहस दिखाना, कहाँ मेमना बन जाना— ऐसी भेद-बुद्धि कबीर में होती तो वे इतिहास की शिलाओं को फोड़ कर हमारे बीच प्रकट नहीं हो सकते थे, क्योंकि ऐसे हिसाबी-किताबी लोग रोज मरते और रोज पैदा होते हैं। 'दो कबीर' या 'खण्डित कबीर' की अवधारणा सचमुच एक संश्लिष्ट कवि के साथ घटी त्रासदी है।

कबीर न तो चंद आक्रामक लौकिक उक्तियों के प्रवक्ता हैं, न आत्म-मुक्ति की खोज में, किसी कंदरा में अलख जगाने वाले जोगी, जती या संन्यासी। एक ओर उनका अध्यात्म इस भीड़ भरी दुनिया के बीच से गुज़रता है और दूसरी ओर यह दुनिया उनके आध्यात्मिक आँवे से गुज़र कर एक नया जीवनार्थ पाती है। कबीर आध्यात्मिक उमंग में जब गाते थे :

'हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या।
रहे आज़ाद इस जग में, हमन दुनिया से यारी क्या?'

तो वे कहीं भीतर से दुनिया की 'होशियारी' और मनुष्य की 'पराधीनता' से विचलित भी होते थे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर की समाज-सुधारक और विद्रोही-चेतना के केन्द्र में अध्यात्म है। (जो तब समय के केन्द्र में भी था) कबीर जिस ज्ञान की आँधी की बात करते हैं उसे भी कोई ऐहिक दर्शन और तर्क नहीं समझा सकता। वह भौतिकवादियों का मुहावरा नहीं, एक संत का विस्फोट है, जिसकी परिणति आँधी के बाद बरसने वाला पानी है : **'आँधी पाछे जो जल बरसै तिहिं तेरा जन भींनां'** इस आँधी और इसके बाद की बारिश मिल कर ही उस ज्ञान को सार्थक करती है जिससे मन के और शायद लोक के भी सारे अँधेरे छँट जाते हैं। कबीर क्यों सारे जीवन भर आँधी उठाते रहे, दिन-रात जूझने वाला संग्राम लड़ते रहे? वे अंततः चाहते क्या थे? बारिश, प्रेम की बारिश! -- यानी राग का विस्तार और उदात्तीकरण। वे अध्यात्म-रस को जीवन-रस में बदल कर सबसे बाँट कर पीना चाहते थे। उनका अधिकांश काव्य, सिद्धान्त-कथन या आत्म संबोधन नहीं है-- लोक-संबोधन है। वे कहीं साधू को संबोधित करते हैं, कहीं अवधूत को, कहीं भाई को, कहीं पांडे को, मुल्ला को, दरवेश को, जोगी को, माया को। ऐसा विराट संबोधन काव्य पूरे हिन्दी साहित्य में दुर्लभ है और विशेष कि यह उपदेश काव्य नहीं; उद्‌बोधन आलोचना, आक्रमण, व्यंग्य और आत्मानुभूति से भरा है।

यह समझना मुश्किल है कि कबीर को तोड़ने-छाँटने की ज़रूरत क्यों पड़ी? कबीर का धर्म वह धर्म तो नहीं, जो बाँटता हो या अफीम पिला कर सुलाता हो या संसार के सारे कर्म को त्याग कर निवृत्ति की ओर ले जाता हो। वे तो दो टूक बात कहते हैं - 'हाथ पांव कर काम सब, चित्त निरंजन नालि' जीवन और अध्यात्म की ऐसी साझेदारी तो एक तरह से निठल्लों के 'धर्म' के विरुद्ध खड़ा एक 'धर्म' है, जो अकेले की मुक्ति नहीं, जगत की मुक्ति चाहता है, अपना हक नहीं, मनुष्य का हक चाहता है। तभी तो वे सबको कहते हैं - 'मैं तो सबही की कहौं।' इसीलिए कबीर का धर्म; अनायास ही समाज-सुधार और मनुष्यता का प्रतिमान बन जाता है। उनका सामाजिक कथ्य, उनका विद्रोह अध्यात्म में गुंथा हुआ है और सामाजिक कथ्य और विद्रोह में अध्यात्म। इन्हें अलग-अलग करने पर उनकी चादर ही तार-तार हो जाती है।

कबीर की सामाजिकता ने उनके अध्यात्म को एक विरल दृष्टि दी और उनके अध्यात्म ने उन्हें सबसे बड़ी सामाजिक वस्तु दी-- निर्भयता - भय से मुक्ति और मनुष्य की स्वाधीनता एवं समानता के प्रति अविकल्प निष्ठा। धर्म के धरातल पर खड़े कबीर सबको इसीलिए निर्भय होने को कह सके कि वे स्वयं 'जनम-मरण' के भय से मुक्त हैं। संतत्व ने ही उन्हें 'साँचा सूरमा' बनाया, सत्य निष्ठा दी, आत्म-त्याग, उदात्तता, प्रेम जैसे तत्त्व दिए जो धर्म से अधिक जीवन के काम

के हैं। परंतु उनकी लौकिकता को आध्यात्मिकता से विलग कर समझना एक तरह से उनके शक्ति-स्त्रोत और समष्टि दर्शन को ही काट देना है। उन्हें अध्यात्म से जो मिला, वह जीवन ने पाया है और जीवन से जो मिला उससे उनका अध्यात्म पुष्ट और सटीक हुआ है। उनकी अध्यात्म वाणी-लोक तक जाती है और लोक से अध्यात्म की ओर लौटती है। इस तरह केन्द्र से परिधि और परिधि से केन्द्र की आवाजाही उनमें बनी रहती है। वे अपनी अनुभूति और ज्ञान को जन-सामान्य तक पहुँचाना चाहते थे। ज्ञान को पंडितों की तरह पैंच और गांठ में नहीं रखते थे, बल्कि वे ऐसे ज्ञान से डरने की सलाह देते थे- **'कहै कबीर वा सिष को डरिए, हिरदय गाँठि न खोलै।'** उनकी सहज समाधि सामान्य जनता के लिए ही है, क्योंकि साधकों, सिद्धों के लिए तो 'समाधि' सहज ही होती है। वे लोगों को 'उरझावनहारी' बात नहीं 'सुरझावनहारी' बात कहते थे। कथनी और करनी में उनके यहां कोई भेद नहीं है। इसलिए उनकी वाणी में विश्वसनीयता है। वह जन सामान्य में समझदारी, आत्मविश्वास और आत्मबल पैदा करती है। अपनी सत्यनिष्ठा और निर्भयता के चलते ही काशी में रहते हुए हुए भी वे धार्मिक मतवादों और पाखंडों का विरोध कर सके। यह धर्म पर आक्रमण नहीं था क्योंकि वे तो स्वयं आस्तिक संत थे, उनका आक्रमण पाखंडों, बाह्याचारों और फिरकापरस्ती पर था। परंतु धर्म के तमाम ठेकेदारों ने इन्हें ही 'धर्म' की सत्ता दे दी थी। इसलिए पाखंडों पर आक्रमण को धर्म पर आक्रमण कहा गया और जनता द्वारा भी शायद यही समझा गया, क्योंकि भारत की जटिल सामाजिक संरचना में धर्म के साथ उलझे बाह्याचारों को उससे अलग करना बहुत मुश्किल है और ऐसी उत्तेजना को रोकना भी जो बाह्याचारों पर आक्रमण को धर्म पर आक्रमण मान लेने से पैदा होती है, क्योंकि लोग यह नहीं समझ पाते कि धर्मों की प्रणालियाँ और प्रविधियाँ जो कभी ईश्वर को पाने के लिए विकसित की गई थीं, कब निर्जीव रूढ़ियों का रूप लेकर स्वयं इष्टप्राप्ति की बाधा और जनता को बांधने, तोड़ने का काम करने लगती हैं।

कबीर का जोखिम बहुस्तरीय था। वे जिस मध्यकाल में हुए थे उसमें बहुत से आंतरिक विखंडनों के बावजूद प्रमुख रूप से दो ही जातियाँ थीं, जिनके बीच ऐतिहासिक और तात्कालिक कारणों से भयानक वैमनस्य और अपने में अड़े रहने की ज़िद थी। इससे कई सामाजिक, नैतिक समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं। विद्वेष को समाप्त करने के दो ही उपाय उन्हें दिख रहे थे-- एक तो दोनों को बाह्याचारों की व्यर्थता बताना और दूसरा भीतर के अद्वैत से साक्षात्कार कराना। मर्म को न समझना और मिथ्या को सच का दर्जा देना उस युग की विडंबना थी:

'हिन्दू कहे मोहि राम पियारा तुरुक कहे रहिमाना।
आपस में दोउ लरि लरि मूए मरम न काहू जाना।।'

लेकिन कबीर के लिए यह समझाना बहुत मुश्किल था-- खासकर भीतर का अद्वैत दिखाने के लिए बाहर का कूड़ा-करकट हटाना क्योंकि कबीर जन्म से जुड़ी किंवदन्ती के बावजूद, मुस्लिम जुलाहा परिवार के सदस्य थे-- तो, मुसलमान होकर इस्लाम को ललकारना (जिसकी एक राजनीतिक सत्ता भी थी) और मुसलमान होकर पंडितों, जोगियों और हिन्दू धर्म को काशी में ललकारना-- दोनों पैर आरी पर रख कर चलने के समान था। लेकिन कबीर चल पड़े और ता-ज़िन्दगी। वे सच्चे बागी थे जो साधारण घोड़े को नहीं, अड़ियल घोड़े को ही फेरा करते हैं : 'सु असली तुरंग कहा फेरे, अफरत फेरे सो बागी है।'

अपने बागी धर्म के निर्वाह के लिए कबीर इन्कार की पराकाष्ठा पर पहुँच गए थे-- उन्होंने अपनी ही जाति से इन्कार कर दिया था-- 'ना मैं हिन्दू ना मुसलमान।' वे जातियों के बाहर और धार्मिक मतवादों से ऊपर खड़े हो गए- **'पंडित मुल्ला जो लिख दीया छांड़ि चलै हम कछू न लीया।'** नतीजतन वे सब तरफ से कट कर अकेले रह गए थे - 'चला अकेला संग न कोई।' उनका संग निभाता भी कौन? उनके प्रेम का घर खाला का घर तो था नहीं कि सीधे घुस गए। वहां सीस उतार कर धरती पर रखना और फिर घुसना था। लोग तो जीने के लिए साथ करते हैं, भला मरने के लिए संग कौन करेगा? मनुष्य की उदारता और उदात्तता किस तरह उसे अकेला कर देती है यह कबीर में देख सकते हैं। पर उन्हें इसकी पर्वाह नहीं थी। वे ललकार उठे कि सच्चा ही सच्चे के साथ रहे तो बेहतर है, झूठे आएँ तो उन्हें मार भगाना ही ठीक है-- **'सांचे के संग सांच बसत है, झूठे मार हटाये।'** यह ठसक जीवन-मरण के चक्कर में फँसे, ठगिनी माया की फांस में कसे आदमी की नहीं हो सकती। उन्होंने बलि, हत्या, मंदिर, मसजिद, बांग, माला सबके खिलाफ तो कहा ही, उन योगियों को भी नहीं बख्शा जिनका प्रभाव उनकी धर्म-साधना पर था : कहते हैं-- **'मन न रंगाए रंगाए जोगी कपड़ा'**, और यहाँ तक कि :

'जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले। काम जराय जोगी होई गैल हिजरा।।'

कई जगह वे चार्वाकों की तरह तर्क देते हैं। परन्तु अंत में एक आस्तिक संत के ही मुकाम पर पहुँचते हैं। यही उनमें और नास्तिकों, अनात्मवादियों और भौतिकवादियों में अंतर है। देखें :

'नांगे फिरे जोग जो होई, बन का मिरग मुकुति गया कोई।
मूंड मुडाए जो सिधि होई, सरगहिं भेड़ न पहुँची कोई।।
बिंदु राख जो तरिये भाई, तो खुसरै क्यूं न परम गति पाई।

लेकिन अंत में कहते हैं कि ये वे ही लोग करते हैं जिन्होंने 'आतम राम' नहीं चीन्हा : उन्हें भला सिद्धि कैसे मिल सकती है : 'राम नाम बिनु को सिधि पाई।'

ऐसे कथनों को उनके अध्यात्म से काट कर पेश करना क्या उचित होगा? हम चाहें तो आध्यात्मिकता को अपने जीवन से खारिज कर दें, परंतु कबीर के जीवन से उसे खारिज करने का हमें क्या अधिकार है?

यह ठीक है कि कवि को अपने समय में उपलब्ध करने का एक अर्थ कवि में से अपने कवि को चुनना होता है। इसे उत्तर आधुनिक अपना 'पाठ' कहते हैं। परन्तु अपने कवि को चुनते हुए हम वे प्राणवाही शिराएँ नहीं काट सकते जिनके बिना कवि की जगह हमें उसका कंकाल मिलता है और उसका मौलिक प्रयोजन या निष्पत्तियाँ विफल हो जाती हैं।

संत और सुधारक के द्वन्द्व में या कबीर को लेकर छेड़ी गई भाँति-भाँति की बहसों में उनका कवित्व प्रायः अलक्षित रह गया, जो उन्हें हम तक लाने या साहित्यिक बौद्धिक चर्चा में उन्हें शामिल करने का मुख्य आधार है। हैरत है कि साहित्य की परीक्षा में भी कबीर के काव्य-सौन्दर्य पर प्रायः प्रश्न नहीं पूछे जाते। यदि कहीं उनके कवित्व की विवेचना होती भी है, तो झरने, वन या अनगढ़ पहाड़ के सौन्दर्य की चर्चा पहले की जाती है, मानो कवि के रूप में कबीर के मूल्यांकन में कोई छूट चाही गई हो, जबकि कबीर जैसे विराट और अगाध कवि को ऐसी सहानुभूति या सहायता की कोई ज़रूरत नहीं है।

यह गौर करने की बात है कि सिर्फ संत-कवि होने के नाते ही कबीर इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं क्योंकि उनके युग में और उनसे पहले भी अनेक संत कवि हुए हैं। कबीर के कथ्य और उनके कथ्य में क्या भेद है? सभी निर्गुण पंथी हैं, सभी नाम-स्मरण, सद्गुरु, सत्संग, अनहद नाद, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, समाधि की महत्ता बताते हैं, सभी पूजा-स्थलों, मूर्ति पूजा, पाखंड, बाह्याचारों, जाति-पाँति, ऊँच-नीच के विरोधी हैं, सभी माया को बंधन मानते हैं, मुक्ति कामी हैं, साधक हैं, दलित हैं और छोटे-मोटे श्रम से परिवार पालते हैं, सब साधु-चरित्र हैं, सबकी भाषा पचमेल है, सबने पद्य में अपनी बात कही है। यह भी असंभव नहीं कि कबीर से अधिक ज्ञानी, तत्त्ववेत्ता, साधक उस युग में रहे हों और कई तो पाखंडों पर प्रहार करने में कबीर से भी अधिक कटु-कठोर हैं। यानी सबकी बातें और घातें समान हैं फिर भी कबीर उनके बीच से उभर कर क्यों आए और लगभग पूरे भारत में इस क़दर कैसे लोकप्रिय हुए? रवीन्द्रनाथ, लिंडा हेस, निनेल गफ़ुरोवा या अली सरदार जाफ़री ने उनके पद चुन कर अपनी-अपनी भाषाओं में अनूदित करना क्यों ज़रूरी समझा और कुमार गंधर्व जैसे गायक ने

अपने तड़प भरे, आह्लादक और प्राण उँड़ेलने वाले स्वर में उन्हें क्यों गाया? इसका कारण उनके संतत्व की विरलता की बजाए उनके कवित्व की विरलता में खोजना चाहिए। उनकी इसी सृजन-शक्ति ने उन्हें वर्तमान में भी प्रासंगिक बनाए रखने में सर्वाधिक भूमिका निभाई है।

काव्यत्व की दृष्टि से कबीर का कथ्य कितना चुनौती भरा था, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि आचार्य शुक्ल दर्शन और रहस्य में कविता की संभावना से ही इन्कार करते हैं। संतों में सबसे अधिक कबीर ही इसे काव्यत्व में संभव कर सके। एक तरह से देखा जाए तो उनके कवित्व ने ही उनके दर्शन को सर्वाधिक लोक-व्याप्ति और लोक-दृष्टि दी। अलौकिक, अमूर्त वस्तु को लौकिक, मूर्त वस्तु में बदलने की अप्रतिम क्षमता कबीर में थी और कविता के लिए यह सबसे अधिक आवश्यक भी है, क्योंकि स्वयं कविता लौकिक या ऐहिक वस्तु है। ऐहिक होकर ही वह ऐसी 'आँख' बनती है जो अपनी मर्मबेधिता से आर-पार देखती है और अपने छोटे से पटल पर वे सारे दृश्य अंकित करती है जो पाठक की आँख में परावर्तित होते हैं। पारदर्शिता आखिर कहते किसे हैं -- जो प्रकाश के पीछे छिपे अंधेरे को या अंधेरे के पीछे छिपे प्रकाश को देख या दिखा सकती है। हम उनके निर्गुण सगुण के झमेलों में ही उलझे रहते हैं, जबकि कबीर के राम, माधव, गोविन्द, शिव, ब्रह्मा सबके तात्त्विक अर्थ सगुण न होने पर भी काव्यत्व की प्रतीति की दृष्टि से सम्मूर्तन हैं। 'शिव के भवन भवानी' कहते ही शिव और भवानी मूर्त होते हैं-- उनके स्त्री-पुरुष रूप, उनके दाम्पत्य-संबन्ध; उनसे जुड़ी प्रतीतियाँ; फिर भले हो वे माया को प्रतीकीकृत करने के उद्देश्य से हों। स्वयं माया को भी कबीर ने इतने ढंगों में रूपायित किया, यहाँ तक कि उससे ठिठौली की है कि वह प्रतीक में अमूर्त होते हुए भी प्रतीति में मूर्त हो जाती है। एक प्रसंग में वे माया से बातचीत करते हैं-- 'मेरी बहन (माया) तुम घर जाओ तुम्हारी आँखें ज़हरीली हैं। मैंने 'अंजन रूप' संसार छोड़कर 'निरंजन' अपना लिया है, मेरा किसी से लेना-देना नहीं है, मैं उसकी बलि जाता हूँ, जिसने तुम्हें भेजा है, हम दोनों तो भाई-बहन हैं।' तो माया कहती है 'अरे, मेरी इस लाल तलवार (कटीली, रतनारी आँखों) को देखो, मैं स्वर्ग से उतरकर आई (अप्सरा) हूँ और तुम्हें पति बनाना चाहती हूँ।' तो कबीर पूछते हैं कि आपको वहाँ क्या तक़लीफ थी कि यहाँ चली आई? अब इन पंक्तियों को देखिए :

सरगलोक में क्या दुःख पड़िया, तुम आई कलि माँही।
जाति जुलाहा नाम कबीरा अजहुँ पतीजौ नाहीं।

तहाँ जाहु जहाँ पट-पटम्बर अगर चंदन घिस लीनां।
आइ हमारे कहा करौगी हमतौ जात कमीनां।।

यह पूरा पद अत्यंत काव्यात्मक है। यहाँ कच्चे धागे से बँध जाना, पानी में आग लगाना, मालिक का लेख माँगना, ईश्वर को मछेरा और खुद को मछली, मां और मौसी एक होना जैसे कितने ही मुहावरे, कहावतें, उपमा, प्रतीक महीन और सघन कौशल में गुँथे हैं। एक पूरा विषम या वर्ग-भेदी संसार है; लोभ, आकांक्षा और रिझाने का तामझाम है। कबीर की काव्यात्मकता के लिए अक्सर कोमल और रागात्मक उदाहरण दिए जाते हैं, लेकिन विकृतियों और बाह्याचारों के लिए फटकारते हुए भी उनका काव्य एक महीन कौशल से अनायास ही मर्म को छू लेता है। एक पद में वे मुल्ला से पूछते हैं कि मस्ज़िद में तुम इतनी जोर से क्यों पुकारते हो, क्या तुम्हारा साहब बहरा है? अरे वह तो चींटी के पैर में बँधें नूपुर की आवाज भी सुन लेता है - **'चींटी के पग नूपुर बाजै सो भी साहब सुनता है।'** बांग के बरक्स चींटी के पैर में नूपुर बजता सुनना किसी कवि के खुदा के लिए ही सम्भव है, कोरे संत के परमात्मा के लिए नहीं। ऐसा काव्यत्व कबीर के उन तमाम पदों और साखियों में है, जो अक्सर धर्मपंथों के अलावा बाहर भी गाई जाती हैं। इससे लगता है कि कवित्व को न पहचाना जाए तो क्या हुआ, कविता का प्रभाव तो तब भी होता ही है। ठीक है कि कबीर में पुनरावृत्तियाँ, शुष्क दार्शनिक पद भी बहुत हैं परन्तु एक रचनाकार की उत्कृष्टता, उत्कृष्ट रचनाओं से ही जानी जाति है-- वे ही उसका मानक होती हैं।

यों सभी संत वाचिक परंपरा से आए थे, परन्तु विभिन्न भाषाओं के शब्दों का जितना सार्थक, धारदार, काव्यात्मक उपयोग कबीर ने किया है; जितना बतरस कबीर में है वैसा और उतना किसी संत कवि में नहीं है। वे धिक्कारने,आक्रमण करने में ही नहीं, ठिठौली करने, व्यंग्य करने और मज़ाक उड़ाने में भी अव्वल थे-- **'आतम मारि, पखानहि पूजै इनमें बहुत गुमाना'** जैसी पंक्तियाँ उपहास ही तो हैं। प्रेम, दया, अकेलापन, तृप्ति, समझाइश, खीझ-- यानी उनमें इतनी भावदशाएँ, जीवन-वृत्ति, आत्म व्यंजक संबोधन, भाषा और शिल्प के अनूठे प्रयोग हैं; काव्य वस्तु ही नहीं, अभिव्यंजना की इतनी लम्बी सरणि है, गरीब जनता के इतने जीवन संदर्भ, उपमा, प्रतीक, बिम्ब हैं कि एक पूरा काव्य-शास्त्र तो सिर्फ कबीर की कविता से ही निकल सकता है और दुर्लभ। संत कबीर की निर्मलता, निर्भय, उदात्तता, निस्संगता, फक्कड़पन; कवि के ऐहिक अनुभव, पीड़ा, संवेदन --सबकुछ मिलकर उनकी कविता को जो विशिष्ट अर्थ और अनुभूति की सच्चाई देते हैं वह उनकी अद्वितीय धरोहर है। यह संकेत काफी होगा कि संत कवि जब

सृजन की पराकाष्ठा पर पहुँचता है तो ऐहिक अनुभव भी उसी पराकाष्ठा में उसके साथ होते हैं। इसलिए अगर कोई कहे कि संत कवि का समाज के पचड़ों से क्या लेना-देना, तो वह 'कवि' शब्द से अपनी नासमझी ही प्रकट करेगा। शून्यमहल पर कोई संत अकेला चढ़ सकता है, कवि तो वहां भी अपनी गृहस्थी के साथ ही चढ़ता है।

सबसे जटिल तो कबीर की वह रचना-प्रक्रिया या बुनावट है जो उनके काव्य में सांस की तरह चलती तो है, दिखाई नहीं देती। क्योंकि यह कविता ही नहीं उनका जीवन भी है जो एक जटिल बुनावट की कहानी है। कहाँ जन्मे, कहाँ पले, कैसे समाज में, युग में रहे, कहाँ-कहाँ घूमे, कहाँ टूटे, कहाँ जुड़े, गृहस्थ रहते हुए भी वैरागी रहे, सांसारिक अर्थ में अपढ़ लेकिन कुलीनों, ज्ञानियों, पंडितों के आगे खम्ब ठोंक कर खड़े। उनके जीवन का विचित्र ताना-बाना था, वे इसे गुनते रहे, बुनते रहे, वे सचमुच जुलाहा थे। उनका स्वभाव भी जुलाहा और कवि-कर्म भी जुलाहा-कर्म। वे क्या-क्या नहीं बीनते हैं, हरि नाम को बीनते हैं, उनकी 'सुरत का चरखा' चलता ही रहता है, इतना ही नहीं जो भी चीज़ उन्हें मिली उसे ही बीनते रहे - चाहे भाषा हो, समय हो, समाज हो, धर्म-दर्शन हो, लोक-परलोक हो, जाति-पांति हो, कुछ हो! परंतु बीनते हुए पूरी सावधानी और सोद्देश्य कुशलता भी कि जिससे कोई गलती न हो। यही बुनावट तो है जो कबीर को बड़ा संत भी बनाती है और बड़ा कवि भी। यहाँ तक कि कबीर में जो खंडन दिखाई देता है वह भी भीतर-भीतर आत्माओं, आत्मा-परमात्मा या विभिन्न ईश्वरों के बीच अद्वैत बुनावट ही है। भिन्न-भिन्न धागों को एक कर, रंग-बिरंगी चदरिया बनाना, जिससे देह भी ढँकती हो और प्राण को ऊष्मा भी मिलती हो साधारण बीनाई नहीं है। जीवन ने, जीवन-दर्शन ने, साधना ने पूरा सरंजाम पक्का कर दिया था, तो ऐसा बुनना उनके लिए अनायास हो गया। कबीर का यह भेद इस मार्मिक पद में खुलता है— **'धागा ज्यूँ टूटे त्यूँ जोरि'** क्योंकि जुलाहा ही जानता है कि टूटते ही धागे को तुरंत क्यों जोड़ना चाहिए, उसे सुलझाए रखना चाहिए वरना गांठ पड़ जाएगी, उसे 'माड़ी' से मजबूत करना होता है। इस पद को सांसारिक प्रेम की बुनावट और मज़बूती के रूप में भी ले सकते हैं। यद्यपि यह एक आध्यात्मिक पद है और ईश्वर प्रेम का व्यंजक है, परन्तु 'प्रेम' किसी भी स्तर पर उपजे वह एक मूल्य ही है जिसमें लौकिक-अलौकिक का भेद नहीं। इसी अर्थ में कबीर का काव्य अक्सर दो स्तरों पर चलता है।

वर्तमान में दलित आंदोलन के साथ कबीर को जोड़ा जाता है, जो एक हद तक सही है, परंतु ऐसा करते हुए कबीर के प्रयोजन को भी ध्यान में रखना

होगा। यह बिल्कुल ठीक है कि कविता की रचना में प्रतिभा और साधना ही नहीं, जीवनानुभूति की भी बड़ी भूमिका होती है। ऐसी कविता अधिक सच्ची और मार्मिक होती है। संयोगवश कबीर गरीब और दलित वर्ग के थे और जो सहानुभूति उच्च वर्ग का कवि संवेदन-विस्तार के माध्यम से दलितों या निम्नवर्गों को देता है (क्योंकि सच्चे कवि की संवेदना हमेशा दीन-हीन-दलित-पीड़ित के साथ ही होती है) वह कबीर में आत्मानुभूति या जीवनानुभूति के स्तर पर है। अन्य संतों की स्थिति भी उनसे भिन्न नहीं थी, परंतु कबीर की जीवनानुभूति और काव्यानुभूति में जो 'मणि-कांचन' योग है वह उन्हें उच्चवर्गीय कवियों और अन्य संत कवियों से विरल बनाता है। उदाहरण के लिए कबीर जहाँ 'माया' कहते हैं, वहाँ उनके भीतर बराबर धनी वर्ग, सामंती तामझाम, विलासिता का एक समानांतर चित्र चलता है। ऊपर के उदाहरण में जब वे कहते हैं कि माया तुम वहाँ जाओ, जहाँ पाट-पाटम्बर हैं, अगर-चंदन है, हमारे पास क्या रखा है हम तो जाति से ही 'कमीन' हैं, नीचे हैं, और दरिद्र, तो स्पष्ट ही उनकी आँखों में 'माया' की जगह अमीरी है। साथ ही दोनों के बीच का अंतर भी सजग है। यहीं रुक कर कहना होगा कि दर्शन की 'माया' और दुनिया की 'माया' ने उनके भीतर एक भारी गड़बड़झाला भी किया है। ये दोनों उनके काव्य में 'स्त्री' में रूपांतरित हो गईं, और इससे उनके काव्य में स्त्री का अत्यन्त कुरुचिपूर्ण चित्र उभरा। मुझे लगता है कि इसके पीछे उनका दार्शनिक और लौकिक 'माया-बिम्ब' है। क्योंकि यह कबीर ही हैं जो स्त्री के प्रति विकृत धारणा को मूर्खता कहते हैं :

'नारी जननी जगत की पाल पोष दे तोष,
मूरख राम बिसार कर ताहि लगावै दोष।'

ऐसे कथनों से लगता है कि जब स्त्री को उन्होंने इन बिम्बों से अलग देखा होगा, तभी वे उसे स्त्री की सत्ता दे पाए होंगे। उनके अन्य बिम्बों के पीछे भी दूसरे बिम्ब काम करते दिखाई देते हैं। मसलन जहाँ-जहाँ हत्या, ज़बह, बलि वगैरह का जिक्र आता है, वे बहुत उग्र हो जाते हैं, जैसे 'साधो पांडे निपुन कसाई' या 'दिन में रोजा रखत हैं रात हनत हैं गाय....' आदि। ऐसे प्रसंगों के पीछे निम्न जाति के प्रति होने वाली हिंसक क्रूरता और वीभत्स कृत्य के प्रति उनके आक्रोश को पढ़ा जा सकता है। यहाँ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि कबीर कवि के रूप में दीन-हीनों के कवच हैं। अपनी ओर से वे पाखंडियों या भक्षकों को चाहे जितनी गाली दें, कभी दलित को प्रत्याक्रण के लिए नहीं उकसाते क्योंकि इसका नतीजा वे जानते हैं कि छुरी गर्दन पर पड़े या गर्दन छुरी पर

कटना गर्दन को ही है। इसलिए वे उस गर्दन को बचाने का उपाय करते हैं; और छुरी के आगे अपनी छाती अड़ा देते हैं। उनके समझाने का तरीका देखिए :

'खूब खांड है खीचड़ी, माँहि पड़े टुक लौन।
पेड़ा रोटी खाई कै गला कटावै कौन।।

क्या यहाँ दलित व्यक्ति को छोटे-मोटे प्रलोभनों में फँसने की सलाह प्रकारांतर से नहीं दी गई है? कि भाई बकरे को जो खिलाया-पिलाया जाता है, वह उसे पुष्ट बनाने के लिए नहीं, खिलाने वाले की निगाह उसकी हत्या के बाद बढ़िया और अधिक मांस पर होती है। उनका ऐसा ही एक अत्यंत मार्मिक पद है : 'हिरना, समझि बूझि बन चरना।' वे वन के अत्यन्त निरीह, कोमल जीव के बहाने संसार के निरीह लोगों को सचेत, सावधान करते हैं, इस हत्यारी दुनिया से। अन्यथा वह उसे मार कर खा जाएगी और उसके चमड़े को सिंहासन पर बिछाएगी। वे 'गो-धन' से लगाकर 'रत्न-धन' तक को बेकार किस वास्ते बताते हैं? दरसल एक स्तर पर वे धनियों को धन की व्यर्थता का बोध कराते हैं और दूसरे स्तर पर इस व्यर्थता से गरीब को दूर रखते हैं। बार-बार धन को 'धूल' वे दोहरे प्रयोजन से कहते हैं। और फिर ऐसी पंक्तियाँ– 'चींटी लै सक्कर चली हाथी के सिर धूरि'–गरीब के भीतर कितना आत्म-विश्वास जगाती है और कहती है कि महाजनों को जीवन के सारे वैभव से क्या मिलता है, जबकि लघु जन को जो संतोष मिला है तो वह धनवानों को भी दुर्लभ है। वे धर्म के पाखंडी ठेकेदारों से ही नहीं, कुबेरों और सामंतों के पाखंड से भी नाराज़ थे, क्योंकि इसका परिणाम वे अपने जीवन में भोग रहे थे, वे तो भोगने के बावजूद उससे संत के रूप में ऊपर उठ गए थे, परंतु एक कवि होकर वे समाज की भागीदारी से बच ही नहीं सकते थे। अध्यात्म की बानी में, जगत की बेईमानी का स्पष्ट और आक्रामक चित्र इस पद में है : 'मन बनियाँ बनिज न छोड़ै ....' ऐसे दोहरे कथ्य की बुनावट कबीर ही कर सकते हैं। वे ही 'कमीना' का उत्तर 'हरामी' से दे सकते हैं। आक्रमण भी उनके द्विअर्थक हैं– जहाँ-जहाँ, पाखंड, ठगी, बेईमानी हो वहाँ-वहाँ उनकी आँख में उंगली डाल कर प्रत्यक्ष दिखाना और जो जो उसके शिकार हों उन्हें सचेत करना; और सिर्फ उपदेशपरक ढंग से नहीं, एक स्पष्ट सामाजिक चित्र खींचकर।

कबीर जैसे जीवनमुक्त संत को यह विशेषता उनकी कविता ने दी है जो उनके व्यक्तित्व में अत्यंत प्रातिभ, दीप्त ऊर्जा में है। इसी ने उन्हें अपने समाज की समझ और विषमता समाप्त कर उसे प्रेम के परिवेश में ढालने की इच्छाशक्ति दी है। कबीर के काव्य में लोगों ने जो विरोधाभास देखे हैं, वे भी उनके संत और

कवि के अंतर्संबन्धों के नतीजे हैं। क्योंकि विषमता को समाप्त करने की उनकी जो संत दृष्टि थी, वह कवि से कहीं-कहीं यह मांग करती है कि सिर्फ विद्रोह न हो, विद्रोह का सकारात्मक सामाजिक परिणाम निकले। इसी सामंजस्य के लिए उनके काव्य में सगुण की उद्‌भावना या उसके प्रतीकों का समावेश है, इसीलिए जहाँ वे वेद और कुरान से पूरी तरह इन्कार करते हैं वहीं यह भी कहते हैं **'वेद कतेव कहो क्यों झूठा, झूठा जो न विचारै'**-- और इन पर सही ढंग से विचार करने की सलाह देते हैं। वे इस पीड़ा को जानते हुए भी कि **'निरधन आदर कोई न देई।'** उसका शमन भी करते हैं-- **'निरधन सरधन दोनों भाई। प्रभु की कला न मेटी जाई।'** समाज में समरसता स्थापित करने में कबीर की भूमिका को देखते हुए ही नाभादास का कबीर के बारे में यह कहना सटीक लगता है : **'पच्छपात नहिं बचन सबहिं के हित की भाखी।'**

कबीर पर समग्रता से विचार करते हुए उनकी आध्यात्मिकता, कवित्व और विद्रोही चेतना जोड़ कर देखना इसलिए ज़रूरी है कि ये सब मिलकर एक ऐसे सामाजिक न्याय को जन्म देते हैं, जो द्वेष, घृणा, असहिष्णुता आदि को एक वर्ग से दूसरे वर्ग में स्थानांतरित नहीं करता, बल्कि सहिष्णुता, संयम, आत्मबोध और सत्याग्रह से स्थितियों को बदलने की कोशिश करता हैं। कदाचित इसीलिए आज तक किसी कबीर पंथी या कबीर वंशी ने नकारात्मक या आतंकवादी हिंसक मनोवृत्ति का प्रमाण नहीं दिया। कबीर के साथ महात्मा गाँधी की संभवतः इसीलिए तुलना श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने की है। उन्होंने एक लेख लिखा है-- 'कबीर और गाँधी'। गाँधी में भी कम विद्रोह नहीं है, परंतु उन्होंने भी निर्भयता, संवेदना, संयम, अनुशासन, सत्याग्रह, प्रेम आदि के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन की पहल की थी, कबीर की करुणा और विद्रोह गाँधी में किस तरह प्रतिबिंबित होता है, इसका उदाहरण देते हुए बड़थ्वाल कहते हैं-- 'गाँधी जब लंदन में गोलमेज़ कान्फ्रेन्स में गरीबों पर भाषण दे रहे थे, तो लगता था कि उनके मुँह से कबीर बोल रहे हैं।' इन्हीं मानव-मूल्यों के लिए, ऐसी ही संवेदना, उदात्तता, करुणा, निर्भयता, आत्मविश्वास और सामंजस्य के लिए कबीर को समग्रता में पुकारने पर संभवतः आज की जटिल समस्याओं का कुछ समाधान मिले। क्योंकि सिर्फ धर्म और सिर्फ विद्रोह द्वारा हिंसा को संस्थागत रूप मिल जाने के दुष्परिणामों से हम आज खूब परिचित हो चुके हैं। ●

साधु संग्राम है रैन दिन जूझना

प्रो० कल्याणमल लोढ़ा

आज कबीर के मानववादी सर्व समभाव आदर्शों की क्रियान्विति की अनिवार्यता है, और उनकी प्रासंगिकता तो निर्विवाद है, आज समाज और संस्कृति पुनः संकीर्णता से मनोविदल होकर भौतिकवाद के दुष्प्रभाव में अपनी मानवीय अस्मिता नष्ट कर रहे हैं।

कबीर केवल संत, कवि, विचारक अथवा क्रांतद्रष्टा ही नहीं थे, उनमें सनातन वैचारिकता की अखंड प्रवहमानता है, जो किसी विशेष देश काल में ही सिमट कर नहीं रहती। उनमें वह निर्भीकता, जागरूकता और तेजस्विता प्रभूत रूप से विद्यमान थी, जो हर दिग्भ्रान्त युग में पथ प्रदर्शक बनकर आलोक का संधान करती है। वे संत थे। संत के लिए कालिदास का कथन है :

सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्ति हेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिःश्यामिकापि वा ।। (रघुवंश १-१०)

इसका सार यह है कि संत अपने विवेक से उचित - अनुचित का निर्णय उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार सोना अग्नि में तपाकर विशुद्ध होता है। संत ब्रह्मानंद से सिद्ध होता है 'शंसुखं ब्रह्मानंदात्मकं विद्यते अस्य'। व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ के अनुसार संत शुद्ध अस्तित्व का बोध कराता है। स्कंदपुराण (१-१९-८) में कहा गया है 'प्रायेण तीर्थानि गमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः'। श्रीकृष्ण ने गीता में 'सद्भावे साधुभावे च सदित्येत्प्रयुज्यते' कहकर सद्भाव एवं साधुभाव की व्याख्या करते हुए 'प्रशस्ते कर्मणि' कहा है।

संत शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से संभव है। वह सत् का बहुवचन हो सकता है, जिसका हिंदी में एक वचन के रूप में प्रयोग हुआ है अथवा वह शांत का अपभ्रंश रूप है, जैसा पालि में है। संत वह है जिसे सत् की अनुभूति एवं ज्ञान हो गया है अथवा जो शांत हो गया है। सांसारिक कामनाओं से दूर। डॉ०

पीतांबर बड़थ्वाल का कथन है 'संत सत्तत्व आत्मा का साक्षात कठोर साधना के उपरांत करता है। संचर की प्रतिक्रिया को प्रतिसंचर में बदल देता है। 'पृथ्वी पर देही रहे परमेसुर में प्रान' (चरनदास)।' महर्षि व्यास कहते हैं :

सन्तो हि सत्येन तपन्ति सूर्य, सन्तो भूमि तपसा धारयन्ति।
सन्तो गतिर्भूत भव्यस्य राजन् संतां मध्ये नाव सदिन्ति सन्तः।।

इसी को आद्य शंकराचार्य यों अभिव्यक्त करते हैं "क्षणमपि सज्जन संगति रेक्षा भवति भवार्णवतरणे नौका" इन व्याख्याओं से स्पष्ट है कि कबीर सच्चे अर्थ में संत थे। यों "हिन्दी नवरत्न" में उन्हें 'महात्मा कबीर' कहा गया है। उनके हिन्दू अनुयायी उन्हें 'भगत' कहते हैं और मुसलमान 'पीर'।

इनके विराट व्यक्तित्व और कृतित्व का ही यह परिणाम था कि इनके महत्व एवं योगदान का भिन्न-भिन्न प्रकार से विवेचन किया गया। जी. एच. बादुविले का कथन है : Kabir is held in high esteem as a social reformer, a bold enemy of Brahamnical pride and caste distinction, a revolutionary,whose scathing attacks are caste prejudiced, the principle of untouchability and all forms of social discrimination.

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ने कबीर के सौ पदों का अनुवाद ही अंग्रेजी में नहीं किया (१९१४) अपितु कबीर के काव्य को सभी भारतीय भाषाओं में सर्वोत्तम उपलब्धि कहा। उन्होंने कबीर के रहस्यवाद की मार्मिक अनुभूति एवं अभिव्यक्ति को मुक्त कंठ से सराहा। (सरिता पत्रिका सितंबर, १९५९)। प्रसिद्ध विद्वान क्षितिमोहन सेन ने कबीर के पदों का बांग्ला भाषा में (चार खंडों में) अनुवाद किया। महात्मा गाँधी के आश्रम में कबीर के पदों का गायन होता था। १९३५ में वे वाराणसी के कबीर चौरा गए और बताया कि उनकी माता कबीरपंथी थीं (द्रष्टव्य डॉ० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल का गाँधी और कबीर)। वस्तुतः कबीर ने एक नए युग और नई संस्कृति का सूत्रपात किया, नवीन सामाजिक जागरण के पुरोधा बने। संत मत का वैशिष्ट्य कबीर. के कारण ही भारतीय वाङ्मय में लोकप्रिय हुआ।

कबीर की विशिष्टता का प्रमाण अंतरराष्ट्रीय स्तर पर १८वीं शताब्दी से ही प्राप्त होता है, जब इटली के पदरेमार्कोडेला टोम्बा ने कबीर के पदों का इतालवी भाषा में अनुवाद किया। उनका कथन है कि 'कबीर एक महान संत थे और उन्होंने जीवन में अनेक चमत्कार दिखाए।' इसके अनन्तर तो अनेक पाश्चात्य विद्वानों, पादरियों ने कबीर के पदों - साखियों का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद किया। जे. बी. गिलक्राइस्ट ने कहा कि कबीर की भावनाओं और मान्यताओं का

गहरा प्रभाव भारतीय जनमानस पर पड़ा।' मालकोम ने १८१२ में कलकत्ता से ''मुसलमान कबीर'' में धार्मिक सहिष्णुता, मानवीय सद्भावनाओं और सांप्रदायिक ऐक्य को उनकी देन कहा। इसी प्रकार १८२७ में डब्ल्यू प्राइस ने ''भक्तमाल'' के आधार पर कबीर का जीवन वृत्त लिखा। जनरल हेरिथोट ने कबीर के सबद और प्लेटो के 'लोगस' सिद्धांत की तुलनात्मक विवेचना की। 'कबीर चौरा मठ' के आधार पर विल्सन ने ''एशियाटिक रिसर्चेज'' (१८२८) में कबीर के जीवन का प्रामाणिक अध्ययन किया। रेवरेंड प्रेमचंद ने भ्रांति से कबीर पर ईसाई मत का प्रभाव खोजकर यह प्रतिपादित करने का निष्फल प्रयास किया कि कबीर को ईसाई मान्यता और सिद्धांत का ज्ञान था। यही भ्रांत धारणा ग्रियर्सन की भी रही कि मध्यकालीन भारतीय भक्ति आंदोलन पर ईसा की पांचवीं शताब्दी के जेसरोरियस का (कांसटेंटीनोपल का प्रमुख) स्पष्ट प्रभाव पड़ा। की. मेकनकोल आदि पाश्चात्य विचारक भी यही भ्रम पालते रहे। पंडित बालजी भाई नामक एक भारतीय ईसाई ने तो यहाँ तक फूटा ढोल बजाया कि कबीर पंथ की स्थापना ईसाई पादरियों द्वारा हुई (की. द्वारा उल्लिखित पृ० १६९)। अज्ञानता की सीमा का अंत नहीं होता।

इसके साथ-साथ यह भी विचारणीय है कि कबीर की ६०० वीं जयन्ती पर विश्व के अनेक देश कबीर के रंग में रंग गए। काशी में सहस्र सहस्र श्रद्धालुओं ने एकत्र होकर उन्हें श्रद्धाञ्जलि दी। वहाँ जर्मनी के हाइडलबर्ग विश्वविद्यालय में अनेक देशों के विद्वानों ने २१वीं सदी में इस महान क्रान्तिकारी संत को वर्तमान युग में महत्वपूर्ण और प्रासंगिक बताया। इस विश्वविद्यालय की स्थापना भी ६१३ वर्ष पूर्व हुई थी। इसी प्रकार ट्रिनीडाड में भी यह जयन्ती धूमधाम से मनायी गयी। यहीं 'कबीर मेला' का भी आयोजन किया गया था। लंदन में स्कूल आफ ओरियन्टल स्टडीज तथा नेहरू भवन के तत्वावधान में एक कबीर संगोष्ठी आयोजित की गई। जापान, जर्मनी, कनाडा, हालैंड सभी देशों में भी जयन्ती समारोह भव्यता के साथ मनाया गया। मेक्सिको के विद्वान डेविड लारेञ्जन ने दो दशकों तक कबीर पर कार्य किया। डा० लिण्डाहेस ने भारत में रहकर बीजक का अंग्रेजी में अनुवाद किया। डा० स्वैन और डा० गोल्ड ने शोध प्रबंध लिखे। मारिओला अफरीडी ने उनकी साधना प्रणाली को प्रेरक बताया। ब्रिटेन के थामस डाहनहार्ट कबीर और सूफी मत पर कार्य करते रहे। लिण्डाहेस ने तो कबीर को विश्वकवि और विश्वमानव बताया। और तो और, अब तो उनके पद पॉप संगीत की ध्वनियों में भी आने लगे हैं।

इसके विपरीत अहमद शाह ने कबीर के बीजक का अच्छा अनुवाद कर उनके जीवन पर भारतीय विचारों और प्रभावों का निदर्शन किया एवं रामानंद के

शिष्यत्व का भी उल्लेख किया। भारतीय लेखकों में मोहन सिंह ने कबीर और उनके पंथ पर भिन्न दृष्टि से विचार कर कबीर को सामाजिक क्रांति का उद्घोषक स्वीकार किया। प्रसिद्ध इतिहासकार युसुफ हुसैन ने कबीर का सम्यक मूल्यांकन कर उन्हें हिन्दू धर्म और इस्लाम दोनों की समानता एवं संश्लिष्टता को प्रकट करने वाला बताया। लिपकिन ने रूसी भाषा में अनुवाद किया। कबीर की लोकप्रियता और प्रभविष्णुता का एक और पक्ष विभिन्न भारतीय भाषाओं में उनके बीजक, पद, साखी, सबद आदि का अनुवाद है। शंकाहरि भाई ने १८८८ में उसका अनुवाद गुजराती में किया। मोहन रामसिंह ने पंजाबी में (श्रीगुरु ग्रंथ साहब के आधार पर) पदों की व्याख्या की। सिंधी भाषा में अनुवाद हुए। बंगाल में तो कबीर अत्यंत लोकप्रिय हुए। योगेन्द्र नाथ सरकार (१८९३), पी. भट्टाचार्य (१८९०), यू. मुखोपाध्याय (१९०१), क्षितिमोहन सेन, गुरुदेव रवीन्द्र नाथ के अनुवाद तो प्रसिद्ध हैं ही।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में तो 'कबीर सेना' बनी। संत विवेकदास आचार्य के अनुसार भारतीय स्वातंत्र्य युग में कबीर की वाणियाँ मंत्र बनकर गूंजती थीं। काशी स्थित कबीर चौरा मठ को आजादी के दीवानों का पीठ माना था और कबीर चौरा मठ भूमिगत आंदोलन का केन्द्र था। कबीर के प्रेरक व्यक्तित्व के कारण ही वे हिन्दुओं के लिए वैष्णव भक्त, मुसलमानों के लिए पीर, सिखों के लिए भगत, कबीर पंथियों के लिए सदगुरु, प्रगतिशीलों के लिए क्रांन्तिकारी समाज सुधारक और लोकमन में मानवधर्म के उन्नायक गिने गए। (पं० बंग सरकार द्वारा प्रकाशित कबीर विशेषांक)

हमें यह देखना है कि कबीर की इस लोकप्रियता और उनकी महत्ता के क्या कारण हैं। इतिहास का वह युग (पंद्रहवीं शताब्दी) भारत की राजनीति का अत्यंत विकट और विघटित युग था। गुलाम और तुगलक वंश के कट्टर शासकों ने संकीर्ण धार्मिकता के कारण समूचे देश को छिन्न-विच्छिन्न कर दिया था। फिरोज शाह तुगलक ने एक ब्राह्मण को आग की लपटों में इसलिए झोंक दिया था कि उसने अपने धर्म को इस्लाम से श्रेष्ठ बताया । उसने ब्राह्मणों पर "पोल" कर लगाया। १३९९ में तैमूर के आक्रमण से सारा देश तबाह हो गया। इलियस और टाउसन लिखते हैं कि तैमूर के आक्रमण का उद्देश्य 'काफिरों को दंड देना बहुदेववाद और मूर्तिपूजा का विनाश करना था।' सिकंदर लोदी के संबंध में कहा जाता है कि उसने यमुना में नहाने तक की पाबंदी लगा दी थी। इतिहासकार एस. आर. शर्मा लिखते हैं कि उसने प्रत्येक दिन १५०० हिंदुओं की हत्याएँ कीं और अनेक मंदिर ध्वस्त किए। बहलोल लोदी ने रोह (अफगानिस्तान) से

अफगानों को आमंत्रित किया और वे ''चींटियों-टिड्डियों'' की भांति भारत में आए। परिणामतः जौनपुर का कलात्मक वैभव (जिसे शरकी शासकों ने स्थापित किया था) एवं सूफी केन्द्र नष्ट कर उसका सांस्कृतिक महत्व समाप्त कर दिया। यहाँ मैं उस पत्र का उल्लेख करना चाहूँगा जिसे शेख अब्दुस कादुंस गंगोही ने बाबर को लिखा था। उसने लिखा कि काफिरों को जितना जलील कर सको करना, जितनी यातना दे सको, देना। वे कभी अपने को मुसलमीन के समान न समझें। इससे इस्लाम का गौरव और उत्कर्ष होगा। यही तथ्य शेख अहमद सिरहिंदी ने जहाँगीर को अपने पत्र में लिखा था। ("Muslim Revival Movement in Northern India.वि. वि. रिजवी) अलाउद्दीन ने अपने मुस्लिम बंदियों को मुक्त करने और काफिरों को कुचल देने का आदेश दिया था। (अमीर खुसरो-कु. ख- पृ८८१) तारीख-ए फिरोजशाही में लिखा है कि उच्च वर्गीय हिन्दुओं को घोड़े की सवारी, सुन्दर वस्तु पहनने और हथियार रखने का भी अधिकार नहीं था। बरौनी ने भी इस पर दुख और आक्रोश प्रकट किया कि हिन्दू जुलूस निकालकर अपनी मूर्तियों को नदी में विसर्जित करते हैं, समारोह में भजन, गायन के साथ। (तारीख-ए फिरोजशाही)।

दूसरी ओर ऐसी मनोविदलता और अंधविश्वास हिन्दू धर्म में भी व्याप्त थे। वर्ण व्यवस्था के आधार पर समाज में क्रूरता और विषमता आ गई थी। सामाजिक विभेद ने सामाजिक संतुलन नष्ट कर दिया था। निम्नवर्गीय समाज को उच्चवर्गीय समाज से तिरस्कार, अपमान और लांछना ही मिलती थी। प्रत्येक संप्रदाय में अंधविश्वास, ढोंगवाद, बाह्य आडंबर और मिथ्या आचरण का दुष्प्रभाव व्यापक था। सारा परिवेश पाखंडप्रिय था। ऐसे समय में ही जो उपेक्षित और शोषित वर्ग समाज द्वारा प्रतिहत होता है, इतिहास उनके पक्ष में मुड़ जाता है। और ऐसा वर्ग ऊपर उठता है। समाज और संस्कृति के नए गवाक्ष खोलता है। अभिजात वर्ग के परे वह जातीय परम्पराओं को नई भूमिका प्रदान करता है। मध्ययुगीन संत साहित्य ने यही सशक्त, सृजनात्मक और ठोस भूमिका निभाई। मध्य युग के प्रायः सभी संत समाज के निम्न और उपेक्षित वर्ग के थे। कबीर, धन्ना, पीपा, रैदास, रज्जब, दादू, सहजोबाई, दयाबाई आदि। उन्होंने राजनीति से अधिक साहित्य के क्षेत्र को चुना। उसे अपनी साधना से महिमान्वित किया। उर्वर बनाया। विषमता के स्थान पर समता का उद्घोष किया। गीता के अनुसार ''स्वभावोऽध्यात्म उच्यते''। उनके अध्यात्म का यही स्वभाव था। और यही उनका स्वरूप। इतिहासकारों ने इसको 'मध्य युगीन नवजागरण' अथवा 'आध्यात्मिक समाजवाद' कहा है। यह साहित्यिक संस्कृति का अथवा सांस्कृतिक साहित्य का

भी नवोन्मेष था। कबीर इसके शीर्ष संत थे, उन्नायक। डॉ० सतीशचंद्र लिखते हैं : At the grass roots, it is possible to discern the rise of a number of dissident or heterodox movements during the period. This also implied that Brahimanism did not have such a strong hold. Tantric and Nath Panth immensely contributed to it. These developments were aided, even conditioned by economic and social factors (Introduction to Social Life and Contents-Medieval Hindi Bhakti Poetry)

यवन शासक और सामंतशाही की दशा और भी भयानक थी। धीरे-धीरे तालुकदार भी विषय वासना में पूरी तरह लिप्त थे। फिरोज तुगलक के मंत्री खानेजहाँ ने अंतःपुर में विभिन्न जातियों की सैकड़ों स्त्रियाँ रख छोड़ी थीं। इस सारे कलुषित सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक वातावरण में कबीर का प्रादुर्भाव हुआ। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "कबीर हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे, मुसलमान होकर भी मुसलमान नहीं थे, साधु होकर भी साधु नहीं थे। वे प्रशस्त चौराहे पर खड़े थे" (कबीर)। ऐसा व्यक्तित्व ही इतिहास को नई गति और संस्कृति को नई दिशा देता है, क्योंकि अपनी सामर्थ्य से वह इतिहास का निर्धारक भी होता है, न कि विवेकहीन और बुद्धिहीन अनुपालक। सामाजिक जीवन की विच्छिन्नता और उसका विघटन अपनी विसंगतियों के साथ जातीय और मानवीय परंपरा को विनष्टि की ओर ले जाता है। इतिहास केवल घटनाओं का संकलन नहीं होता, साहित्य भी इतिहास की अंतर्धारा से संपुष्ट और पोषित होकर रचनात्मक चेतना का प्रकल्प बनता है। के. पी. जायसवाल की स्पष्ट उक्ति है कि It is more than doubtful whether the facts can be read correctly without reading the curves of national thought and sentiments. इसी से साहित्यिक संस्कृति का निरूपण होता है। कबीर ने इसी साहित्यिक संस्कृति का सूत्रपात किया। यही कारण है कि प्रबुद्ध और विश्रुत आलोचक रामविलास शर्मा भी कबीर के लिए यही सोचते हैं। प्रसिद्ध आलोचक डॉ० आर. के दासगुप्त ने कबीर को मानवतावादी कह कर यह बताया कि संभवतः मध्ययुग में कबीर ने सर्वप्रथम मानवता को उसके मूल तत्वों के आधार पर लोक मन के समक्ष रखा। कबीर का सारा चिन्तन मूलतः मनुष्य को किसी भी भेद भाव, जाति-पांति-धर्म संप्रदाय से पृथक करके देखना था। कबीर ने निम्न वर्ग की उपेक्षा और उसके तिरस्कार का विरोध कर उनकी मुक्ति की आवाज बुलन्द की। वह आवाज अपनी स्पष्टवादिता, उन्मुक्तता के कारण नवीन

जातीय उन्मेष की भूमिका बनी। इसका मूल भाव मानवता का स्वर था और मानवीय समन्वय का प्रेरक। यह समन्वय तुलसी के समन्वय से भिन्न था। कबीर का था लोकसिद्ध सामाजिक व तुलसी का दार्शनिक। कबीर ने इसी आधार पर मानवीय ऐक्य उजागर किया और स्पष्ट कहा **बिसम्भर एकै और न दूजा कोई।** उनकी जिज्ञासा थी कि **कोई कहाँ तैं मोहि बतावौ** क्योंकि हिन्दू तुरक का साहिब एक है। यह एकत्व सामाजिक, सांस्कृतिक था और मानवीय। उन्होंने माना भी **कहु कबीर जो विचारै सो ब्राह्मण कहियतु हमारे।** मैं इस ऊहापोह में नहीं जाता कि कबीर का जन्म स्थान क्या था? उनका जन्म और मरण कब हुआ, वे कहाँ-कहाँ गए, वे मगहर में जन्मे या मिथिला में (जैसा सुभद्र झा का मत है) कोई उनका जन्म स्थान आजमगढ़ का बेलहरा गाँव बताता है तो कोई काशी। न इस प्रपंच में पड़ना उचित है कि वे विवाहित थे या अविवाहित। जैसा कि पंथ के अनुयायी मानते हैं। गुरु के संबंध में भी मत मतांतरों के वाद विवाद में इस निबंध में नहीं पड़ना चाहता। चाहे शेख तकी रहे हों या कोई पीतांबर पीर अथवा डॉ०मोहन सिंह के मत में कोई भी मानव उनका गुरु नहीं था। रामानंद के संबंध में अब प्रश्न लग गया है। डेविड एन. लोरेनजन तो रामानंद और कबीर के संबंध को भी स्वीकार नहीं करते। उनकी धारणा है कि रामानंद को गुरु के रूप में मानना परवर्ती काल की उपज है। (Evolution of Kabir Panth : A paper read in National Congress of Human Sciences in Asia (1976).

ताराचंद सूफी संतों को प्रमुखता देते हैं। इस जाल जंजाल को छोड़कर मैं तो यह समझता हूँ कि कबीर का जीवन दर्शन, उनका निर्भीक और ओजस्वी कृतित्व, उनकी समन्वयात्मक दृष्टि एवं सृष्टि तथा किसी की पूर्वाग्रह से पक्षधरता में न पड़ मानवता के सनातन और सर्वमान्य स्वरूप की पृष्ठभूमि में ''नहिं मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्'' को उजागर करती है। इसी से यदि उन्हें सार्वभौम वैश्विक धर्म का प्रवक्ता कहा जाता है तो वह सही माप दंड है। कवि की दूरदर्शिता के लिए कहा जाता है कि वह अपने 'तृतीय नेत्र' से देखता है। आज तो विज्ञान ने भी मनुष्य की इस तीसरी दृष्टि को प्रातिभ ज्ञान, अंतःदर्शन और प्रज्ञा का हेतु माना है। कवि की दृष्टि और सृष्टि के बीच उसकी अंतःदृष्टि ही रचना को स्थायी और कालजयी बनाती है। वह यथार्थ पर अवस्थित होकर भी इससे उससे परे सर्वत्र सार्वभौम सत्य का संधान करती है. सत्य की यह साधना ही संत की विचक्षणता - विलक्षणता है। सत्यम् शब्द ''स'', ''ति'' और 'यम' से बना है। 'स' का अर्थ अमरता है 'ति' का अर्थ नाशवान जागतिक सत्ता की ओर संकेत करता है। और 'यम' का अर्थ है जीव एवं जगत। जो इन तीनों

प्रत्ययों को अपने काव्य में समाविष्ट और समाहित करता है; उसके लिए ही कहा गया है ''पश्य देवस्य काव्यम् न ममार न जीर्यति'। कबीर के लिए भी यही सत्य है। उन्होंने निर्भय होकर जड़ परंपराओं का जहाँ विरोध किया, वहाँ उस परम तत्व की अनुभूति भी की। इसी से उन्होंने अपने 'पंचरंगी चोला' को 'जतन से ओढ़कर' ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया कहा। संत होकर भी वे मानते थे कि गृही भी वैरागी हो सकता है और वैराग्य लेकर भी व्यक्ति अपने गृही की वासनाओं में डूबा रह सकता है।

गावन ही में रोव है रोवन ही में राग। इक वैरागी गृह करे एक गृही वैराग।।

पारसनाथ तिवारी का कथन उद्धृत करता हूँ ..... कबीर एक कल्प चेता थे। भारतीय चिंतनधारा की तलहटी में जितना भी कचड़ा था, ऊपर आ गया xxx कबीर ने भारतीय समाज के नियामकों की एक-एक दुर्बलता का नग्न रूप उद्घाटित करने में जरा भी कोर कसर नहीं रखी। (कबीर वाणी पृ० १४५) इस संदर्भ में सावित्रीचंद्र शोभा का यह कथन सटीक ठहरता है : Kabir emerges as the most thorough and consistent critic of contemporary society and its values xxx takes a stand on the fundamental equality of created beings. Kabir identified himself with the poor and the oppressed and exposed and denounced the pattern of life and attitude of the rich.

संतों भाई आई ग्यान की आँधी।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रहै न बाँधी।।

किसी भी लोकधर्मी कवि का यही विवेक है और कर्तव्य भी। यह होते हुए भी उन्होंने स्वयं अपना कोई संप्रदाय या पंथ नहीं चलाया। रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन कि कबीर ने अपना निर्गुण पंथ बड़ी धूमधाम से निकाला उचित नहीं है। कबीर के काव्य और कथ्य में उस युग की पारदर्शी दीवारों के साथ-साथ उनका कालमुक्त व्यक्तित्व स्पष्ट है। उन्होंने तत्कालीन विचारधाराओं को अपनाकर चिंतन की सशक्त धारा प्रवाहित की। यह सही है कि वे सूफीमत से प्रभावित थे पर उनके प्रेम तत्व निरूपण में सूफी भावना के साथ वैष्णव मत भी है। भारतीय वेदांत के सिद्धांत भी उनमें स्पष्ट हैं। योग साधना के उच्चतम सोपान पर वे चढ़े। नाथपंथ से उनका संबंध रहा। रहस्य भावना की गूढ़ अभिव्यंजना उनमें है। वे भक्त थे और ज्ञानी भी। तांत्रिक शब्दावली का भी प्रचुर प्रयोग उन्होंने किया। इन सबका प्रभूत विवेचन आचार्यों ने किया है। वह इस निबंध में आवश्यक नहीं। मूल बात यह है कि उनमें जीवन दर्शन की व्यावहारिक दृष्टि है; चाहे वे किसी भी मत

संप्रदाय से संबद्ध रहे हों। उनकी यह साखी उन पर ही सटीक ठहरती है :–

हद चले सो मानवा बेहद चले सो साध।
हद बेहद दोऊ तजै ताकर मता अगाध।।

उनकी साखी, रमैनी, पद आदि में यही उपलब्ध होता है। यहाँ तक कि उलटवाँसियों में तत्वतः उनकी योग साधना के साथ-साथ उनका सामाजिक सरोकार स्पष्ट है। इनकी अभिव्यंजना प्रणाली सांकेतिक अर्थ निष्पन्न करती है प्रतीक पद्धति पर। आध्यात्मिक अनुभूति के साथ-साथ रहस्य चिंतन भी स्पष्ट है।

कबीर के अन्य पक्षों पर (भाषा, प्रभाव, योग, दार्शनिक विचारधारा आदि) विचार न करके उनके रहस्यवाद और भक्ति पद्धति पर ही संक्षेप में विचार करना चाहूँगा। अचार्य रामचंद्र शुक्ल और पंडित चंद्रबली पांडेय ने कबीर के रहस्यवाद को सूखा तथा प्रकृति के विविध चित्रों के माधुर्य से रहित बताया है। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने कबीर और जायसी के रहस्यवाद की सांगोपांग तुलनात्मक समीक्षा की है। इस संबंध में यह विचारणीय है कि क्या वेदांत के 'निर्गुण ब्रह्म' और कबीर के 'निर्गुण राम' में पर्याप्त अंतर है ? कबीर ने रहस्यवादी चिंतन में जहाँ किसी अंश तक वैष्णव भक्ति और प्रेम तत्व का समावेश किया है, वहाँ योगिक धरातल पर अपनी साधना की परिधि में नाथ पंथ और सूफी सिद्धांतों को भी अपनाया है। उनकी यह दृष्टि भी समन्वयात्मक है क्योंकि दादू के शब्दों में —

जे पहुँचे वे कह गए सबकी एकै बात।
सबै सयाने एक मत सबकी एकै जात।।

आंतरिक अंतःस्फूर्त अपरोक्ष अनुभूति के द्वारा परम सत्ता, सत्य और तत्व की उच्चतम उपलब्धि का साक्षात्कार उदात्त, और सर्वोच्च अनुभूति है। डॉ० रानाडे के शब्दों में सभी देशों और सभी युगों में रहस्यवादियों का एक शाश्वत समाज है, जो किसी विशेष सीमा में बंधा नहीं रहता। इसकी असीमता और सिद्धि अपनी मर्मानुभूति में सर्व व्यापी है। यह दिव्यानुभूति होती है जिसके अंतराल में देह देवालय बन जाता है और व्यष्टि एवं समष्टि जीवात्मा एवं परमात्मा का पूर्ण सामंजस्य रहता है। इसे आधुनिक मनोविज्ञान में 'चेतना की ऊर्ध्वतम गति' कहा गया है। (सुप्रीम कंसशनेस) मनुष्य के विकास के धरातल की परमता उसके दैहिक मानसिक, आध्यात्मिक जीवन में निहित है। इससे वह ऋत एवं ब्रह्मबोध प्राप्त करता है। यही विश्व चेतना की शाश्वत मधुमती भूमिका है। कबीर का रहस्यवाद इसी भूमि पर आत्म साक्षात्कार करता है। इसी से वह सर्वात्मवाद का प्रमाण है– **लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल। लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।।**

एवं **''राम कबीरा एक भए हैं कोउ न सकै पछाणि''**। इस 'एक भए हैं' में अद्वयता है, द्वैत का पूर्ण निषेध। मिलन का यह ऐक्य और उसकी अनुभूति अभिव्यक्ति (शब्द) संभव नहीं। वह तो पश्यंती के परे परावाक् की स्थिति है। जहाँ न शब्द है, न अर्थ, न नाद, न ध्वनि और न अभिव्यक्ति। यहाँ तो **''मंदिर मांहि भया उजियारा, ले सूती अपना पिय प्यारा''** और इसी से कबीर कहते हैं --

दुलहिन गावहु मंगलाचार।
हम घरि आए हो राजा राम भरतार।।

यह वह भावातिरेक की अवस्था है, आत्म परिष्करण, जहाँ आनन्द और भूमा रस सर्वत्र व्याप्त रहता है। स्पेंसर ने कहा है -- Mysticism is a religion of the heart, when heart is touched, there should be divine ecstacies.

भारतीय ऋषियों ने भी यही कहा है :

रक्षत रक्षत कोषानामपि कोषं हृदयम्
यस्मिन् सुरक्षिते सर्वं सुरक्षितं स्यात् ।।

सब कोषों की मंजूषा हृदय है। यदि वह सुरक्षित है तो फिर भक्ति, ज्ञान कर्म भी आएंगे। प्रेम की अनुभूति हृदय से और श्रद्धा से ही संभव है। यही प्रेम की वह अग्नि है, जो एक न एक दिन प्राणों का मंगलदीप बनकर आलोक रश्मियाँ विकीर्ण करती है। इसी के द्वारा वह टेढ़े मेढ़े पथों को पार कर सदैव गति संपन्न रहता है एवं अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है। अनुभूति उस विराट को ज्ञेय बनाने का प्रकाश देती है। जीवन को मुक्त करती है। मृत्यु का भय नहीं होता। वह तो अभय है। कबीर कहते हैं :

हम न मरै मरिहै संसारा, हमको मिला जियावन हारा।।

मर्मी के सत्य सनातन का यह यात्रापर्व आशाओं से पूर्ण रहता है। अलौकिक सौन्दर्य और शिवत्व से भी पूर्ण। जब कभी साधना के इस पथ पर बिछलन होती है , तो वह असह्य वियोग और दुख की असह्य अनुभूति बन जाती है। श्री परमानन्द सरस्वती कहते हैं ''अलख अनुभूति का यह विचित्र संसार हमारे अंतःकरण को विभिन्न तरह से आंदोलित एवं अभिभूत करता है और कल्पनाओं को अनेक तरह से रंगीन तथा कामनाओं को उद्दीप्त करता है। रहस्यों का दिगन्त हमारे प्राणों में कल्पनाएँ जाग्रत करता है। आनन्द वेदना की यह हृदयरम्य अनुभूति तथा आकर्षण इन्द्रियग्राह्य एवं वस्तुनिष्ठ नहीं है।'' अंतःकरण की संवेदनाओं को बटोर कर साधक अनिर्वचनीय रसास्वादन करता है। जो सत्य है उसकी अनुभूति अशेष होती है एवं उसका अभिनिवेश नए नए क्षेत्रों एवं आनन्द के धरातल पर होता है, जहाँ नित्य निरंजन सत्ता का नियत विकास है।

अपनी एकांत साधना में जीवन के विरामहीन संघर्ष में अजस्र प्रेम के प्रवाह और प्राणों की प्रभा में ज्ञात अज्ञात रूप से मर्मी कवि साधक सीमाहीन आलोक प्राप्त करता है। यही सहज समाधि है, जिसका कबीर बार-बार उल्लेख करते हैं।

जब कभी प्रेम का यह प्रवाह प्राणों की प्रभा नहीं देख पाता तब उसकी पीड़ा या विरह भावना तीव्र हो जाती है। कबीर इसे यों व्यक्त करते हैं:

अंखड़िया झाईं पड़ी पंथ निहारि निहारि
जीभड़िया छाला पड्या राम पुकारि पुकारि

x x x x x

पपीहा ज्यूं पिव पिव करे कबहु मिलहुगे राम।

रहस्यवाद में विरहासक्ति और तन्मयासक्ति का अन्योन्याश्रय संबंध है। दादू ने कहा है कि **"प्रीति न उपजै विरह बिनु प्रेम भगति क्यों होई।"**। कबीर की स्पष्ट धारणा है "हरि बिन हरि न सके मेरा जीव"। प्रेम का यह भाव ही भक्ति का अंतर्योग है, जिसमें कथनी और करनी तथा रहनी में पूर्ण सामंजस्य रहता है। **"हँस हँस कंत न पाइये जिन पाया तिन रोय"**। कबीर यह नहीं भूले कि वे भक्त हैं। उन्हें 'भगत कबीर' कहना भी विशेष अर्थ रखता है। वे नाम माहात्म्य के समर्थक हैं :

कहत कबीर सुनहु रे प्रानी छोड़हु मन के भरमा।
केवल नाम जपहु रे प्रानी परहु एक की सरना।।

'तन, मन, धन मेरा राम जी के ताईं' कहकर वे आत्म समर्पण करते हैं। इसी को दादू ने यों कहा है :

धन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा तन अरु प्रान।
सब कुछ तेरा तू है मेरा यह दादू का ज्ञान।।

जिस आत्म समर्पण का ऊपर उल्लेख किया गया है, वह वैष्णव भक्ति की प्रपत्ति एवं शरणागति का ही रूप है। पूर्ण समर्पण के बिना न तो प्रिय मिलन की संभावना रहती है और न परमानंद की। भक्तों की यही भावना रही। 'नान्यं जाने, नैव जाने न जाने'। कबीर भी यही कहते हैं 'ना मैं देखूं और कों, ना तोही देखन देउँ'। जब कभी इस एकांत साधना में व्यवधान होता है तो मन प्राण हृदय सभी से वह आकुल व्याकुल होकर मृत्यु की आकांक्षा करता है –

जिस मरने से जग डरे सो मेरे आनन्द
कब मरिहौं कब देखिहौं पूरन परमानन्द।।

वह निरन्तर "पिय की ऊँची अटरिया" पर चढ़ने की आस बनाए रखता है। पर उसकी कातरता है "शंचेन हिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी"। ऐसा होता

है कारण "पाव नहि ठहराय चढ़ूं गिर गिर पड़ूं"। बार बार वह यही चेष्टा करता है। रहस्यवादी कबीर का यह चित्रात्मक वर्णन अद्‌भुत है। उन्होंने चाहे मसि कागद न छुआ हो पर अपनी गति, मति और रीति में अनन्य ठहरते हैं। इसका मानव हृदय से अपरिहार्य संबंध है। आशा और निराशा का यह घात-संघात ही कवि की और विशेषतः रहस्यवादी की मूल भित्ति है।

पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ पंडित भया न कोय
ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।।

कबीर ने प्रेम के ढाई क्या, सभी अक्षर पढ़ लिए थे और उन्हें जीवन में उतार लिये थे। संयोग और वियोग दोनों का रूपांतरण योग में होता है। और यही चरम सत्य है। इसी से कहा है --

महान कवि और साधक की कसौटी उसकी आंतरिक अतृप्ति और वेदना है। कबीर की यह साखी इसका पुष्ट प्रमाण है :

सुनि सखि सुपने की गति ऐसी हर आए हम पास।
सोवत ही जगाइया जागत भए उदास।

'रहस' का व्यावहारिक अर्थ एकांत है। एकांत बहुव्रीहि समास है। 'एकः अंतः यस्य सः एकान्तः' जिसका एक ही अंत हो वही एकांत है। इस एकांत के बिना रहस निरर्थक है और उसी प्रकार रहस के बिना एकान्त निराधार। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। कबीर की रहस्य प्रतीति है-- रहस्य भावना। भावना का अर्थ पुनः पुनः अनुसंधान है। "भावना पुनः पुनरनुसंधानम्" (नागेश भट्ट, यही 'योग शब्दवली' में 'निदिध्यासन' है। यह भावना ही व्यापार अथवा क्रिया है 'अनवरत अनुचिंतनम्'। यह रहस्य एवं चित्तवृत्ति स्वप्रकाश है। कबीर ने सुरति निरति (सुरति = सुतरांरति, निरति = नितरांरति)। सुरति का एक अर्थ स्मृति भी है। तुलसीदास ने कहा "सुरति कराएहु मोरि"। यहाँ सुरति का अर्थ स्मृति ही है। ये सुरति में प्रेमालंबन, प्रेमाश्रय और प्रेम की त्रिपुटी बनी रहती है और निरति में अखंडता। (डॉ० बच्चू लाल अवस्थी - काव्य में रहस्यवाद, पृ० २३) कबीर कहते हैं :--

सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खुले स्वयंभु दुआर।।

यह अखंडाकार चित्तवृत्ति ही रहस्यानुभूति है जिसमें द्वैत का कोई महत्व नहीं --

"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहि,
प्रेम गली अति सांकरी तामै दो न समाहिं।।

रहस्यवाद तत्वतः संवेदन की तीव्रता और गंभीरता से साधक को विश्व भावना से सचराचर जगत के साथ ऐक्य की पुष्टि करती है और वह प्रत्येक वस्तु में अपने प्रिय के अतिरिक्त कुछ नहीं देख पाता। इसे ही मनोविज्ञान की भाषा में प्रातिभ अनुभूति (Intuitive experience) कहा गया है। आलोचकों ने कबीर की चिन्ताधारा पर सूफी सिद्धांतों का प्रभाव स्वीकार किया है। डॉ० सरला शुक्ल का मत है कि 'सूफियों की रचनाओं, फुटकल पदों आदि ने समाज संस्कार में सहायता की और कबीर मूलतः समाज सुधारक थे। उनका उपदेशक का स्वरूप मुख्य है। यह मान्यता भी विचारणीय है कि क्या **कबीर अथवा संतों की भावमूलक प्रेम भावना सूफी सिद्धांतों से ही प्रभावित थी अथवा उसका स्रोत भारतीय प्रेम पद्धति में भी विद्यमान था। सूफी प्रेम कथाओं की भाव-भूमि मूलतः लौकिक है -- कबीर से नितान्त भिन्न।** यों देखा जाय तो सूफियों पर भी नाथ पंथ का प्रचुर प्रभाव था - सूफी काव्य के नायक अन्त में सांसारिक मोह त्याग कर साधक का स्वरूप धारण करते थे और वेश नाथ पंथियों के अनुकूल था। कबीर की सहज साधना की अन्तर्भूमि भी पृथक थी। रामानन्द ने बताया था, 'सहजैं सहजैं सब गुन जाइला। भगवन्त भगवा एक थिर लाइला।' कबीर की साखी है-

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जा सहजै साहिब मिलै, सहज कहीजै सोइ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर में भारतीय वेदान्त का स्वीकार किया, पर प्रेम तत्व को बिलकुल सूफियों का बताया। इसके परिप्रेक्ष्य में डॉ० श्याम सुन्दर दास ने संतों की प्रेम साधना का स्रोत बौद्ध, जैन, एवं निर्गुणवादी संप्रदायों में गिना है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की तो स्पष्ट धारणा है कि यदि कबीर आदि (निर्गुण मतवादी संतों) की वाणियों पर विचार करें तो मालूम होगा कि वे पूर्णतः भारतीय हैं और बौद्ध धर्म के सिद्धों एवं नाथ पंथियों के पदादि से उसका सीधा संबंध है। (हिन्दी सा० की भूमिका पृ० ३१) कबीर को जीव और ब्रह्म के एकत्व में किसी प्रकार की शंका नहीं है। जीव और ब्रह्म की एकता एवं समरसता में उपनिषदों की परम्परा स्वतः विद्यमान है। श्रुति का कथन है 'एकोवशी सर्व भूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा सः करोति'। कबीर ने इनको दो बताने वाले को ('तिनकी मति है मोटी)' कहा। महेन्द्रनाथ सरकार ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिन्दू मिस्टीसिज्म' में वैष्णव मत में 'भक्तिमूलक रहस्यवाद' का विवेचन किया है। उनका स्पष्ट मत है' In Vaisnavism there are different shades of mysticism, which originate from the emphasis laid up on the all intutive experience, which arises from fostering of

a philosophical sense and intuition (Page 51). The absolute is both being and becoming. The one is not without the other. Spirit is essentially movement and creative.

इस संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में कबीर की रहस्यवादी चिन्ताधारा स्वतः स्पष्ट है। डॉ० सरकार ने पुनः कहा है Vaisanavee mysticism is personalistic xxx it emphasises on the richness of personal consciousness. Spiritual man sees spiritual order.

कहना नहीं होगा कि कबीर के रहस्यात्मक चिन्तन के लिए यही सटीक कथन ठहरता है। इसी से रहस्यवादी के लिए कहा गया है कि उसकी सारी गतिविधि किसी सीमा में बँध कर नहीं रहती वरन् वह पूर्णत्व का संधान कर ऐक्य की प्रतिपत्ति से अपना तादात्म्य स्थापित करती है एवं उसका समस्त व्यक्तित्व एवं चरित्र मानसिकता, दिव्य अनुभूति और तज्जन्य अभिव्यक्ति उपलब्ध करता है।

सूफी सिद्धांतों का आधार एक सीमा तक वेदान्त और वैष्णव धारा के भावात्मक प्रेम पर आधृत है। इस संबंध में डॉ० इकबाल हुसैन का यह अभिमत ध्यातव्य है — For the vedantic school, this was essentially a sect of mystics. Their belief is that God is one and the creater of the world was a mere play by him (Perception of Hinduism in Persian (Indo Iranian Journel, March 1993 - Page 128).

ऐसा ही दृष्टिकोण मिर्जा मजहर जन जनन १८वीं सदी सूफी संत का है। (जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी xix - पृ० २३८-३९)। सूफी सिद्धांतों पर इसी भारतीय विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। सूफी सिद्धांत प्रेम व समन्वय का सिद्धान्त है - उनकी पूर्णता और अखंडता का। गुरु दयाल मलिक के शब्दों में -- It brings God down from the heaven into the very centre of personal life and has not this spirit been at workdown the corridors of centuries, the Rishis sang this in the Upanishadas.

विश्व में सर्वत्र दिव्य सौन्दर्य का परिदर्शन करता है। प्रसिद्ध सूफी संत मंसूर ने तो कहा था "मैं ब्रह्म हूँ। (अहं ब्रह्मास्मि) -- मैंने पूर्व पश्चिम जहाँ भी दृष्टि दौड़ायी मुझे सर्वत्र यही ब्रह्म ही दिखाई दिया। जलालुद्दीन रूमी ने अपनी मसनवी में प्रेम के इसी प्रवाह को जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि गिना है। सूफी संतों ने इसी से ईश्वर को प्रियतम कहा। शब्दों के हेर फेर में न पड़ें तो सूफियों

का यह प्रेम तत्व हमें 'नारद भक्ति सूत्र'के 'स त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा' अथवा शांडिल्य के 'परानुरक्तिरीश्वरे' की याद दिलाता है। यही तो 'अनन्य ममता' 'प्रेम संगता' है। कबीर की पारिभाषिक शब्दावली - माया, संसार, मन, जीव, सुरति - निरति गुरु चक्र, पट चक्र आदि भी यह सिद्ध करते हैं कि कबीर के अन्तर्मन में भारतीय योग साधना का प्रचुर प्रभाव था। कबीर ने जिस आन्तरिक पवित्रता का बार-बार उल्लेख किया है, वह इस आध्यात्मिक यात्रा की उत्कृष्ट पहचान है। ऊपर जिस प्रेम का उल्लेख किया है वह तो अन्ततः --

जैसे जलहिं तरंग तरंगिनी ऐसे हम दिखालावहिंगे
कहे कबीर स्वामी सुख सागर हंसहि हंस मिलावहिंगे।

किसी भी मर्मी कवि की यह अभिव्यक्ति उस समय होती है, जब आत्मा प्रेम की अमूल्य निधि लिए हुए परमात्मा से अपना ऐक्य स्थापित करती है। डायोनिसस ने कहा था परमात्मा से आत्मा का अत्यंत गुप्त वाग्विलास ही रहस्यवाद है।

इस वाग् विलास को भिन्न भिन्न रूप से कवियों ने बताया है -- वह चाहे प्रियतम-प्रियतमा का स्वरूप हो --. चाहे मिलन का या विरह का। इस संबंध में मारगरेट मेरी ने रोलिन को पत्र लिख कर बताया था "उस दिव्य त्राण कर्त्ता ने मुझ से कहा, मैं तुझे एक नई विभूति दूँगा -- वह विभूति यही है कि मैं तेरी दृष्टि से कभी ओझल नहीं होऊँगा - यह विशेषता रहेगी कि तू सदैव मेरी उपस्थिति का अनुभव करेगी' (डॉ० राम कुमार वर्मा - कबीर का रहस्यवाद से उद्धृत पृ० ८९)

कबीर ने एक पद में कहा है -

"चलौ सखी जाइये तहाँ, जहाँ गये पाइयै परमानन्द

x x x x x x

मिली रहिये जगनाथ सूं यूं कहै दास कबीर।"

वे पुनः कहते हैं :

"राम बान अन्य माले तीर जाहि लागे सो जाने पीर

x x x x x x

एक ही रूप दीसे सब नारी न जानूं को पिर्यहि पियारी
ना जानूं काहू देइ सुहाग।

एवं

राम दिन तन की ताप न जाई जल की अंगिनी उठी अधिकाई।

राम का यह विरह अपनी घनीभूत अवस्था में भी निश्चय ही तन्मयावस्था का प्रमाण है। यहाँ भी आचार्य हजारीप्रसाद जी का यह कथन उल्लेखनीय है- "निर्गुण (राम) से वे केवल निषेधात्मक भाव ग्रहण करते हैं, सो बात भी नहीं है

वे गुणातीत रूप को निर्गुण शब्द से प्रकट करते हैं इसी से वे "उदै अस्त जहं मति बुधि नाहीं सहजि राम सौ लीनां" यही तो श्रुति का "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" की तो अभिव्यक्ति है - इसीसे उनकी धारणा है कि गुन में निरगुन, निरगुन मैं गुन बाट छांड़ि क्यूं बहिरे"। वे तो सहज भाव से "राममय" होना चाहते हैं - हुए हैं। उपनिषदों ने इसी से कहा "को ह्यो कः प्राण्यात् यदे ष आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्यवानन्दयति"। कबीर का आदर्श प्रेम संयोग - वियोग - मिलन-विरह से ऊपर उठ कर 'सीस उतारे भुँइ धरै सो पैसे घर मांहि" इस प्रेम का "मारग अगम अगाध" है भक्ति का भी यही मर्म है--

और कर्म सब कर्म हैं भक्ति कर्म निष्कर्म।
कहै कबीर पुकारि कै भक्ति करो तजि मर्म। (क. रचनावली पृ० ११)

मर्म तज कर इस भक्ति की सार्थकता 'सब सांसों की सांस'में है। इसी की परावस्था है'

कबीर हरिरस औं पिया, बाकी रही न थाकि।
पाका कलस कुम्हार का बहुरि न चढ़ई चाकि।।

और इसी से कबीर ने कहा-- **'गोपी हरिगुरु मोरा।** उन्होंने बताया **ततुमसी इनके उपदेसा'। ई उपनिषद कहैं संदेशा।**

तत्वमसी' को कहने का मानने वाला वैष्णव मतानुसार महा वाक्य का ही अनुकरण करता है 'इसका रूप नारी अवतरी। तास नाम गायत्री धरी' और गायत्री से ब्रह्मा, विष्णु, शिव की उत्पत्ति मानी है। वे ओंकार को शब्द ब्रह्म मानते हैं। ओंकार आदि है मूला।

भारतीय भक्ति परंपरा का एक पक्ष दैन्य है। हीनता नहीं दैन्य। हीनता और दीनता एक नहीं है। कबीर में यत्र तत्र यही दीनता दृष्टिगोचर होती है :

सुन जननि मैं बालक तोरा।
काहे न बकसउ औगुन मोरा।।
सुत अपराध करै तिन कैते।
जननी के मन रहे न तैते।।

इस विवेचन का सार तत्व यह है कि **कबीर की विचारधारा तत्वतः भारतीय परम्परा से ही जुड़ी रही।** मैं यह नहीं कहता कि उनमें अथवा अन्य संतों में सूफी सिद्धांतों का प्रभाव शून्य है। सूफी काव्य के संदर्भ में भी यह स्पष्ट है कि कबीर की रचनात्मकता नितान्त परम्परा से रहित नहीं थी - उसमें भारतीय चिन्तन का भी प्रभाव स्वतः प्रतिपन्न है। इस संबंध में डॉ० राजदेव सिंह ने एक नयी स्थापना दी है। उनका मत है कि आदि संत कबीर की दार्शनिक

दृष्टि भी शैव सिद्धांत से पूरी तरह मेल खाती है, क्योंकि इन्होंने नाथ पंथी शैव योगियों को अपने मत का आचार्य माना है - संतों के विचार, जीवन-जगत को देखने की दृष्टि - पारिभाषिक शब्दावली - दो टूक ढंग से कहने की क्षमता - सभी नाथ पंथी योगियों की सीधी परम्परा में पड़ते हैं। (संतों का भक्ति योग पृ० १६) तात्पर्य यह है कि कबीर की निर्गुण भक्ति का स्रोत भी नाथ पंथ है।) जो भी हो, यह तो प्रायः निर्धारित हो गया है कि कबीर की भक्ति भावना - उनकी रहस्यवादी दृष्टि - सभी कहीं न कहीं, किसी न किसी भारतीय विचारधारा से जुड़ती है। हो सकता है कि कबीर ने अपने प्रेम में गुह्यता का समावेश कर लौकिक संबंधों को भी जोड़ा हो। उनका एक पद है --

अवधू मेरा मन मतवारा।
उनमनि चढ़ा गगन, रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।।

x x x x x x

सुखमनि नारी सहज समानी पीवै पीवन हारा।

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने उन्मनी को एक प्रकार का ध्यान कहकर कबीर को नाथों का अनुकरण करने वाला कहा है (कबीर की विचारधारा - संस्करण २ पृ० ४०८)

संक्षेप में यही कहना उचित है कि कबीर का रहस्यवाद मूलतः माधुर्य भक्ति पर आधृत है - उनका मिलन, उनका विरह, उनकी प्रेमाभिव्यंजना - राम संबंधी उनके विचार इसे स्पष्ट करते हैं। कुछेक उदाहरण हैं :

१. ब्रह्म कथि कथि अंत न भाया। राम भगति बैठे घर आया।।
२. मेरा मन सुमरै राम कूं, मेरा मन रामहिं आइ।
३. राम चरन मनि भाए रे।

वे 'मंगलाचार' गाने को कहते हैं क्योंकि 'राम भरतार' उनके घर आए हैं। यही उनकी 'प्रेम भगति' है - जिसे 'ऐसी कीजिए मुखि अमृत बरिषे चंद। इसी के सहारे तो उन्होंने 'भगति नारदी मगन सरीरा' कहा है। कबीर का विरह भी इस 'भगति' का अंग है - (विरह कौ अंग) इस विरहानुभूति के बिना प्रेम भगति अथवा उसका दिव्य रस निष्पन्न नहीं होता क्योंकि

विरहा बुरहा मत कहो विरहा है सुलतान।
जा घर बिरह न संचरै ता घर जान मसान।

इसकी तीव्र अनुभूति आत्मिक धरातल पर ही उच्चतम होती है, यह विरह समग्र अस्तित्व को झकझोर देता है। जिस प्रकार अग्नि में सोना खरा उतरता है उसी प्रकार प्रेम भी विरह की आग में दिव्य होता है - परम रस से परिपूर्ण।

कबीर कहते हैं :

यहु तन जालौं मसि करूं, ज्यों धूवां जाइ सरग्गि।
मति वे राम दया करैं, बरस बुझावैं अग्गि।

इसी से वे बार बार 'तन का दीवा' कर बाती मेल्यूं जीव' के साथ साथ प्रिय की प्रतीक्षा में --

अंषड़िया झाई पड्या, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़िया छाला पड्या राम पुकारि पुकारि।।

और अंत में वह प्रतीक्षा सफल होती है --

बहुत दिनन में प्रीतम पाए, भाग बड़े घर बैठे आए।
मंगलाचार मांहि मन राखौं राम रसाइन रसना चाषौं।

अब देह रूपी मंदिर में - (देवालय में) उजियारा हो गया है और 'ले सूती अपना पिय पियारा'।

भारतीय भक्ति का आधार गुरु है - उसकी कृपादृष्टि व उसका शक्तिपात। कबीर ने गुरु की अशेष वंदना कर उसे गोविन्द से भी श्रेष्ठ बताया है - यही भारतीय परम्परा है। गुरु ही ज्योति प्रदान करता है - तिमिर का नाश और अमृत का संधान। संक्षेप में कबीर में परम्परानुसार भक्ति और रहस्यवादी निर्गुण तत्वों का अद्‌भुत समन्वय है - इसे 'खीचड़ी' कहना न उचित है और न मान्य। काव्य रचना में - अनुभूति की तीव्रता और अभिव्यक्ति की अपूर्णता का बोध विरोधाभास उत्पन्न करता है। इसे ही ('पेरोडाक्स' कहा गया है - यही तो वह अतृप्ति है, जिसके कारण नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा नित नूतन संदर्भ खोजती रहती है - महान कवियों की यह रचना पद्धति 'खोज में खोया न अपना ही पता अब पा रहा हूँ' - की अभिव्यक्ति है। जिसमें यह अतृप्ति नहीं, वह न तो भावात्मक और न विभावात्मक भूमि पर पहुँच सकता है। जिसे ईसाई मत में 'Dark Night of the Soul' कहा है। वहाँ एक ओर अज्ञता है तो दूसरी ओर प्राप्य की असमर्थता का परिणाम। डॉ० नामवर सिंह ने अपने निबन्ध 'कबीर का दुख' में इस अतृप्ति और असमर्थता को भिन्न दृष्टि से देखा है। माया के साथ कबीर ने कई रिश्ते जोड़े हैं-- कभी वह वेश्या है -- तो कभी बहन भी। इससे वे अपना दुःख कह सकते हैं-- 'जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि फिरौं उदासी' और

''कबीर जदि का माइ जनमिया कहूं न पायो सुख।
डाली डाली मैं फिर्‌या पातौं पातौं दुख।।''

वे ठीक कहते हैं 'वे सुख की प्रतीक्षा करते रहे और आया दुःख। सुख अपने घर गया और हम दुःख को ही पहचान पाये।वे माया को त्यागना चाहते हैं पर माया

उन्हें बाबा के कंबल की भांति लिपटी रहती है। माया का अर्थ है क्या? यह देखने से वस्तुस्थिति स्पष्ट होगी। माया में 'मा' से तात्पर्य है -- श्री, ऐश्वर्य और मोह। प्रापणार्थक 'या' का अर्थ है-- देनेवाली। सम्प्रति माया शब्द मोह में डालने वाली अर्थ में रूढ़ हो गया है-- मोह प्रदान करने वाली 'मायां तु प्रकृति'। मार्कण्डेय पुराण में विष्णु की महामाया संसार को मोहित करती है। महामाया हरेश्चैतत् तया संमोह्यते जगत् (८१.४१) कबीर ने जब वेश्या अथवा महाठगिनी कहा तो इसी मोह के कारण । बह्नि से उसे 'श्री' भी समझते हैं जो प्रसन्न होने से मुक्ति देती है

तुष्टा सा परमा माया मुक्तिमात्रं प्रयच्छति।
रुष्टा सा परमा माया भूमियोग प्रयच्छति।। (पटल -१०-४२)

कबीर का माया से यह संबंध अतृप्ति अथवा दुःख का बोध । जिसे मैं प्रत्येक महान कवि की अनिवार्यता समझता हूँ। आज मनोविज्ञान भी डिप्रेशन अथवा डेसपेरेटनेस को कलात्मक सृजन का मूल बताता है। यह भी कबीर को भारतीय दर्शन चिन्ता से जोड़ती है। माया का संबंध अविद्या-अज्ञान से भी है। वेदान्त के अनुसार मायावाद अर्थात् संसार की प्रत्येक वस्तु को अनित्य मानने का सिद्धान्त संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में छल-कपट भी कहा है। इसी को वेदान्त में 'अध्यास अथवा विवर्त' कहते हैं। विष्णुकांत शास्त्री ने कबीर पर विचार करते हुए इसे और अधिक स्पष्ट किया हैं। कबीर ने तो स्वीकार किया **हँस हँस कंत न पाइया जिन पाया तिन रोय'**।

जिस दुःख अथवा रुदन की चर्चा की है, उसका मूल आधार व्यक्ति की माया-- साधक की माया के आवरण को भेदने की असक्षमता है। गीता (५-१५) में श्रीकृष्ण कहते हैं 'अज्ञाने नावृतं ज्ञातं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' 'इसी अज्ञान से आसुरी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है 'अव्यया त्मनि कृते देवी माया महीयते' । देहात्मबोध का कृत्रिम अहं माया का आवरण नष्ट नहीं करता -- यही कबीर का दुःख है। जबतक देहात्मबोध समाप्त नहीं होता तब तक आत्म ज्ञान संभव नहीं। कबीर की स्पष्टोक्ति उनके आत्मबोध की प्रबल जिज्ञासा के मध्य में असमर्थता का प्रयास है। तुलसीदास में भी यही हुआ। कबीर ने बताया 'बलिहारी वा दुःख की जिन पिय दियो बताय' (द्रष्टव्य : विपदः सन्तुनःशश्वत्तत्रतत्रजगत्गुरो। भक्तो दर्शन सत्स्याद् पुनर्भव दर्शन' श्रीमद्भागवतः १-८.२५) मैं यहां श्री सौरेन किर्कगाद के कथन का उल्लेख करना चाहूंगा। वह कहता है ''जब ईश्वर किसी व्यक्ति को अपने से मिला लेना चाहता है, तो वह अपनी सर्वाधिक परिचारिका उदासी को बुलाकर कहता है। जल्दी से उसे ग्रहण करो xxx मेरे हृदय में प्रारम्भ से ही

दुःख का कांटा फंसा है - जब तक वह फंसा रहेगा, मैं व्यंगात्मक लगूंगा। जब वह निकल जाएगा, तब मैं मर जाऊंगा।'' कबीर ने भी कहा है

कबीर जा दिन हउ मुया पाछे भया आनन्दु।
मोहि मिलिउ प्रभु आपना संगी भजहि गोविन्दु'

वे पुनः कहते हैं

जिसु मरने से जगु डरे मेरे मन आनन्द। मरने ही ते पाइए पूरन परमानन्द।

वहाँ विरह भी है और मिलन भी। विरह में मिलन, मिलन में विरह - दोनों समवाय रूप से स्थित हैं। यही कबीर का रहस्यवाद है जिसमें जागृति, आकर्षण, प्रेम, विरह, परिष्करण, उदात्तता, प्रतीक्षा, मिलन सभी समाहित हैं। ऐसे विराट व्यक्ति का अन्तर्मन ही उसकी उच्चतम अवस्थिति है - इसी से मैंने उसे मानवीय अस्मिता की खोज कहा है। आधुनिक समाजशास्त्री व वैज्ञानिक आज 'चेतना' की नवीन उद्भावनाएं कर रहे हैं। चेतना का यह संधान फ्राइड के आधार पर नहीं है, वरन् वह पूर्णतः आध्यात्मिक विकास का प्रयास है - इसे श्री अरविंद ने - 'अतिमानस' की संज्ञा दी है। इस संबंध में प्रसिद्ध वैज्ञानिक पाल डेविस ने अपने ग्रंथ 'दि माइन्ड आफ गॉड' में लिखा है : The mystical path seems to involve little more than an inner sense of peace, a compassionate, joy full of stillness that lies beyond the activity of busy minds.

आइन्सटीन ने इसे ही 'वैश्विक धार्मिक संवेदना' (भावना) कहा था। पाल डेविस आगे कहता है Mystics frequently speak of an overwhelming sense of being at one with the universe or with God of glimpsing a holistic vision of reality or a being in the presence of a powerful loving influnece.

एक अन्य वैज्ञानिक केन विलबर का मत है कि रहस्यवादी की चेतना, सत्य और ऋत का बोध प्रत्यक्ष करती है, जिसमें यह आवश्यक नहीं कि गहन प्रेक्षा ध्यान ही किया जाए। इसकी प्रतीकात्मकता और तात्विकता अहं और इदं के ऐक्य से कालातीत एवं देशातीत हो जाती है। यहाँ तक कि वैज्ञानिकों को भी किसी 'असाधारण क्षण' में यह रहस्यात्मक अनुभूति प्रातिभ ज्ञान से होती है। पाल डेविस कहता है कि चेतना की ऊर्ध्व गति से ही विश्व में आत्म-बोध संभव है - Mystic path is a way to such an understanding (Page 228-229)

प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्रोडिन्गर ने चेतना के सिद्धांत को नैतिक अवधारणाओं से संपृक्त कर यह बताया है कि वस्तुतः "Deus Factumsum" मैं ब्रह्म हो गया

हूँ। अहं ब्रह्मास्मि (इसने उपनिषदों के रहस्यात्मक चिन्तन को अपना आधार बनाया है। (What is life : with mind & matter) इस दशक में एक नया शब्द 'वैज्ञानिक रहस्यवाद' का प्रयोग हो रहा है। इसका आधार राबर्ट बेरी का प्रसिद्ध ग्रंथ A theory of almost everything है। लेखक कहता है Mystic lies at the heart of all religion. It also forms the basis for the scientific thinking as every thing affected by everything.

इस विद्वान ने चेतना की विकसनशीलता के आधार पर व्यक्ति का ब्रह्म जगत एवं परम सत्ता के साथ तादात्म्य बताया है और यह प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक पदार्थ अन्य सभी पदार्थों से अविच्छिन्न भाव से संपृक्त है। रहस्यवाद की यही मूल संहति है। वह कहता है As our consciousness evolves towards an increasing state of preparedness to receive communion with God, more of the absolute truth is revealed through God's messengers.

संक्षेप में कबीर का रहस्यवाद अपनी पूर्णता में हिन्दी के मध्यकालीन काव्य का एक परमोज्ज्वल पक्ष है। वह न तो एकांगी है और न वायवीय। उसका स्वरूप समन्वयात्मक है और यह उचित भी है। क्योंकि अनुभूति की दिव्यता और उसकी परमता केवल किसी पूर्वाग्रह अथवा पक्षधरता के साथ संभव नहीं । भक्ति को जब 'सा त्वस्मिन परम प्रेमरूपा' अथवा 'परानुरक्ति' कहा गया है तब उसके आगे कोई निश्चित लक्ष्मण रेखा नहीं रहती। वह अनिवर्चनीय प्रेमस्वरूप होती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि 'भक्ति एक ही है, केवल आश्रय भेद से अनेक प्रकार की दिखती है। उसके अंग और भेद तो उपलक्षण मात्र हैं। (कबीर पृ० १४६) बोधसार में आचार्य नरहरिपाद ने कहा है 'जिसे वेदांत में अपरोक्षानुभूति कहते हैं वह वस्तुतः प्रेमलक्षणा भक्ति का ही परिणाम है।

अपरोक्षानुभूति यां वेदान्तेषु निरूपिता
प्रेमलक्षणा भक्तेः स परिणामः एव हि।

कबीर इस अर्थ में जहाँ रहस्यवादी हैं, वहीं भक्त भी, प्रेमलक्षणामृत से परिपूर्ण 'प्रेम पुमर्थो महान्'। निराकार, साकार, निर्गुण, सगुण, के ऊहापोह में न पड़कर, मैं तो शांडिल्य भक्तिसूत्र के इस कथन को ही उनपर लागू मानता हूँ - 'यल्लब्धवा पुमान सिद्धो भवति अमृतो भवति, तृप्तो भवति । जो इस सत्य को नहीं देख पाते, उनके लिए बनारसीदास जैन का यह दोहा ही उपयुक्त है :-

इनकी दुविधा वे लखैं जिन मुख अंतर चाम।
मेरे नैनन देखिए घट-घट अन्तर राम।। ●

ग्रंथ के रचनाकार

1. **डॉ० उषा द्विवेदी**
   पार्थसारथी हाउसिंग काम्प्लेक्स
   H/E 16/1, शचीन्द्र लाल सरणी
   बागुईहाटी, कलकत्ता-700 059
   फोन : 570 3194

2. **डॉ० राम किशोर शर्मा**
   408B/15जी, बक्शी खुर्द
   दारागंज, इलाहाबाद
   पिन : 211006
   फोन : 502389

3. **डॉ० चन्द्रकान्त बान्दिवडेकर**
   7 शाकुंतल
   साहित्य सहवास
   बांद्रा (पूर्व), मुम्बई-400 051

4. **डॉ० सूर्य प्रसाद दीक्षित**
   साहित्यिकी
   D-54, निराला नगर
   लखनऊ (उ. प्र.)
   फोन : 324755

5. **डॉ० सियाराम तिवारी**
   एन-2, प्रोफेसर कॉलोनी
   कंकड़बाग, पटना-800 020
   फोन : (0612) 366082

6. **डॉ० कैलाश चन्द्र भाटिया**
   भारती नगर
   मैरिस रोड
   अलीगढ-202 001

7. **डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी**
   2, स्टेट बैंक कॉलोनी
   देवास रोड
   उज्जैन-456 010 म. प्र.

8. **डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव**
   B-70, आवास विकास कॉलोनी
   सूरजकुण्ड, गोरखपुर
   पिन : 273 015
   फोन : 252371

9. **डॉ० बासुदेव सिंह**
   प्रेम सदन
   C33/147-32A, नरेन्द्रदेव नगर
   चँदुआ - छित्तूपुर,
   वाराणसी-221 002
   फोन : 223876

10. **डा० प्रेमशंकर**
    B-16, विश्वविद्यालय परिसर
    सागर-470 003 (म. प्र.)
    फोन : (07582) 22222

11. **प्रो० चमनलाल गुप्त**
अध्यक्ष : हिमाचल प्रदेश स्कूल एजुकेशन बोर्ड
धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश

12. **अवधेश नारायण मिश्र 'दीपक'**
2/50, स्व. ब्रह्मदत्त द्विवेदी मार्ग
फर्रुखाबाद (उ. प्र.)
फोन : (05692) 25428

13. **रूपा गुप्ता (पटेल)**
खिदिरपुर कॉलेज
2, पीताम्बर सरकार लेन
कलकत्ता-700 023

14. **रामेश्वर नाथ मिश्र 'अनुरोध'**
115, कॉटन स्ट्रीट,
कलकत्ता-700 007
फोन : 238 3066

15. **डॉ० वसुन्धरा मिश्र**
द्वारा : एम. बी. मिनरल इण्डस्ट्रीज
40, स्ट्रैण्ड रोड, तीसरा तल्ला
कलकत्ता-700 001
फोन : 660 5029

16. **डॉ० फुलवन्त कौर**
573, रवीन्द्र सरणी
कलकत्ता-700 003
फोन : 554-3867

17. **श्री श्रीनिवास शर्मा**
53, शिवठाकुर लेन,
कलकत्ता-700 007

18. **डॉ० युगेश्वर**
वेदांत
C33/78-4, चनुआ छित्तूपुर
वाराणसी

19. **डॉ० सत्यनारायण व्यास**
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
महाराणा प्रताप राजकीय महाविद्यालय
चित्तौड़गढ़-312 001
(राजस्थान)

20. **डॉ० रामचन्द्र तिवारी**
सरस्वती सदन
बेतियाहाता
गोरखपुर-273 001
फोन : 335982

21. **डॉ० दिनेश्वर प्रसाद**
उद्धव बाबू लेन
राँची-834 001
फोन : 204768

22. **डॉ० किशोरीलाल त्रिवेदी**
25, अध्यापक आवास
सैनिक स्कूल परिसर
घोड़ाखाल,
नैनीताल-263 156 (उ. प्र.)
फोन : 05942-49475

23. **डॉ० बलदेव वंशी**
A-3/283, पश्चिम विहार
नई दिल्ली-110 063
फोन : 558 8501

24. **डॉ० लक्ष्मीनारायण शर्मा**
239, सेक्टर 37ए
चंडीगढ़-160 036
फोन : (0172) 696769
693943

25. **डॉ० रामेश्वर मिश्र**
'पुनर्नवा', दक्षिण गुरुपल्ली
शान्तिनिकेतन-731 235
फोन : (03463) 53125

26. **डॉ० जलज भादुड़ी**
पारिजात, फ्लैट-92
24A, शेक्सपीयर सरणी
कलकत्ता-700 017
फोन : 247 3014

27. **डॉ० कुमार विमल**
96, एम. आई. जी. एच.
लोहिया नगर, कंकड़ बाग,
पटना-20
फोन : 352944

28. **प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद**
राज-भवन,
अगरतला (त्रिपुरा)
फोन : 223428

29. **डॉ० वसुमति डागा**
F33/8, करुणामयी हाउसिंग इस्टेट
फेज-2, साल्ट लेक
कलकत्ता-700 091
फोन : 359-3164

30. **सद्गुरु अभिलाष साहेब**
कबीर पारख संस्थान
प्रीतम नगर, इलाहाबाद

31. **डॉ० नन्द किशोर नवल**
लखनचन्द कोठी
गुलाबीघाट लेन
महेन्द्रू, पटना-800 006
फोन : 663779

32. **आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री**
राज-भवन
शिमला, हिमाचल प्रदेश
फोन : (0177) 224152

33. **डॉ० सुकृता अजमानी**
R6/4, वैशाखी,
2, डॉ. देवदार रहमान रोड
कलकत्ता-700 033
फोन : 555-4730

34. **डॉ० मंजुरानी सिंह**
18, नीचू बंगला
हिन्दी भवन परिसर
शान्तिनिकेतन-731235
(प. बं.)
फोन : (03463) 53517

35. **डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी**
आशीर्वाद अपार्टमेण्ट्स
CA5/10, देशबंधु नगर
बागुईहाटी, कलकत्ता-700 059
फोन : 559 1522

36. **डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय**
भारतीय भाषा परिषद्
36ए, शेक्सपीयर सरणी
कलकत्ता-700 017
फोन : 247 9962

37. **प्रो० कल्याणमल लोढ़ा**
2A, देशप्रिय पार्क (ईस्ट)
कलकत्ता-700 029
फोन : 464 2300

प्रेमशंकर त्रिपाठी

जन्म :
नवंबर १९५४, कलकत्ता में।
मूल निवासी : राजापुर गढ़ेवा (मगरायर) जनपद : उन्नाव (उ० प्र०)

शिक्षा :
कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम० ए० (हिन्दी) स्वर्णपदक प्राप्त एवं पी० एच० डी०।

सम्प्रति : सुरेन्द्रनाथ सांध्य कॉलेज कलकत्ता के हिन्दी विभाग में रीडर और विभागाध्यक्ष।

कृतियाँ : संपादित

- शास्त्रैरपि शस्त्रैरपि : आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री
- विष्णुकान्त शास्त्री षष्टिपूर्ति अभिनन्दन ग्रंथ
- अमर आग है (श्री अटल बिहारी वाजपेयी की चुनी हुई कविताओं का संकलन)
- महाप्राण निराला : पुनर्मूल्यांकन
- मानस अनुक्रमणिका (श्री रामचरित मानस की पंक्तियों का अकारादि क्रमानुसार संदर्भ कोश)
- जीवन पथ पर चलते-चलते (आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की कविताओं का संग्रह)
- कबीर अनुशीलन

अन्य :

- वर्द्धमान विश्वविद्यालय तथा प्रेसीडेन्सी कॉलेज कलकत्ता में अंशकालीन प्राध्यापक के रूप में अध्यापन।
- कलकत्ता टाइम्स (साप्ताहिक) और 'नाट्य वार्ता' (मासिक) के सम्पादक तथा उप-संपादक के रूप में अरसे तक कार्य।
- विविध पत्र-पत्रिकाओं में साहित्यिक समीक्षाएँ तथा आलेख प्रकाशित।
- महानगर की विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं से सक्रिय रूप से संबद्ध।
- श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के साहित्य मंत्री सहित विभिन्न दायित्वपूर्ण पदों पर कार्य।

सम्मान :

- उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सम्मान (१९९८ ई०)
- हिन्दी सेवा हेतु भारती परिषद्, उन्नाव (उ०प्र०) का प्रो० वासुदेव सिंह स्मृति सम्मान (१९९९ ई०)

सम्पर्क :
आशीर्वाद अपार्टमेण्ट्स
CA 5/10, देशबन्धु नगर,
बागुईहाटी, कलकत्ता-700 059
दूरभाष : (033) 559-1522

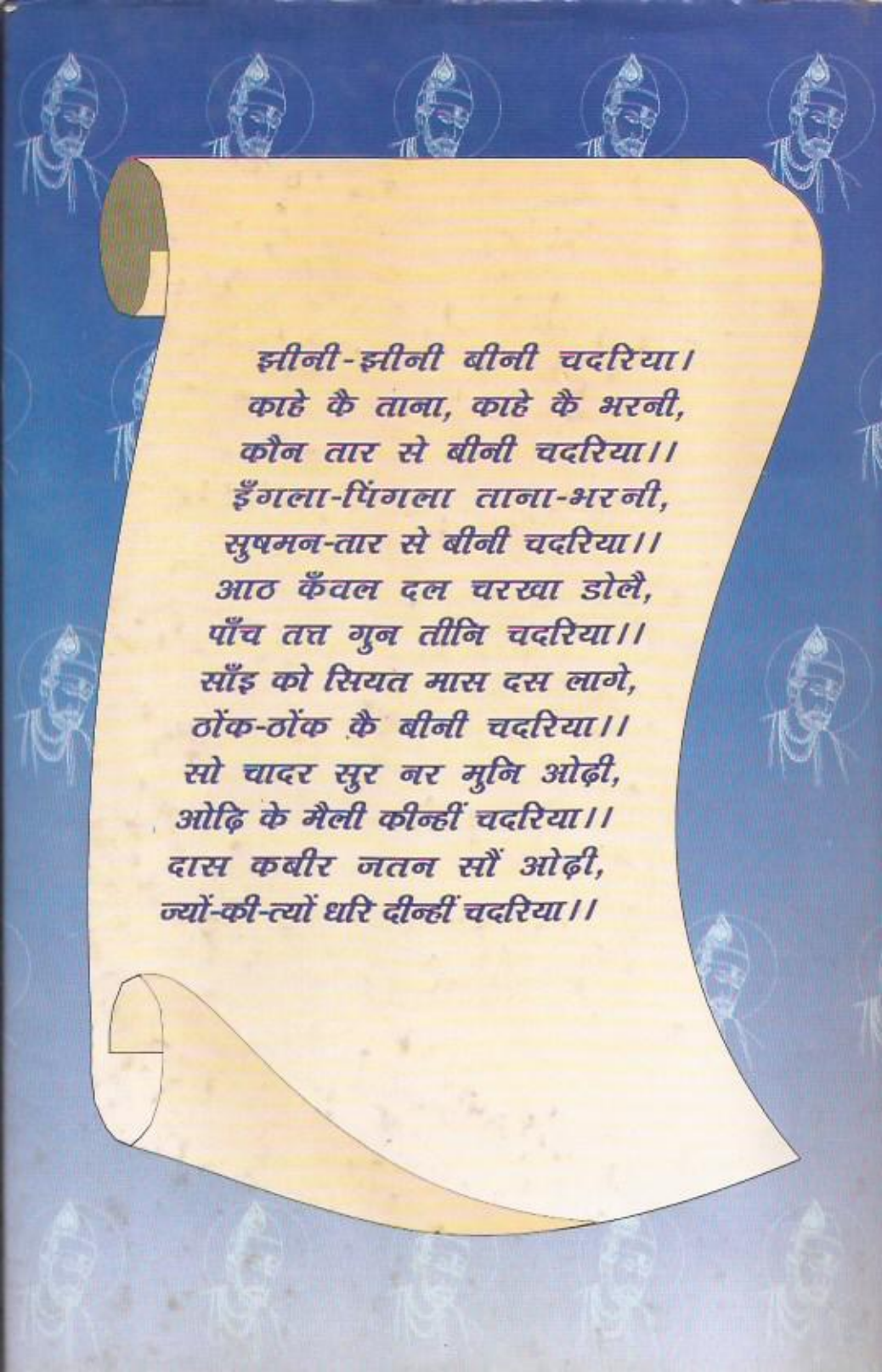

झीनी-झीनी बीनी चदरिया।
काहे कै ताना, काहे कै भरनी,
कौन तार से बीनी चदरिया।।
इँगला-पिंगला ताना-भरनी,
सुषमन-तार से बीनी चदरिया।।
आठ कँवल दल चरखा डोलै,
पाँच तत्त गुन तीनि चदरिया।।
साँइ को सियत मास दस लागे,
ठोंक-ठोंक कै बीनी चदरिया।।
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी,
ओढ़ि के मैली कीन्हीं चदरिया।।
दास कबीर जतन सौं ओढ़ी,
ज्यों-की-त्यों धरि दीन्हीं चदरिया।।